

मनु शर्मा



कृष्ण की उर्गात्मकथा ॥ दुरभिसंधि ॥



प्रभात

कृष्ण की आत्मकथा-२

दुरभिसंधि



मनु शर्मा



प्रभात प्रकाशन, दिल्ली
ISO 9001:2008 प्रकाशक

कृष्णोवाच

मेरी अस्मिता दौड़ती रही, दौड़ती रही। नियति की अँगुली पकड़कर आगे बढ़ती गई—उस क्षितिज की ओर, जहाँ धरती और आकाश मिलते हैं। नियति भी मुझे उसी ओर संकेत करती रही; पर मुझे आज तक वह स्थान नहीं मिला और शायद नहीं मिलेगा। फिर भी मैं दौड़ता रहूँगा; क्योंकि यही मेरा कर्म है। मैंने युद्ध में मोहग्रस्त अर्जुन से ही यह नहीं कहा था, अपितु जीवन में बारंबार स्वयं से भी कहता रहा हूँ—‘कर्मण्येवाधिकारस्ते’।

वस्तुतः क्षितिज मेरा गंतव्य नहीं, मेरे गंतव्य का आदर्श है। आदर्श कभी पाया नहीं जाता। यदि पा लिया गया तो वह आदर्श नहीं। इसीलिए न पाने की निश्चितता के साथ भी कर्म में अटल आस्था ही मुझे दौड़ाए लिये जा रही है। यही मेरे जीवन की कला है। इसे लोग ‘लीला’ भी कह सकते हैं; क्योंकि वे मुझे भगवान् मानते हैं।...और भगवान् का कर्म ही तो लीला है।

एक

आग मथुरा में जले और व्रज में धुआँ न उठे, यह कैसे हो सकता है! मेरे बुलाए जाने की बात तीर की तरह मेरे यहाँ पहुँची और सभी चिंतित हो उठे। उन्हें कोई भयानक विपत्ति आसन्न दिखाई देने लगी। महाराज और वसुदेव तो ऐसी अप्रत्याशितता को झेलते-झेलते उन्हें जीने लगे थे। उस समय भी वसुदेव व्रज में ही थे, जब लोगों ने यह खबर उन्हें दी। वह अन्यमनस्क भाव से बोले, “जैसी प्रभु की इच्छा।”

किंतु नंदजी काफी परेशान दिखे। माता यशोदा ने तो स्पष्ट कहा कि मैं अपने बच्चों को शेर की माँद में नहीं भेजूँगी।

नंदजी ने जब अपनी व्यग्रता आचार्य श्रुतिकेतु के समक्ष रखी, तब वे दार्शनिकों की तरह हँसते हुए बोले, “आपने क्या मथुरा की कारा से उसे बुलाया था?”

अजीब प्रश्न था। नंदजी आचार्य श्रुतिकेतु का मुख देखते रह गए।

“जब आपने उसे बुलाया नहीं था और वह खुद आपके पास आ गया था। आज जब आपके यहाँ से बुलाया जा रहा है, तो आप क्यों घबरा रहे हैं?” आचार्य बोले, “अरे, यह समझिए कि आपके यहाँ वह धरोहर था। जिसका था, उसके पास जा रहा है।”

“यदि उसके पास जाता, तब तो कोई बात नहीं थी।” नंदजी ने कहा, “यदि वसुदेव उसे ले जाते तब भी कोई बात नहीं थी।”

“तो आप समझते हैं कि वह वसुदेव की धरोहर है।” श्रुतिकेतु पुनः हँसे—“यही तो आपका भ्रम है, राजन्! वस्तुतः वह नियति की धरोहर है और आप उसे नियति को ही सौंप रहे हैं। आपको यही सोचना चाहिए।”

“तो आपके विचार से उसे जाने देना चाहिए?”

“बिल्कुल।” श्रुतिकेतु पुनः बोले, “और क्या कहकर तुम उसे रोकोगे? मथुरा के उत्सव में वह आमंत्रित है। हम सभी आमंत्रित हैं। अपने भानजे पर मामा का कोई अधिकार नहीं!”

नंदजी चकित थे कि आचार्यजी क्या कह रहे हैं।

वह बोले, “पर लगता है, इसके पीछे कोई षड्यंत्र है।”

“पर मुझे तो इसके पीछे कोई अच्छाई दिखाई देती है; क्योंकि परमात्मा जो कुछ करता है, अच्छा ही करता है।” आचार्यजी ने कहा।

नंदजी के मन की आँधी आंशिक रूप से श्रुतिकेतु की सहजता के समक्ष थम गई। उनका कहना था कि मनुष्य अतीत और वर्तमान के संदर्भ में भविष्य का एक चित्र गढ़ लेता है। यह उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति है; पर वह नहीं जानता कि भवितव्यता उसके हाथ में नहीं।

मैं भी अपने संबंध में ऐसा ही सोचता हूँ। क्या मेरे संबंध में जो कुछ हुआ, उसमें किसीका हाथ था? नियति बराबर मुझे गढ़ती गई और हर विपत्ति के समय मेरे दाहिने खड़ी रही।

यहीं आचार्यजी ने नंदजी को भी समझाया और अंत में उन्होंने बात मान ली; क्योंकि उसे मानने के सिवा और कोई चारा भी नहीं था। कंस की अवज्ञा करके क्या व्रज शांति से जी सकता था? माता यशोदा के समक्ष भी उन्होंने स्थिति स्पष्ट की। आचार्यजी की बातें बताईं। पर माँ तो माँ थी। उसके मन के जलते तवे पर नियतिवादी तर्क की बूँदें छनछनाकर भाप बन गई और आँखों से बरसने लगीं। उसे लगा जैसे उसकी गोद के शिशु को कोई छीन रहा

है।

“खैर, अक्रूर को आने तो दो; देखो, वह क्या कहते हैं!” नंदजी ने उस समय बात टाल दी।

ज्यों-ज्यों खबर फैलती गई, व्रजवासियों का मेरे प्रति आकर्षण बढ़ता गया। श्रीदाम ने कहा, “मैं भी आपके साथ चलूँगा।”

उद्धव ने जानना चाहा, इसमें रहस्य क्या है? बहुत दिनों के बाद मामाजी को भानजे की माया छहछहाई।

मुझे हँसी आ गई। मैं कभी किसी रहस्य के पीछे नहीं पड़ा। समय आने पर जो स्वयं उद्घाटित हो जाने वाला हो, उसके पीछे क्या पड़ना।

मेरी मस्ती में कोई कमी नहीं, मेरी सहजता में कोई कमी नहीं। मित्र सोचते थे कि मैं सुप्त ज्वालामुखी की तरह हरियाली ओढ़े हूँ। भीतर से घबराता हुआ भी ऊपर से शांत हूँ। पर ऐसा नहीं था। आप विश्वास करें, मुझमें बिल्कुल घबराहट नहीं थी।

दिन भर लोगों का ताँता लगा रहा, पर राधा नहीं दिखाई पड़ी। ऐसी खबर सुनकर वह चुपचाप बैठी रह जाए, ऐसा नहीं हो सकता। कोई बात जरूर है।”

उसकी कमी मेरे मित्रों को ही नहीं, मेरी माँ को भी अखरी। अंत में वह बोल पड़ी कि आज राधा नहीं आई। अब मेरी चिंता बढ़ी। ऐसा तो नहीं कि वह किसी कोने-अँतरे में बैठकर रो रही हो? यदि ऐसा होता तो उसके आँसू की हर बूँद टप से मेरे मस्तिष्क पर गिरती और मैं छनछना उठता।

धीरे-धीरे संध्या उतरने लगी। आकाश की स्वर्णाभा लाल होने लगी। हम लोग यमुना के किनारे जाने की तैयारी करने लगे। तब तक देखा, कपिला चली आ रही है। काफी प्रसन्न दीखती है; जैसे कुछ मनचाहा मिल गया हो।

उसके पीछे उसकी एक सखी और आ रही थी, जिसके हाथों में एक थाल था और वस्त्र से ढकी कुछ सामग्री। निश्चित रूप से कुछ खाद्य पदार्थ रहा होगा। पर उसके साथ भी राधा नहीं थी।

अंतःपुर में जाते समय कपिला ने मुझे देखा अवश्य था, पर मेरी उपेक्षा करती और एक कुटिल मुसकराहट बिखेरती चली गई।

आखिर इतनी प्रसन्न क्यों है? मेरी जिज्ञासा बढ़ी। ऐसा तो नहीं कि राधा का पति उसे लिवा ले गया हो। कपिला सीधे माँ यशोदा के पास पहुँची। उसने थाल पर से कपड़ा हटाते हुए कहा, “प्रसाद ग्रहण कीजिए।” “यह कैसा प्रसाद?” थाल को पकड़ते हुए माँ बोली।

“प्रभु का प्रसाद है।”

“प्रसाद तो प्रभु का ही होता है।” माँ ने कहा, “पर कैसी पूजा थी? क्या बात हो गई?”

“क्यों, निष्काम पूजा नहीं हो सकती?” कपिला बोली।

“क्यों नहीं हो सकती! पर निष्काम पूजा का प्रसाद बँटते तो मैंने नहीं देखा।”

इस बार कपिला जोर से हँसी और बताया, “एक मानता मानी थी, पूरी हो गई। इसीसे पूजा की है।”

“तेरी मानता पूरी हुई! बधाई। पर क्या थी तेरी मानता?” माँ ने पूछा।

“मानता तो गोपनीय है। प्रभु के सामने चुपचाप माँगी थी।”

“मानता कोई चिल्लाकर थोड़े ही माँगता है! वह गोपनीय भी हो सकती है; पर ज्यों ही वह पूरी होती है, उसकी गोपनीयता समाप्त हो जाती है।” माँ ने कहा।

कपिला अब बड़े असमंजस में पड़ी। स्पष्ट लगा कि वह बताना नहीं चाहती। वह बड़े संकोच से बोली, “इसे अब तक दो ही जानते हैं। और उन्हीं तक रहने दीजिए।”

मैं भी उसकी बातें सुनने के लिए वहाँ तक चला आया था। मैंने सोचा, इसके दो में एक राधा भी हो सकती है। मेरी जिज्ञासा ने उबाल मारा—“ऐसे कौन भाग्यवान् हैं दो?”

“एक मैं और दूसरा ईश्वर।” वह मेरी ओर देखकर विजयोन्माद से मुसकराई।

“प्रभु को प्रणाम करते हुए भी मुझे यह प्रसाद ग्रहण नहीं करना चाहिए।” माँ बोली।

“क्यों?”

“हो सकता है, तुमने मेरे अनिष्ट की कोई मानता मानी हो और वह पूरी हुई हो।...आखिर तुम उसे इतना छिपा क्यों रही हो?”

“आप जो भी समझ लें। पर आप विश्वास करें, मानता आपके अनिष्ट की नहीं, अपने इष्ट की मानी थी...”

“...और वह पूरी हुई। तब गोपनीयता कैसी?”

कपिला फिर असमंजस में पड़ी। धीरे से बोली, “समय आने पर आपको मालूम हो जाएगा।”

“तू भी अद्भुत है, कपिला! प्रसाद अभी ग्रहण करूँ और जिस मानता का वह प्रसाद है, उसे जानने के लिए समय की प्रतीक्षा करूँ!”

उस दिन कपिला बहुत देर तक मेरे यहाँ ठहर न सकी। उधर वह चली और इधर मैं यमुना कूल के लिए निकल पड़ा।

□

संध्या के झुकते-झुकते राधा आती दिखाई दी। वह निकट आते-आते हाँफने लगी थी। लगता है, बहुत तेजी से चली आ रही थी। पर उसकी आकृति पर कोई तनाव नहीं था, कोई परेशानी नहीं थी। वह सीधे मेरे पास आकर पीपल के मोटे तने के सहारे निढाल हो गई।

“काफी थकी लगती हो।” श्रीदाम बोला।

पर राधा चुप थी।

“लगता है, कारा से छूटकर भागी चली आ रही हो।” उद्धव बोला।

राधा अब भी चुप थी। लोगों के बोलने के ढंग से उसे भी माहौल बदला-बदला लग रहा था। वह स्वयं नहीं जान पा रही थी कि क्या कुछ नया हो गया है। आश्चर्य है, जिस बात को पूरा ब्रज जान रहा था, वह राधा तक नहीं पहुँच पाई थी।

आखिर श्रीदाम बोल ही पड़ा, “तुम्हें कुछ मालूम है या नहीं?”

“क्या?”

“कि कन्हैया मथुरा जाने वाले हैं। वहाँ से बुलावा आ रहा है।”

“क्यों? किसलिए?” राधा एकदम विचलित हो उठी। अप्रत्याशित आशंकाओं से घिरती वह प्रश्न पर प्रश्न किए जा रही थी और मैं अपनी प्रकृति के अनुसार मुसकरा रहा था।

“तुम हर बात को हलके ढंग से लेते हो, कन्हैया!” वह मेरा कंधा झकझोरते हुए मेरी प्रकृति पर खीजकर बोली, “जानते हो, मथुरा जाना काल के गाल में जाना है!”

“जीवन का अस्तित्व ही काल के गाल में है, राधा! कब, कहाँ और किसे वह निगल जाएगा, कौन कह सकता है!” मैं मुसकराते हुए दार्शनिकों जैसा बोला। मुझे आज भी आश्चर्य है कि वह कौन सी शक्ति थी, जो उस वय में मेरे मुख से ऐसे वाक्य निकाल देती थी।

राधा मुझे सुनकर मेरा मुख देखती रह गई। वह मेरी आग से खेलने की प्रकृति और मेरे स्वभाव को जानती थी।

उसका अंतर चीख उठा—‘हे भगवान्, क्या होने वाला है!’

मैंने उसकी मनःस्थिति भाँप ली और उसके चिंतन को दूसरी ओर मोड़ने की इच्छा से बोला, “लगता है, तू ब्रज में थी नहीं।”

“थी भी और नहीं भी।”

“मतलब?”

तब उसने बताया कि “माँ कल शाम से ही पूजन की तैयारी में लगी थी और मुझे घर से बाहर निकलने ही नहीं देती थी। मैंने किसी बहाने निकलने की चेष्टा भी की तो वह बोली कि यह पूजा तेरे ही लिए है। यदि तू कहीं गई तो व्यवधान हो जाएगा।”

“तो कैसी थी पूजा?” मेरी जिज्ञासा मेरे मित्रों के चेहरों पर भी उभर आई।

“उसने मेरे लिए कोई मानता मानी थी। उसकी मंशा पूरी हुई। उसीकी पूजा थी।”

“आखिर क्या थी उसकी मानता?”

“यह तो मुझे नहीं मालूम।”

“अचरज है, तेरे लिए मानता मानी गई और तुझे ही नहीं मालूम। विचित्र है तेरी माँ।”

“विचित्र ही नहीं, नितांत रहस्यमय।” राधा बोली।

“तेरा पति तो नहीं आया था?” मैंने पूछा।

“नहीं।”

“उसके आने की कोई संभावना तो नहीं है?”

“होनी तो नहीं चाहिए।”

“फिर कौन सी उसकी मानता हो सकती है?” श्रीदाम ने पूछा और सभी हँसने लगे।

“तुम तो बहुत जल्दी अनुमान लगा लेते हो, कन्हैया!” उद्धव बोला।

“इस बार भी मैंने अनुमान लगा लिया है।” मैंने मुसकराते हुए कहा, “याद रखना, मेरा अनुमान इस बार भी गलत नहीं निकलेगा।”

केवल मुसकराहट। रहस्य से बोझिल, पर स्निग्ध मुसकराहट।

“आखिर मुसकराते ही रहोगे कि कुछ बताओगे भी।” उद्धव बोला। राधा उसका मुख देखती रही।

“कपिला को समझना इतना आसान नहीं है।” मैं जोर से हँस पड़ा—“मेरे विचार से उसकी मानता इसलिए थी कि मैं ब्रज से चला जाऊँ।”

“तब तो बड़ी कुटिल है कपिला।” श्रीदाम बोला।

“नहीं-नहीं, माता कभी कुटिला नहीं होती, पुत्री कुपुत्री हो सकती है।” मैंने कहा और मुसकराते हुए राधा की ओर देखा। राधा जड़वत् बैठी रही; जैसे वह कुछ सुन नहीं पा रही है, कुछ देख नहीं पा रही है। उसकी आँखों के सामने रथ की उड़ती हुई वह धूल आने लगी थी, जो उसकी कल्पना में उसके कन्हैया को ले जा रहा था।

“क्या सोच रही हो, राधा?” उसका हाथ अपने हाथ में लेते हुए मैंने पूछा।

“कुछ नहीं, कुछ नहीं।” वह एकदम बोल पड़ी; जैसे वह अचानक धरती पर ढकेल दी गई हो—“सोच रही थी कि संध्या हो गई।”

संध्या का जो अँधेरा कभी राधा में नई स्फूर्ति भरता था, रास की ललक पैदा करता था, आज वह उसी अँधेरे से डरने लगी थी।

हम लोग शीघ्र ही यमुनातट से लौट पड़े।

“जब उसकी मानता पूरी हुई तब माँ ने छिपाया क्यों?” चलते-चलते राधा बोल पड़ी।

“अभी पूरी कहाँ हुई मानता! पूरी तो तब होगी जब मैं ब्रज छोड़ दूँगा।”

“तुम्हारे साथ तो हम लोग भी ब्रज छोड़ देंगे।” श्रीदाम बोला।

“और हम भी।” राधा ने कहा।

“कहाँ जाएँगे आप लोग ब्रज छोड़कर?”

“जहाँ आप जाएँगे।”

“आपको निमंत्रण आएगा तब न!” मैंने कहा।

“क्या हम अनिमंत्रित नहीं चल सकते?”

“अनिमंत्रित तो यमराज के यहाँ भी नहीं जाना चाहिए, वह तो कंस का दरबार है।” मैंने कहा और मित्रों की बोझिल मानसिकता को झेलता हुआ आवास की ओर लौटा। रास्ते में कहीं से मेघज आता दिखाई दिया। वह दौड़कर अपनी छाती से मुझे लगाकर रोने लगा और रोता रहा। सन्नाटा उसकी सिसकन पीता गया। सभी मौन देखते रह गए।

“मैंने अपने बेटे का वियोग तो सह लिया, कन्हैया, अब तेरा वियोग कैसे सहूँगा?” उसकी सिसकनों ने वाणी ली।

□

जिसने क्रोध जीत लिया, उसे अब जीतने को क्या रहा! ऐसे विश्वजीत अक्रूर को न तो राजकीय आदेश बाँध सकता था और न आग्रह। वे बड़ी सरलता से यह आग्रह टाल सकते थे।

उनकी पत्नी गुणवंती ने भी कहा, “मथुरा और ब्रज के बीच आपको नहीं पड़ना चाहिए।”

“मथुरा और ब्रज की सीमा पर ही तो हमारा आवास है। हम तो जन्म से ही इन दोनों के बीच में हैं।” अक्रूर ने हँसते हुए कहा।

“मेरा तात्पर्य दोनों की राजनीति से था।” गुणवंती ने कहा।

“राज से हमें क्या लेना-देना है! पर नीति तो हमारे जीवन के स्पंदन में है। हम कभी भी उससे अलग नहीं हो सकते।” बड़ी चालाकी से वे अपनी पत्नी की वर्जना टाल गए।

फिर पत्नी ने भी अपनी बात पर बहुत जोर नहीं दिया। वह बस इतना ही बोली, “मैं सोचती हूँ कि जाने के पहले आपको गर्गाचार्यजी से मिल लेना चाहिए।”

अक्रूर ने पत्नी का यह आग्रह मान लिया।

स्थिति बड़ी विचित्र थी। कंस के पक्षधरों को छोड़कर कोई भी नहीं चाहता था कि मैं मथुरा बुलाया जाऊँ। यहाँ तक कि कंस के पारिषदों में भी कई लोग इस निर्णय से चिंतित थे। पर अक्रूर में ऐसी कोई चिंता नहीं थी। वह नियतिवादी थे। सच्चा नियतिवादी स्वयं को कर्ता नहीं, पर कर्ता का निमित्त मानता है। वह नियति का दास नहीं वरन् नियति के प्रति समर्पित होता है। इसी समर्पण ने उन्हें भय और आशंकाओं से मुक्त कर दिया था।

जब अक्रूर गर्गाचार्य के यहाँ पहुँचे, संध्या खिसकने लगी थी। वहाँ छंदक पहले से विराजमान था। दोनों के लिए अक्रूर का अप्रत्याशित आना रहस्यमय न होते हुए भी रहस्य की तरह दिखाई दिया। अक्रूर ने स्वयं इस रहस्य का भेदन करते हुए कहा, “राम सीता के आग्रह पर स्वर्ण मृग की खोज में गए थे और मैं अपनी सीता के आग्रह पर ब्रज में जाने के पूर्व आपका आशीर्वाद लेने आया हूँ।”

सभी हँस पड़े।

“मैं सोचता हूँ कि कुआँ ही प्यासे के पास आ गया।” छंदक बोला और इसके पहले कि अक्रूर कुछ पूछें, वह स्वयं बताने लगा, “हम लोग खुद आपसे मिलने की योजना बना रहे थे।”

“अरे, मुझसे मिलने के लिए योजनाएँ बनाने की क्या आवश्यकता! आप किसी भी समय आ सकते थे या मुझे ही बुला सकते थे।” अक्रूर बड़े सहजभाव से बोले।

“अब आप केवल अक्रूर नहीं हैं वरन् महाराज के संदेशवाहक हैं।” छंदक बोला, “और महाराज के संदेशवाहक से मेरा मिलना मथुरा में एक समाचार बन जाता। आशंकाएँ जन्म लेने लगतीं। ऐसी स्थिति न आने देने के लिए हमें योजना तो बनानी ही थी।”

अब अक्रूर भी खुले—“हाँ, भाई, कुछ विचित्र-सा लग रहा है। जब से लोगों ने सुना है कि मैं कृष्ण को लिवा लाने मथुरा जा रहा हूँ, लोग अजीब दृष्टि से मुझे देख रहे हैं। कई ने तो मुझे न जाने की सलाह दी।”

“फिर आपने उनकी सलाह पर विचार नहीं किया?” छंदक ने पूछा।

“विचार तो किया, पर जाने का लोभ संवरण नहीं कर पा रहा हूँ।” अक्रूर ने स्पष्ट किया—“स्वयं मुझे कृष्ण से मिलने की आकांक्षा थी। जन्म से आज तक मैंने उसे देखा तक नहीं है। और जब उसके करतब सुने तो दर्शन की इच्छा ने विकल कर दिया।”

“इसके लिए कंस के आग्रह के पूर्व भी आप जा सकते थे। अरे, गोकुल की दूरी ही कितनी! आपके आवास से मुश्किल से दो घड़ी का रास्ता है।” छंदक बोला।

अक्रूर कुछ सोचने लगे और गंभीरता से बोले, “आप ठीक कहते हैं; पर यह तो आप सब जानते हैं कि मथुरा से गोकुल जानेवाले पर राजभवन की दृष्टि विस्फारित हो जाती है।”

छंदक हँसा—“आप जैसे वीतरागी के संदर्भ में भी ऐसा हो सकता है?”

“मेरा वीतराग राजभवन के राग को कम तो नहीं कर सकता है।” अक्रूर ने कहा, “आपने वसुदेव की हालत तो देखी ही है। बेचारे ने कौन सी नियति नहीं झेली!...और जब भी वे गोकुल जाते हैं, उनके पीछे गुप्तचर लगा दिए जाते हैं।”

गर्गाचार्य ने बताया था कि उस समय मथुरा के तनाव की स्पष्ट छाया अक्रूर की आकृति पर दिखाई पड़ी।

“अच्छा, तो आप भी इस स्थिति को जानते हैं!” छंदक ने हँसते हुए कहा।

“क्यों नहीं जानूँगा!” अक्रूर बोले, “आखिर वसुदेव हमारे बड़े भाई हैं। दूर के ही सही, पर वंश के तो हैं।”

“तब तो आप अपने भ्रातृज को ही लेने जा रहे हैं!” गर्गाचार्य ने कहा।

“और नहीं तो क्या! आप समझते हैं कि मैं राजाज्ञा का पालन करने जा रहा हूँ?”

“तब तो आप अवश्य जाइए।” आचार्यजी ने कहा।

“और यह जानकर जाइए कि वह आपका भ्रातृज भी है और देवकी का आठवाँ पुत्र भी।” छंदक सीधे अपने बिंदु पर आया।

“आपका तात्पर्य?”

“मेरा तात्पर्य स्पष्ट है। अब तो वह कंस का शत्रु स्थापित हो चुका है। उसकी रक्षा करना आपका कर्तव्य है।”

“जो दूसरों की रक्षा करता है, उसकी रक्षा मैं क्या करूँगा!” स्पष्ट था कि उनके ऊपर भी मेरे ईश्वरत्व का पानी चढ़ चुका था।

छंदक कुछ बोला नहीं। कभी-कभी वह समस्या की ओर संकेत भर करके चुप हो जाता था और बोई हुई चिनगारी का धुआँ देखता रहता था। पर आचार्यजी ऐसी स्थितियों से स्वयं को अलग रखते थे। उन्होंने एकदम बात दूसरी

ओर ढकेल दी।

“आप महामात्य से मिले?” उन्होंने अक्रूर से पूछा।

“क्यों? कोई विशेष बात है क्या?”

“नहीं, कोई विशेष बात तो नहीं है।” आचार्यजी थोड़ा गंभीर हुए—“उन्होंने बहुतों को गोकुल भेजा है। उनका अनुभव आपके लिए लाभप्रद होता।”

अक्रूर मुसकराए। उन्होंने आचार्यजी का संकेत समझ लिया—“हाँ, भाई, मिला तो था; पर कोई विशेष बात बताई नहीं वरन् बहुत दूर तक छोड़ने भी आए और अंत में काफी झुककर ‘शिवास्ते पंथान्’ भी कहा।”

“शिवास्ते पंथान्!” छंदक धीरे से बोला, “आपका मार्ग कल्याणकारी हो। इससे अधिक वे और क्या कहते!” छंदक ने एक बार फिर अपनी लगाई हुई चिनगारी पर फूँक मारी।

फिर कुछ देर तक का गंभीर मौन।

इस मौन को तोड़ा आचार्यजी ने ही—“चलिए, यह अच्छा ही हुआ कि आप अपने भ्रातृज को अपने यहाँ लाने जा रहे हैं।”

“नहीं, कंस के भानजे को उसके यहाँ लाने जा रहा हूँ।”

“यही मत कीजिएगा।” यह विनम्र वर्जना छंदक की थी। अक्रूर कुछ समझ नहीं पाए। छंदक ने फिर दुहराया, “जब आप उसे ला रहे हैं तो अपने यहाँ ही रखिएगा।”

आचार्यजी की दृष्टि से भी लगा कि वे छंदक का समर्थन कर रहे हैं।

“आखिर क्यों?” अक्रूर की शंका पर छंदक ने स्पष्ट बताया कि कंस के यहाँ उसे विष दिया जा सकता है।

“पर वृत्त की बातों से तो लगता था कि पुरानी बातों को समाप्त कर नया अध्याय खोला जा रहा है!”

“हो सकता है, नए अध्याय के पृष्ठों पर अचानक रक्त के धब्बे उभर आएँ।”

छंदक की बात पर अक्रूर सोचते रह गए। उनके सामान्य चिंतन पर मेरा ईश्वरत्व हमेशा आड़े आ जाता था। जो कालिय जैसे भयंकर विषधर को नाथकर भी निकल आया, उसे कौन विष दे सकता है!

फिर भी उन्होंने कहा, “देखिए, चेष्टा करूँगा।”

जब अक्रूर वहाँ से चले तब उनपर द्विविधा का बहुत बड़ा बोझ था। कीचड़ और दलदल से दूर रहनेवाला व्यक्ति ऐसी स्थितियों से घबरा जाता है; पर अक्रूर पर ऐसी कोई घबराहट न थी। साथ ही वह सहजता भी न थी, जो उनकी प्रकृति की पहचान बन चुकी थी।

वे अपने आवास की ओर लौट रहे थे कि दूर से उन्हें एक अभिवादन सुनाई पड़ा। उन्होंने मुड़कर देखा, पीछे एक बूढ़ा दौड़ा चला आ रहा था। वह कर्मा था, त्रिवक्रा का पिता।

उसने निकट आते ही पूछा, “आप गोकुल जा रहे हैं न, कन्हैया को लिवाने?”

“हाँ, जाने वाला तो हूँ।” अक्रूर ने कहा और समझ लिया कि मेरे गोकुल जाने की बात संक्रामक हो चुकी है। उसे हर कोई जान गया है।

“आप उसे मेरे यहाँ लाने की कृपा करेंगे?” बूढ़ा ऐसे गिड़गिड़ाया जैसे जन्म-जन्मांतर की उसकी कोई साध हो।

“मैं तो उसे महाराज कंस के यहाँ लिवाने जा रहा हूँ।” अक्रूर बोले।

“तब क्या होगा?” बूढ़े की विह्वलता निराश हो गई।

“मैं चाहता था उससे त्रिवक्रा को मिलाना। उसकी बड़ी इच्छा है उससे मिलने की।” इतना कहते-कहते बूढ़े का स्वर भीगने लगा—“लगता है, मैं उसकी यह साध पूरी न कर पाऊँगा और उसके प्राण-पखेरू उड़ जाएँगे।”

“क्यों? उसकी बीमारी बढ़ गई है क्या?”

“दिन पर दिन बढ़ती जा रही है। उसकी पीठ का कूबड़ ऊँचा उठता जा रहा है। उसका विश्वास है कि कन्हैया के दर्शन से वह स्वस्थ हो जाएगी।”

“यदि ऐसी बात थी तो तुम उसे लेकर गोकुल चले गए होते!”

“कई बार मैंने सोचा भी। मेरी पुत्री भी तैयार थी; पर हर बार अंगारक आड़ेआ गया—‘हमारे महाराज के शत्रु के यहाँ जाने की बात सोचते हो! कुशल नहीं है।’ ”

“अंगारक, तुम्हारा जामाता ऐसा सोचता है!” अक्रूर बोले और अंगारक की विभिन्न मुद्राएँ उनके मन पर उभरने लगीं।

“आप जरा मेरी पुत्री से मिलने की कृपा करेंगे?” कर्मा ने कहा और अक्रूर बड़े सहजभाव से उसके साथ हो लिये।

□

सन्नाटा जागरण को दबोचने लगा था। अँधेरा घिर आया था। गायें गोष्ठों में आ गई थीं। जब अक्रूर कर्मा के निवास पर पहुँचे, मालिनी बिस्तर पर पड़ी कराह रही थी। बाहर से बंद गवाक्ष पर सुगबुगाते दीप के सिसकते प्रकाश में उसकी पीड़ा करवट बदलती दिखाई पड़ी। जगह-जगह पर सिकुड़े हुए आस्तरण में उसकी छटपटाहट लिखी-सी थी।

“प्रणाम करो बेटी, देखो कौन आया है!” कर्मा ने कहा और कठिनाई होते हुए भी मालिनी ने झटके में करवट बदली।

हाथ जोड़ती हुई बोल पड़ी, “अरे, आप आ गए!”

उसने सोचा कि चिर प्रतीक्षित उसका कन्हैया आ गया। पर वहाँ तो अक्रूर थे।

अक्रूर ने उसकी मानसिकता का अनुमान लगा लिया। और उसका स्वप्न चूर होकर धरती पर गिरे, इसके पहले ही वह बोल पड़े, “अभी वे आए नहीं हैं, पर आ जाएँगे।”

मालिनी के मौन विस्फारित नेत्र अक्रूर को देखते रहे।

इस बीच बूढ़े ने अपनी बेटी की सारी कथा कही। किसी समय की अनिद्य सुंदरी मालिनी कैसे त्रिवक्रा हुई। उसपर प्राण निछावर करने की बार-बार शपथ लेनेवाला उसका पति कैसे उसे छोड़ बैठा, यह सब संक्षेप में उसने कह सुनाया।

“तुमने महाराज से इस संबंध में नहीं कहा?” अक्रूर ने पूछा।

“कहा था। उन्होंने कृपा कर राजवैद्य की चिकित्सा भी सुलभ करा दी थी। तब अंगारक भी इसकी देखभाल करता रहा। किंतु धीरे-धीरे इसकी हालत बिगड़ती गई। तन टेढ़ा होता गया। पीड़ा बढ़ती गई। अंत में राजवैद्य ने भी रोग की असाध्यता की घोषणा कर दी।” बूढ़े की आँखें भर आईं।

“मालिनी तो राजकीय सेवा में थी। वृत्ति नहीं मिलती?”

“वृत्ति मिलती थी। महाराज इसे बहुत मानते थे। उन्होंने ही अंगारक से विवाह कराया था—और विवाह के बाद उसे हस्तिपाल भी बना दिया।...अंगारक भी हमारे परिवार का कृतज्ञ था कि उसने हमारी कृपा से ही यह उच्च पद पाया है। लेकिन वह सारी स्थिति बदल गई।”

अक्रूर सोचते रहे।

“आखिर फिर क्या हो गया?”

“हम लोगों से एक भूल हो गई।” बूढ़े ने बताया, “छंदक ने अपनी आँखों में ज्योति के लौटने की बात कही और बताया, ‘तू अब बिना कन्हैया की कृपा के ठीक नहीं हो सकती।’ बस हमने कन्हैया से मिलने का निश्चय किया।” इतना कहने के बाद बूढ़ा चुप हो गया।

“तो मिले क्यों नहीं?” अक्रूर बोला।

“मिलता कैसे? पता नहीं इसकी भनक महाराज को कैसे लग गई! उनके दूत यमदूत की तरह आ पहुँचे। फिर क्या था! वृत्ति भी बंद हो गई। राजकीय चिकित्सा से भी मेरी बेटी वंचित कर दी गई—और ऊपर से हमें यह धमकी भी मिली कि महाराज के शत्रु से तुम मिलने जा रहे हो! मथुरा से निष्कासित कर दिए जाओगे।”

“पर छंदक तो बहुधा जाता है—और सब इसे जानते भी हैं; पर वह निष्कासित तो नहीं किया गया!”

“वह समर्थ है। उसके पीछे लोग हैं।” कर्मा बोला, “केवल घास रेंदी जाती है, महाराज! अपनी जड़ों का जाल बिछा देनेवाला वृक्ष नहीं।”

अक्रूर मौन सोचते रहे। उनकी दृष्टि मालिनी पर थी। वह हरित मृगी-सी असहाय उन्हें देखती रही।

“...और दुर्भाग्य यह कि इस स्थिति को पैदा करने में मेरे जामाता की ही विशेष भूमिका थी।” बूढ़ा बोला।

“आखिर वह आपसे इतना अप्रसन्न क्यों है?”

“यह तो वही बता सकता है।” बूढ़े ने कहा और कुछ सोचते हुए जो कुछ बताया, उसका सारांश था—“सौंदर्य का लोभी भौंरा विकलांग को क्यों ढोता? फिर उसे महाराज से वाहवाही भी लूटनी थी।”

“फिर आप महाराज से नहीं मिले?”

“मिला था। मैंने यह भी बताया कि कृष्ण से मिलने का निर्णय मालिनी का नहीं था, उसके इस बूढ़े और अभागे बाप का था। आप मेरे अपराध की सजा मेरी पुत्री को न दें।” बूढ़े की आँखें फिर झलझला आईं।

“तब क्या कहा महाराज ने?” अक्रूर ने पूछा।

“कहा क्या! दाँत पीसते हुए बोले, ‘तब तुम्हें ही सूली पर चढ़ा देना चाहिए।’ मैंने कहा, ‘मैं सहर्ष तैयार हूँ; पर मेरी पुत्री की वृत्ति बंद न कीजिए। उसकी राजकीय चिकित्सा चलने दीजिए।’ ”

“फिर क्या कहा उन्होंने?”

“मेरी एक नहीं सुनी। उनका किटकिटाता राजकीय अभिमान बोला, ‘छूटा हुआ बाण और कंस की राजाज्ञाएँ वापस नहीं हुआ करतीं।’ मैं मुँह लटकाए चला आया।”

कर्मा ने बताया, “तब से मैं दाने-दाने के लिए मुहताज हो गया। मेरी बेटी शय्या पर छटपटाती रहती है। रोग बढ़ता जा रहा है। अब उसके लिए कन्हैया के सिवा कोई सहारा नहीं रहा।” उसने गिड़गिड़ाते हुए विनती की—“आप कन्हैया को मेरे यहाँ अवश्य ले आइएगा।”

यहाँ एक बात और द्रष्टव्य है कि अक्रूर की मालिनी के प्रति कोई अच्छी धारणा नहीं थी। इसका मूल कारण था मालिनी के सौंदर्य की चपलता। जब मालिनी स्वस्थ और अविवाहित थी, तब वह सुगंधियाँ लेकर अक्रूर के यहाँ भी जाती थी और ऐसे हाव-भाव दिखाती थी कि वह साधु चित्त विचलित हो उठता था।

मालिनी ने मुझे बताया था कि उसके पीछे उसकी कोई वासना नहीं थी वरन् यह उसके अल्हड़ यौवन का परिणाम था। एक दिन अक्रूर उसकी इस नटखट चेष्टा से इतने खीज उठे थे कि उन्होंने दोनों हाथों से अपना मस्तक ठोंकते हुए कहा था कि ‘यदि मेरे पास तीसरा नेत्र होता तो मैं भी तुझे वैसे ही भस्म कर देता जैसे शिव ने कामदेव को किया था।’

फिर मालिनी उनके यहाँ कभी नहीं गई।

अक्रूर को वह सबकुछ याद था। पर यह मालिनी वह मालिनी नहीं थी। यह तो त्रिवक्रा थी—व्यथित और रुग्ण त्रिवक्रा। अक्रूर उसकी इस स्थिति पर द्रवित हो चले थे; पर कृष्ण को ले आने के मामले में वे बड़े असमंजस में पड़े थे। वे सोचने लगे, ‘यदि कंस ने सीधे कन्हैया को राजभवन में बुला लिया, तब क्या करूँगा?’

वे बस इतना कह पाए, “देखिए, चेष्टा करूँगा।”

“चेष्टा नहीं, उन्हें अवश्य लाइएगा।” मालिनी ने पीड़ा से कराहते हुए कहा, “अब उनके बिना मैं जी नहीं सकती।”

अक्रूर फिर सोच में पड़ गए—“और मान लो, वह तुम्हें स्वस्थ न कर सके तो?”

“मेरा दाह-संस्कार तो कर सकेंगे!” मालिनी छूटते ही बोली।

अक्रूर एकदम सकते में आ गए। उन्हें अपने सुने पर विश्वास नहीं हो पा रहा था।

“बेटी, तू तो सधवा है न?”

“...और सधवा ही मरना चाहती हूँ।”

“अब तो अंगारक तेरा पति है ही।”

“वह मेरे लिए मर चुका है, जैसे मैं उसके लिए मर चुकी हूँ।” मालिनी बोली, “अब मेरी माँग में लगा यह सिंदूर उसके लिए नहीं है, यह तो बस कन्हैया के लिए है।” इतना कहकर उसने आँखें बंद कर लीं और पता नहीं कहाँ खो गई।

कुछ देर तक एकटक देखते रहने के बाद अक्रूर ने पूछा, “तुमने कन्हैया को देखा है?”

“नहीं।” फिर अचानक आँखें खोलते हुए वह बड़बड़ाई—“हाँ-हाँ, उसे देखा है।”

“कहाँ?”

“मन में। और...और अब भी देख रही हूँ।”

अक्रूर मौन थे। वह स्वयं बड़बड़ाई—“अब आप यह नहीं पूछेंगे कि वह तुम्हारे मन में कैसे आए?...यह भी उनकी कृपा है, दया है।”

मालिनी की पीड़ा ने हरियाली ओढ़ ली। वह विह्वल दिखी।

“यदि ऐसी बात है तो वह तुझपर अवश्य कृपा करेंगे।” अक्रूर बोले।

□

तपती दोपहरी ढलने लगी थी। आकाश जलते तवे-सा लाल था। अक्रूर के आने की प्रतीक्षा में गोप लोग कई बार गाँव के बाहर तक हो आए थे; क्योंकि हमें उनके आने की पूर्व सूचना छंदक द्वारा मिल चुकी थी। वह लपटों के पूर्व धुएँ की तरह आज मुँहअँधेरे ही आ गया था।

कुछ देर बाद एक हल्ला-सा हुआ। हम लोगों ने प्रासाद के बाहर आकर देखा। मथुरा से आनेवाले मार्ग पर कोलाहल था। शंका हुई, ऐसा तो नहीं कि अक्रूर आ रहे हों और गोप उनका रास्ता रोककर न आने देने के लिए सत्याग्रह कर रहे हों।...पर यह तो सत्याग्रह नहीं है, बिल्कुल अनुचित है। उनके आने को हमें रोकने का क्या अधिकार है? वरन् अशिष्टता है। पर मेरे प्रति गोपों की आत्मीयता कुछ भी करा सकती है।...हम सोचते रहे। क्या गोपों को मनाने मुझे ही जाना पड़ेगा?

इस निष्कर्ष पर पहुँचते-पहुँचते सूचना मिली कि अक्रूरजी आ रहे हैं।

इसी बीच और लोग भी उधर दौड़े। मैंने देखा, कपिला भी उधर जा रही है। अवश्य कोई बात है। नंदजी ने भी अगवानी के लिए कुछ लोगों को भोजना चाहा।

“हम भैया के साथ स्वयं चले जाते हैं।” मैंने कहा और बलराम को लेकर चल पड़ा। मेरे मन में आया कि कहीं ऐसा न हो कि कपिला वहाँ पहुँचकर अक्रूर को रोकनेवालों से तांडव कर बैठे।

पर वहाँ तो दूसरा ही दृश्य था। गोपों को देखते ही वे रथ से उतर पड़े थे। उनका अभिवादन किया था और कहा था, “आप लोग कन्हैया के गाँव के हैं, इसीलिए हमारे लिए कन्हैया जैसे ही पूज्य हैं।”

उन्हीं गोपों के साथ अक्रूर विह्वल-से चले आ रहे थे। उनकी प्रसन्न आँखें ऐसी सकपकाई-सी चारों ओर देख रही थीं जैसे किसी अनजानी, अनचाही स्वर्गिक धरती को निहार रही हों। हमें देखते ही तो वे विह्वलता में एकदम आगे बढ़े। मेरा ईश्वरत्व उनपर पूरी तरह प्रभावी था। वे हमारे चरणों पर गिरना चाहते थे और हम उनके चरणों पर। अंत में उन्होंने हम दोनों को एक साथ ही अपनी छाती से लगा लिया।

हम लोग विह्वलता में द्वार तक कैसे आए, सो कैसे बताऊँ!

अक्रूर की आँखें प्रेमाश्रु से झलझला आई थीं। नंदजी को देखते ही वे चरणों पर गिर पड़े। लोग बड़े आश्चर्य से उन्हें देखते रह गए। अब तक कंस ने जितने लोगों को भेजा था, वे उससे सर्वथा भिन्न लगे। उन्होंने कभी सोचा भी नहीं था कि अक्रूर ऐसे होंगे। ब्रजवासियों की मेरे प्रति की गई सारी आशंकाएँ लगभग धुलने लगीं।

फिर भी यशोदा मुझे जाने देना नहीं चाहती थी। उसने अक्रूर से सबके सामने ही कहा, “आप पधारे हैं, हमारा सौभाग्य है; पर हम बच्चों को जाने नहीं देंगे।”

अक्रूर ने माँ को मुसकराते हुए देख लिया। बात बड़े हलके ढंग से समाप्त हो गई। एक हलकी लहर आई और जैसे छूकर चली गई। पर कपिला के मन में संशय जाग उठा। मैंने स्पष्ट देखा, उसके चेहरे का रंग एकदम बदल चुका था। वह बड़े ध्यान से पूरे माहौल को देख रही थी।

पूरी आवभगत के बाद अक्रूर ने कंस का निमंत्रण दिया।

“हम आपके आने का प्रयोजन पहले से ही जानते थे।” नंदजी ने कहा, “पर हमें यह ज्ञात नहीं था कि यह निमंत्रण हम सबके लिए होगा।”

“महाराज, यह उत्सव है और उत्सव केवल कन्हैया के लिए तो है नहीं।” अक्रूर ने हँसते हुए कहा, “कंस तो इसमें अपने सभी सगे-संबंधियों को सादर बुला रहे हैं।”

“क्या उनका निमंत्रण वसुदेव और देवकी के लिए भी है?”

“अवश्य है!” अक्रूर बोले, “हमें उनसे भी मिलना है। सुना है, आजकल वे गोकुल में ही रह रहे हैं।”

“गोकुल में ही नहीं, यहाँ से एक योजन दूर यमुना के कछार में ही उनकी पर्ण कुटी है।” नंदजी बोले, “आप क्यों कष्ट करेंगे, मैं स्वयं आपका संदेश भेज दूँगा।”

“पर क्या केवल संदेश से काम हो जाएगा?” अक्रूर एक बार फिर मुसकराए।

उनकी मुसकराहट में संदेह था। उन्हें विश्वास नहीं हो पा रहा था कि अब तक की कटुता मात्र एक संदेश से दूर हो जाएगी। जिसका राजविलास कारा की कठोर दीवारों ने छीन लिया हो।...फिर ऐसी विरक्ति हुई कि वह यमुना के कछार पर पर्णकुटी बनाकर रहने लगा हो, उसे मात्र संदेश भिजवाना पर्याप्त होगा?

अक्रूर को कहना पड़ा, “हो सकता है, संदेश से संदेह और बढ़े।”

“पर यह औरों द्वारा दिया गया संदेश नहीं है। यह आप द्वारा दिया गया संदेश है। इसके पीछे आपके व्यक्तित्व की गरिमा है।” नंदजी ने थोड़ा जोर देकर कहा, “कौन नहीं जानता उस व्यक्तित्व को, जिसने क्रोध पर भी विजय पा ली है!”

अपनी प्रशंसा को झेलते रहनेवाली अक्रूर की दृष्टि संकोच का अनुभव करती हुई झुक गई। वे कुछ बोल नहीं

पाए।

पर कपिला अब भी उन्हें बड़े गौर से देख रही थी।

□

संध्या खिसकने को आई, फिर भी मेरे यहाँ आनेवालों का ताँता लगा रहा। इसका मुख्य कारण अक्रूर का व्यक्तित्व था। वह कैसा व्यक्ति होगा, जिससे क्रोध भी हार मान बैठा। क्रोध तो मानव की सहज प्रवृत्ति है। इसपर अधिकार करने के बाद तो मनुष्य देवता हो जाता है। सचमुच अक्रूर का दर्शन देव-दर्शन था।

जब तक अँधेरा नहीं हो गया, लोगों के आने का क्रम चलता ही रहा। पर कपिला अँधेरा घिरने पर भी नहीं गई। उससे अधिक अँधेरा उसके मन में संशय का था। ऐसा न हो कि कन्हैया कहीं न जाए। अब तो उसकी 'मानता' वाली बात भी खुल चुकी है। लगता है, वह एकांत में अक्रूर से मिलना चाहती थी; पर ऐसा मौका उसे मिला नहीं।

थोड़ी देर बाद जब गाँव के लगभग सभी लोग जा चुके थे, तब छंदक आया। लगता है, उसे भोजन पर बुलाया गया था।

जब सभी लोग भोजन पर बैठने लगे और कपिला को किसीने नहीं पूछा, वह चली गई। मैं भी उससे काफी नाराज था; क्योंकि राधा कहीं दिखाई नहीं पड़ी। अवश्य ही वह उसे घर में बंद कर आई होगी। अन्यथा अक्रूर के आगमन पर इतने लोग आए, क्या वह न आती!

भोजन पर ही बातें आरंभ हुईं। उसे गंभीरता प्रदान की छंदक की दार्शनिकता-युक्त नाटकीयता ने या नाटकीयतायुक्त दार्शनिकता ने। बात यह हुई कि छंदक की दृष्टि दीपदान की ओर थी।

पिताजी ने पूछा, “क्या देख रहे हो, छंदक?”

“देख तो दीपदान को ही रहा हूँ।” छंदक बोला।

“पर ऐसी टकटकी लगाकर!” पिताजी की मुसकराहट में कुतूहल था।

“हाँ, देख रहा हूँ कि जब सूरज डूब जाता है, तब अपना उत्तराधिकार इन नन्हे-नन्हे दीपों को सौंप जाता है।” छंदक बोलता रहा, “जिससे ये बेचारे दीप अगले सूरज के उदित होने तक अंधकार से लोहा लेते रहें।...एक ओर तो ये अँधेरे से लड़ते हैं, आपके स्नेह के बल पर और दूसरी ओर अगले सूरज की प्रतीक्षा भी करते हैं।”

“आपके कहने का तात्पर्य क्या है?” नंदजी बोले।

“मैं उस दीपक की खोज में हूँ, जो यदि सूरज के डूबने पर भी न उगे तो उसका स्थान ले सके।”

लोगों ने समझ लिया कि यह कन्हैया के संदर्भ में ही बोल रहा है।

पिताजी तो चुप ही रहे, पर अक्रूर बोले, “आप भ्रम में हैं, छंदक।”

“क्यों?”

“क्योंकि सूर्य न कहीं डूबता है और न ही उदित होता है, केवल पृथ्वी घूमती है।” और फिर वे जोर से हँसे — “केवल परिस्थिति बदलने से आप यह न सोचें कि सूर्य डूब रहा है।”

छंदक को उत्तर मिल गया था; पर उसने व्यर्थ में बात बढ़ाई—“मैं भी समझता हूँ कि सूर्य नहीं डूबेगा; पर उसके ओझल हो जाने के बाद दीपक तो जलाना ही पड़ेगा।”

“दीपक जलाइए या चिनगारियाँ बोझिए।”

छंदक हँसा—“चिनगारियाँ प्रकाश नहीं, केवल ताप देती हैं। और ताप ही उनके जीवन का उद्देश्य भी है।”

छंदक की हँसी में औरों की हँसी सम्मिलित हो गई।

हँसी थमते ही अक्रूर बोले, “लगता है, आपके विश्वास में कहीं कोई कमी आई है।” छंदक की मुद्रा प्रश्नवाची

हुई। अक्रूर बोलते रहे, “यदि आपने विश्वास किया है कि वह सूर्य है, तब ऐसी बातें क्यों करते हैं?”

“मेरे विश्वास से क्या होता है! और लोग तो विश्वास नहीं करते।”

“इसका मतलब है कि आप संसार को उल्लू समझते हैं।” अक्रूर और जोर से हँसे—“उल्लूओं को ही सूर्य की पहचान नहीं होती।”

छंदक चुप हो गया। एकदम चुप। उसका चलाया हुआ बाण इतना निरर्थक सिद्ध होगा, इसका उसे अनुमान नहीं था।

थोड़ी देर बाद छंदक ने स्वयं बात छोड़ी—“तो कंस की योजना क्या है?”

“इसे तो प्रभु ही जानते होंगे।” अक्रूर बड़े सहजभाव से बोले, “कंस की किसी योजना के संबंध में मुझे नहीं मालूम है।”

“तब क्या बिना योजना की पूरी जानकारी के कृष्ण को मथुरा जाना चाहिए?” छंदक ने सीधे-सीधे मूल समस्या पर ही अँगुली धर दी। उसने आगे भी कहा, “जबकि यह प्रचारित हो गया है कि कन्हैया ही देवकी का आठवाँ पुत्र है।”

“...और यह भी सर्वविदित है कि कन्हैया कंस का भानजा है।” अक्रूर पुनः हँसे—“यह भी विदित है कि उसकी माँ के विवाह की पालकी भी कंस ने उठाई थी।” इसके बाद अक्रूर थोड़ी देर तक मौन हो कुछ सोचने लगे थे। फिर उन्होंने दार्शनिकों जैसी मुद्रा में कहा था, “मनुष्य खराब नहीं होता, छंदक! परिस्थितियाँ खराब होती हैं। और वही अपने अनुसार मनुष्य को बना लेती हैं।...मनुष्य के भीतर जहाँ दानवत्व होता है, वहीं देवत्व भी। यदि दानवत्व जाग सकता है तो देवत्व भी जाग सकता है। हर अँधेरे घटाटोप में कहीं-न-कहीं प्रकाश की किरण भी होती है, भले ही वह तड़ित तरंग की तरह चमककर लुप्त हो जाए। पर स्थिति बदलते ही जब वह अरण्यविहारिणी हो जाती है तब दावाग्नि के रूप में प्रलयकारी हो जाती है। यह सब स्थितियों का प्रभाव है।”

अक्रूर बोलते जा रहे थे, “स्थितियाँ थीं कि कंस देवकी की पालकी उठाता था। स्थितियाँ ऐसी भी हुई कि वह उनकी संततियों के प्राण का प्यासा हो गया। देवकी और वसुदेव को कारा मिली।...तो क्या ऐसी परिस्थितियाँ नहीं हो सकतीं कि वही देवकी और उसके पुत्र फिर उसे प्रिय हो जाएँ?”

“ऐसी परिस्थिति तो मुझे दिखाई नहीं देती।” छंदक बोला।

“बहुत कुछ हमें दिखाई नहीं देता; पर उसका अनुमान लगाया जा सकता है।” अक्रूर बोले, “क्या यह नहीं हो सकता कि कंस ने यह समझ लिया हो कि मैं अपने काल को जब परास्त कर नहीं सकता तब उसका अभिनंदन ही किया जाय। शायद अभिनंदन-वंदन से वह सुरक्षित हो जाए।”

“पर कंस जैसे व्यक्तित्व से इस समझदारी की आशा करना मेरे लिए थोड़ा कठिन है।” छंदक अपने ही छोर पर खड़ा रहा।

“यह साधारण व्यक्ति भी समझता है कि मृत्यु को परास्त करने की हठवादिता से कहीं उचित है, उससे समझौता कर लेना।” अक्रूर बोले, “जीवन का अस्तित्व ही इस समझौते पर टिका है।...और लगता है, कंस जीवन को रसपूर्वक जीना चाहता है।”

छंदक अब भी अक्रूर के तर्कों को मानने के लिए तैयार नहीं था। वह उनके समक्ष मस्तक झुकाते हुए बोला, “आप चाहे जो कह लें, पर बात कंठ के नीचे नहीं उतरती। आप ही सोचिए, वह देवकी के आठवें बेटे से समझौता कर सकता है, पर अपने पिता से नहीं।”

“पिता से उसे मृत्यु का खतरा नहीं है।” अक्रूर बोले।

“इसका तात्पर्य है कि वह मृत्यु के खतरे से समझौता कर रहा है, कन्हैया से नहीं।”

“इसमें भी कोई संदेह है!”

“तब तो स्पष्ट है कि उसका यह समझौता भी नीतिपरक है।” छंदक बोला, “यही तो मैं कह रहा था।”

इसके बाद बात एकदम बदल गई। पिताजी आरंभ से अंत तक बहुत कम बोले थे। केवल तट पर खड़े होकर वागधारा के संगम और उसमें उठती-गिरती लहरियों को देखते रहे।

मेरे जाने के संबंध में न पिताजी किसी निष्कर्ष पर पहुँच सके थे और न छंदक ही। माता यशोदा ने तो पहले से ही मुझे न भेजने की राय बना ली थी।

रात में अचानक राधा आ धमकी। वह काफी घबराई हुई लग रही थी। वह आते ही मुझे खींचकर एकांत में ले गई। बोली, “क्या हुआ?”

मैं कुछ समझ नहीं पाया। मैंने स्पष्ट करने को कहा।

उसने कहा, “मैं तुम्हारे जाने के बारे में पूछ रही हूँ।”

“अभी मुझे कोई आदेश नहीं मिला है। अक्रूर ने आकर निमंत्रण दे दिया है।” फिर मैंने भोजन पर हुई बातों का सारांश बताया।

वह समझ गई कि द्विविधा की स्थिति है।

“माँ को इसका अनुमान लग गया है।” राधा बोली।

“क्या तुमसे उसने बताया?” मैंने पूछा।

“बताया तो नहीं, पर ऐसा ही कुछ मुनमुना रही थी। वह अक्रूर को घर पर बुलाना चाहती थी। इसके लिए उसने पकवान भी बनाए थे।” राधा ने कहा।

“तब लिवा क्यों नहीं ले गई?”

“कैसे लिवा ले जाती? पूरा गाँव उन्हें घेरे था।”

“तुम तो आई नहीं थीं, तब तुम्हें कैसे मालूम?”

“माँ पिताजी से कह रही और गाँववालों को कोस रही थी।” राधा बोली और मुझे हँसी आ गई।

झुँझलाया व्यक्ति जब अपना सिर पटक सकता है तब वह अगर लोगों को कोसे तो आश्चर्य क्या!

मैंने बात बदलते हुए पूछा, “आज इतने लोग मेरे यहाँ आए, पर तू नहीं दिखाई पड़ी?”

“दिखाई कैसे पड़ती! मुझे तो माँ घर में बंद करके आई थी।” राधा बोली और बताया, “माँ को विश्वास है कि सबकुछ होने के बावजूद यदि मैं चाहूँगी तो कन्हैया को रोक लूँगी।”

“वह ठीक सोचती है।” मैंने कहा।

राधा प्रसन्नता में उछल पड़ी—“तो मैं तुम्हें रोक सकती हूँ! पर तुमने तो मेरा कहा कभी नहीं माना।” कालिय संदर्भ से लेकर वह कई घटनाएँ गिना गई। मैं चुपचाप सुनता और मुसकराता रहा। वह मेरे दोनों हाथ पकड़कर आह्लादित होते हुए बोली, “मैं तुम्हें रोक लूँगी न?”

“रोका तो उसे जाता है, जो कहीं जा रहा हो।” मैंने कहा और वह मेरे कंधों पर दोनों हाथ रखकर चिड़ियों-सी फुदकने लगी।

दूसरे दिन प्रातःकाल जलपान पर फिर लोग इकट्ठे हुए और कंस के निमंत्रण की पुनः बात छिड़ी। अक्रूर ने स्पष्ट किया—“इस उत्सव में वसुदेव और देवकी ही नहीं, देवक भी बुलाए जाएँगे। मुख्य रूप से यह सद्भावना आयोजन है—घृणा, द्वेष और हिंसा का माहौल बदलने के लिए। वृत्घ्न का तो यहाँ तक कहना है कि अब कंस

बिल्कुल बदल चुका है।”

“साँप कितना भी बदलेगा, पर वह विषहीन तो हो नहीं सकता। विष उसकी जैविक क्रिया का परिणाम है; उसके जीवधर्म से जुड़ा है।”

छंदक ने ऐसे विचित्र ढंग से कहा था कि बातों में अवरोध आता दिखाई दिया। स्वयं छंदक ने भी इसका अनुभव किया और बड़ी योग्यता से स्थिति को सँभालते हुए अक्रूर को संबोधित कर बोला, “आप नितांत सरल और सज्जन व्यक्ति हैं। अपनी ही दृष्टि से संसार को देखते हैं।”

“तब मैं आपकी दृष्टि कहाँ से ले आऊँ!” अक्रूर के स्वर की रुक्षता ने उनकी नाराजगी स्पष्ट कर दी।

अब आचार्य श्रुतिकेतु ने बीच-बचाव किया—“आप लोग काफी उलझे हुए मालूम होते हैं, इसलिए व्यर्थ का तर्क करते जा रहे हैं। अरे, अब तक कन्हैया के संदर्भ में जो कुछ हुआ है, उसमें हमारा या आपका कितना हाथ रहा है?”

एक प्रश्न उछालकर वह क्षण भर बाद ही बोल पड़े, “मैं तो अब तक यह भी नहीं जान पाया कि नियति के हाथ में कन्हैया है या कन्हैया के हाथ में नियति!”

आचार्य पर मेरा ईश्वरत्व बेहद सवार था। उनका विचार था कि जो सबकी रक्षा कर सकता है, जिसने इंद्र की भी चुनौती स्वीकार की, उसकी रक्षा के संबंध में सोचना भी व्यर्थ है। साथ ही, वह यह भी कहते थे कि हम अपने अनुसार ही भविष्य का अनुमान लगाते हैं और अपनी सीमित तथा खंडित दृष्टि से अखंडित को देखते हैं। वस्तुतः भविष्य की विशालता हमारे चिंतन की परिधि में समा नहीं पाती। हम सोच भी नहीं पाते कि कल क्या होगा?...हो सकता है, कुछ अच्छा ही होने वाला हो।

निदान, निमंत्रण स्वीकार कर लिया गया। मुझे बड़ी प्रसन्नता थी। मैंने आज तक उस मथुरा को नहीं देखा था, जो कंचन की नगरी थी। एक कंचन की नगरी और भी थी—लंका, जहाँ राक्षसता निवास करती थी। यही स्थिति मथुरा की भी थी, जिसकी कारा में मैं पैदा हुआ था—और जहाँ के लोग मेरी प्रतीक्षा में पलक-पाँवड़े बिछाए थे। मेरा कुतूहल, मेरी जिज्ञासा मथुरा की ओर मुझे खींच रही थी।

और अब अवसर भी अच्छा था।

इतना होने पर भी मेरे पिताजी मुझे भेजने के पक्ष में नहीं थे। उन्हें एकांत में श्रुतिकेतु ने समझाया, “बहुत हो सकता है, कंस की नीयत खराब हो, यही न! पर अब तक उसकी नीयत कौन अच्छी थी? क्या कर लिया उसने और क्या नहीं होने दिया तुमने? फिर हमारे हाथ में क्या है?”

“केवल एक बात है।” पिताजी बोले।

“क्या?”

“कि हम कन्हैया को रोक लें।”

“यह भी आपके हाथ में नहीं है। क्या इंद्र-पूजन के विरोध से आपने कन्हैया को रोक लिया था? क्या कालीदह में कूदने से आपने कन्हैया को रोक लिया था?”

पिताजी चुप थे। उनकी चिंतित मुद्रा से ऐसा लगा कि वे ऐसे चौराहे पर खड़े हैं, जिससे फूटनेवाला हर रास्ता आगे बंद दिखता है।

आचार्यजी ने पिताजी के समक्ष एक दूसरा तर्क रखा—“और मान लीजिए, आपने नहीं भेजा तो क्या कंस शांत बैठेगा? यदि उसकी नीयत खराब ही है तो वह सैनिक कार्यवाही करेगा। उसे आधार मिलेगा कि लोग मेरे भानजे को भी मेरे पास नहीं भेजते। हो सकता है कि जनमत भी उसके पक्ष में हो जाए।”

पिताजी आचार्यजी को चुपचाप सुनते रहे।

“और जनमत को विरुद्ध करना बड़ी भूल होगी।” आचार्यजी बोलते जा रहे थे, “ऐसी ही भूल कंस ने की है। देखना, यही भूल उसके विनाश का कारण भी होगी।...बहुत होगा, वह कन्हैया के साथ विश्वासघात करेगा। ऐसी स्थिति में जनमत का विरोध ऐसा भभकेगा कि वह सँभाल नहीं पाएगा।”

पिताजी को आचार्यजी ने अच्छी तरह समझा दिया। फिर भी उनकी व्यग्रता शांत नहीं हुई थी।

“आप घबराते क्यों हैं! हम सब तो साथ रहेंगे ही। जो होगा, देखा जाएगा।”

पिताजी तैयार हो गए। तब छंदक को भी शांत करते उन्हें देर न लगी—“तुमने अब तक जो चिनगारियाँ बोई हैं, वह फसल पकने को आई है। यदि मौके पर तुमने उसे काटा नहीं तो भेड़िये उसे खा जाएँगे। तुम आज ही चले जाओ और उसे काटने की तैयारी करो।”

छंदक एक आज्ञा-पालक श्वान की तरह चुपचाप चल पड़ा। इसके पूर्व मैंने उसे विवाद किए बिना किसी बात को स्वीकार करते हुए कभी नहीं देखा था।

दूसरे दिन कपिला भी अक्रूर से मिलने आई। पहले तो इधर-उधर सकपकाई-सी घूमती रही। माता यशोदा से पूछा कि अक्रूर कब जाएँगे। दुःख से तपते मन पर जैसे छन से पानी पड़ा। वह एकदम झल्ला उठी—“जब मन होगा तब जाएँगे, तुमको इससे क्या लेना-देना है?”

कपिला चुपचाप उस समय वहाँ से हट गई। किंतु छंदक के चले जाने के बाद अक्रूर किसी काम से घर के बाहर निकले और उसे उनसे मिलने का मौका मिल गया। वह बड़ी देर तक पीपल के नीचे खड़ी-खड़ी बातें करती रही। उसने क्या बातें कीं, यह तो नहीं मालूम; लेकिन लोग लगातार उसकी चिंतित मुद्रा और अक्रूर की मुसकराहट देखते रहे।

लौटकर जब मेरे पिताजी से उनकी बातें हुईं तब वह हँसते हुए कपिला के ही संदर्भ में बोले, “बड़ी विचित्र युवती है वह।”

“क्यों?”

“जब गोकुल के अधिकांश व्यक्ति कन्हैया को मथुरा ले जाने का विरोध कर रहे हैं तब मात्र एक यही ऐसी औरत है, जो उसे मथुरा अवश्य ले जाने के लिए जोर दे रही है। आखिर बात क्या है?”

“भगवान् जाने!” नंदजी सोच में पड़ गए।

“ठीक इसकी विपरीत स्थिति मथुरा में दिखाई पड़ी।” अक्रूर बोले, “वहाँ के सामान्य लोग भी संप्रति कृष्ण को मथुरा में लाने के पक्ष में नहीं हैं, सिवा एक युवती के।”

पिताजी ने जिज्ञासा की और अक्रूर ने त्रिवक्रा की सारी कहानी कह सुनाई—“उसे विश्वास है कि कन्हैया के दर्शन ने जैसे छंदक की ज्योति लौटाई वैसे ही उसका स्वास्थ्य भी उनकी कृपा से लौट आएगा।”

“क्या कहा आपने, यह त्रिवक्रा ही मालिनी थी?” पिताजी ने कुछ सोचते हुए पूछा।

“हाँ, थी तो वही।”

“तब तो मैंने उसे देखा है। वह तो अनिंद्य सुंदरी थी। सुगंधियाँ बेचती थी।”

“हाँ-हाँ, वही।” अक्रूर बोले, “सुंदरी तो वह अब भी है, पर विकृत है।”

नंदजी कुछ सोचने लगे। इसके थोड़ी ही देर बाद मेरा जाना निश्चित हो गया। सिर्फ यह निश्चय हुआ कि अक्रूरजी कन्हैया और बलराम को अपने साथ ले जाएँ। अन्य लोग उत्सव के दिन ही मथुरा पहुँचेंगे।

हम दोनों प्रसन्न थे। दोनों जोखिम को गले लगाने में एक विशेष प्रकार के सुख की अनुभूति करते थे।

इस निश्चय की सूचना गोकुल गाँव में अफवाह की तरह फैल गई। गोप, गोपियाँ सभी मेरे यहाँ आने लगे। जो सुनता, वही दौड़ा हुआ चला आता था। लोगों की भीड़ बढ़ती हुई देखकर मैं अपने आवास के बाहर उद्यान में चला आया।

राधा मुझसे लिपटकर रोने लगी। ललिता और विशाखा के आँसू नहीं थम रहे थे।

“मैं भी तुम्हारे साथ चलूँगी।” राधा जिद करने लगी। पर महिलाओं के लिए निमंत्रण नहीं था।

“तुम कैसे चलोगी, राधा?” मैंने उसे समझाया।

“तब मैं कैसे रहूँगी यहाँ?” वह रोते हुए बोली।

“जैसे अभी हो।”

“यह कैसे हो सकता है?”

मैंने कहा, “यहाँ न रहकर भी मैं तुम्हारे पास रहूँगा और तुम मेरे पास रहोगी। प्रेम के लिए शारीरिक निकटता का महत्त्व नहीं होता।”

किंतु मेरे इस कथन का प्रभाव उसपर स्थायी नहीं पड़ा। वह कुछ सोचने के बाद पुनः रोने लगी। प्रकाश से कहीं अधिक उस प्रकाश को बिखेरनेवाले दीप के प्रति उसकी आस्था अधिक थी; क्योंकि वह ज्योति से कहीं अधिक ज्योति का आधार चाहती थी।

इंद्र का विरोध लेकर मैं मेघों की बौछार तो सह गया था, पर इन आँसुओं की बौछार को झेल पाने की मुझमें सामर्थ्य नहीं थी। मैं किसी तरह उनसे पीछा छुड़ाकर जब भीतर आया तो सुना कि माँ यशोदा बेहोश पड़ी है। पिताजी उसके मुख पर सुगंधित शीतल जल के छीटे डाल रहे थे। संज्ञा लौटते ही उसने मुझे खड़ा देखा।

छाती से चिपकाकर फफक पड़ी—“यदि तुझे जाना ही था तो मेरे यहाँ आया क्यों था?”

छाती से चिपकाए वह फूट-फूटकर रोती रही।

मैंने कभी सोचा भी नहीं था कि ऐसी स्थिति हो जाएगी। जैसे हर व्यक्ति मान रहा था कि मैं सदा के लिए जा रहा हूँ। अब कभी नहीं लौटूँगा। यह चिर वियोग की व्यथा कल्पनातीत थी।

दिन ढलने को हुआ। मेरे चलने की तैयारी पूरी हो चली। रथ के घोड़े बाँधे जाने लगे। पूरा गाँव बधाई देने के लिए उमड़ पड़ा। कुछ लोग तो बिदाई देने के लिए रथ के पीछे दौड़ते हुए गाँव के बाहर तक आए।

राधा उसी भाग-दौड़ में गिरकर मूर्च्छित हो गई। मुझे रथ रुकवाना पड़ा। मैंने उसे उठाकर सांत्वना दी, “विश्वास करो, मैं तुम्हारे पास ही रहूँगा।”

इसके बाद तो उसे जैसे काठ मार गया। एक रसाल के मोटे तने के सहारे खड़ी होकर राधा मुझे चुपचाप देखती रही और मैं भी चलते हुए रथ से मुड़-मुड़कर उसे देखता रहा। इस अवसर पर दौड़ती हुई कपिला ने कई बार अक्रूर के पैर छुए। मुझसे भी उसने कुछ कहा; पर मैंने ध्यान नहीं दिया। मेरी दृष्टि में तो केवल राधा थी, मात्र राधा। मेरे लिए तो सारी भीड़ एक राधा में बदल गई थी।

फिर भी मेरे भागते रथ को माता यशोदा की चीख स्पष्ट सुनाई पड़ रही थी—“आज ब्रज में कोई भी मेरा अपना नहीं है, जो मेरे छगन-मगन को जाने से रोक ले।”

और सचमुच मैं उस संध्या को रुक गया। स्नेह की इस दृढ़ डोर को तोड़ नहीं पाया।

□

दो

नाटक के मंच पर कुछ हो रहा था और नेपथ्य में कुछ और। अक्रूर के मथुरा छोड़ते ही राजभवन असामान्य हो चुका था। राजनीतिक गतिविधि में त्वरा आ गई थी। यों तो मागध सैनिकों को पहले से ही मुख्य पदों पर बैठाया जाना आरंभ हो गया था, पर अब उसमें काफी तेजी आ गई थी। यहाँ तक कि परम राजभक्त अंगारक के नीचे की धरती भी अचानक खिसकने लगी थी। एक मागधी सरदार हस्तिपाल के पद पर भी बिठा दिया गया था।

इसकी सूचना मात्र से अंगारक अंगार हो गया। उसकी तो सीधी पहुँच थी। धड़धड़ाता हुआ, बिना किसी प्रकार के राजकीय शिष्टाचार या औपचारिकता निभाए वह सीधे कंस से मिला—“महाराज, आप मेरी अशिष्टता के लिए क्षमा करें। मैं बिना अनुमति आप तक चला आया हूँ, केवल यह जानने के लिए कि आखिर मेरा अपराध क्या है?”

कंस पहले कुछ समझ नहीं पाया; पर अंगारक की तमतमाई मुद्रा से उसके आक्रोश का आभास उसे लग गया। “मैंने निष्ठापूर्वक आपकी सेवा की। हर आदेश को शिरोधार्य किया। जब अनेक लोगों की आस्था आपसे डिग चुकी थी, तब भी बड़े लगन से आपकी सेवा की। आज क्या हो गया कि आपकी कृपादृष्टि ने मेरी ओर से मुँह फेर लिया?”

“क्या बात है? साफ-साफ कहो। किसी बात के कहने के लिए, अंगारक, तुम्हें तो कभी इतनी लंबी भूमिका की आवश्यकता नहीं पड़ी। आज बात क्या है?”

“बात है, अत्र भवान्! मेरा अंतर जल उठा है, जब से मैंने सुना है कि हस्तिपाल के पद पर एक दूसरा व्यक्ति नियुक्त किया जा रहा है।”

“जा रहा है नहीं, किया जा चुका है और उसका नाम है कुलिक।” कंस ने कहा तो बड़ी गंभीरता से, पर शीघ्र ही उसकी मुद्रा बदली। एक मुसकराहट उसके व्यक्तित्व की रुक्षता पर उग आई—“पर इससे तुम्हें व्यग्र होने की आवश्यकता क्या है? वह तो तुम्हारा सहायक रहेगा, प्रधान तो तुम्हीं रहोगे। यह तो जानते ही हो कि मथुरा में कई उत्सव होने वाले हैं। व्यस्तता बढ़ेगी, कार्य बढ़ेगा। ऐसी स्थिति में यदि काम बाँट दिया जाए तो अच्छा ही है न!”

अंगारक कुछ बोल नहीं पाया। वह सोचता रह गया।

“विशेष सोचने की आवश्यकता नहीं है। न तुम्हारा पद घटाया जा रहा और न प्रतिष्ठा और न वृत्ति ही। केवल तुम्हारा एक सहयोगी बढ़ाया जा रहा है।” कंस बोला और अचानक उसकी ओर से मुँह फेरते हुए कहा, “अब आप जाइए। अपना काम देखिए।”

वह बुझा-बुझा-सा चल पड़ा। पर भीतर से धधक रहा था। मार्ग में प्रद्योत दिखाई दिया। उसे केवल सिर झुकाकर अंगारक आगे बढ़ गया।

यह स्थिति केवल अंगारक की नहीं थी। जो कंस के प्रति बराबर कर्तव्यनिष्ठ और आस्थावान् थे, वे सभी अनुभव कर रहे थे कि अब मथुरा को मगध की छाया पूरी तरह निगलने वाली है। सबको अपना भविष्य अप्रत्याशित आशंकाओं के मुख में दिखाई देने लगा था।

ऐसी स्थितियाँ छंदक के अनुकूल हुआ करती थीं। एक रात मथुरा के शिव मंदिर में उसने अंगारक को ध्यानावस्थिति में देखा। वह एकदम आगे था। उसके पीछे कुछ लोग और थे। छंदक चुपचाप सबसे पीछे स्तुति करता हुआ खड़ा हो गया।

आरती के बाद भीड़ मंदिर से निकली। छंदक की दृष्टि बराबर अंगारक का पीछा करती रही। ज्यों ही वह मंदिर के जगमोहन (चबूतरे) से उतरकर आगे बढ़ा ही होगा कि पीछे से छंदक की आवाज एक पत्थर के टुकड़े की तरह मारी गई—“हस्तिपाल को बधाई हो।”

“किसकी बधाई? क्यों बधाई? किसलिए बधाई?” अंगारक एकदम भभक पड़ा।

“अरे, आपको एक नया सहयोगी मिल गया है, आपका हाथ बँटाने के लिए।”

“हाथ बँटाने के लिए या काटने के लिए...?” कुछ सोचकर वाक्य पूरा होने के पहले ही उसने अपनी उत्तेजना पर नियंत्रण किया—“अरे भाई, मेरे बहुत से सहयोगी हैं, यदि उनमें से एक बढ़ ही गया तो कौन सी नई बात हो गई!”

“नई बात यह हुई कि एक मागधी सहयोगी बढ़ा है।” छंदक मुसकराया। लगा कि उसकी मुसकान की कुटिलता अंगारक को चुभने लगी है। “अब तक मथुरा के ही तुम्हारे सहायक थे। अब एक विदेशी के भी तुम प्रधान हो गए।”

“प्रधान!” वह कुछ सोचते हुए छंदक का हाथ पकड़कर कुछ दूर एकांत में ले गया—“कुछ बात समझ में नहीं आती कि क्या हो रहा है?”

“इसमें न समझने की क्या बात है?” छंदक बोला, “अरे, स्थिति स्पष्ट है। यह सारी वृत्त की माया है। अब मथुरा पर मगध का शासन होगा।”

“क्या इस स्थिति को कंस समझता नहीं है?”

“यदि समझता होता तो रोना किस बात का था!” छंदक बोला, “विनाशकाले विपरीत बुद्धि:।”

“पर महाराज तो विनाश काल के स्थान पर सद्भावना काल का आह्वान कर रहे हैं!”

अंगारक की बात सुनते ही छंदक जोर से हँस पड़ा—“रह गए तुम वही! अरे, यदि सद्भावना काल की ही बात थी तो यह दुर्भावना और अविश्वास की क्या आवश्यकता थी?”

अंगारक सोचने लगा। उस अंधकार की तहों को छेदकर उसकी दृष्टि दूर क्षितिज में कहीं कुछ खोजने लगी। उसे लगा कि उसकी सत्ता इसी अँधेरे में खोती जा रही है।

“सोचते क्या हो? तुम अब नाम के प्रधान रह जाओगे। तुम्हारे अधिकार अब धीरे-धीरे उस मागधी व्यक्ति के हाथ में खिसका दिए जाएँगे।” छंदक ने इस बार उसके मर्म को छुआ।

अंगारक अब भी सोचता रहा। हाथ का नाम सुनते ही उसकी दृष्टि अपने हाथों पर गई।

“क्या देख रहे हो ये हाथ? इन हाथों से कभी तुमने कितने पाप किए थे, कभी सोचा है? पर किसके लिए? उस कंस के लिए। जो अपने बाप का भी नहीं हुआ, तब तुम्हारा क्या होगा!” छंदक ने चिनगारी लगा दी। अंगारक सुलगने लगा।

“सोचो, अभी भी सोचने का अवसर है। देखो, इस अँधेरे में कहीं प्रकाश दिखाई देता है? और नहीं दिखाई देता तो घर जाकर चुपचाप सो जाओ। यदि आँखें रहेंगी तो रोशनी कभी-न-कभी दिखाई देगी ही।” छंदक इतना कहकर आगे बढ़ा। पर अंगारक ने उसका साथ नहीं छोड़ा। वह भी उसके पीछे-पीछे हो लिया।

“इसका मतलब है कि कोई बात होने वाली है।” अंगारक चलते-चलते बोला, “मुझे दुःख है कि इस षड्यंत्र में अक्रूर जैसे भलेमानस को भी शामिल किया गया।”

“राजनीति बड़ी कुटिल होती है, अंगारक! राजनीति की आँच हिमकुंड में भी पलना जानती है और काम निकलते ही उसे भी वह भाप बनाकर उड़ा देती है।” छंदक ने कहा, “आज अक्रूर से उसने अपना काम निकाला है।

देखना, काम निकल जाने के बाद वह उन्हें भी दूध की मक्खी की तरह फेंक देगा।”

“आखिर कब तक ऐसा चलता रहेगा?”

“जब तक प्रभु की इच्छा है।”

अचानक छंदक की दृष्टि पश्चिम से गुजरनेवाले मार्ग पर पड़ी। उसने दूर किसीको जाते हुए देखा। निश्चित रूप से उसने उसे पहचाना होगा। अंगारक से बिदा लेकर वह उस ओर लपका। अंगारक ने भी उधर देखा और पता नहीं क्या सोचकर अपनी दृष्टि नीची कर ली; जैसे ज्वार के पूर्व ही भाटा आ गया। अंगारक फिर उधर देखने का साहस न जुटा पाया।

वह त्रिवक्रा का पिता कर्मा था।

“कहाँ से आ रहे हो, कर्मा भाई?” छंदक ने पहुँचते ही पूछा।

“शिव मंदिर गया था। वहीं से यज्ञकुंड की भस्म ले आता हूँ। पुत्री की पीठ पर मलता हूँ। उसे बड़ी शांति मिलती है।” कर्मा बोला।

“उसे कोई ओषधि नहीं देते?”

“बड़ी ओषधियाँ दीं, पर कोई लाभ नहीं। अब भगवान् की कृपा का ही भरोसा है।” कर्मा की निराशा उसकी आवाज में लड़खड़ाई।

“घबराओ नहीं, भगवान् अवश्य कृपा करेंगे।” छंदक ने कहा।

उस अँधेरे में भी कर्मा की आँखों में एक संतोष की झलक दिखाई पड़ी।

इस अवसर पर भी छंदक अपनी प्रकृति से बाज नहीं आया। उसने धीरे से एक काँटा चुभोया—“अब तो आप पर ऐसे लोग भी कृपा करने वाले हैं, जिनकी कृपा की याचना करते-करते कभी आप लाचार हो चुके थे।”

“आपका तात्पर्य?”

“तात्पर्य यही कि अब अंगारक को भी धरती दिखाई पड़ रही है।”

“उस नीच का नाम मत लीजिए!” कर्मा एकदम भभक पड़ा—“उसके तन में तो कीड़े पड़ेंगे, कीड़े!”

□

जब मैं अक्रूर के साथ मथुरा से चला तब सूर्य अच्छी तरह निकल आया था। ब्राह्म मुहूर्त तक तो रास ही चलता रहा। आज राधा और उसकी सखियाँ छोड़ना नहीं चाहती थीं; पर छोड़ना पड़ा, क्योंकि अभीप्सित हमेशा नहीं होता। कभी-कभी वही होता है, जिसे हम नहीं चाहते।

रात्रि जागरण से लोगों को शिथिल हो जाना चाहिए था। पर आज गोकुल की आँखों में नींद नहीं। मेरे वियोग की व्यग्रता लोगों की शिथिलता चबा गई थी। अधिकांश लोग मेरे साथ थे।

मैं रथ पर बैठा चला जा रहा था। बहुत सारे लोग मेरे रथ के पीछे दौड़ते चले आ रहे थे। सारथि ने भी मारे संकोच के गति नहीं बढ़ाई। मैं बार-बार कहता गया कि उत्सव के बाद लौट आऊँगा; पर किसीको विश्वास नहीं हो पा रहा था। उनके लिए मैं हमेशा के लिए जा रहा था। एक स्थल पर स्थिति ऐसी भी आई कि बलराम भैया के साथ मुझे भी रथ से उतर आना पड़ा।

“आप व्यग्र न हों, एक दिन बाद ही नंद बाबा आने वाले हैं। आप लोग उनके साथ आ जाइएगा। इस तरह कहाँ तक चलिएगा!” मैंने उन्हें समझाया।

किसी प्रकार समझाने-बुझाने पर वे मान तो गए, पर लौटने के लिए उनके पैर नहीं उठते थे। उनकी आत्मीयता को नोचकर मेरा रथ भाग चला। वे लुटे-लुटे-से वहीं खड़े रह गए।

यमुना किनारे आकर मेरा रथ रुक गया। उसे रुकना ही था। इसके बाद उसे एक बड़ी नौका पर चढ़ाकर पार उतारना था। नौका वहाँ पहले से तैयार भी थी।

वहाँ उतरते ही मल्लाहों ने हमें घेर लिया। सभी ने हम तीनों के चरण स्पर्श किए। अक्रूर तो ब्रज की हालत देखकर भावाकुल थे। इन लोगों की भक्तिभावना से वह बिल्कुल द्रवित हो उठे। उनकी आँखें झलझला आईं।

नाव पर रथ चढ़ाया गया। सारथि एवं अक्रूर को पूरे सम्मान के साथ बैठाया गया और उनसे करबद्ध निवेदन किया गया—“आप चलें, हम दूसरी नाव पर कन्हैया को लेकर आ रहे हैं।”

अक्रूर कुछ बोल तो नहीं पाए, पर उन मल्लाहों का मुँह देखते रह गए; जैसे वह पूछना चाह रहे हों कि कन्हैया को रोककर क्या करोगे?

“हम उनका पूजन करेंगे। आरती उतारेंगे।” कई कंठ एक साथ मुखर हो उठे।

अक्रूर की नाव छप-छप करती आगे बढ़ी। हम दोनों भाई हाथ जोड़े हुए तब तक किनारे खड़े रहे जब तक दूर जाती अक्रूर की आकृति अस्पष्ट न हो गई। फिर वे मल्लाह हमें सजी-सजाई कुटिया में ले आए। उन्होंने हमारे चरण पखारे। मुझे अचानक राम और केवट की याद हो आई।

बलराम भैया के मुख से तो निकल भी पड़ा—“हम राम नहीं हैं।”

“राम न हों, पर बलराम तो हैं।” उन्हींमें से एक बोला। सभी हँस पड़े।

“आप चाहे राम हों या न हों, पर हम तो केवट हैं।” यह दूसरी आवाज थी, जिसने पहले की थमती हँसी को एक बार फिर झकझोर दिया।

“पर हममें किसी पत्थर को सुंदर स्त्री बनाने की शक्ति नहीं है।” मैंने कहा।

“आपमें क्या शक्ति है, इसे हम अच्छी तरह जानते हैं।”

अरे, यह आवाज तो छंदक की है। मैं सोच ही रहा था कि पीछे से छंदक मुसकराते हुए आगे आया। अब तक वह पता नहीं कहाँ था!

यह छंदक भी अद्भुत है। भले ही लोग मुझपर ब्रह्मत्व का आरोपण करें, पर ब्रह्म की तरह सर्वत्र व्याप्त तो वही लगता है। मैंने उससे कहा भी। तब वह मुसकराते हुए बोला, “ज्योति की उपस्थिति ही अंधकार को सर्वव्यापी बना देती है।”

यहाँ एक विचित्र घटना और हुई। एक अत्यंत काला बूढ़ा व्यक्ति अपनी गढ़े में धँसी आँखों से मुझे अपलक निहार रहा था। उसके अधरों पर रेंगती हुई हँसी थी और झुर्रियों में भरी लबालब खुशी।

जब अधिकांश लोग हमारी आरती उतारकर चले गए तब छंदक ने उस व्यक्ति की ओर संकेत कर पूछा, “आप इसे पहचानते हैं?”

पहचानता होऊँ तब तो? मैं उसे गौर से देखता रह गया। उसकी मुसकराहट मुखर होने लगी।

“अच्छा तुम वह बड़ी ढोलची ले आओ।” छंदक ने उस व्यक्ति से कहा, “देखें, कन्हैया उस ढोलची को पहचानते हैं या नहीं।”

मेरा कुतूहल चरम सीमा पर था। बलराम भैया भी कुछ समझ नहीं पा रहे थे कि यह सब क्या हो रहा है!

थोड़ी देर में एक बेंत की बनी बड़ी सी ढोलची लाई गई। ढोलची की बनावट विचित्र थी। इसके पिछले भाग को ऊपर उठाकर सर्प के विशाल फन जैसी छाया बना दी गई थी।

छंदक ने उसे दिखाकर मुझसे पूछा, “आप इसे पहचानते हैं?”

“जब कन्हैया ने डंबर को नहीं पहचाना तब ढोलची को क्या पहचान पाएँगे!” यह किसी अन्य की आवाज थी।

वहाँ खड़े सभी बूढ़े एक बार फिर हँस पड़े और मेरी मानसिकता उस हँसी में डूबती चली गई।

बाद में छंदक ने ही बताया कि इसी ढोलची में तुम्हें रखकर तुम्हारे पिता ने भाद्रपद की उफनती यमुना पार की थी।...और फिर मेरे जन्म की सारी कथा कुछ संकेतों और शब्दों से छंदक ने बता डाली। यों तो इस कथा को हम अनेक बार सुन चुके थे, पर आज उसके जीवित पात्रों की उपस्थिति में वह कथा कुछ विलक्षण लगी।

छंदक ने परिचय दिया—“यह डंबर है। इसीकी बनाई ढोलची ने आपको पार उतारा था।”

“अब आप हमें भी पार उतारिएगा, प्रभु!”

बूढ़ा मेरे चरणों पर गिर पड़ा। उसका स्वर विगलित होकर आँखों से बह चला। उसने भव-सागर से पार लगाने की याचना की थी। मैं कुछ कहना चाहकर भी शब्दहीन हो गया था। ऐसी स्थिति मेरे जीवन में बहुत कम आती है, जब शब्द मेरा साथ छोड़ते हों।

मैं मौन रह गया।

मैंने उसे उठाकर अपने वक्ष से लगा लिया। अपने जन्म के समय की यमुना के उफान में तो मैं नहीं डूबा था; पर इस समय डंबर की आँखों में आई बाढ़ में तो मैं डूबने लगा।

थोड़ी देर बाद मुझे नाव पर चढ़ाया गया। साथ में छंदक—और उसके साथ भी कई मल्लाह और थे। मध्य धारा में आकर मैंने देखा, उस पार अक्रूर का रथ खड़ा है। वे यमुना का आचमन करते हुए पूजन पर बैठ चुके हैं।

“देखा, तुम्हारा सोचना गलत निकला। मैंने जो कहा था, बात वही हुई।” छंदक ने मल्लाहों के मुखिया से कहा, “तुम सोचते थे कि देर होने से अक्रूर चले जाएँगे। हम लोगों ने कन्हैया को काफी समय तक रोके भी रखा; पर मैं कह रहा था कि वे बिना कन्हैया को लिये जाएँगे नहीं—और वही हुआ भी।”

छंदक सोचता रहा। इस बीच मल्लाहों के मुखिया से उसका संकेतों की सहायता से मौन संभाषण भी हुआ। मैं कुछ समझ नहीं पाया। मैंने मुसकराते हुए पूछा, “आप लोग क्या सोच रहे हैं?”

“हमारी सलाह थी कि पार उतरने के बाद आप अक्रूरजी के साथ न जाते!” मल्लाहों का मुखिया बोला।

“विचित्र बात है। कुछ लोगों का कहना है कि आप दोनों भाई अक्रूर चाचा के यहाँ ही रहिए। कंस के यहाँ रहना खतरनाक है।” मैंने कहा।

“जहाँ तक रहने की बात है, वह तो ठीक है।” छंदक बोला, “आप भूलकर भी राजभवन में मत रहिएगा। पर जहाँ तक मथुरा में जाने का सवाल है, आप पैदल ही जाइए। मल्लाहों में से कुछ लोग आपके साथ रहेंगे, जो आपको अक्रूर के निवास तक पहुँचा देंगे।”

ऐसा करने में उन लोगों का दो उद्देश्य था। उनका कहना था कि मथुरा में लोग आपके दर्शन के उतावले हैं। वे मार्ग के दोनों ओर उमड़ पड़ेंगे और भर आँख आपके दर्शन करेंगे। ऐसे रथ से फुर्र से आप उड़ जाएँगे तो कोई देख पाएगा और शायद कोई देख भी न पाए। दूसरे, लोग मुझे पैदल चलता देखकर कंस को कोसना शुरू करेंगे कि कहाँ तो भानजे को सम्मानपूर्वक बुलाया और कहाँ पैदल चलने के लिए छोड़ दिया! कैसा निर्मोही और निर्मम है कंस! अवश्य ही इसकी मंशा में कोई खोट है।

स्पष्ट था कि छंदक मेरी पदयात्रा से भी राजनीति करना चाहता था।

किंतु मेरे लिए विचित्र स्थिति थी। मैं कैसे कहूँगा अक्रूर चाचाजी से कि मैं आपके साथ नहीं चलूँगा। यदि वे भी मेरे साथ पैदल चलने के लिए तैयार हो गए, तब क्या होगा?

एक दूसरी स्थिति और थी। मेरे बलदाऊ भैया को इन सारे छल-छद्म और राजनीति की वैसी समझ नहीं थी। वे बड़े ही सीधे और सरल स्वभाव के थे। एकदम हलधर—इस देश के किसान के प्रतिरूप। उनका सोचना था कि

इस तरह के व्यर्थ की बकवास में पड़ने से क्या फायदा! हम लोग सीधे-सीधे अक्रूर चाचा के साथ ही चलेंगे।

मैंने भैया को धीरे-धीरे समझाया। वे मान भी गए। वे किसी बात के लिए बहुत जिद नहीं करते थे। यह भी उनके व्यक्तित्व की सहजता थी।

नाव छप-छप आगे बढ़ती जा रही थी। अब हम लोग बीच धारा से आगे निकल चुके थे।

अक्रूरजी से निपटने की समस्या मैंने छंदक और मल्लाहों पर छोड़ दी।

“मैं तो उनसे कुछ नहीं बोलूँगा।” छंदक ने बड़े नाटकीय ढंग से अपने कान पकड़े—“मैं तो नाव लगते ही उतरकर दूसरी ओर चल दूँगा।”

पर मल्लाहों ने कहा कि हम सब मिलकर उस स्थिति का सामना कर लेंगे।

अब नाव लगभग किनारे की ओर आ चुकी थी। कछुओं का झुंड-का-झुंड मेरी नाव के आगे मँडरा रहा था। डंबर बड़े ध्यान से उन्हें देखता रहा। फिर उसने मेरी ओर दृष्टि डाली। मेरा मन अपनी समस्याओं में ही उलझा रहा। वह कुछ कहना चाहकर भी कह नहीं पाया। वह चुपचाप अपने स्थान से उठा और धीरे-धीरे मेरी बगल में आया। कछुओं का रेला अब भी मेरी नाव से टकराता रहा। उसने धीरे से मेरा दाहिना पैर उठाया और नाव के बाहर कर दिया। पैर के नीचे झुकते ही सब-के-सब कछुए हट गए।

“उस भयानक रात में जब आपके पिताजी आपके जनमते ही कारा से निकालकर ले जा रहे थे, तब यमुना भी आपका पैर छूने के लिए इसी तरह उतावली थी।” कितनी आस्था, कितना विश्वास और कितनी श्रद्धा थी उस मुसकराहट में!

□

एक प्रहर दिन चढ़ आया था। दक्षिणात्य होने पर भी तुला के सूर्य में तेजी थी। स्नानार्थियों से भी यमुना का किनारा धीरे-धीरे खाली हो चला था; पर अक्रूर अब भी ध्यानावस्थित बैठे थे। सारथि उन्हें एकटक निहार रहा था। उसे आश्चर्य था कि इतनी तेज धूप और यह ध्यानमग्नता। सारथि को लगा जैसे वे समाधि में चले गए हैं। समाधि तोड़ने का उसे साहस नहीं।

हम लोगों के पहुँचने पर भी स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं। अक्रूरजी की आँखें अब भी बंद थीं। मुद्रा मध्याह्न के कमल की तरह खिली हुई। ओठों पर मुसकान और पलकों पर पारदर्शी सपने। समाधिस्थ व्यक्ति के चेहरे पर ऐसा उल्लास नहीं होता। वहाँ तो होती है शांति, एक जीवित शांति। अवश्य ही वे किसी सुखद स्वप्न में खो गए हैं।

हम सब चुपचाप कुछ समय तक उन्हें देखते रहे। आश्चर्यचकित-से, प्रतीक्षाचकित-से। वे कितनी देर तक पूजन करते हैं? कितना लंबा ध्यान लगाते हैं? इन सबका हमें कुछ भी ज्ञान नहीं। सारथि भी बिल्कुल अपरिचित।

थोड़ा समय और बीता; पर स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं। अंत में परेशान होकर मैंने उनके चरण छुए। उनका अचानक ध्यान टूटा। अब वे मुझे गोद में उठाकर नाचने लगे थे। सब चकित थे, यह क्या हो गया? मैं भी कुछ समझ नहीं पाया। सभीअवाक् उन्हें देखते रहे। वे नाचते रहे। तब तक नाचते रहे जब तक वे थक नहीं गए।

जब उन्होंने मुझे अपनी गोद से उतारा, पसीने से लथपथ थे। विह्वल इतने कि बोली नहीं निकल रही थी। वे श्लथ होकर वहीं सिकता पर बैठ गए और दोनों हाथों से मेरे दोनों चरण पकड़ लिये। उनके मुख से कुछ विचित्र और निरर्थक शब्द निकलते चले जा रहे थे। थोड़ी देर बाद वह धीरे-धीरे प्रकृतिस्थ होने लगे। तब उन्होंने वहाँ खड़े लोगों को बताया कि आचमन करने के बाद जब मैं विष्णु की आराधना करने लगा, तब मेरे ध्यान में ही विष्णु की मूर्ति में से कन्हैया उभर आया। मैंने बहुत चेष्टा की, पर मैं कन्हैया को हटा नहीं पाया। मैं फिर विष्णु का आह्वान कर नहीं पाया। मैंने घबराकर आँखें खोल दीं, तो सामने यमुनाजल में भी मैंने कन्हैया को ही देखा।”

इस बीच उनकी विह्वलता ने फिर एक उफान मारा। अब वह मुझसे कहने लगे थे, “जानते हो, कन्हैया, जब मैंने आँखें बंद कर लीं तब एक विचित्र दृश्य देखा। तुम्हें गोद में लिये यमुना खड़ी थी। वह कह रही थी, ‘मैं अपने कन्हैया को तुम्हें सौंपती हूँ। सावधानी से उसकी देखभाल करना।’ इसके बाद मैं जोर से हँसा, ‘मैं उसकी देखभाल करूँ, जो हम सबकी देखभाल करता है!’ ”

उनकी विह्वलता अब भी थकी नहीं थी। रेत पर उनके पैर अब भी थिरक रहे थे।

अक्रूरजी की इस मानसिकता के पीछे भी एक खुला रहस्य था। उनके चेतन और अवचेतन में मेरी यशःगाथा समा गई थी। नारद की भविष्यवाणी तथा मेरे साथ गोकुल में घटी घटनाओं ने मुझे विष्णु का अवतार बना दिया था। अक्रूरजी के मन पर भी मेरी छवि इसी रूप में अंकित हो गई थी। मैंने कई बार अनुभव किया है कि वस्तु जैसी है, मनुष्य उसे वैसी नहीं देखता; वरन् वह जैसा है, वस्तु उसे वैसी दिखाई देती है। इसलिए दृष्टि का संबंध आँखों से केवल यांत्रिक है। वह तो पशु में भी होता है। पर मनुष्य आँखों से कहीं अधिक मन से देखता है। यमुना के जल में भी अक्रूरजी का मन मुझे देख रहा था।

अक्रूरजी की इस मनःस्थिति ने मेरे मित्रों का रास्ता खोल दिया।

“कन्हैया के जिस दर्शन से आप कृतकृत्य हुए, मेरा अनुरोध है कि उस दर्शन का लाभ आप मथुरा के सामान्य लोगों को भी लेने दें।” मल्लाहों के प्रमुख ने कहा।

“अवश्य, अवश्य!” अनुरोधकर्ता की मंशा समझे बिना ही अक्रूरजी बोल पड़े।

पर अब उनसे क्या कहा जाए, सब एक-दूसरे का मुँह देखते रहे। फिर पीछे के लोगों में कुछ फुसफुसाहट हुई और उधर से ही एक आवाज आई—“श्रीमान, आप रथ से चलों, हम कन्हैया के साथ पैदल आते हैं।”

“हमने मथुरा देखी नहीं है, धीरे-धीरे देखता चलूँगा। क्यों, भैया?” मैंने बलराम से समर्थन प्राप्त किया।

“तब मैं भी रथ छोड़कर आप लोगों के साथ ही चलूँगा।” अक्रूर बोले, “यमुना मैया का आदेश है।”

जो आशंका थी, वही हुआ। पर समय पर छोटे सिक्के की तरह डंबर काम आया—“आपको साथ रखने पर लोगों में एक प्रकार की हिचक होगी, संकोच होगा। लोग खुलकर कन्हैया से मिल नहीं सकेंगे; क्योंकि आप कंस के आदमी हैं।”

“कंस के आदमी!” अक्रूर कुछ सोचने लगे।

उन्हें डंबर के इस कथन में राजनीति की गंध लगी। उन्हें छंदक याद आया।

“छंदक कहाँ हैं? वह भी तो आपकी ही नाव पर थे?”

“हाँ, थे तो। पर उतरते ही वे दूसरी ओर चले गए। उन्होंने सोचा कि उनके रहने से लोग अन्यथा न समझ लें।” मल्लाहों के मुखिया ने कहा।

“और मैं उनके न रहने से अन्यथा समझ रहा हूँ।” अक्रूर मुसकराए और कुछ सोचकर हमारे आग्रह पर हमें छोड़ देने के लिए राजी हो गए।

हमारे प्रति उनकी अटूट आस्था ने उनकी मानसिकता को हमारी इच्छा के विरुद्ध कुछ भी न कर पाने की स्थिति में ला दिया था।

अक्रूर रथ पर चढ़कर चलने को हुए। उन्होंने मुझे विनम्र निर्देश दिया, “घूमते-घामते सीधे आपको मेरे यहाँ आना है। मेरे साथ ही रहना है और राजभवन में भी मेरे साथ ही चलना है।”

□

दिन का प्रथम प्रहर ढुलकने लगा। हम लोग यमुना की रमणीय रेती में कुछ दूर आगे बढ़े। अचानक हमें शोर सुनाई

पड़ा। पीछे से दो भरी हुई नावें आ रही थीं। मैंने देखा, उद्धव और श्रीदाम आदि मेरे मित्र गोपों के साथ चले आ रहे थे। पर आश्चर्य था, उनके साथ एक भी गोपी नहीं थी। हम लोग थोड़े समय के लिए रुक गए और उन्हें भी साथ आने दिया।

“राधा को कहाँ छोड़ आए?” मैंने श्रीदाम के निकट आने पर उसके कान में कहा।

“वह तो आ रही थी। लोगों ने उसे आने नहीं दिया।”

निश्चय ही यह कपिला का कृत्य होगा, मैंने सोचा। पर बाद में पता चला कि ऐसी बात नहीं है। गोकुलवासियों ने किसी महिला को आने नहीं दिया था। मैंने तो चलते समय गोपियों से कहा था कि तुम्हें निमंत्रण नहीं। और जिन्हें निमंत्रण नहीं है, वह नहीं जाएगा। पर बाद में गोकुल के युवाओं ने सोचा कि यह तो सार्वजनिक उत्सव है, इसमें कौन किसे रोक सकता है? फिर भी गोपियों को आने नहीं दिया गया। उन्हें किसी बड़े संघर्ष की आशंका हो चली थी।

श्रीदाम ने बताया, “इसीसे हम इसी समय आ गए हैं, अन्यथा कल आने का कार्यक्रम था। शायद नंद बाबा भी आते ही हों।”

“पर अभी सवेरे-सवेरे तो ऐसी खलबली नहीं थी।” मैंने कहा, “जब हम लोग चले थे, सबकुछ शांत था, यथावत्। लगता है, बाद में यह अफवाह किसीने उड़ा दी।”

“यह अफवाह नहीं है, सत्य है।” श्रीदाम थोड़ा गंभीर हुआ।

“यह तुम कैसे कह सकते हो?”

“हम धुआँ देखकर अग्नि का अनुमान कर रहे हैं।” उसने कहा, “आखिर अनुमान भी तो एक प्रमाण है।”

अनिष्ट की आशंका होते हुए भी हम बड़े सहजभाव से आगे बढ़े। पूरा मथुरा नगर लगभग परकोटे के भीतर था। जिधर यमुना पड़ती थी उधर दीवारें नहीं थीं। मेरे दर्शकों की भीड़ यमुना के किनारे से ही आरंभ हो गई थी। नगर में पहुँचते-पहुँचते शायद ही ऐसी कोई आँख रही होगी, जो मेरी ओर लगी न हो। हर दृष्टि में मेरे प्रति एक ललक थी, चाह थी। जो सुनता था, दौड़ पड़ता था। काम छोड़-छोड़कर लोग मार्ग पर आ गए थे। पुरुषों से अधिक महिलाओं में उत्सुकता थी। जो जहाँ और जिस स्थिति में थी, अपने को सँभालते हुए दौड़ी—अपार कुतूहल और जिज्ञासा से लिपटी हुई। इतनी श्रद्धा मैंने इसके पहले कभी नहीं देखी थी।

कहीं ऊपर से लोग फूल बरसा रहे थे, कहीं माला पहनाने के लिए लोग लपक पड़ते थे। कुछ लोग विभिन्न प्रकार के पकवान, दधि, मक्खन आदि भोज्य पदार्थ लेकर भी मुझे खिलाने के लिए उपस्थित थे।

“इनमें से कुछ भी खाना मत।” दौड़ा हुआ उद्धव आया और मेरे कान में कहने लगा।

“क्यों?”

“छंदक ने मना किया है।”

“क्या छंदक का मैं वैचारिक दास हूँ?” मैं झुँझलाया।

तब श्रीदाम ने बताया कि नंद बाबा की भी यही राय है। तुम्हें इनसे विष दिया जा सकता है।

“विष देनेवाली आँखों को मैं पहचानता हूँ।”

मैं बोला तो सही, फिर भी मैं छंदक के आदेश का पालन करने लगा; क्योंकि उसका आदेश मुझे अपना ही आदेश लगता था। अब जो भी खाने की वस्तु मेरे समक्ष आती, मैं भीड़ में लोगों को बाँट देता; जैसे भगवान् स्वयं अपना प्रसाद बाँट रहा हो। मेरे अहं को भी लगा और उस भीड़ ने भी ऐसा ही देखा।

एक विषम स्थिति और मुझे संकोच में डाल रही थी। लोग पहले मुझे ही माला पहनाने या भोग लगाने आगे

बढ़ते थे; जबकि मैं बलदाऊ भैया को आगे करता था। इसीसे अब तक आगे-आगे चलनेवाला मैं अब भैया के पीछे हो गया था।

हम लोग वैभव में पली उस मथुरा को देखते हुए बढ़े चले जा रहे थे कि एक अप्रत्याशित घटना घटी। उस राजपथ के किनारे ही एक रजक (धोबी) की दुकान थी। बड़े अच्छे-अच्छे वस्त्र उसने धो-धोकर लटकाए थे। ऐसी प्रशस्त और ऐसी राजसी ठाट-बाट की दुकान मैंने इसके पूर्व कहीं देखी नहीं थी।

“यह तो बड़ी अच्छी दुकान है।” मेरे मुख से निकल पड़ा।

“अरे, यह तो महाराज का मुख्य रजक है। उनके व्यक्तिगत कपड़े धोता है।” मेरे कथन पर उसी भीड़ में से किसीकी प्रतिक्रिया थी।

दुकान में बैठे रजक की आकृति दर्प से और भी टेढ़ी हो गई। मेरा स्वागत या अभिवादन करना तो दूर रहा, उसके राजसी अंह ने हमारी ओर मुड़कर देखना भी उपयुक्त नहीं समझा।

किंतु मैं उसकी दुकान के समक्ष जाकर खड़ा हो गया और सामने टंगे कपड़ों को देखने लगा। सचमुच इतने सुंदर कपड़े, स्वर्णखचित और मणियों से अलंकृत, वह भी एक ही स्थान पर एकत्र। मेरे लिए यह अनोखा अनुभव था। मैं उन्हें देखता रहा और मेरे साथ भैया भी। वह हर वस्त्र के संबंध में कोई-न-कोई टिप्पणी अवश्य करते कि उस वस्त्र की बुनावट बहुत अच्छी है। अमुक की चमक अपूर्व है। लगता है, यह गांधार के रेशम से बुना है।

किसीमें कलिंग के स्वर्णिम तारों की आभा उन्हें दिखाई पड़ती।

“बड़े दरिद्र मालूम होते हो। लगता है, ऐसे कपड़े तुमने कहीं देखे नहीं हैं!” रजक ने अत्यंत अमर्यादित ढंग से कहा।

हममें ही नहीं, पूरी भीड़ में एक आक्रोश की लहर दौड़ गई। बलदाऊ भैया की आग्नेय आँखों ने मेरी ओर देखा। मैंने उन्हें शांत किया।

एक पीतांबर पर मेरी दृष्टि अचानक अटक गई। पीतांबर यों भी मेरी दुर्बलता है—और वह भी रेशमी। उसके किनारे सोने के तारों से बुने हुए थे। उसके प्रति मैं अपने लोभ का संवरण न कर सका। मैंने उसे हाथ में लेकर देखने को माँगा।

पहले तो वह सुनी-अनसुनी कर गया। जब मैंने पुनः माँगा तो वह बड़ा ऐंठते हुए बोला, “क्या दूर से देखने से मन नहीं भरा?”

“बड़े दुर्विनीत मालूम होते हो।” बलराम भैया ने कहा।

“क्या कहा, दुर्विनीत! मैं महाराज कंस का रजक हूँ।” उसका राजकीय दर्प पुनः फनफनाया—“कभी दर्पण में अपनी आकृति देखी है कि ऐसा पीतांबर देखने चले हो!”

इतना सुनते ही मेरा खून खौल उठा। उसने भैया को ऐसा कहा, मैं स्वयं पर नियंत्रण न रख पाया। मैंने एक धौल जमाया, वह धरती चूमने लगा। मुश्किल से एक पल जीया होगा, रक्त उगलकर उसने दम तोड़ दिया। हाहाकार मच गया। राजकीय रजक मारा गया। भय और आतंक की एक लहर उभरी। लोग हटने-बढ़ने को हुए; पर उस ज्वार के थमते देर न लगी।

किसीने कहा, “गलती तो उसी नीच की है! उसे इस तरह से बातें नहीं करनी चाहिए थीं।”

“वह हमेशा राजकीय दर्प में ऐंठा रहता था। कभी किसीसे ठीक से बात भी नहीं करता था।” भीड़ से उठी यह दूसरी आवाज थी, “यह दोष उसका नहीं है वरन् दोष है राजकीय परिवार के अन्न का; जिसके पेट में जाता है, उसकी बुद्धि नष्ट हो जाती है।”

आक्रोश विवेक को ढक लेता है। मैंने शीघ्र ही अपने आक्रोश पर नियंत्रण किया। मुझे लगा, मेरा यह व्यवहार बहुतों को अच्छा नहीं लगा होगा। दुर्विनय का इतना बड़ा प्रतिकार! अवश्य ही अन्याय है।...मैंने भैया की ओर देखा, उनकी आँखों में भी पश्चात्ताप था। पर अब तो जो होना था, हो चुका था।

यद्यपि भीड़ अनियंत्रित नहीं थी। उसमें उठ रही लहरें भी मेरे पक्ष में थीं। किंतु परिस्थिति बदल सकती थी। भीड़ का विश्वास क्या! मैंने बुद्धि से काम लिया। सीधे उसकी दुकान में चढ़ गया और वहाँ रखे कपड़ों को उठाकर लोगों में बाँटने की नीयत से बोला, “जिनको वस्त्रों की आवश्यकता हो, वे ले जाएँ।”

लोग आगे बढ़े।

“अरे, यह क्या कर रहे हैं?” एक नगर प्रहरी अपने दो सहयोगियों के साथ आगे आया, “ये राजकीय वस्त्र हैं। आप इन्हें बाँट रहे हैं!”

उसने विरोध तो किया, पर आवाज सहमी-सहमी-सी। इस सारे परिवेश के दबाव में उसके राजकीय चाकर की अहम्मन्यता चरमराने लगी थी।

मैं जोर से हँसा—“इसे सब जानते हैं कि ये राजकीय वस्त्र हैं। पर राजा की संपत्ति भी आखिर प्रजा की होती है।”

वह कुछ बोल नहीं पाया, केवल मुझे देखता रह गया।

“यदि तुम्हें भी लेना हो तो आगे आओ।” मैंने कहा, “आखिर तुम भी महान् राजा की महान् प्रजा हो।”

वह आगे तो नहीं आया; पर ऐसा लगा कि उसकी सहानुभूति मेरे पक्ष में अवश्य खड़ी हो गई।

मैं वस्त्र बाँटता चला गया। एक-एक कर सारे वस्त्र भीड़ के हवाले किए। लोगों ने बड़ी प्रसन्नता से उसे उछल-उछलकर ग्रहण किया; जैसे राजकीय कोष ही लुटाया जा रहा हो। अंत में मैंने वह पीतांबर भी देने के लिए उठाया, जिसपर मेरी प्रथम दृष्टि पड़ी थी और मैंने इतना बड़ा कांड कर डाला था।

“नहीं-नहीं। इसे आप ही धारण कीजिए।” यह आवाज श्रीदाम की थी। और इसके बाद अनेक लोगों ने उसके प्रस्ताव का समर्थन किया।

“इस वस्त्र के प्रति मेरा आकर्षण अवश्य था, पर इसके प्रति मेरी आसक्ति नहीं थी।” मैं अपनी पंद्रह-सोलह वर्ष की अवस्था में ही ऐसी दार्शनिक भाषा बोलने लगा था। आज मैं सोचता हूँ तो मुझे प्रसन्नता भी होती है और आश्चर्य भी।

“आकर्षण में एक प्रकार का खिंचाव अवश्य होता है, पर भोग की इच्छा नहीं होती, जितनी आसक्ति में।” इतना कहते हुए मैंने वह पीतांबर भी भीड़ पर उछाल दिया और दुकान से कूदकर बाहर आया। मैं आगे बढ़ चला।

“तुमने उस पीतांबर को भी दे डाला।” श्रीदाम ने धीरे से मेरे कान में कहा, “कितना अच्छा था वह!”

“मुझे भी वह बहुत अच्छा लग रहा था।” मैंने भी उतने ही धीरे से उसके कान में कहा।

“तब उसे दे क्यों दिया?” उसने पूछा।

“तुम जानते नहीं हो, श्रीदाम! यदि मैं उसे रख लेता तो लोग यही कहते कि एक पीतांबर के लिए उसने हत्या कर दी। उस हत्या के मूल में हमारी स्वार्थपरता होती। हम लोगों की दृष्टि में गिर जाते।”

फिर मैं मुसकराया, अब तो स्थिति ही दूसरी है।

□

मेरी गति से रजक के मृत्यु के समाचार की गति काफी तेज थी। मैं जहाँ-जहाँ गया, वहाँ मेरे पहुँचने के पहले ही यह थर्रा देनेवाला समाचार पहुँच चुका था। पूरी मथुरा इस मृत्यु से काँपने लगी थी। लोग सोचने लगे थे कि कुछ

अवश्य होने वाला है। राजकीय कर्मचारी भयग्रस्त थे—“बड़ा विचित्र बालक है। उसके हाथ के एक प्रहार से रजक के प्राण-पखेरू उड़ गए।”

सामान्य जनता को नारद की भविष्यवाणी याद हो आई।

लोग यह भी सोचने लगे कि जब रजक की हत्या कर उसके दुकान का सारा वस्त्र जनता में बाँटा जा सकता है, तब तो कंस की हत्या के बाद राजकोष भी जनता को ही बाँट दिया जा सकता है। आखिर उसने कहा भी था कि राजा की हर वस्तु मूलतः जनता की होती है।

लोग जनता की भलाई से भरे आसन्न भविष्य की कल्पना में खोने लगे।

मैं मथुरा के राजपथ पर बढ़ता चला जा रहा था; पर मैंने अनुभव किया कि अब पहले जैसी स्थिति नहीं है। मेरे साथ चलनेवालों की भीड़ कम हो गई है। पहले लोग दौड़-दौड़कर मुझे माला पहनाते थे, हमपर पुष्पवर्षा करते थे; पर अब वे धीरे से हमपर फूल फेंककर चल देते हैं।...माला लोग पहनाते भी हैं, पर उनमें वैसी ललक नहीं है। मेरे जयकारे में उठती किलकारियों का जैसे किसीने गला दबा दिया हो; पर उनकी आँखों से झाँकती मेरे प्रति श्रद्धा में किसी प्रकार की कमी नहीं आई थी। हमें यह समझते देर नहीं लगी कि राजकीय आतंक से उनकी मानसिकता भयग्रस्त है।...राजकीय रजक के हत्यारे का सम्मान करना, वह भी कंस के राज्य में, संकट को आमंत्रित करना था।

मैं बढ़ा चला जा रहा था कि सामने से कई रथ एक साथ आते दिखाई दिए। लोगों ने सोचा कि अवश्य ही रजक की मृत्यु की सूचना राजभवन में पहुँच गई है। हो सकता है, उसीकी यह प्रतिक्रिया हो। मेरे साथ चलनेवाले लोग थोड़ा खड़बड़ाए भी। भैया ने अपने कंधे पर रखे हल को दो बार उछाला; जैसे अपने आयुध को तौल रहे हों। बहुधा वह किसी विपत्ति की आशंका पर ऐसा ही करते थे।

हम लोग कुछ समय के लिए रुक गए; क्योंकि वे रथ सीधे हमारी ओर ही आ रहे थे। दृष्टि परिधि में आते ही मुझे पहले रथ पर प्रद्योत दिखाई पड़ा। ‘अरे, यह तो महामात्य हैं।’ मैं उसे पहचानता था। मेरे साथ के लोग उसे देखते ही एकदम सहम गए। उन्हें आशंका सत्य होती दिखाई दी। किंतु जब उसने दूर से ही अभिवादन किया, तब भय से संतप्त मानसिकता पर एक बौछार-सी पड़ी। लोग थोड़ा प्रकृतिस्थ हुए।

“आपको महाराज ने बुलाया है।” उसने शोभित अभिवादन के बाद कहा।

“बुलाया है, इसीलिए तो आया हूँ।” मैंने मुसकराते हुए कहा।

“तब आप बैठिए रथ पर।”

“यदि रथ पर ही चलना होता तो मैं चाचाजी का रथ छोड़ता क्यों!” मैंने कहा, “अरे, जीवन में पहली बार मैं मथुरा में आया हूँ। सोचा, इस कंचन की नगरी को देखता चलूँ।”

वह कुछ सोचता हुआ खड़ा रहा; जैसे कुछ कहना चाहकर भी कह नहीं पा रहा हो। फिर उसने कुछ सैनिकों को मेरे साथ लगाते हुए कहा, “इन सैनिकों को मैं आपके पास छोड़े जा रहा हूँ। ये आपको नगर दिखाते हुए राजभवन में ले आएँगे।”

“पहले तो मैं अपनी दृष्टि से नगर देखना चाहता हूँ, इन सैनिकों की दृष्टि से नहीं।” मैंने कहा बड़े स्वाभाविक ढंग से था; पर मेरी ध्वनि में मेरा ‘मैं’ प्रगल्भ हो चुका था। मैं बोलता रहा, “और ये मुझे राजभवन में क्यों ले जाएँगे?”

“आप राजभवन के अतिथि हैं, आप महाराज के भानजे हैं।”

“यह सही है कि मैं महाराज का भानजा हूँ; पर मैं भानजे की हैसियत से नहीं बुलाया गया हूँ। मुझे तो उत्सव में

भाग लेने के लिए बुलाया गया है।”

क्षण भर के लिए वह चुप हुआ। फिर उसने पूछा, “पर आप ठहरिएगा कहाँ?”

“मैं अपने अक्रूर चाचा के यहाँ ही रहूँगा।”

मेरे इतना कहने पर वह एकदम मेरा मुँह देखता रह गया; जैसे उसे मुझसे ऐसे उत्तर की आशा ही न रही हो। फिर चुपचाप वह रथ पर जा बैठा।

“मामाजी से मेरा नमस्कार कहना और कहना कि उत्सव के दिन भेंट होगी।”

मेरा स्वर ऐसा परिपक्व और मुद्राएँ ऐसी दृढ़ कि लोग सहम गए। प्रद्योत भी सकते में आ गया। रथ पर ही बैठकर वह चारों ओर बहुत देर तक देखता रहा।

“क्या खोज रहे हैं?” मैंने मुसकराते हुए पूछा।

“कुछ नहीं।” फिर मेरे और निकट पहुँचने पर उसने कहा, “देख रहा हूँ, इधर छंदक तो नहीं आए थे।”

मैंने चारों ओर बड़े नाटकीय ढंग से दृष्टि घुमाई—“मुझे तो नहीं दिखाई पड़ रहे हैं।”

प्रद्योत चुपचाप लौट गया।

जहाँ कहीं भी राजनीतिक गतिविधि तेज होती, लोगों को अनायास ही छंदक की याद हो आती। और मेरे रुख से भी लोगों को स्पष्ट होने लगा था कि कंस की मंशा का आभास मुझे लग गया है।...प्रद्योत को भी अनुभव हो चला था कि दोनों ओर वाष्प इकट्ठी हो रही है। दोनों ओर बादल उठेंगे। टकराहट होगी और बिजली गिरेगी।

कुछ दूर और बढ़ा। एक विशाल उद्यान था, मोहक और आकर्षक। मथुरा की अधिकांश सुगंधियाँ इसी उद्यान के फूलों से एकत्रित की जाती थीं। मैंने दूर से ही देखा। डंबर पहले से ही वहाँ आ गया था। उसकी बगल में एक बूढ़ा व्यक्ति और था। उसके हाथों में नीलकमल और मल्लिका की मालाएँ थीं। वह मुझे बड़े ध्यान से देखता रहा और खुश होता रहा। ज्यों-ज्यों मैं उसके निकट पहुँचता गया, उसकी झुर्रियाँ तक खिलती गईं।

उसने नीलोत्पल की माला मुझे और मल्लिका की भैया को पहनाई—और मेरे चरणों पर गिर पड़ा। मैंने उसे उठाया। वह इतना विह्वल था कि मुझे छोड़ना ही नहीं चाहता था। उसके शब्द असमर्थ थे या वह शब्दों के लिए असमर्थ था। उसकी विह्वलता ही बहुत कुछ कह रही थी। लोगों ने मुझे बताया कि यह महाराज कंस का कभी राजकीय माली था। सुवासिनी नाम की एक अनिंद्य सुंदरी इसी उपवन से सुगंधियाँ एकत्रित करती थी। बाद में वह महाराज की चहेती हो गई। फिर वह अचानक ऐसी अदृश्य हुई कि आज तक उसका पता नहीं।

सुवासिनी का नाम सुनते ही संबंधों का एक त्रिकोण मेरे मस्तिष्क में खिंच गया। मैं कुछ बोला तो नहीं, पर सुवासिनी का चित्र मेरे मन पर उभर आया था।

“यह तो पड़ा है अपनी माँ को ही।” माली मेरी देह पर हाथ फेरता रहा और उसकी विह्वलता बोलती रही—“बड़ा भाग्यवान् होगा।”

मुझे ऐसा लगा जैसे मेरे घर का बड़ा-बुजुर्ग मुझे आशीर्वाद दे रहा है।

उसने फिर डंबर की ओर देखा—“तेरा शिल्प तो काम आया। तू धन्य हो गया।”

“और आप भी।” डंबर बोला।

“मुझे तो तू जानता है। तुझे तो भगवान् चाहेगा तो इतिहास भी जानेगा। तुमने इतिहासपुरुष को अपने शिल्प की छाया दी थी।”

“इतिहास बस इतना जानेगा कि जब वसुदेव अपने नवजात शिशु को लेकर यमुना पार कर रहे थे तो भादों की काली बरसाती रात में शेषनाग ने अपने फन की छाया दी थी।” डंबर हँसता रहा और उसके साथ बूढ़ा माली भी।

फिर दोनों में कुछ और बातें हुई, जिनमें शब्द कम और संकेत अधिक थे; जिन्हें मैं उस समय समझ नहीं पाया।

ऐसे संदर्भ जिज्ञासा को उद्बलित कर देते हैं। उद्बलित होकर भी मैं उस समय चुप था। बाद में मैंने डंबर से ही जाना कि मेरे जन्म के समय मुझे मथुरा से गोकुल ले जाने में इसकी भी महत्वपूर्ण भूमिका थी। कंस को इसका कुछ-कुछ आभास हो गया था। इसीसे उसने इसकी भी राजकीय वृत्ति बंद कर दी थी। इसीलिए इसे इस बुढ़ाई में भी काम करना पड़ रहा है।...किंतु जब उसने मुझे देखा, तब उसके जीवन का सारा संत्रास एक तपस्या में बदल गया, जिसके फलस्वरूप मैं उसके समक्ष था।

वह मुझे अपनी पर्णकुटी में भी ले गया। वह उसी उपवन के दक्षिणी कोण पर थी। खाँसती-खखारती उसकी बूढ़ी ने निकलकर मेरा स्वागत किया। बहुत पास आकर अपनी ज्योति खोई आँखों से टटोला। मेरे शरीर पर हाथ फेरे और धन्य हुई।

यह पहला स्थान था, जहाँ मैंने जल ग्रहण किया और कुछ ताजे तोड़े हुए फल खाए। जब चला, बूढ़े की आँखें डबडबा आईं।

“बड़ा कठिन जीवन जी रहे हो, दादा!” चलते हुए मैंने कहा।

“मैं ही नहीं, और लोग भी ऐसी ही जिंदगी जी रहे हैं।” इसके बाद उसने बताया, “यहाँ से कुछ दूरी पर एक वायक (दर्जी) रहता है। उसकी भी वृद्ध आँखों में आपके दर्शन की बड़ी ललक है। अब तो वह चल-फिर भी नहीं सकता। पैर गठिया से बेकार हो गए हैं।”

“कहाँ रहता है वह?” मैंने पूछा।

“इसी राजपथ से जब आप थोड़ा आगे जाएँगे तो एक पगडंडी उत्तर की ओर मुड़ती दिखाई पड़ेगी। उसी पर थोड़ा आगे बढ़ने पर उसकी कुटी है।” इतना कहते हुए उसने डंबर की ओर देखा—“यह डंबर भैया उसे अच्छी तरह जानते हैं। हम सब उसी गोल के सदस्य हैं।”

फिर वह एक रहस्यमय हँसी हँसने लगा।

अब मैं उस उपवन से बाहर निकल आया था। बूढ़ा उपवन के मुख्य द्वार पर ही छूट गया था। मैंने डंबर से उसका नाम पूछा।

उसने बताया, “सुदामा।”

मैं श्रीदाम की ओर देखकर मुसकराया—“यह तुम्हारा नामराशि ही है।”

तब डंबर ने अपनी सुनी-सुनाई बातों के आधार पर उसके नाम का रहस्य बताया, “शायद ‘सुदामा’ का अर्थ बादल भी होता है। किसीने मुझे बताया था कि उसके जन्म के समय घनघोर बादल छाए थे। घनी काली रात थी। बिजली चमक रही थी। ऐसी ही एक बिजली दहाड़ मारकर उस रात उसके झोंपड़े पर गिरी थी। उधर उसका पिता सिधार गया, पर इधर इसी हादसे से वह पैदा हो गया।...बादलों ने उसके जन्म के संदर्भ में बड़ी निर्दय भूमिका निभाई थी; फिर भी उसके घरवालों ने बादलों के नाम पर ही उसका नाम रखा—सुदामा।”

“तो क्या इसका लालन-पालन माँ ने ही किया है?”

“हाँ, और कौन था जो करता!” डंबर बोला, “इसपर भी दुर्भाग्य ने इसका पीछा नहीं छोड़ा, बारह वर्ष का होते-होते माँ भी चली गई।”

यह प्रसंग ऐसा था कि मेरा भी चिंतन अतीत की ओर दौड़ा। मेरे जन्म के समय भी बादल छाए थे। घनी अँधेरी काली रात थी। बिजली चमक रही थी। शायद इसीलिए मुझे ‘घनश्याम’ की संज्ञा मिली।

“जन्म की परिस्थितियाँ भी व्यक्ति के नामकरण को बहुत प्रभावित करती हैं।” मैंने कहा और श्रीदाम को संबोधित

करते हुए पूछा, “तुम भी बादलों की कृपा से पैदा हुए हो?”

“जी नहीं। मैं अपने माता-पिता की कृपा से पैदा हुआ हूँ।” श्रीदाम ने छूटते ही कहा और हम सब हँस पड़े। हम चलते रहे। थोड़ी दूर और आगे बढ़ा होऊँगा कि पीछे से सुदामा की आवाज आई—“रुकिए, रुकिए! मैं भी आ रहा हूँ। हो सकता है, आप रास्ता भूल जाएँ।” थोड़ी देर बाद एक लकुटी के सहारे बूढ़े मेढकों-सा वह फुदकता चला आया।

“वह वायक आपसे मिलकर बड़ा प्रसन्न होगा।” सुदामा की झुर्रियाँ खिल गईं।

“क्यों?”

“वह आपकी कब से प्रतीक्षा कर रहा है!” सुदामा माली ने कहा और कुछ सोचने लगा; जैसे वह अतीत की अनजान वीथियों में कहीं कुछ खोज रहा हो। फिर वह चलते-चलते बोला, “जब कंस ने मेरी वृत्ति बंद कर दी थी तब उसने सांत्वना देते हुए मुझसे कहा था, ‘घबरा मत सुदामा, एक-न-एक दिन नारद की भविष्यवाणी अवश्य पूरी होगी।’...तब से वह आपकी याद में जीता है और हर सवेरे प्रत्येक दिन की अगुआई बड़े उत्साह से नारद की भविष्यवाणी पूरी करनेवाले दिन की तरह करता है।”

हम लोगों ने दूर से ही देखा, वह अपनी झोंपड़ी के बाहर खड़ा होकर हमारी प्रतीक्षा कर रहा था। पता नहीं कैसे उसे मेरे आगमन का समाचार मिल गया था।

पहुँचते ही उसने एक बड़े कठौते में हम दोनों के पाँव धोए, चरणामृत लिया। वह इतना प्रसन्न दिखा जैसे उसके द्वार पर भगवान् ही आए हों।

“मैं क्या भोग लगाऊँ, प्रभु! मेरे पास तो कुछ भी नहीं है।”

फिर उसी विह्वलता में उसे कुछ याद हो आया। वह उठा और भीतर जाकर एक काष्ठ पात्र में थोड़ा सा मधु ले आया। मेरे कानों में छंदक की ध्वनि गूँजी—‘देखिए, रास्ते में कुछ खाइएगा नहीं।’ फिर भी मैं उस मधु को चाटने लगा। मैंने भैया को भी खिलाया।

सच कहता हूँ, इतना मीठा और सुवासित मधु मैंने आज तक नहीं खाया था। इसमें बूढ़े की आत्मीयता या समर्पण की मिठास थी या मधु ही ऐसा था! इस संबंध में कुछ भी कह पाना मेरे लिए कठिन है।

बूढ़ा इतनी आत्मीयता से खिला रहा था कि छंदक की आवाज सजगता के कपाट को व्यर्थ खटखटाती रह गई।

क्योंकि प्रेम के घनत्व में विश्वास का संकट नहीं होता।

थोड़ी देर बाद वह भीतर से एक पीत वस्त्र ले आया। यह न रेशमी था और न इसके किनारे सोने के तारों से बुने हुए। फिर भी इसमें एक चमक थी, एक अलौकिक आभा। जिन्होंने प्रेम के सहज एवं नैसर्गिक आकर्षण का अनुभव किया था, वे इस वस्त्र की चमक में खो गए।

“मैंने इसे बहुत दिनों से तुम्हारे लिए सँजोकर रखा था। मुझे विश्वास था कि तुम जरूर आओगे।”

इतना कहते हुए उसने उस कपड़े को मेरे बदन पर ही नापा और लगा काटकर सिलने। देखते-ही-देखते उसने मेरा एक अँगरखा बना दिया—मेरी शरीरयष्टि के एकदम अनुरूप। ऐसा कुशल वायक और ऐसी दयनीय स्थिति में!

पता चला कि राजकीय वस्त्र न सिलने की इसने कसम खाई है। इसलिए जनता भी इससे दूर रहती है।

“इतना कठिन संकल्प करते समय राजभय और संत्रास का अनुभव आपने नहीं किया?” मैंने पूछा।

“कैसा भय और कैसा संत्रास!” वायक मुसकराया—“भय झेलते-झेलते तो अब मैं भय जीने लगा हूँ।”

यह मात्र उस वायक की ही बात नहीं थी, पूरी मथुरा भय और संत्रास जीने लगी थी। कंस का निरंकुश राजतंत्र

ऐसी प्रजा के लड़खड़ाते कंधों पर डगमगा रहा था।



तीन

धीरे-धीरे मध्याह्न का सूर्य सिर पर आ गया। मेरे साथ चलनेवालों की संख्या में एक बार फिर वृद्धि हुई। रजक की मृत्यु के बाद उठी आशंकाओं और भय की उड़ रही धूल प्रद्योत के खाली हाथ लौटने पर थमने लगी थी। फिर भी एक प्रकार का सहमा-सहमा वातावरण अब भी था। लोग आते थे। स्वागत एवं अभ्यर्थना करते थे। थोड़ी दूर तक चलते भी थे और फिर धीरे से खिसक जाते थे। मेरे प्रति लगाव होने पर भी वे लगाव का प्रदर्शन नहीं करना चाहते थे। औरतें तो झलक दिखाकर खिसक जाती थीं। कुछ-न-कुछ हो जाने की संभावना हवा में तैर रही थी।

प्रकृतितया जीव सुविधाभोगी होता है। और मनुष्य तो और भी सुविधा भोगी है, क्योंकि उसकी बुद्धि सबसे विकसित है। बुद्धि कहा करती है कि झंझट मोल मत लो। मैं भी झंझट मोल लेने के पक्ष में कभी नहीं था। पर नियति ने ही मुझे कुछ ऐसा बनाया और ऐसी-ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न कीं कि मुझे उनसे जूझने के लिए विवश होना पड़ा। मैं झंझटों के पीछे नहीं वरन् झंझट ही मेरे पीछे पड़ी रही।...और धीरे-धीरे यह विश्वास बनता गया कि मैं जूझने के लिए ही पैदा हुआ हूँ। अब तो मेरी यह आस्था दृढ़ होती जा रही है कि केवल कर्म ही हमारे हाथ में है। किसी स्थिति की अवतारणा करना और उसका अभीप्सित फल प्राप्त करने में मेरा कोई हाथ नहीं है।...आगे चलकर मेरी इस अवधारणा को और भी दृढ़ता मिली। अंत में युद्धस्थल में दिग्भ्रमित अर्जुन से भी मैंने स्पष्ट शब्दों में कहा था—‘कर्मण्येवाधिकारस्ते’। यह कथन भी मेरे भोगे हुए यथार्थ का ही परिणाम था।

अरे, मैं तो अचानक वर्तमान से उछलकर एकदम भविष्य में चला गया। मन के घोड़ों को लगाम कहाँ?...हाँ, तो मैं राजपथ पर चला जा रहा था। मुझे लग रहा था कि अक्रूर चाचा मेरी प्रतीक्षा में बिना कुछ खाए-पीए बैठे होंगे। मैं बढ़ती भीड़ को चीरता बढ़ा जा रहा था कि एक व्यक्ति परकटे पक्षी की तरह अचानक आया और मेरे चरणों पर गिर पड़ा।

मैंने उसे उठाया। वह बूढ़ा भावावेश में काँप रहा था। उसके बिखरे बाल, उसकी सजल आँखें और लगभग साठ-सत्तर साल पुराने कंकाल पर झूलते मांसों वाले उसके बुझे-बुझे व्यक्तित्व की बहुत कुछ कहने की इच्छा और सामर्थ्य मात्र एक कैपकैपी में बदल गई थी।

वह केवल इतना पूछ सका—“आपसे अक्रूर महाराज ने कुछ कहा था?” मैं कुछ समझ नहीं पाया। केवल उसका मुँह देखता रहा। भीड़ थम गई थी। बलदाऊ भैया आगे निकल गए थे। उन्होंने सोचा, मैं फिर भँवर में उलझ गया। उन्होंने वहीं से चलने के लिए आवाज लगाई। मैं बूढ़े के कंधे पर हाथ रखे-रखे बढ़ चला।

“मैंने उनसे आग्रह किया था कि कन्हैया को मेरे घर अवश्य लेते आइएगा।” वह चलते-चलते बोला।

“आप कर्मा तो नहीं?” मुझे कुछ याद आया।

“हाँ।” उसकी आकृति की प्रत्येक झुर्री से संतुष्ट आशा झाँकने लगी।

“आपकी ही पुत्री मालिनी है?”

उसने स्वीकारात्मक ढंग से सिर हिलाया—और हम बढ़ते रहे।

“मैं आपके यहाँ चलता तो जरूर, पर अब काफी देर हो गई है।”

“क्या अब वह अच्छी नहीं होगी?” वह एकदम व्याकुल हो गया। उसने मेरे ‘काफी देर हो गई’ कहने का कुछ और ही अर्थ लगाया।

“नहीं-नहीं, ऐसी बात नहीं है।”

मैंने उसे समझाया कि इस समय मुझे देर हो रही है। वह थोड़ा प्रकृतिस्थ तो हुआ, पर बोला, “यदि इस समय आप नहीं चलेंगे तो वह अपना प्राण त्याग देगी। उसे बड़ी आशा बँध चली थी आपके आने की।”

“हाँ-हाँ, मैं अवश्य चलूँगा; पर इस समय तो संभव नहीं लगता।” मैंने कहा।

बूढ़ा एकदम निराश हो गया।

“अब तो लगता है कि उसके प्राण ही आपके चरणों में आएँगे, भगवान्!” इतना कहते-कहते वह सिसकने लगा।

यहाँ भी मुझपर लादे गए ईश्वरत्व ने मुझे परेशानी में डाल दिया। एक ओर बूढ़े का मुझपर यह विश्वास, उसकी आस्था, उसका प्रेम और दूसरी ओर चाचा के यहाँ शीघ्र पहुँचने की मेरी इच्छा। इन दो खिंचावों के बीच में मेरा स्थिर हो जाना स्वाभाविक था।

पर पता नहीं क्यों, जब से मालिनी के संबंध में सुना था; वह कैसे त्रिवक्रा हुई, यह जाना था तब से मेरा मन उसकी ओर खिंचता चला गया था। ऐसा लगता है कि वह भी मुझे हृदय से चाह रही थी; क्योंकि जो मुझे हृदय से चाहता है, पुकारता है, मैं उसके यहाँ अवश्य पहुँचता हूँ। पर अब क्या करूँ?

“आपका निवास यहाँ से कितनी दूर है?” मैंने बूढ़े से पूछा।

“बस थोड़ी ही दूरी पर। यही समझिए कि आगे कुछ दूरी पर एक पगडंडी बाईं ओर जाती है। बस उसीके अंतिम छोर पर अपनी कुटिया है।” बूढ़ा बोला, “यहाँ से चलने पर मुश्किल से एक-चौथाई घड़ी भी नहीं लगेगी।”

“अच्छा देखिए, कोई रास्ता निकालता हूँ।” इतना कहते हुए मैं एकदम आगे बढ़ा और बलदाऊ के निकट जाकर बोला, “भैया, आप लोग चलिए। मैं अभी आता हूँ।”

“क्यों? अब कौन सी समस्या आ पड़ी?” उन्होंने पूछा।

मैंने सारी बातें स्पष्ट बताईं। पर वे मुझे अकेले जाने देने के लिए सहमत न हुए। उन्हें भी लगता था कि मेरे जीवन को खतरा है। तब वे मुझे अकेला कैसे छोड़ते!

“पर उस बूढ़े के यहाँ भीड़ लेकर चलना मैं अच्छा नहीं समझता।”

“तब तुम भीड़ को छोड़ो, मैं तुम्हारे साथ चलता हूँ।” भैया ने कहा तो अवश्य, पर मेरे सामने समस्या थी। अपार श्रद्धा से मथुरा के लोग मेरे साथ बँधे चले आ रहे थे। श्रद्धा की यह अदृश्य डोर इतनी मजबूत थी कि उसे झटककर तोड़ने का साहस मैं कर नहीं पा रहा था। मैं कैसे कहता कि आप लोग अब जाइए।

मैं उधेड़बुन में था कि भैया पूरी भीड़ को संबोधित करते हुए बोल पड़े, “भाइयो, आप सब अक्रूर चाचा के यहाँ चलें, मैं कन्हैया को लेकर अभी आता हूँ।”

इतना कहकर भीड़ श्रीदाम तथा उद्धव को सौंप दी गई। हम बूढ़े के साथ उस पगडंडी की ओर लपके, जो त्रिवक्रा के घर जाती थी।

मुझे श्रीदाम और उद्धव की स्थिति पर हँसी आ रही थी। वे कभी मेरा पीछा छोड़नेवाले नहीं थे; पर इस समय विचित्र स्थिति में फँसे। दोनों जाते हुए भी मुझे देखते जा रहे थे और मैं भी उन्हें देखते हुए मुसकरा रहा था।

दूर से ही कर्मा का आवास दिखाई दिया। उसका द्वार खुला था और एक मुरझाई हुई कली प्रतीक्षा में आँखें बिछाए बैठी थी।

जैसा मैंने सुना था वैसा ही पाया। इतने दिनों से बीमार होने पर भी वह विपरीत परिस्थितियों के पत्र में लिपटी चंपक के बासी फूल की तरह उदास लगी। उसकी मीन जैसी बड़ी-बड़ी आँखों में लंबी रुग्णता की गहरी छाया के भीतर से प्रतीक्षापूर्ण उत्सुकता ऐसे झाँक रही थी मानो अकालवसात नीलम की सूखी झील में कोई मुरझाती

कमलनाल किसी घनश्याम की बाट जोह रही हो।

मुझे देखते ही वह एकदम खिल उठी। सूखते धान पर पानी पड़ा। त्रिवक्रा ने पहले से ही चंदन आदि का सुगंधित अंगराग बना रखा था। पहले उसने मेरे पैरों पर लगाया, फिर भैया के पैरों की ओर बढ़ी।

“नहीं-नहीं, मुझे यह सब नहीं चाहिए। तुम अपने मतलब की बात कहो।”

उन्होंने कहा तो था अपनी प्रकृति के अनुसार ही, पर लगा जैसे वे उपेक्षा से बोल रहे हों। बूढ़े ने यह भी सोचा होगा कि मेरी पुत्री द्वारा कन्हैया को प्राथमिकता दिए जाने के कारण शायद बलदाऊ नाराज हो गए हों।

मैंने मुसकराते हुए इस स्थिति को सँभाला—“बड़ा सुगंधित है यह अंगराग!”

मैंने अंगराग के पात्र में अँगुली डाली और निकालकर स्वयं सूँघने के बाद भैया के नाक की ओर भी ले गया। उन्होंने एक गहरी साँस खींची।

“सचमुच बहुत अच्छा है!” वे बोल पड़े।

त्रिवक्रा की बाँछें खिल गईं। उसने अपनी कहानी आरंभ की—“मैं सैरंध्री हूँ। शृंगार और प्रसाधन ही मेरा काम है। अंगरागों के निर्माण में ही अपनी कला दिखाती रही हूँ। महाराज कंस के दरबार में अपने सुवासित कर्मों के लिए विख्यात रही; पर नियति को यह सबकुछ नहीं सुहाया। विकलांग हो गई। पता नहीं, किन कर्मों का फल भोग रही हूँ! अहल्या की तरह पाषाणवत् अपने राम की प्रतीक्षा में पड़ी हूँ।” इतना सब उसने एक साँस में कह डाला।

“पर मैं राम नहीं, बलराम हूँ।”

कई बार की दुहराई हुई प्रतिक्रिया फिर बलराम की हँसती आकृति से सुनाई पड़ी। त्रिवक्रा मौन रह गई। उसने भैया की ओर देखा भी नहीं। चुपचाप मेरे पैरों में अंगराग का लेप करती रही।

इसी बीच कर्मा भीतर से दो छोटे-छोटे बाँस के बने मंचक ले आया और हम दोनों के पीछे रखकर बैठने का आग्रह करते हुए बोला, “हमारे लिए तो आप ही लोग राम-लक्ष्मण हैं।”

“क्या तुम्हें हममें और राम-लक्ष्मण में कोई अंतर दिखाई नहीं देता?” भैया ने हँसते हुए पूछा।

“हमें तो कुछ नहीं दिखाई देता।” बूढ़ा बोला और बड़े आग्रहपूर्वक भैया के तन पर अंगराग लगाने लगा।

अब त्रिवक्रा को भी मौका मिला। वह पैरों को छोड़कर निस्संकोच भाव से मेरे अन्य अंगों की ओर बढ़ी।

जहाँ तक मुझे याद है, इतना शीतल, सुवासित एवं इतना स्निग्ध अंगराग इसके पहले कभी मुझे नहीं लगा था। आश्विन की धूप से तपी देह! वह अंगराग! और एक सुंदरी का रागयुक्त स्पर्श! सचमुच वासना की अनिर्वचनीय अभीप्सा की तृप्ति थी।

वह बराबर मुझे देखती जा रही थी और मैं उसे। वह मुझमें खोने की चेष्टा कर रही थी और मैं स्वयं में उसको खोजने की। अचानक मुझे लगा कि उसकी आकृति पर राधा की आकृति चिपक गई है; जैसे वह मुझसे पूछ रही हो—‘क्या मैं राधिका नहीं हूँ?’ फिर ऐसा लगा कि वह आकृति खिलखिलाती हुई कह रही है—‘नहीं-नहीं, मैं राधिका नहीं हूँ वरन् तुम्हारी आराधिका हूँ। हाँ-हाँ, आराधिका! तुम्हारी राधिका से भी सुंदर, पर विकलांग।’

इस बीच मेरा हाथ कब उसके कूबड़ पर गया, कह नहीं सकता; क्योंकि मेरी यह प्रेमिल तंद्रा उस समय टूटी जब भैया और कर्मा की हँसी ने हमें झकझोरा।

उनकी बातें पिछले संदर्भ में ही चल रही थीं—“उन राम-लक्ष्मण में और इन राम-लक्ष्मण में बड़ा अंतर है। वहाँ राम साँवला था, लक्ष्मण गोरा और यहाँ राम गोरा है, लक्ष्मण साँवला।” बस इसी बात पर दोनों हँस पड़े थे।

“पर देखने में तो गोरा रंग अच्छा लगता है।” कर्मा बलदाऊ की खुली पीठ पर अंगराग का लेप करते हुए बोला।

“देखने में भले ही लगता हो, पर सृष्टि तो नीले रंग का ही विस्तार है।” भैया गंभीर हो बोलते जा रहे थे।

मैं भी सुनने लगा। यह क्या कह रहे हैं भैया, सृष्टि नीले रंग का ही विस्तार है! मेरे वर्ण को कहीं वे ब्रह्मांड से जोड़ने का प्रयास तो नहीं कर रहे हैं।

वे बोलते जा रहे थे—“आकाश नीला, सिंधु नीला, सारी वारिधाराएँ और जलाशय नीले। सृष्टि में नीले रंग की जितनी व्याप्ति है उतनी पीले रंग की नहीं।”

अब मुझसे नहीं रहा गया। मैं बोल पड़ा, “पीला तो ज्योति का प्रतीक है और नीला अंधकार का।”

“इसीलिए न अंधकार शाश्वत है! प्रकाश शाश्वत नहीं होता; उसकी स्वतंत्र सत्ता भी नहीं। हर प्रकाश की अंतिम परिणति अंधकार में विलीन होना है।”

हमारा यह तर्क-वितर्क दार्शनिक था नहीं, पर बड़े सहजभाव से दर्शन की ओर मुड़ गया था और त्रिवक्रा तथा कर्मा को भारी पड़ रहा था—और कुछ मुझे भी; क्योंकि प्रेमिल मानसिकता पर दार्शनिक विवाद धधकते अंगारे पर शीतल जल के छींटों जैसा ही है।

शायद इसीलिए शीघ्र ही संदर्भ बदल भी गया।

त्रिवक्रा का मादक स्पर्श मुझे बड़ा विचित्र लग रहा था। मेरा अंग-अंग पुलकित होता जा रहा था। मैंने उसकी ओर देखते हुए कहा, “तुम्हें किसी प्रकार का कष्ट तो नहीं लगता, केवल तुम्हारी पीठ पर कूबड़ निकल आया है।”

“नहीं, प्रभु! इसे बड़ा कष्ट है। यह दिन भर बिस्तर पर पड़ी कराहती रहती है।” कर्मा बोला, “शायद आपके आगमन से यह अपना कष्ट भूल गई है और प्रसन्न दीखती है।”

“क्यों जी, यह सत्य है?” मैंने मुसकराते हुए उसकी ओर देखा।

त्रिवक्रा के चेहरे की मुसकान एक बार फिर ताजा हो गई थी।

गोकुल से चलने के पूर्व जब अक्रूर चाचा ने इसके बारे में बताया था, तब मैंने वैद्यजी से परामर्श किया था। उनका कहना था कि यदि पीड़ा होती होगी तो रोग असाध्य नहीं है; पर बिना पीड़ा के बढ़ा हुआ कूबड़ असाध्य होता है। शल्यक्रिया बिना उसकी चिकित्सा असंभव है।

इसीलिए मैंने कहा, “यदि पीड़ा होती होगी तो पीड़ा भी दूर होगी और कूबड़ भी।”

वह खिल उठी।

इसके बाद ही मैंने उसके पैर के पंजों पर अपना पैर रखकर जोर से दबाया और उसके दोनों हाथों को पकड़कर ऊपर की ओर शक्ति भर खींचा। वह पुराने पर्यंक की तरह चरमराई और फिर चीख उठी। निश्चित ही उसकी पीड़ा बढ़ गई थी।

मैंने उसका कूबड़ सहलाते हुए कहा, “अभी बहुत कुछ था। अभी कुछ है—और कुछ दिनों बाद देखना, कुछ भी नहीं रहेगा।”

इतना सुनना था कि वह जैसे फुदक उठी। कर्मा को भी आश्चर्य हुआ, जो अभी कुछ समय पहले शय्या से भी नहीं उठ पा रही थी, उसे यह क्या हो गया? अवश्य कोई चमत्कार है।

चलते समय उसने झुककर फिर मेरे पैर छुए और एक बार फिर पीड़ा से कराह उठी।

“अब कब दर्शन दोगे, प्रभु?” कर्मा ने पूछा।

“जब मेरे आने से ही यह अच्छी होने वाली है, तब आता रहूँगा।” मैंने कहा और दोनों बिहँस पड़े।

□

हम लोगों ने निकलकर देखा, बाहर कुछ लोग खड़े हमारी प्रतीक्षा कर रहे थे। इतने विलंब के बाद भी ये नहीं हटे। हमने मन-ही-मन समझ लिया कि ये सब हमारी सुरक्षा के लिए व्याकुल हैं। जहाँ इतनी आँखें एक साथ

हमपर टिकी हों, वहाँ कोई मेरा बाल बाँका भी नहीं कर सकता।

कर्मा भी हमारे साथ चल रहा था। निश्चित था कि चाचा के यहाँ तक हमें पहुँचाता; पर सामने आता अंगारक उसे दिखाई दिया और बिना कुछ कहे सामान्य अभिवादन के बाद उसने मुझे वैसे ही छोड़ दिया जैसे टूटी हुई डाल वृक्ष को।

अब तक मैं अंगारक को पहचानता नहीं था। उसने सैन्य अभिवादन के बाद कहा, “मैं अंगारक हूँ।”

उसके मिलन की इस औपचारिकता से उसका राजकीय अहं झँक रहा था, जो भैया को अच्छा नहीं लगा। बहुत दबाने पर भी वे बोल ही पड़े, “आप अवश्य अंगारक (अंगार) होंगे, क्योंकि मैं दूर से ही आपके ताप का अनुभव कर रहा था।”

अंगारक सिटपिटा गया। यह समय किसी भी राजकीय अधिकारी को चिढ़ाने या अप्रसन्न करने का नहीं था। मैंने स्थिति को सँभालने की नीयत से मुसकराते हुए कहा, “कहिए, कैसे चले?”

“मैं महाराज कंस का हस्तिपाल हूँ।” उसने अपना विशेष परिचय दिया। पर अभी भी उसका स्वर राजकीय गरिमा से बोझिल था।

“बड़ी खुशी हुई आपसे मिलकर। कहिए, क्या आज्ञा है?” मैंने कहा।

“मैं भला आपको आज्ञा दे सकता हूँ!” इतना कहते-कहते वह हमारे चरणों पर गिर पड़ा। अब उसका अहं जड़ से उखड़ चुका था।

“अरे भाई, तुम आज्ञा दो या न दो। महाराज तो आज्ञा दे सकते हैं।” मैंने उसे उठाकर छाती से लगाते हुए कहा, “और तुम्हारे महाराज की आज्ञा भी तो तुम्हारे जैसे लोगों के माध्यम से ही मिलेगी न!”

अंगारक चुप रह गया। वह मुझे देखता रहा। उसकी आँखें कह रही थीं कि हो सकता है, महाराज की आज्ञा भी अब मेरे द्वारा न मिले।

कुछ दूर तक वह मेरे साथ चलता रहा। फिर चुपचाप दूसरी ओर मुड़ गया।

हम लोग जब अक्रूर चाचा के आवास के निकट पहुँचे, दोपहर आधी घड़ी निकल चुकी थी।

दूर से ही दिखाई दिया कि मथुरावासियों के साथ मेरे चाचा-चाची द्वार पर खड़े-खड़े हमारी प्रतीक्षा कर रहे हैं। उनकी बगल में एक मेरी ही उम्र का किशोर खड़ा है। मेरा अनुमान है कि वही उनका पुत्र उपदेव होगा। मुझे देखते ही उन्होंने जलघट मँगवाया और पहुँचते ही पग पखारने लगे।

“अरे चाचाजी, आप यह क्या कर रहे हैं?” मैंने कहा।

पर वे विह्वल थे और पैर धोते चले जा रहे थे। उनकी आँखों में वही यमुनावाली घटना समाई थी। वे बिना कुछ कहे उसीमें डूबते चले गए और तब तक पैर धोते चले गए जब तक घट का जल समाप्त नहीं हो गया।

फिर वही विषम स्थिति! पहुँचते ही अक्रूर चाचा ने पहले मेरा पैर धोना आरंभ किया। मैं एक बार पीछे भी हटा, फिर भी उन्होंने मेरे पैर पकड़े ही रखा। श्रीदाम ने मेरे मन की बात समझ ली। उसने धड़ से दूसरा घट मँगवाया और गुणवंती चाची को भैया के चरणों की ओर कर दिया। वह भैया के चरण धोने लगीं; पर उनकी दृष्टि तो मेरे चरणों की ओर थी। अंत में उन्होंने मेरे पैरों पर भी जल डाला ही।

“अरे, आप यह क्या कर रही हैं?” मेरे मुख से निकला, “मैं तो आपका पुत्र हूँ।”

“पुत्र तो हो ही, पर साथ ही नारद की भविष्यवाणी भी।”

“वाणी तो अदृश्य होती है, बिल्कुल निराकार; पर मैं तो साकार हूँ।”

“तुम निराकार ही हो, प्रभु! हम लोगों के लिए साकार होते हो।” अक्रूर चाचा बोले, “जिस-जिस युग में हमें

आवश्यकता हुई है, तुम साकार हुए हो।”

चाचा को उस समय बहुतों ने नहीं समझा था। आप विश्वास करें, मैं भी उन्हें समझ नहीं पाया था। किंतु बाद में वे मुझे इतना समझ में आए कि मैंने अर्जुन को उपदेश देते समय उन्हींकी वाणी दुहराई थी—‘धर्म संस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे’।

मध्याह्न के भोजन के बाद ज्यों ही मैं मंचक पर ढुलका, नींद आने लगी। सुबह से काफी थक गया था। मैंने पैरों की ओर देखा, त्रिवक्रा के लगाए गए अंगराग को चाचाजी ने धो डाला था। सोचने लगा, सांसारिक प्रेम से भक्ति की भावना ज्यादा प्रबल होती है। यदि ऐसा न होता तो वह उसे कैसे धो डालते।

‘यह तुम भूल कर रहे हो, कन्हैया! प्रगाढ़ प्रेम को कोई भी भावना धो नहीं सकती। तुम गौर से देखो, मेरा लगाया अंगराग क्या सचमुच धुल गया है? क्या उसकी सुगंध भी नहीं रही? ऐसा कभी हो नहीं सकता। उसकी सुरभि से तुम अब भी भावित हो।...जो कुछ छूटा है, वह उसकी सीठी है। अंगराग तो लगा ही है। तुम्हारे पगों पर भी लगा है।...और मैंने तो अपने अंग का राग तुम्हारे पगों में ही नहीं, तुम्हारे मन पर भी लगाया था। वहाँ तो सीठी भी लगी है। जरा ध्यान से देखो, उसकी सुरभि में तो तुम डूब रहे हो।’ यह आवाज कहाँ से आ रही है, मुझे पता नहीं। हो सकता है, मेरे भीतर से त्रिवक्रा ही बोल रही हो—‘प्रेम में लौकिकता और पारलौकिकता का भेद नहीं होता। प्रेम तो प्रेम है। प्रेम का घनीभूत हो जाना ही भक्ति है।...जो कुछ मैंने लगाया है, वह अंगराग ही नहीं, मेरा मनराग है। क्या तुम उससे मुक्ति पा सकोगे? क्या वह छूट सकेगा?’

यह आवाज बराबर मेरे भीतर गूँजती रही। फिर भी मैं सो गया। पर आवाज ने पीछा नहीं छोड़ा। अब उसने रूप ले लिया था। यद्यपि यह सपना था, फिर भी अपना था। मैंने देखा, सामने त्रिवक्रा खड़ी है; वरन् त्रिवक्रा नहीं, मालिनी थी। कहीं से भी वक्र नहीं, शरीरयष्टि बिल्कुल सुघड़। मुसकराती हुई। वह कई बल खा गई, मानो वासंती बयार में पुष्पित कोई मालती की डाल हो। फिर वही आवाज गूँजने लगी—‘आज मैं मुदित हूँ। मेरा मन मयूर नाच रहा है। मैंने अक्रूर चाचा से कहा था कि जब तक दर्शन नहीं करूँगी, प्राण नहीं त्यागूँगी। पर दर्शन के बाद प्राण मेरे रहे ही नहीं, मैं त्यागूँ क्या? जब प्राण मेरे नहीं रहे तब यह शरीर मेरा कैसे रह सकता है! यह भी तुम्हारा हो गया, कन्हैया!’ वह बोलती गई, ‘जरा चमत्कार तो देखो! जब तक यह शरीर मेरा था तब तक वक्र था और वक्र होता जा रहा था, कूबड़ बढ़ता जा रहा था; पर ज्यों ही यह तुम्हारा हुआ, सारी वक्रता गायब। कितना विचित्र है! कितना विलक्षण!’ इतना कहती हुई मालिनी ने पुनः अपनी शरीरयष्टि की ओर देखा।

‘एक बात पूछूँ?’ मालिनी बोली।

पर मैं चुप ही रहा।

‘राधा क्या मुझसे अधिक सुंदर है?’

फिर लगा जैसे राधा उसकी बगल में आकर खड़ी हो गई। मैं दोनों को एकटक देखता रहा। मेरा मन दोनों की सुंदरता को तौलता रहा; पर मैं किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँचा।

‘क्या राधा की भक्ति मेरी भक्ति से अधिक प्रबल है?’ यह दूसरा प्रश्न था।

मैं फिर सोचने लगा।

मैं किसी निष्कर्ष पर पहुँचूँ, इसके पहले ही वह पुनः बोल पड़ी—‘राधा की भक्ति तो संयोग प्रेम की घनीभूत छाया है। मेरी भक्ति तो वियोग प्रेम की। एक में मिलन का संतोष है तो दूसरे में वियोग की छटपटाहट। राधा ने कभी आपको खोया नहीं था, मैंने कभी आपको पाया ही नहीं था। राधा का आपके प्रति आकर्षण दर्शन के कारण था। मेरे आकर्षण में अदर्शन है, सहज विश्वास है, श्रवणमात्र पर आधृत पूर्वानुराग है। एक में बाह्य इंद्रियों का

लगाव था और दूसरे में आंतरिक। अब आप ही सोचिए, किसकी भक्ति में घनत्व अधिक है?’

मैं सोचता ही रह जाता हूँ।

‘यह भक्ति तो रहेगी, प्रभु! चाहे तुम अपनाओ या न अपनाओ।’ इतना कहते हुए वह चुप हो गई और मुसकराती रही।

फिर मैं देखता हूँ कि राधा खड़ी रह गई है और मैं मालिनी को लेकर वन विहार के लिए चल देता हूँ। मैं एक पेड़ पर चढ़कर वंशी बजाने लगता हूँ। बगल में मालिनी मेरे कंधे पर हाथ डालकर बैठ जाती है।

अचानक क्या देखता हूँ कि एक अजगर मालिनी का पैर पकड़कर खींच रहा है।

‘अरे बचाओ, बचाओ! कन्हैया, मुझे बचाओ!’

मैं हड़बड़ाकर अपना सुदर्शन उठा लेता हूँ। वह अजगर आदमी हो जाता है और हाथ जोड़ता हुआ दूर खड़ा दिखाई देता है।

अरे, यह तो अंगारक है।

‘तुम, अंगारक!’ मैं कहता हूँ।

‘नहीं-नहीं, यह कोई और नहीं, अजगर ही है। मुझे चबा जाएगा। बचाओ, कन्हैया, बचाओ!’

यह आवाज इतनी तेज है कि मैं जाग उठता हूँ। सपना टूट जाता है। अब कहीं कोई नहीं है। शयनकक्ष में मैं अकेला हूँ और है मालिनी के लगाए अंगराग की मंद-मंद सुरभि।

□

जब मैं शयनकक्ष से बाहर निकला, संध्या अपना रंगीन आँचल पसार चुकी थी। मुझे शीघ्र ही पता चला कि महामात्य मेरी प्रतीक्षा कर रहे हैं। मेरे साथ आए मेरे साथी, गोकुल के गोप—सभी अक्रूर चाचा के पीछे विशाल उपवन में पड़े हैं। भैया कहीं घूमने निकल गए हैं। उनकी प्रकृति थी, वह संध्या को कभी घर में नहीं रहते थे और दोपहर को भी विश्राम नहीं करते थे। भोजनोपरांत वे लेटते अवश्य थे; पर उपनिषद् आदि पढ़ते हुए।

पर इस समय मुझे भैया की चिंता थी। स्थिति असामान्य है। अभी हम लोगों ने रजक की हत्या की है। वह भी मामूली रजक की नहीं वरन् राजकीय रजक की।...भैया किधर गए हैं? कैसा पड़े, कैसा न पड़े।

“भैया के साथ और कौन-कौन गया है?” मैंने चाचाजी से पूछा।

“यह तो मुझे नहीं मालूम।” उन्होंने कहा और बताया, “बेटा, प्रद्योत तुम्हारी प्रतीक्षा में कब से बैठे हैं।”

मैं बाह्य कक्ष में प्रद्योत से मिलने के लिए आया। मुझे देखते ही उसने चरण स्पर्श किया।

“अरे, आप तो महामात्य हैं न?”

वह कुछ नहीं बोला। चुपचाप मुझे देखता रह गया; जैसे मेरी आकृति पर कुछ अस्पष्ट लिखा हो, उसे पढ़ने की चेष्टा कर रहा हो।

“यह अभिवादन तो महामात्य की गरिमा के अनुकूल नहीं था।” मैंने हँसते हुए कहा।

“महामात्य जहाँ हूँ वहाँ हूँ, यहाँ तो हूँ मात्र आपका सेवक।” प्रद्योत बोला।

यों प्रद्योत को मैंने पहले भी देखा था; पर वह आज एकदम दूसरा दिखाई दे रहा था।...मुझे स्पष्ट लगा कि अक्रूर चाचा ने मेरे आने के पूर्व उससे कुछ कहा अवश्य है, जिससे मैं उसे देवता दिखाई देने लगा हूँ। हो सकता है, यमुना के किनारे पूजन के समय का अपना अनुभव बता दिया हो।

“यहाँ आपको कोई कष्ट तो नहीं है?” प्रद्योत ने पूछा, “यों आपके रहने की सारी व्यवस्था है।”

“कहाँ?”

“राजभवन में।”

“यह हुई न महामात्यवाली बात!” मैं हँसने लगा, “आए तो हैं आप महामात्य की हैसियत से—और महाराज ने आपको भेजा है, तो महाराज को कृपया सूचित करें कि मैं राजभवन में नहीं रहूँगा। मैं धरती से जुड़ा मनुष्य हूँ, जंगल और कछारों में घूमनेवाला। राजभवन में तो मेरा दम घुटने लगेगा। वहाँ सुख-सुविधाएँ तो सब मिलेंगी; पर बाहर का आकाश नहीं मिलेगा, धरती नहीं मिलेगी, हमारे साथी नहीं मिलेंगे।”

“हाँ, यह तो आप ठीक कहते हैं; पर महाराज की इच्छा थी कि आप राजभवन में ही रहते। बाहर रहने पर आपकी सुरक्षा व्यवस्था कर पाना कुछ कठिन होगा।”

सुरक्षा का नाम सुनते ही मुझे हँसी आ गई। मैंने कहा, “मेरी सुरक्षा राजभवन की दीवारें नहीं कर सकतीं और न आपके आयुध तथा सेनाओं में ही वह सामर्थ्य है।...मेरी रक्षा तो बस मामाजी का आशीर्वाद ही कर सकता है।”

इतना सुनने के बाद प्रद्योत की आकृति पर मुसकराहट दौड़ आई।

प्रद्योत के कथन से दो बातें स्पष्ट हुईं। पहली यह कि बाहर वे मेरी रक्षा की जिम्मेदारी नहीं लेते। इसका तात्पर्य है कि हमपर आक्रमण किए या कराए जा सकते हैं। रजक की हत्या को लेकर जनता को भी उभारा जा सकता है। दूसरी यह कि कंस की मंशा मुझे मेरे साथियों से अलग करने की है।

मैंने भी इसी संदर्भ में एक चाल चली—“मैं तो चाचाजी के यहाँ सकुशल हूँ, पर मेरे साथी उपवन में खुले पड़े हैं।”

“तो आप क्या चाहते हैं?” प्रद्योत ने पूछा।

“यदि उनकी व्यवस्था आप राजभवन में कर देते तो बड़ी कृपा होती।” मैंने कहा।

प्रद्योत सोचता रहा। फिर बोला, “इसके लिए महाराज से आज्ञा लेनी होगी।”

“तो ले लीजिए।” मैंने कहा, “आज्ञा लेना तो एक औपचारिकता मात्र है। करना तो सब आपको ही है।”

बेचारा यह भी न कह सका कि अब स्थिति ऐसी नहीं है। केवल मुसकराकर रह गया।

मैं जानता था कि राजभवन में मेरे साथी रहना पसंद नहीं करेंगे। वे वहीं रहेंगे जहाँ मैं रहूँगा। फिर भी मैं उन्हें वहाँ भेजना चाहता था; क्योंकि प्रासाद की प्राचीरों के भीतर क्या सुलग रहा है, इसकी जानकारी मुझे आवश्यक थी। सोचने लगा कि मेरे इस प्रस्ताव पर कंस की क्या प्रतिक्रिया होती है।

“क्या सोच रहे हैं?” प्रद्योत ने मेरे चिंतन को झकझोरा।

“कुछ नहीं।” अचानक मेरे मुख से निकल पड़ा। पर क्या इतने से प्रद्योत संतुष्ट होगा? मैंने धड़ से बात बदल दी—“सोच रहा हूँ कि भैया कब से टहलने निकले हैं, अभी तक आए नहीं।”

“तो आते होंगे।” प्रद्योत बोला।

“पर मन नहीं मानता न!” मैंने कहा और उसकी बात उसके ऊपर उछाल दी—“फिर मथुरा की असामान्य स्थिति है। कैसा पड़े, कैसा न पड़े!”

प्रद्योत एकदम हँस पड़ा। उसने अनुभव किया कि उसीकी बात और बड़े मौके से उसे लौटाई गई।

“किंतु बलदाऊ के लिए ऐसा कुछ सोचना बहुत सार्थक नहीं है।” प्रद्योत बोला।

“क्यों?”

“क्योंकि वे देवकी के आठवें पुत्र नहीं हैं।”

इस बार हम दोनों की हँसी एक हो गई थी।

□

बाद में मुझे पता चला कि मैंने अद्भुत आग लगा दी है। पूरा राजभवन मेरी समस्या को लेकर परेशान हो गया।

ज्यों ही राजभवन में मेरे साथियों के टिकाए जाने का प्रद्योत ने मेरा आग्रह कंस को सुनाया, वह एकदम झल्ला उठा—“यह कैसे हो सकता है? मामूली झोंपड़ियों में रहनेवाले ग्वालों के छोकरे राजभवन में रहेंगे!”

कंस ने तो एकदम मेरी प्रार्थना ठुकरा दी थी; पर वृत्घ्न को सारी जानकारी दी गई, तब उसने स्थिति को सँभाला। उसने सीधे कंस से कहा, “देखिए, बनती हुई परिस्थिति को बिगाड़िए नहीं। यदि आपने उसका आग्रह नहीं सुना, तब इसीका बहाना लेकर यदि वह लौट गया, तब क्या होगा?”

“जब वह आ गया है तब लौटकर कैसे जाएगा!” कंस का अहं अपने शीर्ष बिंदु पर था—“मृत्यु के मुख में आया हुआ भी कहीं कोई लौटता है!”

“अनेक बार वह मृत्यु के मुख में जाकर भी लौट आया है, क्या आप इसे नहीं जानते?” बतानेवाले ने मुझे यह भी बताया कि वृत्घ्न ने बड़ा जोर देकर कहा था, “और उनमें से हर एक मौत तो आपने ही भेजी थी। वे सारी मौतें मारी गईं, पर वह जीवित रहा। उसे आप मामूली मत समझिएगा, वह देवकी का आठवाँ बेटा है।”

“देवकी का आठवाँ बेटा!” सुनते ही कंस का क्रोध फनफनाने लगा; मानो वह इसी समय मुझे कच्चा चबा जाने के लिए तैयार हो गया। क्रुद्ध नाग जैसे शिलाखंड पर ही अपना फन पटकता है वैसे ही उसका क्रोध कल्पना में ही मुझे निगलने लगा। वृत्घ्न अपने बहनोई को अच्छी तरह पहचानता था। उसकी ऐसी मनःस्थिति पर वह एकदम चुप हो जाता था। जब क्रोध का तूफान शांत हो जाता तो वह धीरे-धीरे समझाना आरंभ करता था। इस समय भी उसने ऐसा ही किया।

“यह समय क्रोध करने का नहीं है वरन् बड़ी शांति से स्थिति को समझने का है।” वृत्घ्न ने कंस को समझाया, “लगता है, जनता भी उसके पक्ष में है।”

“यह तुम कैसे कह सकते हो?” कंस बोला।

“उसने रजक की हत्या कर दी और किसीने उसका विरोध नहीं किया। वह कोई सामान्य रजक तो था नहीं, राजकीय रजक था। और राजधानी में उसकी हत्या की गई। यह हत्या रजक की नहीं वरन् राजकीय सम्मान की है। फिर भी किसीने उसे टोका तक नहीं।”

कंस चिंता में पड़ गया।

“और एक बात पर आपने ध्यान ही नहीं दिया होगा!”

“किस बात पर?”

“उसने रजक की दूकान के सारे वस्त्र जनता में बाँट दिए। वे रजक के तो थे नहीं। वे सभी राजभवन के थे। बहुमूल्य थे। वरदा बता रही थी कि उनमें कई तो महारानियों की बहुमूल्य कंचुकियाँ और साड़ियाँ थीं। इन सबके बाँटे जाने का आपने अर्थ समझा?”

“हाँ, जनता को प्रसन्न रखना; क्योंकि उस हत्या से जनता उत्तेजित हो सकती थी।” कंस ने कहा।

“यह तो था ही, साथ ही यह भी था कि यह महाराज का वध किया गया तो राजकीय कोष भी इसी तरह जनता में बाँट दिया जाएगा।”

“महाराज का वध! और राजकीय कोष का वितरण! यह तुम क्या कह रहे हो, वृत्घ्न?” कंस का क्रोध किटकिटाने लगा।

“इसीलिए मैं फिर कहता हूँ कि स्थिति की गंभीरता को समझिए।”

“क्या समझूँ! गली में घूमनेवाले अवारा कुत्तों को राजभवन में आश्रय दे दूँ?”

“वे आवारा कुत्ते नहीं हैं—और यदि हैं भी तो इस समय आपके अतिथि हैं।” वृतघ्न बोला।

“मेरे अतिथि कैसे? मैंने तो कृष्ण को बुलाया था। उसके परिवार को बुलाया था। पूरे व्रज को तो बुलाया नहीं था कि वे मेरे अतिथि हों!”

“भले ही न बुलाया हो; पर जिसे बुलाया है, उसके साथ तो वे आए हैं। और वह उन्हें अपना साथी समझता है तथा उसने ही आपसे आग्रह भी किया है।”

कंस सोच में पड़ गया। “तो क्या करना चाहिए?”

वह धीरे से बोला। लगा, उसका सारा क्रोध चिंता में डूब गया।

“उन लोगों के ठहरने की व्यवस्था करा देनी चाहिए।”

“पर राजभवन में उन्हें ठहराना खतरे से खाली नहीं है। यों ही यहाँ की गुप्त से गुप्त योजना का भी आभास जनता को लग जाता है। उन लोगों के रहने पर तो सब गुड़ गोबर हो जाएगा।”

“तब आप उन्हें राजभवन में न रखकर राजकीय उद्यान की अतिथिशाला में रख दीजिए।”

“उद्यान की अतिथिशाला!” कंस जोर से हँसा—“शीशे के घर में वानरों का झुंड!”

उसका कहना था कि इतनी सुंदर, सुसज्जित और मणिजटित अतिथिशाला सुरक्षित नहीं रह जाएगी उन व्रज वीथियों के ग्वालों से। पर इसके अतिरिक्त कोई व्यवस्था और संभव नहीं थी। अंत में वहीं ठहराने का निश्चय किया गया और प्रद्योत से इसकी सूचना मेरे पास भिजवा दी गई।

इधर भी विचित्र स्थिति थी। कोई मुझे छोड़कर रहना नहीं चाहता था। चाचा के यहाँ इतने लोगों की व्यवस्था संभव ही नहीं। आज का ही दिन लीजिए। संध्या होने को आई, पर अभी तक सबके लिए एक समय के भी भोजन की व्यवस्था न हो पाई। अतएव मैंने यह निश्चय किया कि उद्धव और श्रीदाम को छोड़कर सबको कंस के आतिथ्य में भिजवा दूँ।

प्रद्योत को लेकर मैं सीधा अक्रूर चाचा के उपवन में पहुँचा, जहाँ मेरे सखागण थे। पहले मैंने प्रद्योत का परिचय दिया। उनमें से कुछ तो उसे जानते थे, कुछ नाम से जानते थे। लोगों ने उसका उचित अभिवादन किया।

तब मैंने कहा, “ये आप लोगों को लेने आए हैं। आप महाराज के अतिथि होंगे।”

सब एकदम चुप हो गए। पूरा जन समुदाय शोक में डूब गया। उन्हें तो अच्छी तरह मालूम था कि कन्हैया को राजभवन में नहीं ठहरना है। अतएव एक सहमी-सी आवाज उधर से आई—“और आप?”

“मैं और भैया तो यहीं रहेंगे।”

“हम आपको अकेले नहीं रहने देंगे।” मेरे मित्रों की ओर से यह दूसरी आवाज थी।

“नहीं, मैं अकेला यहाँ नहीं रहूँगा। श्रीदाम और उद्धव मेरे साथ रहेंगे।”

“जब श्रीदाम और उद्धव आपके साथ रहेंगे तब हम भी रहेंगे। आज तक तो आपने हम लोगों में कभी भेद नहीं किया। यह आज आपको क्या हो गया है?”

अब मैं उन्हें कैसे समझाऊँ कि मेरे साथ दो से अधिक के रहने की व्यवस्था नहीं हो सकती।

“यदि नहीं हो सकती तो उद्धव और श्रीदाम क्यों रहें? उन्हें भी उन्हीं लोगों के साथ क्यों नहीं कंस का अतिथि बनाया जाए?” ये ऐसे प्रश्न थे, जिनका तत्काल उन्हें उत्तर चाहिए था। अब मैं क्या उत्तर दूँ; वह भी प्रद्योत की उपस्थिति में।

अंत में मैंने प्रद्योत को उस समय वहाँ से हटाना ही उचित समझा। मैंने उससे मुसकराते हुए बड़े सहजभाव से कहा, “हम तो लड़ते ही रहेंगे। आप हमारी लड़ाई में अपना समय व्यर्थ क्यों नष्ट करें!”

मेरे इतना कहते ही प्रद्योत चलने को हुआ; पर उसने यह अवश्य कहा, “मुझे यथाशीघ्र आप अपने निश्चय से अवगत कराइएगा, जिससे मैं आपके आवास की उचित व्यवस्था करा सकूँ।”

प्रद्योत के जाते ही मैं उन सबके बीच चला गया। उद्यान के प्रांगण में हरी घास पर बैठकर मैंने गंभीरतापूर्वक बातें आरंभ कीं—“स्थिति भयंकर है। यह आप सब जानते हैं कि किसी भी समय कुछ भी हो सकता है। हम लोग यहाँ बाहरी हैं। यहाँ की गतिविधि का न तो हमें अनुमान है और न अनुमान लगा पाने का हमारे पास माध्यम है। जो लोग गोकुल जाकर मेरे यहाँ समाचार पहुँचाते थे, सलाह देते थे—मैं अनुभव कर रहा हूँ कि वे लोग भी यहाँ मुझसे मिलने से कतरा रहे हैं। आखिर राजा का भय है न! राजा का भय दैवकोप से अधिक घातक होता है।

“ऐसी स्थिति में हम सबका एक जगह रहना नीतिसम्मत नहीं है। कूटनीति तो कहती है कि प्रासाद की हर ईंट में हमारे कान लग जाने चाहिए।...अब इससे अच्छा और अवसर क्या मिलेगा कि आप लोगों को प्रासाद में सहज प्रवेश मिलने जा रहा है!”

मेरे इस कथन से एक बार तो शांति छा गई। लोगों ने स्थिति की गंभीरता का अनुभव किया।

“क्या यह उचित होगा कि आप कहीं रहें और हम कहीं?” एक प्रौढ़ आवाज भीड़ से उछली—“कहीं कंस की ऐसी कोई चाल तो नहीं है कि वह पहले हम लोगों को आपसे अलग कर रहा है?”

शंका निर्मूल नहीं थी।

“आप ठीक कहते हैं। इस परिस्थिति में कोई भी इसी तरह की बातें सोच सकता है।” मैंने कहा, “पर हम उनके करने से कहाँ अलग हो रहे हैं। उनका तो मेरे प्रति बार-बार आमंत्रण आया है। किंतु हम आप लोगों की राय से और गोकुल में हुए पूर्व निश्चय के अनुसार स्वयं प्रासाद में रहना नहीं चाहते।”

“फिर भी हम अलग-अलग रहें और हमारे-आपके बीच कोई संपर्क भी न रहे, यह उचित नहीं है।”

“संपर्क के लिए ही न हम अपने पास उद्धव और श्रीदाम को रख रहे हैं।” मैंने कहा, “ये अभी जाएँगे, आप लोगों के साथ ही। प्रासाद में अपने निवास की व्यवस्था ठीक करके ये फिर हमारे पास आ जाएँगे। अधिकांश समय ये लोग यहीं रहेंगे; लेकिन वहाँ आते-जाते रहेंगे। आप यही समझिए कि हमारे-आपके बीच में ये संपर्क सेतु रहेंगे।”

समझाने-बुझाने पर गाड़ी रास्ते पर आ गई। महामात्य के पास अविलंब सूचना भेजी गई। मथुरा के प्रासाद के दक्षिण-पूर्व के कोण में बने विशाल अतिथिगृह के बगल के साधारण आवास में गोकुलवासियों के ठहरने की व्यवस्था हो गई।

वस्तुतः श्रीदाम और उद्धव को यह अच्छा नहीं लगा। यह आवास अतिथिगृह के चाकरों के लिए निर्मित था। उसमें टिकाया जाना भी उचित नहीं था; जबकि अतिथिगृह के बहुत से कक्ष खाली थे। इसका पता उद्धव ने उसमें जाकर लगाया और देखा कि कुछ कक्ष मागधी सैनिक अधिकारियों के नाम आवंटित हैं।

अतिथिगृह में उद्धव के प्रवेश करते ही एक मागधी अधिकारी विक्षर ने टोका था, “आप कौन हैं?”

“हम गोकुल से आए हैं और अपने ठहरने की व्यवस्था देख रहे हैं।” उद्धव बोला।

“ओ, चलिए-चलिए। आप लोगों के ठहरने की व्यवस्था पार्श्वगृह में की जा चुकी है।” उसके स्वर में बड़ी उपेक्षा का भाव था।

उद्धव को यह अच्छा नहीं लगा। उसने तुरंत प्रतिकार किया—“आपको ऐसा कहना नहीं चाहिए था। हम छोटे हैं या बड़े, सामान्य हैं या असामान्य, हैं तो आपके अतिथि। और हमारी संस्कृति में अतिथि देवता होता है।”

मुझे उद्धव ने बताया था कि इसके बाद वह नाटकीय हँसी हँसा था और बड़े व्यंग्यात्मक ढंग से बोला था, “हम

यह नहीं जानते कि आपकी संस्कृति अतिथि को क्या समझती है!”

इसके बाद विश्वर एकदम सिरपिटा गया था।

इस बातचीत के कई लाभ हुए। एक तो उद्धव इतना सहजभाव से हँसते हुए विश्वर से मिला था कि उसने गोकुलवासियों को एकदम भयमुक्त समझा। भयमुक्तता स्वयं में एक शक्ति होती है। इसका प्रभाव विश्वर पर विलक्षण पड़ा। दूसरी बात यह हुई कि उद्धव से इस प्रकार घुल-मिलकर बातें करते देखकर अन्य मागधी सैनिकों ने यह समझा कि मेरे अधिकारी का यह पूर्व परिचित है। अब उद्धव को अन्य मागधी सैनिक भी बड़े सम्मान से देखने लगे।

शीघ्र ही उद्धव और विश्वर के मिलन की बात कंस को पता चली। निरंकुश राजतंत्र की सबसे बड़ी विडंबना यह है कि वह जन्म से ही संशय की गोद में पलता है। इसी संशय ने कंस को व्यग्र कर दिया।

उसने वृत्घ्न को बुलाकर कहा, “जो मैं सोचता था, वही हुआ। अब उस उद्धव के बच्चे को हमारी हर योजना का आभास लग जाएगा।”

“आप बिल्कुल चिंता न करें, मैं विश्वर से बातें करूँगा।” वृत्घ्न ने उसे आश्वस्त किया।

□

सभी गोकुलवासी राजभवन की ओर जाने लगे। मैं भी उद्यान से अक्रूर चाचा के आवास में चला आया था। अँधेरा घिर चुका था। चाची ने दीप जलाकर तुलसी के चौरे पर रख दिया था। अभी तक भैया नहीं आए थे। मैं अभी सोच ही रहा था कि उद्धव ज्यों ही लौटकर आता है, मैं उसे लेकर भैया को देखने नगर की ओर जाऊँगा कि अचानक हल की नोक के टकराने की ध्वनि हुई। अवश्य ही भैया आ गए हैं; क्योंकि यह उनकी आदत थी कि घर में प्रविष्ट होते ही अपना आयुध धरती पर रख देते थे।

मैंने दौड़कर उनकी अगवानी की—“बड़ी देर कर दी, भैया! हम लोग घबरा गए थे।” बलदाऊ गंभीर हो गए।

“लगता है, हम सुरक्षित नहीं हैं।” उन्होंने अपना उत्तरीय मुझे थमाते हुए कहा।

“क्या हम चाचा के यहाँ भी सुरक्षित नहीं हैं?”

“नहीं, यहाँ की बात नहीं है।” वे बोले, “मथुरा में सुरक्षित नहीं हैं।”

मैं सोचने लगा। अवश्य आज भैया के साथ कुछ हुआ है।

“क्या मार्ग में किसीने आक्रमण किया?”

“नहीं।”

“कहीं आक्रमण की आशंका हुई?”

“नहीं।” तब उन्होंने कुछ सोचते हुए बड़ी गंभीरता से सारी घटना बताई—“जब मैं टहलकर लौट रहा था, हर व्यक्ति मुझे बड़े ध्यान से देख रहा था, पर कोई निकट नहीं आ रहा था। हर एक की आँखों में शंका और भय की अद्भुत रुक्षता दिखी। फिर भी उससे मुझे क्या लेना-देना था! मैं मस्ती से टहलकर लौट रहा था। नगरीय उद्यान के दक्षिणी कोण के एकांत में वृक्ष के नीचे एक बूढ़ा मिला। उसने संकेत से मुझे निकट बुलाया और किनारे ले जाकर बड़े ध्यान से बताया, ‘कंस के इन उत्सवों का मात्र एक लक्ष्य है—तुम लोगों की हत्या करना।’

“मैंने पूछा, ‘यह आपको कैसे मालूम?’

“‘यह मैं नहीं बता सकता।’ बूढ़ा और गंभीर हुआ—‘जड़ की खोज मत करो, फल की ओर देखो।’ बहुत खोद-बीन करने पर पता चला कि वह महाराज उग्रसेन की सेना में रहा है। कंस द्वारा उनके बंदी बनाए जाने के बाद

अन्य सैनिकों के साथ उसे भी राजकीय चाकरी से अलग कर दिया गया।”

“शायद इसीलिए तो नहीं वह हम लोगों को भड़का रहा था?” मैंने शंका की।

“मैं भी पहले यही सोचता था।” भैया ने बताया, “पर जब बूढ़े ने कहा कि मैं अब भी राजकीय वृत्ति पाता हूँ।...उसने बताया कि ‘मैं थोड़े दिनों तक भटकता रहा, फिर मैंने कंस का नवनीत लेपन शुरू किया। वह तो यही चाहता था। मुझसे प्रसन्न हो गया। मुझे फिर अपनी चाकरी में रखना चाहता था; किंतु मेरा मन नहीं हुआ कि उस पापी की सेवा करूँ। मैंने कहा—महाराज, विश्वास खाए सैनिक और चोट खाए साँप को कभी अपने पास नहीं रखना चाहिए। जाने कब उसकी नीयत काँप जाए और वह चोट कर बैठे।’ उसने बताया, ‘तब से मेरी वृत्ति बाँध दी गई। मैं तो उस पापी की वृत्ति भी नहीं लेता; पर क्या करूँ, पेट तो पालना ही था।’ ”

“आप उस बूढ़े को बिल्कुल नहीं पहचानते?” मैंने पूछा, “वह अंधक बाहुक तो नहीं?”

“उसे तो मैं पहचानता हूँ। बाहुक तो कई बार हमारे गोकुल आया है।” बलदाऊ बोले, “पर वह बूढ़ा बिल्कुल अपरिचित था। मैंने कई बार उसका परिचय पूछा, पर वह हर बार टाल गया। कोई संभ्रांत ही लगता है।”

“क्यों?”

“क्योंकि जब मैं अधिक उसके पीछे पड़ा तब उसकी बड़ी-बड़ी आँखें गढ़े में एकदम चमक उठी थीं और उसने बड़े रोब से कहा था, ‘जितना कहता हूँ उतना ही सुनने की चेष्टा करो।’ ऐसा स्वर किसी उच्च प्रशासक का ही हो सकता है।”

“हो सकता है, वह महादंडनायक या सेनापति की श्रेणी का कोई व्यक्ति हो!” मैंने कहा और भैया ने भी मुझसे सहमति व्यक्त की।

मेरे मन में मंथन तो चल ही रहा था। मैं बोल पड़ा, “समझ में नहीं आता कि किस खतरे की ओर उसने संकेत किया है। वह यह भी नहीं बता सका कि हमारे विरुद्ध कौन सा षड्यंत्र रचा जा रहा है?”

“इस संदर्भ में उसे कुछ भी मालूम नहीं था। मैंने बार-बार पूछा था। उसने स्पष्ट कहा, ‘इस संबंध में जो कुछ है, वह कंस और वृत्तधन के पेट में है।’ उसने कुछ सोचकर कहा, ‘मेरे सावधान करने का यह तात्पर्य नहीं है कि आप लोग व्यग्र हो जाएँ, वरन् आप सजग रहें। समझ-बूझकर पैर रखें और छाछ भी फूँककर पीएँ।’

“‘और विचित्र बात यह है कि कन्हैया छाछ ही पीता है!’ मैं बताकर हँसने लगा था। हाँ, जब मैंने यह कहा था तो बूढ़ा भी हँसने लगा था।”

इतनी जानकारी देकर भैया बड़े सहजभाव से स्नान करने चले गए; क्योंकि उनके संध्या पूजन के लिए विलंब हो रहा था। पर मेरा मन उनके कथन में डूबता जा रहा था। भैया और मेरी प्रकृति में एक मौलिक अंतर है। वह ईश्वर पर अधिक और अपने पर कम विश्वास करते हैं; पर मैं अपने पर अधिक और ईश्वर पर कम विश्वास करता हूँ। मैं सोचता हूँ कि मैं अपना ईश्वर स्वयं हूँ। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि मैं ईश्वर के अस्तित्व को नकारता हूँ, वरन् ईश्वर को अपने अस्तित्व से पहचानता हूँ। चिंतन के इस अंतर ने हमारी और उनकी जीवन-पद्धति में भी अंतर ला दिया है। वह सोचते हैं कि जो करेगा, भगवान् ठीक करेगा। मैं सोचता हूँ, ऐसा पड़ेगा ही क्यों?

इस समय भी मैं सोचता रहा और भैया ने उस बूढ़े की सारी बात को अपने मन से एकदम झाड़ दिया था और नित्यकर्म में प्रवृत्त हो गए थे। पर मेरे मन पर बूढ़े की एक-एक बात उभरती रही। उसी मानसिकता में मैं बाहर निकलकर पीछे के उद्यान की ओर बढ़ा। देखूँ, मेरे साथी राजभवन में जा रहे हैं या नहीं?

कुछ दूर आगे बढ़ने पर उद्यान के प्रमुख द्वार के निकट मुझे किसी व्यक्ति की संदिग्ध छाया हिलती-डुलती मालूम हुई। स्पष्ट लगा कि वह अकेला है। यदि गोकुल से आया कोई व्यक्ति होता तो वह अकेले इस तरह क्यों

घूमता? जरूर कोई बात है! मेरा मन बोला, 'इसमें डरने की क्या बात है! अकेले के लिए तो मैं ही काफी हूँ।' मेरा विश्वास प्रगल्भ हुआ और मैं चुपचाप आगे बढ़ा।

निकट जाकर कुछ दूर से ही मैंने पूछा, "कौन हो तुम?"

वह व्यक्ति मेरी ओर बढ़ा। मैं सँभलकर खड़ा हो गया और एक कड़कती आवाज फिर मारी—"कौन हो तुम? बोलते क्यों नहीं?"

अब वह धीरे से बोला, "मैं प्रभास हूँ। सुवासिनी का पुत्र!"

"प्रभास! अरे वही न, जिसके साँप के विष को मैंने उतारा था?"

"हाँ।" कहते हुए उसने सिर हिलाया और फिर मेरे चरणों पर गिर पड़ा।

"तुम यहाँ क्यों टहल रहे थे?" मैंने पूछा।

उसने बड़े संकोच से रुक-रुककर जो कुछ बताया, उसका तात्पर्य था कि 'मैं आपसे मिलना चाहता था; पर इतना साहस जुटा नहीं पा रहा था कि अक्रूर चाचा के यहाँ आकर आपसे मिलता। इसी उधेड़बुन में टहल रहा था।'

"इसके पहले तो मैंने तुम्हें कहीं नहीं देखा, तुम यहाँ आए कैसे?"

"प्रातः ही आया था; किंतु दूसरी नाव से।" उसने कहा, "और भीड़ में ही अपने को छिपाए रखा।"

"क्यों?"

"माँ ने ऐसा ही कहा था।"

'क्यों कहा था ऐसा?' मन में आया कि पूछूँ, फिर भी चुप रह गया। दूसरे की व्यक्तिगत समस्याओं से उलझने से क्या लाभ!

"तुम दो भाई हो न?" मैंने पूछा।

"हाँ, सुवास वहीं रह गया है।" फिर वह चुप हो मेरी ओर देखने लगा; जैसे वह कुछ कहना चाहता हो और संकोच आड़े आ रहा हो।

"तो तुम क्या चाहते हो?"

"मैं राजभवन में जाना नहीं चाहता।" उसकी धरती चूमती दृष्टि से स्पष्ट लग गया कि यह अपने पिता को जानता है, भले ही अब वह इसे पहचान न पाए। हो सकता है, पहचान भी ले। जब यह सुवासिनी के साथ गया था तब आखिर कितने वर्षों का था! कैशोर्य के द्वार पर भले ही न रहा हो, पर संवेदनशील बचपन इसमें जन्म ले चुका था।...तब तो पहचान ही लेगा।...शायद पहचान का ही संकट है इसके सामने।

फिर भी मैंने पूछ ही लिया, "क्यों नहीं जाना चाहते?"

"माँ ने मना किया था।" उसने धीरे से कहा।

"तुम्हारी माँ ने यहाँ आने से नहीं मना किया?"

वह कुछ नहीं बोला। उसकी दृष्टि उस अँधेरे में भी धरती में कुछ खोज रही थी। मैंने उसे अधिक खोदना उपयुक्त नहीं समझा।

"कोई बात नहीं। अभी तुम मेरे साथ ही रहो। कल मैं तुम्हारे रहने की दूसरी व्यवस्था करूँगा।" इतना कहकर मैं उपवन के प्रवेश द्वार की ओर बढ़ा। फिर जैसे मुझे कुछ याद आया—"अच्छा यह बताओ, तुम्हारी माँ ने अक्रूर चाचा के यहाँ रहने से तो नहीं मना किया है?"

"नहीं।" उसकी निर्दोष मुसकान उस अँधेरे में भी तैरने लगी।

□

चार

घटनाओं का क्षितिज बड़ी तेजी से रंग बदलने लगा।

दूसरे ही दिन सवेरे-सवेरे प्रभास को लेकर मैं त्रिवक्रा के घर पहुँचा। द्वार पर से ही आवाज लगाई। लगता है, कर्मा कहीं गया है। धीरे-धीरे त्रिवक्रा आई।

‘अरे, यह तो चल रही है!’ मुझे आश्चर्य हुआ। अभी उस दिन इसका उठना भी कठिन था।

“पिताजी नहीं हैं क्या?” मैंने पूछा।

“नहीं।” वह बोली, “शायद स्नान के लिए यमुना किनारे गए हैं।”

“बड़े विलंब से स्नान करते हैं तुम्हारे पिताजी!” मैंने कहा।

“हाँ, मेरे कारण उन्हें कुछ विलंब हो जाता है।” वह विचित्र ढंग से मुसकराई। उसने देर होने का कारण बताते हुए कहा, “जैसे आप उस दिन अपने पैरों से मेरे पैरों के पंजे दबाकर खड़े हुए थे और दोनों हाथों से मेरा हाथ ऊपर की ओर खींचा था वैसे ही पिताजी भी हर सवेरे करते हैं। और एक बार नहीं, कई बार करते हैं। मैं पसीने-पसीने हो जाती हूँ। मेरी रीढ़ की हड्डियाँ चट-चट करने लगती हैं।...इसीसे उन्हें देर हो जाती है।”

“इसीका परिणाम है कि अब तुम किसी तरह चल लेती हो। उस दिन तो तुम बैठ भी नहीं पा रही थीं।...इस योगासन में बड़ा बल है।” मैंने कहा, “अच्छा, अब तुम्हारी पीड़ा कैसी है?”

“कम है। पर कभी-कभी तीव्र हो जाती है, जैसे दौरा पड़ता है।”

“वही तो ठीक है। बँधी पीड़ा बँधे जल की तरह है, जिसके बढ़ने की कम और सड़ने की अधिक संभावना रहती है। पर जिस पीड़ा में दौरे आते हैं, वह बहता पानी है। बहते-बहते एक दिन वह बिल्कुल बह जाएगी।”

“तो एक दिन मैं पहले जैसी हो जाऊँगी!” मुसकराते हुए प्रसन्नता में उसने आँखें बंद कर लीं और पता नहीं कहाँ खो गई।

“क्या सोचने लगी?”

पहले तो वह कुछ बोली नहीं। जब मैंने दूसरी बार पूछा तो कुछ मुसकराते हुए संकोच में डूबी-डूबी बोल पड़ी — “मेरा संभावित यौवन ही मेरे नेत्रों में उतर आया था। मैं उसीमें खो गई थी।”

“ओ, तो तू स्वमुग्धा हो गई थी।” मैंने हँसते हुए कहा, “तुम यह योगासन करती रहो, जल्दी ही वासकसज्जा (एक ऐसी नायिका, जो पूरी तैयारी के साथ प्रिय की प्रतीक्षा करती है) हो जाओगी।”

वह एकदम लजा गई।

मैं कुछ देर तक उसे देखता रहा। फिर अचानक स्मरण हो आया कि जब मैंने वैद्यजी से त्रिवक्रा की चर्चा की थी तब अन्य बातों के अतिरिक्त उन्होंने दो जड़ियाँ भी बताई थीं।

मैंने मुद्रा बदली और बड़ी गंभीरता से कहा, “देखो, योगाभ्यास के पहले ‘प्रसारिणी’ और ‘निरंगुटी’ नामक जड़ियों का वाष्पस्नान भी कर लिया करो। शीघ्र ही नीरोग हो जाओगी।...अब ज्वर आता है या नहीं?” मैंने पूछा।

“वह तो तुम्हारे स्पर्श मात्र से चला गया, कन्हैया!” वह फिर खिलखिलाई।

उसे अब विश्वास हो चला था कि वह पूर्ण स्वस्थ हो जाएगी, एकदम पहले जैसी। वह इसी विश्वास के आनंद में डूबती-उतराती रही।

मेरे पास खड़ा प्रभास इन सारे व्यापारों से असंपृक्त था; मानो मैं और त्रिवक्रा कोई मनोरम दृश्य हों और वह

निरपेक्ष द्रष्टा। वह चुपचाप हमें देखता और सुनता रहा। फिर भी हम उसके लिए बोझिल नहीं हुए। वह हममें रुचि लेता रहा।

इसी बीच दूर पगडंडी पर कर्मा आता दिखाई दिया। मुझे देखते ही उसकी गति और तेज हो गई। और अंत में तो वह दौड़ने लगा था।

“मैं आपकी प्रतीक्षा कर रहा था।” कर्मा के आते ही मैंने मुसकराते हुए कहा। वह मेरे आने के भार से जैसे दबा-सा जा रहा था।

“आपने बड़ी कृपा की! आपने बड़ी कृपा की!” एक ही वाक्य उसने जाने कितनी बार दुहराया।

“अब तो आपकी पुत्री स्वस्थ हो चली है।”

“मेरी नहीं, आपकी!” सामान्य सौजन्यवश उसके मुख से निकल पड़ा।

मुझे हँसी आ गई—“मेरी पुत्री! अरे, यह तो मेरे वय के बराबर है। फिर मेरा विवाह नहीं हुआ, पुत्री कैसे हो जाएगी?” मैंने कहा और हँसता रहा।

“पुत्री न हो, न सही; पर यह है आपकी ही।” कर्मा नीची आँखें किए मुनमुनाया; जैसे वह समर्पण मंत्र पढ़ रहा हो। पर त्रिवक्रा की वासना भरी स्वप्निल आँखें एकदम मेरी ओर लगी थीं। मैंने उसकी ओर देखा—मानो वह कह रही थी, ‘मैं तो बहुत पहले से समर्पित हो चुकी हूँ, जब से मैंने आपको देखा भी नहीं था।’

यों तो कई गोपियों का समर्पण मुझे मिल चुका था; पर यह पहला अवसर था जब प्रेमाश्रु से लिखे किसी युवती के समर्पण पत्र पर उसके पिता ने हस्ताक्षर किया था। मैंने एक अनिर्वचनीय रोमांचकता का अनुभव किया। कुछ समय तक चुपचाप खड़ा ही रह गया।

“अरे, आप बाहर ही खड़े रहेंगे! कृपया भीतर भी चलिए।” कर्मा ने मेरी मानसिकता को झकझोरा।

मैंने चुपचाप द्वार में प्रवेश किया—मानो त्रिवक्रा की मुसकान की डोर में बँधा खिंचता चला गया होऊँ। मंचक पर बैठते ही त्रिवक्रा अंगराग ले आई और धीरे-धीरे मेरी देह पर लगाने लगी। पहले उसने चरणों पर लगाया, फिर ऊपर की ओर बढ़ी। कितना मादक स्पर्श था, सो कैसे बताऊँ! मेरे तन पर रेंगती उसकी फूल-सी कोमल अँगुलियाँ विचित्र सिहरन उत्पन्न कर दे रही थीं। मैं अनुभव करने लगा कि इस सिहरन की मादकता का घनत्व राधा के सामीप्य की मादकता से किसी प्रकार कम नहीं है।

“आपने कुछ सुना?” अचानक कर्मा बोला और मेरे उत्तर की प्रतीक्षा किए बिना ही उसने पूछा, “आपको महामात्य ने कुछ बताया नहीं?”

महामात्य का नाम सुनते ही मेरी दृष्टि प्रभास पर गई। वह अब भी मेरे व्यापारों का निरपेक्ष द्रष्टा था। हमारे साथ होकर भी हमसे अलग। उसकी बगल में ही मंचक रखा था; पर वह अब भी खड़ा था। उससे किसीने बैठने के लिए कहा ही नहीं या स्वयं ही बैठना भूल गया।

मैंने कहा, “अरे, खड़े-खड़े क्या सोच रहे हो? बैठो न!”

प्रभास यंत्रवत् बैठ गया।

“प्रद्योत मिले तो थे, पर उन्होंने कोई विशेष बात नहीं बताई।” मैंने कहा, “क्यों? तुम्हें कुछ मालूम हुआ है क्या?”

“आपके प्रासाद में न ठहरने को महाराज ने अन्यथा लिया है।” कर्मा बोला, “आपकी हर गतिविधि पर दृष्टि रखी जा रही है। आप कहाँ जाते हैं, क्या करते हैं!”

मुझे हँसी आ गई।

“मैं कहाँ जाता हूँ, क्या करता हूँ, इसपर तो मात्र एक राधा की दृष्टि रहती थी; पर लगता है, एक दृष्टि और मेरा पीछा करेगी।” इतना कहने के बाद मैंने त्रिवक्रा की ओर देखा। उसके अधरों ने एक बार फिर फूल बरसाए।

शीघ्र ही उसकी मुसकराहट इठला गई—“पर वह दृष्टि महाराज के किसी गुप्तचर की नहीं होगी।”

“क्यों नहीं होगी?” कर्मा ने अपनी पुत्री का संदर्भ नहीं समझा और उसे डाँटते हुए बोला, “वास्तविकता यह है कि आज कंस के हर गुप्तचर की दृष्टि कन्हैया पर लगी है। और तू समझती है कि ऐसा नहीं होगा! तू हर बात को मजाक में लेती है।”

अब मैंने संदर्भ बदल देना ही उचित समझा—“आखिर आपको यह सब मालूम कैसे हुआ?”

“आज यमुना किनारे स्नानार्थियों में बस एक यही चर्चा थी।”

“चर्चा तो रहेगी, क्योंकि मनुष्य अपने इतिहास को नहीं छोड़ पाता।” मैंने कहा, “मेरा इतिहास मेरे साथ है तथा मामा का इतिहास मामा के साथ।...और उसीमें ढक जाती है मेरे आगमन और मथुरा में होनेवाले उत्सवों की सद्भावना।”

मैं नहीं जानता कि मेरे कथन का अर्थ कर्मा समझ पाया या नहीं। पर वह बड़े गौर से प्रभास की ओर देख रहा था।

“आपने इनका परिचय तो दिया ही नहीं।”

“ये मेरे मित्र हैं। गोकुल से मेरे साथ ही आए हैं।” मैंने कहा, “और मैं इनके ही लिए तुम्हारे पास आया हूँ।”

“आज्ञा कीजिए।”

“ये राजकीय अतिथि होना नहीं चाहते। अक्रूर चाचा के यहाँ इन्हें अपने साथ रखना भी संभव नहीं। सोचता हूँ कि इन्हें आपके यहाँ ही रख दूँ।”

“स्वागत है।” कर्मा बोला, “पर मेरे यहाँ राजप्रासाद जैसी सुविधा नहीं मिलेगी।...फिर आप राजकीय अतिथि क्यों नहीं होना चाहते?”

“इसे आप जानकर क्या कीजिएगा?” मैंने कहा और सोचा, ऐसा न हो कि जाने के बाद फिर इस संदर्भ में प्रभास को परेशानी में डाले। अतएव मैंने मुसकराते हुए कहा, “और इसे न जानने में ही आपकी भलाई है।”

वह प्रभास को देखता रह गया। प्रभास उसके सामने रहस्य की तरह खड़ा रहा।

□

मैं कर्मा के यहाँ से लौट रहा था। मुझे कुछ लोग पश्चिम की ओर भागते दिखाई दिए। हर भागनेवाला मुझे बड़े गौर से देख रहा था; जैसे कुछ कहना चाह रहा हो और फिर भी बिना कहे भागा जा रहा था। जरूर कोई नई बात है। मैंने एक मथुरावासी को रोका। आधा-अधूरा ज्ञात हुआ कि भैया से किसीकी मुठभेड़ हो गई है।

भैया को तो क्रोध नहीं आता और यदि आया होगा तो भयंकर होगा। मैंने सोचा और दौड़ पड़ा। मुझे भागते और सुदर्शन सँभालते जिन लोगों ने देखा, सभी सकते में आ गए। लगभग आधा कोस दौड़ने के बाद मुझे भैया का गर्जन सुनाई पड़ा—“नीच, तेरा यह साहस कि तूने मेरे ऊपर हाथ उठाया!”

मैंने बढ़कर देखा कि एक अश्वारोही को भैया भू-लुंठित कर चुके हैं।

पहुँचते ही मैंने भी एक लात जमाई। वह दुलकता हुआ मार्ग के किनारे जा टकराया। तब तक उसका अश्व भीड़ की ओर भागने लगा। भैया ने दौड़कर उसका अभीषु (लगाम) पकड़ा और लगे उसकी गरदन पर मुष्टिका प्रहार करने।

अब अश्व भैया के वश में था। वह जिधर अभीषु खींचते, वह पालित श्वान की तरह चला जाता। दोनों ओर खड़ी तमाशा देखती भीड़ भैया के साहस और शारीरिक शक्ति पर दाँतों तले अँगुली दबा रही थी।

मैं अब तक कुछ विशेष समझ नहीं पाया। केवल यही अनुभव कर रहा था कि सड़क के किनारे पड़ा अश्वारोही उठने की स्थिति में नहीं है। वह अपने मुख से एक-दो बार रक्त भी उगल चुका है। भीतर गहरी चोट है। अब एक लात भी उसे लगी तो वह सीधे यमराज की सेवा में पहुँच जाएगा। उधर अश्व का अभीषु थामे भैया क्रुद्ध जंगली भैंसे की तरह फुफकार रहे थे।

भैया ने क्रोध में अश्व को पीछे ढकेलना शुरू किया। पीछे एक रथ आ रहा था। रथ में बैल बँधे थे। उलटे पैर चलता हुआ अश्व रथ के जुए से टकराया। सारथि तो अवाक् रह गया; पर रथ में बैठी एक युवती एकदम कूद पड़ी—“आप यह क्या कर रहे हैं?”

मैं चुप। भैया का क्रोध अब भी फुफकार रहा था।

“मैं पूछ सकती हूँ, आप लोगों ने किस अपराध का दंड दिया है मेरे भैया को?” युवती ने पूछा। उस अनिच्छा सुंदरी की बड़ी-बड़ी आँखें आग्नेय हो चली थीं। वह तप्त वायु के झोंके-सी अपने भाई को उठाने सड़क के किनारे की ओर लपकी।

क्रोध वह अग्नि है, जिसमें मानवीय संवेदना स्वाहा हो जाती है। भैया की संवेदनाएँ भी निश्चित रूप से भस्म हो चुकी थीं; पर उस युवती के आकर्षक सौंदर्य के बीच से झाँकते उसके करुणार्द्र साहस ने भैया की मरी हुई संवेदनशीलता में नई जान डाल दी थी। उनका अमर्ष बुझने लगा था।

उस रथ पर एक तरुणी और थी—लगभग सोलह वर्ष की। उसका भी लावण्य उस युवती से कम नहीं था। अंतर इतना ही कि यह खिलने को थी और वह खिल चुकी थी। एक के यौवन ने पच्चीस वसंतों की मादकता अपने आँचल में बटोर ली थी, जबकि दूसरी के आँचल के भीतर वसंत की मादकता की अनुभूति की सुगबुगाहट महज जगने लगी थी।

रथ में बैठी इस तरुणी को तो जैसे काठ मार गया था। वह दीपशिखा-सी काँप रही थी।

“युद्धस्थल में भी धराशायी हुए शत्रु पर लात नहीं चलाई जाती।” अपने भाई को उठाने के लिए सहारा देते हुए युवती ने मेरी ओर देखकर कहा।

अवश्य ही यह किसी संभ्रांत कुल की है, अन्यथा युद्ध के नियमों से भिन्न न होती। निश्चित ही हमने आवेश में भूल कर दी है। मैंने भैया की ओर देखा। उनके आँखों की चिनगारियाँ अब पिघल चुकी थीं।

एक बात और स्पष्ट कर दूँ कि नियम और परंपरा के पालन में भैया जितने सजग थे, उतना मैं नहीं। उनकी यह सजगता अब पश्चात्ताप की परिधि छूने लगी थी।

“आप क्षमा करें, देवि! मुझसे भूल हो गई।” मैंने कहा और युवती के भाई को उठाकर रथ तक ले आया।

“मुझे थोड़ा जल पिलाइए।” घायल अश्वारोही ने बड़ी व्यग्रता से कहा।

“पर इस समय तुम्हें जल नहीं दिया जाएगा।” बदली हुई मानसिकता में भी भैया की आवाज में कड़क थी।

“क्यों?” घायल छटपटाया—“शत्रु भी मृतक की अंतिम इच्छा पूरी करता है।”

“पर तुम मृतक नहीं हो।” मैंने मुसकराते हुए कहा और रथ पर ही लिटाकर उसके वक्ष को सहलाना आरंभ किया।

अब मैं उस युवती के काफी निकट आ चुका था। वह पहले से ही अपने भाई की पीठ सहला रही थी।

“हमें भी खेद है कि ऐसी स्थिति हो गई।” अब भैया भी रथ के निकट आ गए थे। उन्होंने कहा, “भगवान् की कृपा थी कि हड्डी नहीं टूटी।”

“पर मैं समझता हूँ कि यह भगवान् की कृपा नहीं, सबसे बड़ी अकृपा है कि मैं इतना अपमानित होकर भी जीवित

हूँ।” घायल बड़बड़ाया—“यदि भगवान् मेरे सामने होता और मेरा वश चलता तो मैं उसका गला दबा देता।”
“भगवान् तो नहीं, मैं तुम्हारे सामने हूँ। यदि मेरा गला दबाने से तुम्हें शांति मिले तो मैं सहर्ष तैयार हूँ।” मैंने मुसकराते हुए कहा।

“तो तुम अपने को भगवान् समझते हो!” घायल ने मेरा हाथ झटकते हुए कहा। घायल का क्रोध और बुझता हुआ दीप एक बार अवश्य भभकता है। अतएव मैंने उसके कथन पर कोई प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं की, वरन् तमाशा देख रही भीड़ से शुद्ध जल लाने के लिए कहा।

देखते-देखते कई घट जल आ गए। मैंने अपने उत्तरीय का छोर पानी में भिगोना चाहा। तब तक वह युवती भी अपना आँचल भिगोने के लिए आगे बढ़ी—और मुझसे टकरा गई। एक विद्युत्-सी रगों में दौड़ गई। मैं उसकी ओर देखकर मुसकराया। मैं नहीं कह सकता कि मेरी मुसकराहट की क्या प्रतिक्रिया उसके मन पर हुई।

मैंने भीगे उत्तरीय से घायल के मुख में जल की बूँदें डालनी शुरू कीं।

“लगता है, तुम पानी के लिए तरसा-तरसाकर मार डालना चाहते हो?” घायल ने पुनः कहा, “मैं जैसे पानी नहीं पीना चाहता, मुझे जल का पूरा पात्र दो।”

“मैं मारना नहीं, तुम्हें जिलाना चाहता हूँ, इसीलिए तुम्हें जल भरा पात्र नहीं दे रहा हूँ। इस समय पेट भर पानी पीना मृत्यु को आमंत्रित करना है।” मैंने उसे समझाते हुए कहा।

“मैं तुम्हारे हाथ से पानी पीकर जीना नहीं चाहता।” वह बोला।

“छोड़ दो, कहैया, इसे। यह हठी भी है, दुर्विनीत भी और उद्दंड भी।” भैया ने मुझसे तो धीरे से कहा, पर लगता है, उसने सुन लिया।

“क्या कहा तुमने?” उसने पूछा।

“कुछ नहीं, पहले तुम स्वस्थ हो जाओ।” भैया बोले।

“एक ओर तुम स्वस्थ होने की कामना करते हो और दूसरी ओर मारने का प्रयत्न।” वह फिर बड़बड़ाया—“तुमसे अच्छे तो दोमुँहे साँप हैं।”

मैंने देखा, भैया फिर आवेश में आने लगे—“अब अधिक विष उगलने की चेष्टा मत करो।”

“नहीं तो तुम क्या कर लोगे?”

“कर तो लेता, पर मैं तुम्हारे जीवित रहने की कामना कर चुका हूँ।” भैया बोले।

घायल कुछ कहना चाहता था; पर उसकी बहन ने उसके मुख पर हाथ रख दिया—“इस समय चुप रहो। कहने-सुनने के लिए जीवन पड़ा है।”

भैया ने अश्व का अभीषु छोड़ दिया और मेरे साथ लौट आए। अभी मुश्किल से हम पचास पग ही आए होंगे कि भीड़ में एक विशेष प्रकार का कोलाहल हुआ। हम लोगों ने देखा कि कुछ और घुड़सवार इस ओर चले आ रहे हैं। निश्चय ही वे रथ के साथ ही आ रहे थे, जो किसी कारण पिछड़ गए थे।

“कहाँ जाते हो? रुको। अब मैं मजा चखाता हूँ।” घायल एकदम रथ में बैठ गया था—“अब मेरे साथी आ गए हैं।”

“तुम मानते नहीं हो, भैया!” उसकी बहन ने फिर उसे समझाया।

वह चाहती थी कि झगड़ा किसी तरह समाप्त हो और हम लोगों में मेल-मिलाप हो जाए। पर वह घायल शरीर से ही नहीं, मन से भी घायल था। उसका अहं घायल था। घायल अहं की महत्त्वाकांक्षा चोट खाई नागिन से भी अधिक भयावह होती है। वह अब भी फुफकार रहा था। भैया की उत्तेजना उसके फुफकार से और अधिक

प्रज्वलित हो रही थी। मैं बराबर उसपर दृष्टि रखे था।

कितना विलक्षण था! मैं अपने भैया को समझा रहा था और वह युवती अपने भैया को।

“क्या देखते हो?” घायल अब आवेश में रथ पर ही खड़ा हो गया। उसने अभी-अभी आए घुड़सवारों को संबोधित करते हुए कहा, “इन्हीं दुष्टों ने हमारी यह दशा बना रखी है। क्या तुम इनसे हमारा प्रतिशोध नहीं ले सकते?”

वे अश्वारोही कुछ बोलें, इसके पहले ही भैया चीख पड़े—“जरूर ले सकते हैं। आगे आओ, वंचको!” भैया ‘दुष्ट’ संबोधन सुनते ही उबल पड़े थे।

“नहीं, बिल्कुल नहीं। आगे मत बढ़ना।” युवती ने भी रथ पर खड़े होकर अपने अश्वारोहियों को रोकते हुए कहा, “प्रतिशोध से हिंसा समाप्त नहीं होती। आग से आग बुझाई नहीं जाती। इस समय आवश्यकता है आग बुझाने की।”

“पर हम जानना चाहते हैं कि आग लगी क्यों?” उन घुड़सवारों में से एक ने आगे बढ़कर कहा।

“यह आग उसी तरह लगी जैसे पिछली आग लगी थी और जिसकी लपटों ने तुम सबको रोक रखा था।” युवती बोली और आगे बढ़नेवाला घुड़सवार ठिठककर रह गया।

“मैं बताता हूँ कि यह सब क्यों हुआ!” भैया बोले और लगे बताने—“तुम्हारे स्वामी, जिनके तुम सब चाकर हो, विकृत मस्तिष्क के व्यक्ति हैं। ये घोड़े पर चढ़े चले आ रहे थे और जो कोई भी मार्ग में मिल जाता था, उसी पर कशा (चाबुक) का प्रहार करते थे। इन्होंने बूढ़े, बच्चे और महिलाओं तक को नहीं छोड़ा। भागते तक को दौड़ा-दौड़ाकर मारा। एकदम पागलों जैसा कृत्य।...जब मैंने इसका प्रतिकार किया तो यह बोला, ‘तू कौन होता है बोलनेवाला?’

“अब आप ही बताइए, निरपराधियों पर अत्याचार हो और मैं न बोलूँ?” भैया बोलते जा रहे थे, “मैंने इसे मना किया। एक बार नहीं, दो बार नहीं वरन् तीन-तीन बार। तब इसने गाली देकर मुझसे कहा, ‘तू मुझे पहचानता नहीं है। मैं विदर्भ का राजकुमार रुक्मी हूँ, तुम्हारे स्वामी कंस का अतिथि।’ इतना कहते ही इसने मेरे ऊपर भी कोड़ा चला ही दिया। फिर मैं इसे छोड़नेवाला कहाँ था!”

“यही स्थिति तो इन्होंने पीछे भी की थी।” भीड़ में से एक आवाज छूटी—“जनता बिगड़ गई थी। उन्हींसे तो ये सैनिक उलझ गए थे।”

“तुम लोगों को चाहिए कि तुम अपने स्वामी को समझाओ कि वह राजोचित व्यवहार करना सीखें।” उन सैनिकों को संबोधित करते हुए भैया ने कहा।

सैनिक चुपचाप पीछे हट गए।

“आखिर आप लोगों को जो करना था वह तो कर ही लिया। अब तो शांत हो जाइए।” युवती बोली।

“अभी तो आपके भाई का घमंड टूटा है। शरीर तो सही-सलामत है।” मैंने कहा।

“तो आप उसको भी तोड़ना चाहते हैं!” युवती झुँझलाई—“पर यह कभी नहीं होगा।”

“हम यह करना भी नहीं चाहते; क्योंकि हमें तो घमंड ही तोड़ना था, घमंडी नहीं। हम पाप से घृणा करते हैं, पापी से नहीं।...निरपराध जनता पर यह अत्याचार न होता तो शायद हम लोग बोलते भी नहीं।” मैंने कहा।

“तो आप निरपराध जनता के ठेकेदार हैं?” युवती पुनः बोली।

“हाँ, हैं। आप कहना क्या चाहती हैं?” लगा, भैया को फिर क्रोध आ रहा है।

“मैंने आपसे नहीं, इनसे पूछा है।” युवती ने मेरी ओर संकेत किया।

अब मेरा बोलना आवश्यक था—“ठेकेदार...हूँ। मैं जनता का ठेकेदार हूँ भी और नहीं भी हूँ।” मैंने कहा,

“ठेकेदार नहीं हूँ, इसलिए कि मैं राजकुमार नहीं हूँ; और हूँ, इसलिए कि मैं स्वयं जनता की एक इकाई हूँ, एक भाग हूँ।...जब जनता पर कशाघात होता है तब उसकी पीड़ा मुझे भी होती है।”

मेरी बात सुनकर युवती एकटक मुझे देखती और मेरे अधरों पर उगी मुसकराहट को पीती रह गई।

यह था मेरा और रुक्मिणी का प्रथम मिलन जिसमें हम शरीर, मन और बुद्धि तीनों से टकरा गए थे।

□

इस घटना की व्यापक प्रतिक्रिया हुई। मथुरावासी प्रसन्न थे। उन्हें विश्वास हो गया कि यह सचमुच हमारा तारणहार है; क्योंकि जनता पर हो रहे किसी प्रकार का भी अत्याचार वह सहन नहीं कर सकता। जनता तो पादाक्रांत थी। उसकी अस्मिता उग्रसेन के बंदी बनाए जाने के बाद से भू-लुंठित हो गई थी; पर वह मरी नहीं थी। इस घटना से उसका स्वाभिमान सुगबुगाने लगा। अब वह सोचने लगी कि एकजुट होकर किसी भी अत्याचार का सामना किया जा सकता है।

सुना है कि उस भीड़ के तमाशबीनों में छंदक भी था। गुप्तचर महाराज के यहाँ सूचना पहुँचाएँ, इसके पहले ही छंदक प्रद्योत के पास पहुँचा—“अनर्थ हो गया, आपके महाराज के शासन की नींव खोद दी गई।”

प्रद्योत यों ही छंदक से कुछ चिढ़ने लगा था; क्योंकि उसका व्यक्तित्व ही षड्यंत्र का केंद्र था। प्रद्योत के लिए छंदक से मिलने का तात्पर्य था किसी विपत्ति से मिलना। इस बार भी उसने छंदक के रूप में विपत्ति को ही खड़ा पाया।

उसने उसे गंभीरता से सुना और फिर बड़े सहजभाव से बोला, “लगता है, आपने फिर कुछ नई चिनगारियाँ बोनी आरंभ की हैं।”

“चिनगारियाँ बोने के अब दिन बीत गए, अब तो उसकी लहलहाती फसल काटने के दिन हैं।” छंदक ने हँसते हुए कहा।

षड्यंत्र में पला हुआ छंदक षड्यंत्र को जीने लगा था; पर यह स्थिति प्रद्योत की नहीं थी। उसका जीवन लगभग टूट चुका था। नियति उसे बंद गली के आखिरी मकान पर लाकर खड़ा कर चुकी थी। फिर भी छंदक को झेलना उसकी विवशता थी। उसने छंदक से सीधे-सादे ढंग से कहा, “आप जो भी कहना चाहते हों, बिना भूमिका के स्पष्ट कहें।”

छंदक ने सारी घटना कह सुनाई और बोला, “अब जनता जाग रही है। दबी हुई जनता जब जागती है, तब फटे हुए ज्वालामुखी के मुख से लावा की तरह ऊपर उठती है और सारी व्यवस्था पर बरस पड़ती है।”

प्रद्योत सुनता रहा, फिर सोचते हुए बोला, “रुक्मी तो राजकीय अतिथि था। उसपर हाथ उठाकर कृष्ण और बलदाऊ ने अच्छा नहीं किया।”

“आप भी कैसी बात करते हैं!” छंदक थोड़ा उत्तेजित हुआ—“एक व्यक्ति निरपराध लोगों पर कोड़े बरसा रहा हो और लोग चुपचाप खड़े तमाशा देखते रहें!”

“तमाशा न देखें, पर अपनी आपत्ति महाराज से कहें।” प्रद्योत बोला, “विधि और व्यवस्था रहते हुए कानून को हाथ में लेने का किसीको क्या अधिकार है?”

“और जब विश्वास हो कि विधि और व्यवस्था कुछ नहीं करेगी, शासन निष्क्रिय और निकम्मा है, तब क्या जनता को कोड़े खाते रहना चाहिए?”

प्रद्योत चुप हो गया।

“अब वह समय आ गया है, महामात्य, जब भगवान् शंकर का तीसरा नेत्र खुलेगा।” छंदक बोला, “हमारी

चिनगारी ज्वालामुखी बनेगी। क्रांति का विस्फोट होगा।”

छंदक बोलता जा रहा था; पर प्रद्योत ने उसके मुख पर हाथ धर दिया, क्योंकि प्रतिहारी ने उसे सूचना दी कि महाराज का चर आ रहा है।

छंदक उठा और चुपचाप पिछले द्वार से चल पड़ा; क्योंकि वह प्रद्योत से बहुधा शासन की आँखों से छिपकर ही मिलता था। संप्रति इसीमें दोनों की भलाई थी।

अविलंब महाराज से मिलने का आदेश था। प्रद्योत चल पड़ा।

ज्यों ही वह प्रासाद में घुसा, उसने अनहोनी चुप्पी का अनुभव किया। बगल से कई लोग सिर झुकाए निकल गए; पर कोई कुछ नहीं बोला। किसी झंझावात के पहले की यह शांति प्रद्योत को विलक्षण और उबाऊ लगी। वह घटना के संबंध में तो जानता था। वह महाराज के कक्ष तक भी आ गया; पर भीतर घुसने का साहस जुटा नहीं पाया। उसने एक प्रतिहारी से पूछा, “भीतर कौन-कौन से लोग हैं?”

“कई लोग हैं। हमारे मान्य अतिथि भी।” प्रतिहारी बस धीरे से इतना बोला और चला गया।

प्रद्योत जब कक्ष में प्रविष्ट हुआ, कंस सिंहासन पर विराजमान अमर्ष धूम उगल रहा था। प्रद्योत को देखते ही वह भभका।

“इन्हें आप पहचानते हैं?” घायल रुक्मी की ओर संकेत करते हुए उसने बिना किसी भूमिका के पूछा।

प्रद्योत को अनुमान तो था ही, पर वह जानकर भी अनजान बन गया।

“यह हमारे सम्मानित अतिथि हैं, विदर्भ के राजकुमार रुक्मी।” कंस की कड़क और तेज हुई—“देखते हो इनकी क्या दशा हमारी प्रजा ने कर डाली—और तुम्हारे जैसे महामात्य के रहते हुए। लोग क्या कहेंगे कि कंस का महामात्य कितना निकम्मा है कि प्रजा ने विधि-व्यवस्था ही उसके हाथ से छीन ली है!”

प्रद्योत चुपचाप एक अपराधी की तरह सिर नीचा किए खड़ा रहा।

“यदि हमारे मान्य अतिथियों की यही दशा होती रही तो पद पर तुम्हें बने रहने से क्या लाभ!” कंस डाँटता रहा।

“तो मेरा विनम्र त्यागपत्र आपकी सेवा में है।” प्रद्योत ने दबते-दबते धीरे से कहा, “मुझे इस घटना पर हार्दिक दुःख है।”

लगता है, इतना कहने के बाद प्रद्योत वहाँ से हटना चाहता था। शायद उसने सोचा कि अविलंब लिखित त्यागपत्र महाराज की सेवा में उपस्थित करूँ और इस चाकरी के तनाव से मुक्ति पाऊँ; पर वह ऐसा कर नहीं सका।

वहीं बैठे वृत्घ्न ने उसे टोका—“कहाँ चले?”

प्रद्योत रुक गया। वृत्घ्न कहता गया—“मैं समझता हूँ कि आप त्यागपत्र देकर अलग होना चाहते हैं। पर क्या त्यागपत्र इस समस्या का हल है? यह तो समस्या से पलायन है।”

“यहाँ से पलायित होकर भी चैन से रह पाएँगे?” वृत्घ्न की बात खत्म होने के पहले ही कंस बोल पड़ा—“त्यागपत्र देते ही इनका सिर धड़ से अलग दिखाई पड़ेगा।”

“तो आप ही बताइए, मैं क्या करूँ?” प्रद्योत की विवशता झुँझलाई।

“आपको नगर के हर चप्पे पर सैनिक तैनात कर देना चाहिए, जिससे फिर ऐसी दुर्घटना न हो।” वृत्घ्न बोला।

“किंतु हमारी हालत आपके नगरवासियों ने नहीं की है। वे बेचारे तो बड़े सहनशील हैं। उनका अनुशासन उत्तम है।” अब तक चुप बैठा रुक्मी बोला।

“तब इस कृत्य का जिम्मेदार कौन है?” कंस ने पूछा।

“वंशी और चक्र लिये साँवला-सा छोकरा था और एक हलायुध के साथ गोरा-सा युवक। दोनों पता नहीं अपने को क्या समझते थे!”

“ओ, अब समझा। तो इस सीमा तक चला आया उनका उत्पात!” कंस ने सोचते हुए कहा, “कोई भी हो। हमारे राज्य में ऐसे उद्दंड और दुर्विनीत को रहने का अधिकार नहीं है। मैं यह नहीं सह सकता कि मेरे रहते कोई व्यक्ति विधि-व्यवस्था अपने हाथ में ले। उसे अभी बंदी बनाकर मेरे सामने उपस्थित किया जाए।”

आज्ञा-पालन के लिए प्रद्योत पुनः चलने को हुआ; पर वृत्घ्न ने पुनः हस्तक्षेप किया—“महाराज, आप अपने आदेश पर पुनः विचार करने की कृपा करें।”

“क्यों?”

“पहली बात तो यह है कि कन्हैया और बलराम हमारे अतिथि हैं, वे हमारी प्रजा नहीं हैं। उन्हें बंदी बनाने का तात्पर्य है, अतिथिधर्म के विरुद्ध आचरण करना।”

“कंस के राज्य में केवल कंस का धर्म चलता है। मैं कोई अतिथि-वतिथि धर्म नहीं जानता।”

“आप भले ही न जानते हों, पर दुनिया तो जानती है।” वृत्घ्न बोला, “कौन अतिथि विश्वास करेगा आप पर? और कौन अब आपके बुलाने पर आएगा? दूसरी बात यह है कि मामला कृष्ण और बलराम का है। क्या उन्हें बंदी बनाना उचित होगा?...हमारी सारी योजना पर पानी फिर जाएगा।”

कंस सोचने लगा। उसका सारा क्रोध ठंडा पड़ गया।

“और तीसरी बात यह है कि भैया को घायल करने में उन दोनों युवकों का वस्तुतः कोई दोष भी नहीं है।” अचानक भीतरी कक्ष से निकलकर रुक्मिणी ने कहा, “मैं भीतर बैठी-बैठी बहुत देर से आप लोगों की बातें सुन रही थी।”

“तो क्या मैंने स्वयं अपनी यह स्थिति बना ली?” अब तक मौन बैठा रुक्मी अचानक बोल पड़ा।

“यदि शांतिपूर्वक सोचा जाए तो आपका कथन सही है। इस स्थिति के आप स्वयं जिम्मेदार हैं।”

“जब हमारी बहन ही हमारे विरुद्ध है, तब मैं औरों को क्या कहूँ!”

“मैं आपके विरुद्ध नहीं हूँ। आप स्वयं ऐसी परिस्थितियाँ पैदा कर देते हैं, जो स्वयं आपके विरुद्ध खड़ी हो जाती हैं।” रुक्मिणी ने कहा, “आखिर निरपराध व्यक्ति पर आपको कशाघात करने का क्या अधिकार है?”

“कशाघात करने का उद्देश्य किसीकी जान लेना नहीं था वरन् आतंक पैदा करना था।” रुक्मी बोला, “जब तक जनता पर राजा का आतंक नहीं रहेगा तब तक अनुशासन नहीं रहेगा।”

कंस ने रुक्मी की हाँ में हाँ मिलाई।

कंस का प्रतिकार करने में रुक्मिणी के समक्ष शील का संकट था। फिर भी वह वीरांगना अपने को दबा न सकी—“इसका तात्पर्य है कि आपका अनुशासन डंडे के बल पर है? जानते हैं आप! डंडे के बल पर टिका अनुशासन कगार का वृक्ष है, जो जनाक्रोश की बाढ़ में उखड़कर बह जाएगा। आप लोग किस भ्रम में हैं?”

प्रद्योत ने बताया कि उस समय वह रुक्मिणी की आकृति देखता रह गया था।

रुक्मिणी बोलती जा रही थी—“यदि वह वंशीवाला न होता तो शायद आपका जीवन न बच पाता। उसका आपको उठाना, रथ पर लाकर लिटाना, फिर बँद-बँद जल मुख में डालना और वक्ष सहलाना क्या कम महत्त्व का था? सबसे बड़ी बात थी, उसने आपमें जीवन का विश्वास भरा, अन्यथा...”

वंशीवाले का नाम सुनते ही कंस का पारा चढ़ गया—“तुम तो ऐसे बोल रही हो जैसे वंशीवाला छोकरा भगवान् हो!”

“मेरे लिए तो वह उस समय भगवान् ही हो गया।” रुक्मिणी बोली, “क्योंकि मैं देख रही थी कि ज्यों-ज्यों उसकी अँगुलियों का स्पर्श भैया के वक्ष को मिलता गया, उनकी साँसों में जीवंतता आती गई।”

“तुम सबके सब मूर्ख हो, अंधविश्वासी हो! तुम्हारी बुद्धि मारी गई है!” कंस आपे से बाहर हो गया और सिंहासन से उठकर एक झोंके से अंतःपुर में चला गया।

□

विचित्र स्थिति पैदा कर दी रुक्मी कांड ने। अक्रूर चाचा भी कुछ परेशान-से लगे। उन्हें कुछ ऐसा लगा कि कंस उन्हें बुलवाएगा। उनके जैसा सज्जन व्यक्ति कंस का सामना करने से कतराता था। कंस आजकल पागलों-सा व्यवहार करता है। और एक पागल किस समय क्या कर बैठे, इसे तो शायद वह खुद भी नहीं जानता। इसीलिए वृत्घ्न अब हर स्थिति में उसे सँभालता है। इस रुक्मी कांड के उबाल को भी उसने ठंडा किया।

कंस तो सचमुच अक्रूर को बुलाना चाहता था और उनके माध्यम से हम लोगों को भी। यह बात किसी तरह हमें पता लग गई थी। हम दूसरे दिन प्रतीक्षा में बैठे भी थे; पर हम बुलाए नहीं गए। रात में वृद्ध अंधक बाहुक हमारे यहाँ आया। मैंने देखा, वय में शतक के निकट पहुँचने पर भी बूढ़े की ऊँचाई एकदम डंडे की तरह तनी है। अनुभव के बोझ से दबी उसकी आँखों में अब भी चमक है। उसके प्रशस्त ललाट पर उभरनेवाली रेखाओं में मथुरा का इतिहास लिखा है।

आने पर उसने मेरे चरण छुए। मुझे बड़ा विचित्र लगा।

“अरे, आप यह क्या कर रहे हैं?”

“यह तो मेरी संस्कृति है।” बूढ़ा मुसकराया—“जो आपसे झुककर मिला होगा, वह अवश्य आपसे बड़ा होगा।” बूढ़े ने बात तो कही थी अपने कद के संदर्भ में, पर उसने बड़े सहजभाव से हमारी सांस्कृतिक विनम्रता की ओर भी संकेत किया होगा। हम इतने मात्र से उसके चिंतन स्तर को भी समझ गए थे। उसने ही बताया था कि आप लोगों को बुलाने का कंस का निर्देश हो गया था।

“किसलिए?”

“कारा में बंद करने के लिए।” बूढ़ा मुसकराया—“विनाशकाले विपरीत बुद्धि:। बुद्धि ऐसी न हो तो विनाशकाल आए कैसे!”

“तब हमें बुलाया क्यों नहीं गया?”

“कंस का तो कहना था कि वे नंद के छोकरे जब से आए हैं, कोई-न-कोई उत्पात हो रहा है। राजसत्ता के विरुद्ध जनता का मनोबल बढ़ता जा रहा है। उन्हें अवश्य कारागार में डाल देना चाहिए और उत्सव के दिन निकालना चाहिए। पर वृत्घ्न ने समझाया कि ‘ऐसा करते ही आप बदनाम हो जाएँगे। आपका विश्वास उठ जाएगा। आप ही सोचिए, जो आदरपूर्वक अतिथि को बुलाकर बंदीगृह में डालता है, उसका जनता क्या सम्मान करेगी!’

“इसपर कंस ने कहा, ‘मैंने जनता के सम्मान की चिंता ही कब की है!’

“‘पर इस समय करनी पड़ेगी। और कम-से-कम उस समय तक जब तक उत्सव की सारी योजना पूरी नहीं हो जाती।’

“वृत्घ्न के इस कथन के पीछे कोई रहस्य अवश्य है!” बाहुक बोला, “उत्सव की योजना क्या है? और इसके पूर्ण होने के प्रति लोग इतने सतर्क क्यों हैं?”

“यही तो मैं समझ नहीं पा रहा हूँ।” मैंने कहा।

“आप चिंतित मत होइए, हम सब चेष्टा में लगे हैं। ज्यों ही जरा सा भी आभास लगा, आपको सूचना मिल

जाएगी।”

इसके बाद बूढ़ा कुछ सोचता रहा। फिर बोला, “उस धनुष बनानेवाले लोहिता को तो मैं जानता हूँ। उसने धनुष बना भी दिया है।”

“क्या मैं उसे देख सकता हूँ?” मैंने पूछा।

“आप क्या, सभी उस धनुष को देख सकते हैं। प्रातःकाल उसकी सार्वजनिक पूजा होती है। आरती उतारी जाती है।” बाहुक बोला।

“निश्चित पर्व पर अस्त्र पूजा की परंपरा तो हमारे यहाँ थी; पर किसी धनुष की नित्य पूजा मैंने नहीं सुनी थी।” मुझे हँसी आ गई।

“नित्य पूजा तो इसलिए की जाती है कि लोग समझें कि इसमें दैवी शक्ति है।” बाहुक ने मेरी हँसी को समझ लिया —“यों, वह लौह धनुष है बड़ा विशाल!”

“लौह धनुष!” अब मेरा माथा चकराया।

‘अवश्य कोई षड्यंत्र है!’ मैंने सोचा। फिर बोला, “आप उसके बनानेवाले के बारे में कुछ कह रहे थे?”

“हाँ, मैं उस लोहिता को जानता हूँ; पर वह मिल नहीं रहा है।” बूढ़ा बोला, “कई बार मैं उसके घर भी गया। घरवाले भी चिंतित दिखे। उन्हें उसका पता नहीं है।”

“उन्होंने राजभवन में पता नहीं लगाया?” मैंने पूछा।

“पता तो लगाया था। राजभवन का कहना है कि आप लोग घबराएँ नहीं। वह सकुशल हैं।” बाहुक बोला, “लगता है, जब तक उत्सव नहीं हो जाता तब तक के लिए उसे लोगों की आँखों से छिपा लिया गया है।”

“तब तो अवश्य उस धनुष में कोई रहस्य है!” मेरे मुख से निकला, “हो सकता है, इस रहस्य को प्रद्योत जानता हो।”

“उसे कुछ नहीं मालूम है; पर घबराने की आवश्यकता नहीं है। मैंने छंदक को लगा दिया है।”

“ऐसी स्थिति में छंदक क्या करेगा?” मैंने कहा।

बूढ़ा हँसने लगा—“जहाँ भगवान् की भी दृष्टि नहीं जा सकती वहाँ छंदक की दृष्टि पहुँच जाती है; क्योंकि उसकी दृष्टि में कोई सामान्य ज्योति नहीं है, वह है बिल्कुल असामान्य, भगवान् की दी हुई।”

बूढ़ा अब भी हँस रहा था। उसकी हँसी उस समय मेरी भी बुद्धि के परे थी।

□

मथुरा के ये तनाव भरे दिन खिसकते चले गए। उत्सव की तिथि और कार्यक्रम को भी कई बार परिवर्तित किया गया। इससे घोषित तिथि पर भी लोगों का विश्वास नहीं था। आखिर ऐसा क्यों हो रहा है? किसीमें साहस नहीं कि सत्ता से पूछे।

और इस संदर्भ में सत्ता का अप्रत्याशित मौन भी रहस्यमय था।

इस अनिश्चितता, रहस्य और संदेह के वातावरण में हर कोई व्यग्र और परेशान। कल क्या होगा, किसीको पता नहीं। मेरे साथ आए गोकुलवासी भी अब ऊबने लगे थे। आखिर उनकी भी घर-गृहस्थी थी, खेती-बारी और गोधन था। सबको छोड़कर वे कितने दिन मेरे साथ रहेंगे!...पर वे मुझे छोड़ना भी नहीं चाहते थे।

उद्धव तो मागधी सैनिकों में काफी घुल-मिल गया था। उसका कहना था कि वे सैनिक भी परेशान हैं कि उत्सव क्यों टाला जा रहा है? किसीको कुछ पता नहीं। हर व्यक्ति अँधेरे में ही हाथ मार रहा था; पर हाथ कुछ आ नहीं रहा था।

इस सारी संतप्त सिकता के बीच यदि कोई मरुद्यान था तो वह त्रिवक्रा का आवास। वहीं मुझे शांति मिलती थी। मैं थोड़े समय के लिए बाह्य जगत् से एकदम दूर हो जाता था। कुब्जा के सान्निध्य में पहुँचते ही मुझे लगता कि मैं यमुना के किनारे करील के कुंजों में बैठा हूँ और बगल में राधा है।

कुब्जा अब कुब्जा नहीं थी। ओषधि और योगासन के प्रभाव से वह धीरे-धीरे स्वस्थ हो चली थी। लगभग तनकर खड़ी हो जाती थी। झाड़ू-बोहार भी कर लेती थी। थोड़ा-बहुत मट्ठा भी मथ लेती थी। उसकी शरीरयष्टि की उभरती मांसलता के भीतर उसका संतोष और मेरे प्रति उसका विश्वास स्पष्ट झलकने लगा था। बाढ़ की नदी की तरह झकझोरें लेते उसके यौवन के भीतर मुझे गदराई मल्लिका दिखाई देती थी।

मैं बहुधा प्रातः नित्यकर्म से निवृत्त होकर उसके पास पहुँच जाता था। कर्मा ने मुझे बताया कि जब तक मैं नहीं पहुँचता, वह मट्ठा मथकर मेरी बाट जोहती रहती है।...और मुझे बरबस नवनीत खिलाती है। जब मैं नहीं खाता तो मेरे मुख में ठूस देती है, मेरे कपोलों पर पोत देती है। जब मैं पूछता, यह क्या कर रही हो? तब वह मुसकराते हुए कहती, “पुरइन के पात पर हिमकण चिपका रही हूँ।”

एक ऐसे ही उत्तेजक क्षण की याद मेरे मस्तिष्क में बहुधा उभर आती है, जब उसने मेरे कपोलों पर नवनीत लगा दिया था और मैं नाराज हो गया था।

वह इठलाती हुई आई और बोली, “अच्छा लो, साफ कर देती हूँ।”

फिर लगी मेरे कपोलों को चाटने। जैसे कोई गर्भातुर गाय किसी बैल का लेहन कर रही हो। मैं स्वयं को सँभाल नहीं पाया और एकदम उसे अपने अंक में भर लिया।

निश्चित रूप से यह पूर्वजन्म का कोई संस्कार ही था कि इतने कम समय में वह मेरे इतने निकट आ गई थी। यहाँ तक कि कर्मा भी सबसे कहता फिरता था कि यह कन्हैया के बिना एक क्षण भी नहीं रह सकती। मेरी स्थिति भी लगभग वैसी ही थी; पर मैं किसीसे क्या कहता!

एक दिन अचानक प्रभास बहुत सवेरे मेरे यहाँ आया। आकाश में एकादशी के चंद्र की आकृति पीली पड़ गई थी। अभी सूर्योदय हुआ नहीं था। चाचाजी का संध्या पूजन लगभग समाप्त होने को था कि मुझे उसके आगमन की सूचना दी गई।

प्रभास और इस समय? मेरा घबराना स्वाभाविक था। अवश्य ही कोई नई बात है। मैं सीधे बाहर आया।

“आपको कुब्जा बहन ने बुलाया है।” प्रभास ने कहा।

“क्यों?”

“यह तो मैं नहीं जानता।” प्रभास बोला।

“उसका स्वास्थ्य तो ठीक है?”

“देखने से तो ठीक ही लगता है।” उसने कहा।

‘और कौन सी बात हो सकती है?’ मैं सोचता रहा। फिर मैंने पूछा, “उसके पिता ने कुछ कहा है?”

“नहीं तो।” प्रभास बोला, “वह तो नित्यकर्म से निवृत्त हो यमुना की ओर गए हैं। आज मैं कुछ अधिक सो गया था। उन्होंने ही मुझे जगाया भी; पर कोई विशेष बात तो नहीं कही।”

मेरी जिज्ञासा ने मुझे चल पड़ने के लिए विवश किया। सोचा, अनुमति ले लूँ। पर किससे? भैया उद्यान में व्यायाम करने चले गए थे। अक्रूर चाचा पूजन पर थे। द्वारपाल से ही कहकर चल पड़ा।

अभी धुँधलका था। हम दोनों चुपचाप चले जा रहे थे। दूर से ही कर्मा के द्वार पर एक धब्बा जैसा दिखाई दिया। निश्चय ही कुब्जा खड़ी हो हमारी बाट देख रही थी।

“क्या बात है, कुब्जा?” मैंने आते ही पूछा।

वह कुछ उत्तर दे, इसके पहले ही मेरा बदन टटोलने लगी—एकदम घबराई-सी, व्याकुल-सी। मैंने फिर जिज्ञासा की, तब पता चला कि उसने एक भयानक स्वप्न देखा है। उसने देखा है कि एक विशाल दैत्य ने मेरे अंग भंग कर दिए हैं। मेरा आधा अंग मथुरा में और आधा गोकुल में पड़ा है। चारों ओर कोलाहल मच गया है।

“इसमें घबराने की क्या बात थी?” मैंने कहा, “तू पगली है, पगली!” मैंने उसके गाल पर प्यार की एक चपत लगाई।

“तुम नहीं जानते, कभी-कभी सपने सही हो जाते हैं।” कुब्जा बोली, “स्वप्न में देखा था त्रिजटा ने जली हुई लंका और लंका जल गई। स्वप्न में ही राजा हरिश्चंद्र ने सबकुछ दान में दे दिया था।”

हरिश्चंद्र का नाम सुनते ही मुझे हँसी आ गई। वस्तुतः मैं हरिश्चंद्र पर नहीं हँसा वरन् हँसा था उस युग की नैतिकता पर।

स्वप्न में दान दे दिया तो दे दिया। अरे वाह! स्वप्न में हम पता नहीं क्या-क्या करते हैं। उसे सब मानने को तैयार होंगे आज?

“आखिर आप हँस क्यों रहे हैं?” कुब्जा ने पूछा।

“तुम्हारी मूर्खता पर।” इतना सुनते ही कुब्जा गंभीर हो गई। मैंने शीघ्र ही बात बदल दी—“मैंने भी एक स्वप्न देखा है।”

“क्या?”

“कि तुमसे मेरा विवाह हो रहा है।”

इस बार उसकी आँखों में फूल खिले। उसे लगा जैसे वह मुझे वरमाला पहना चुकी हो। फिर वह मुसकराते हुए बोली, “विवाह का सपना अच्छा नहीं होता।”

“पर मृत्यु का सपना तो अच्छा होता है।” मैंने कहा और वह पुनः मुसकराई।

बातें समाप्त कर ज्यों ही मैं उसे योगाभ्यास करानेवाला था कि एक विचित्र स्थिति पैदा हुई।

इसे तो आप जानते ही हैं कि गोकुल में मेरे निश्चित समय से न लौटने से लोग व्याकुल हो उठे थे। राधा तो मुझे विश्वासघाती तक समझ रही थी। अवधि बीत गई और मैं नहीं आया। कोई संदेशा भी नहीं भेजा। सारी गोपियाँ मुझसे नाराज थीं। करील के कुंज सूने पड़े थे। उनका संदेश लेकर कोई-न-कोई गोप नित्य ही आता। मैं उसे समझाने की चेष्टा करता; पर उसकी विह्वलता कुछ भी सुनने को तैयार न होती।

आज भी गोपियों का संदेश लेकर दो व्यक्ति सुबह-सुबह ही चाचा के यहाँ पहुँचे। निश्चित है, वे ब्राह्म मुहूर्त में ही गोकुल से चले होंगे। और मैं कुब्जा के यहाँ चला आया था।

मेरा कुब्जा के यहाँ आना भैया को भी पसंद नहीं था। इसीसे चिढ़कर उन दोनों को भैया ने यहीं भेज दिया।

कुब्जा के घर के खुले द्वार से दोनों एकटक हमें देखते रहे। उस समय मैं कुब्जा को योगाभ्यास करा रहा था। कभी कटि प्रदेश में हाथ डालकर उसे झकझोरता, कभी वह मेरे वक्ष से टकराकर खिलखिला पड़ती—और कभी वह मुझसे वृक्ष से लता की तरह लिपट जाती।

संयोग देखिए, उस समय वहाँ प्रभास भी नहीं था और कर्मा भी नहीं। इससे शायद वह और भी उन्मुक्त थी।

आगंतुकों के लिए यह सब अप्रत्याशित था। पहले तो कुब्जा के सौंदर्य पर उनकी दृष्टि अटकी। उनके मस्तिष्क में योगाभ्यास की कोई पूर्व कल्पना तो थी नहीं, उन्होंने उसके लिए क्रीड़ा ही समझा। फिर उन दोनों को देखते ही कुब्जा ठिठक भी गई। आगंतुकों का संदेह और पुष्ट हुआ। अब वे स्पष्ट रूप से समझने लगे कि कुब्जा के प्रेम में

ही मैंने ब्रज को भुला दिया है।

दुर्भाग्य यह कि मुझे उनके मन में पले संदेह का आभास भी नहीं हुआ, अन्यथा मैं उसकी सफाई देता। मैंने तो उन्हें मथुरा की वर्तमान स्थिति बताई और कहा कि मुझे और भी विलंब हो सकता है।

“इसकी संभावना तो हमें दिखाई ही पड़ रही है।” कुब्जा की ओर देखते हुए एक बोला और दूसरा मुसकराया।

उस समय मैं उसकी मुसकराहट को समझ नहीं पाया; पर शीघ्र ही मेरे और कुब्जा के प्रेम की चर्चा ब्रज में होने लगी। अफवाह बिना पंख के उड़ती है, शायद इसीलिए वह कोने-अँतरे तक पहुँच जाती है। गोकुल गाँव के हर मन में अब राधा-कृष्ण की जगह कुब्जा-कृष्ण बैठने लगे थे। ब्रज की गोपियों के लिए कुब्जा सौत हो गई थी।

गोपियों के प्रेम के आत्मसम्मान को गहरा धक्का लगा था। वह विरह में जल रही थीं, छटपटा रही थीं; पर उनमें से कोई मेरे पास नहीं आया। आखिर गोकुल और मथुरा की दूरी ही कितनी थी।

पर प्रेम के अहं के लिए इतनी भी दूरी अलंघ्य थी। वे क्यों आतीं? अवधि के भीतर मैंने उनसे आने का वादा किया था और मुकर गया। उलटे कुब्जा को हृदयंगम कर बैठा। उनकी दृष्टि में यह कितना बड़ा छल था! कितना बड़ा विश्वासघात था! मैंने राधा से कैसी-कैसी बातें की थीं! चलते समय क्या-क्या वादे किए थे!

आश्चर्य तो यह कि गोपियाँ नहीं आई, न सही, कोई गोप भी नहीं आया।

प्रेम और गंध दबाए नहीं दबती। मथुरा में भी बातें फैलने लगीं। छंदक के वर्ग ने भी अपने ढंग से इसमें हवा दी। उसने प्रचार किया, जिसने मेरी आँखों की ज्योति लौटाई, उसने त्रिवक्रा का स्वास्थ्य भी लौटा दिया। उसे पुनः मालिनी बना दिया। इससे मेरे ईश्वरत्व पर एक तह और जम गई। यहाँ तक कि इस संदर्भ में राजवैद्य भी मुझसे मिलने आए। उन्होंने मेरे पाँव छूकर कहा, “जिसे भैषज्य नहीं कर सका, उसे आपकी कृपा ने कर दिखाया।”

मेरे अहं ने इसे बड़े गर्व के साथ स्वीकार कर लिया।

□

पाँच

अचानक आज मेघ घिर आए थे। अप्रत्याशित रूप से आकाश पसीजने लगा था। भैया के साथ मैं उद्यान के पल्लव प्रकोष्ठ में बैठा था। रह-रहकर धनुष के संबंध में चिंता मन में उठ जाती थी। लौह धनुष और प्रत्यंचा भी लोहे के मोटे तार की! कोई बात अवश्य है।

“तुमने वह धनुष देखा है?” भैया ने पूछा।

“नहीं।” मैंने कहा। वे कुछ और पूछें, इसके पहले ही मैंने उन्हें बताया, “मैंने उसके संबंध में सुना है। यह भी प्रचारित किया जा रहा है कि वह दैवी धनुष है। उसे उठाना और तोड़ना दुष्कर है।”

“दुष्कर है या खतरनाक है!” भैया बोले, “हो सकता है, उसके भीतर कोई विस्फोटक पदार्थ हो और छूते ही प्राणांत कर दे।”

“यही आशंका तो अंधक बाहुक ने भी व्यक्त की।” मैंने कहा, “पर उन्होंने यह भी बताया था कि वह उस लोहिता को जानते हैं, जिसने उसे बनाया है। वे उससे मिलकर इसके रहस्य का पता अवश्य लगाएँगे; किंतु अभी तक उनका पता नहीं है।”

“हो सकता है, उन्हें कुछ मालूम न हुआ हो।” भैया ने कहा, “आश्चर्य है, इतना सब जानने के बाद भी तुमने उसे देखा नहीं है! जबकि तुम्हीं कह रहे थे कि उसकी सार्वजनिक पूजा होती है, लोग उसका दर्शन करते हैं।”

“हाँ, यह तो मैंने सुना है।” मैंने कहा।

“तब तुम क्यों नहीं गए उसे देखने?” भैया बोले।

“उसके निकट किसीको जाने नहीं देते।”

“हम न जाते, हमारी दृष्टि तो जाती! दृष्टि ज्ञान का प्रमुख साधन है।”

भैया ने उसी समय निश्चय किया कि हम लोगों को अभी चलना चाहिए। वह तैयार होने के लिए उठे और मैं उद्यान के माली के पास पहुँचा। उससे यथाशीघ्र दो सुंदर और बड़ी मालाएँ बनाने के लिए कहा।

भैया की राय थी कि हम दोनों को चुपचाप चलना चाहिए—बिना किसी और को साथ लिये, जिससे किसीको किसी प्रकार की शंका न हो।

और किया भी ऐसा ही गया।

मैं और भैया चुपचाप चले जा रहे थे। मेरे हाथ की मालाओं को देखकर भैया ने पूछा, “यह किसके लिए है?”

“धनुष के लिए।” मैंने मुसकराते हुए कहा और बताया, “धनुष पर माला चढ़ाने के बहाने ही हम लोग मंच पर चढ़ चलेंगे। उसे निकट से देखने का अवसर मिलेगा।”

भैया ने भी मुसकराकर मेरी युक्ति का समर्थन किया।

हम चुपचाप बिना किसी ओर देखे चले जा रहे थे। बूँदाबाँदी के कारण आज राजपथ भी सूना था। हमारा उद्देश्य भी था कि हम आँखें बचाकर उस मंडप पर पहुँच जाएँ, जहाँ धनुष रखा है।

पर ऐसा हो नहीं सका। कुछ आगे बढ़ते ही मैं टोका गया। मैंने मुड़कर देखा, एक गोप मुझे पुकारता हुआ पीछे से दौड़ा चला आ रहा है। अरे, यह तो मेघज का छोटा पुत्र शूद्रक का भाई काली है।

“क्या है, काली?” मुझे चिढ़ तो थी ही कि यह इस समय कहाँ से दिखाई पड़ा।

“मुझे राधा ने भेजा है और यह पत्र दिया है।” काली ने मुझे एक पत्र थमाया।

जब मनःस्थिति प्रतिकूल होती है तब चंद्रमा भी ताप उगलता मालूम होता है। कमल भी अग्निपुष्प दिखाई देता है। कभी राधा के पत्र को मैं सीने से लगाता था। उस समय वह मुझे असमय की वंशी लगा। मैंने पत्र को लेकर अपनी मुट्ठी में दबा लिया। मेरे मुख से अनायास ही निकल पड़ा—“कहाँ तुम पहले ही ग्रास में मरी हुई मक्खी की तरह निकल आए!”

अपनी परिस्थितियों से अलग न हो पाना मनुष्य की सबसे बड़ी दुर्बलता है। और उस समय मैं अपनी परिस्थिति का ही शिकार था। मैं अपनी स्थिति से जकड़ा था और वह अपनी। उसने मेरे इस कथन को अपने प्रति गंभीर उपेक्षा का भाव समझा। अफवाहों की हवा में उसे उड़ता हुआ सत्य दिखाई दिया। उसने अनुभव किया, मैं अवश्य ही राधा से हटकर कुब्जा के घेरे में आ गया हूँ।

वह चलते हुए बोला, “राधा ने कुछ कहने को भी कहा है।”

“क्या?”

“यही कि तुम धोखेबाज हो।”

मैं सन्न रह गया।

वह फिर बोला, “उसने यह भी पूछा है कि तुम कब आओगे?”

मैं इसका उत्तर क्या देता।

“यहाँ की परिस्थिति विषम है। मैं क्या कहूँ कि कब तक आऊँगा!” मैंने कहा।

वह मुझे घूरता रहा और मैं चल पड़ा।

उसने फिर मुझपर जैसे एक पत्थर मारा—“सुनिए, सुनिए।” मैं रुका। “आचार्यजी ने आपको आशीर्वाद कहा है।” वह बोला।

अब मेरी चेतना धरातल पर आई। मुझे लगा कि जल्दी में मैंने उस शिष्टाचार का भी निर्वाह नहीं किया, जिसे मुझे करना चाहिए था। अब मैंने ब्रज के अन्य लोगों का कुशलक्षेम पूछना शुरू किया।...पर वह जा चुका था। अकरणीय से कहीं अधिक उसके किए का पश्चात्ताप सालता है। मेरा मौन यह चुभन अनुभव करता रहा। मैं आगे बढ़ता रहा।

“क्या सोचने लगे?” भैया ने पूछा।

“सोच रहा हूँ कि कहीं देर न हो जाए, अन्यथा व्यर्थ में भीड़ बढ़ जाएगी; तब हम शायद अपने उद्देश्य में सफल न हो पाएँ।”

“उद्देश्य में असफलता बाहर की भीड़ से नहीं, भीतर की भीड़ से होती है!” निश्चित ही उन्होंने अच्छी तरह मुझे भाँप लिया था—“तुमने जो भीतर भीड़ पाल रखी है, उसीमें तुम कभी-कभी खो जाते हो।”

मैं चुप रह गया।

जब मैं उस धनुष के मंडप के निकट पहुँचा, तब तक दर्शनार्थी आ चुके थे। इस प्रतिकूल मौसम में भी उनका उपस्थित होना मेरी आशा के विपरीत था। उस मंडप पर चारों ओर चार पुरोधा बैठे हुए धनुष का अभिषेक कर रहे थे। मैंने पहली बार किसी धनुष का अभिषेक होते देखा था।

मैंने भैया की ओर पुनः देखा। उन्होंने संकेत किया कि सीधे मंच पर चढ़ जाओ। मैं भीड़ में रुई में सुई की तरह भीतर घुसा और मंच पर धड़धड़ाता हुआ चढ़ गया। मैंने एक के बाद एक दोनों मालाएँ चढ़ाई—एक धनुष के ऊपर की ओर और दूसरी नीचे की ओर। इसी बहाने हाथ से पूरे धनुष का स्पर्श किया और समझ लिया कि इसमें दो जोड़ हैं। उस पेंच पर भी हाथ गया, जिससे ये जोड़े गए थे। इन सबके बाद जब मैं उठकर धनुष को प्रणाम करने

लगा तब लोगों की दृष्टि मेरी ओर गई।

“अरे, यह क्या हो गया!” प्रतिहारी एकदम हड़बड़ा गए। मागधी सैनिकों में खलबली मच गई।

मंच से उतरते-उतरते मैं पकड़ लिया गया।

“आप मंच पर क्यों गए थे?” सैनिक प्रधान ने पूछा।

“क्यों? वहाँ जाना वर्जित है क्या? मुझे तो मालूम ही नहीं था।” मैंने सहजभाव से मुसकराते हुए कहा। पर अज्ञान में किया गया अपराध भी आखिर अपराध होता है। मैं बंदी बना लिया गया। मेरे साथ भैया भी थे।

यहाँ से सीधे मैं राजभवन के अतिथि प्रकोष्ठ में लाया गया। आते समय मुझपर मेरे मित्रों की भी दृष्टि पड़ी। उद्धव ने तो स्पष्ट मुझे देखा। मैंने संकेत से ही उसे दूर रहने के लिए कहा।

मेरे मित्र मुझसे दूर थे; पर निश्चित रूप से वे बाहर ही चक्कर लगा रहे होंगे। हम भीतर बैठे थे। लगभग दो घड़ी बीत गई। न अन्न और न जल। केवल सन्नाटा पीता रहा। प्रतिहारी और सैनिक मूर्तिवत् खड़े रहे।

एक बार मैंने अपनी ऊब को झकझोरते हुए पूछा, “आखिर कब तक आप लोग हमें ऐसे बैठाए रखेंगे?”

“थोड़ी और प्रतीक्षा कीजिए।” प्रतिहारी ने बड़ी शालीनता से कहा। स्पष्ट था कि मेरे अपराध के संदर्भ में कहीं विचार किया जा रहा है।

थोड़ी देर बाद ही दो स्वर्ण पात्रों में कोई पेय पदार्थ हमारे लिए लाया गया। शायद वह मधुमिश्रित उष्ण दूध था। मैंने भैया की ओर देखा। उन्होंने न ग्रहण करने का संकेत किया। साथ ही अपने शुभचिंतकों की वह आवाज मेरे मस्तिष्क में कौंधी—‘प्रासाद की कोई वस्तु कभी भी पेट में न डालना।’

हमने विनम्रतापूर्वक कहा, “अभी तक हम लोगों ने पूजा-आराधना नहीं की है। बिना पूजा किए हम जल नहीं ग्रहण करते।”

परिचर कुछ क्षण और ठिठका खड़ा रहा। फिर हमारे संकेत पर वह दोनों पात्रों को उठा ले गया।

थोड़ी देर बाद महादंडनायक स्वयं पधारे। हम उनके अभिवादन में खड़े हो गए।

“नहीं-नहीं, आप बैठें। आप हमारे अतिथि हैं। हमारी संस्कृति के अनुसार आप हमारे देवता हैं।”

प्रकृतिस्थ होते ही उन्होंने कहा, “आप पर अभियोग है कि आप मंच पर चढ़ गए और आपने उस दैवी धनुष का स्पर्श किया।”

“मुझे यह ज्ञात नहीं था कि ऐसा करना वर्जित है।” मैंने अपना पूर्व उत्तर पुनः दोहराया।

“मैं मानता हूँ कि आपको ज्ञात नहीं था; पर यदि आप अज्ञात में ही किसीकी हत्या कर दें तो क्या वह हत्या नहीं होगी?” महादंडनायक ने पूछा।

“हत्या तो होगी; पर अज्ञान में की हुई हत्या के दंड का मैं भागी नहीं होऊँगा।” मैंने कहा, “और यहाँ एकदम दूसरी स्थिति है। जब मैं उस मंच पर जा रहा था तो प्रतिहारियों ने मुझे टोका तक नहीं, सैनिकों ने मुझे रोका तक नहीं। सब चुपचाप खड़े रहे। इसके विपरीत जब मंच पर पहुँचकर मैंने पुरोधा को प्रणाम किया तो उन्होंने हृदय खोलकर हमें आशीर्वाद दिया।”

“इसका तात्पर्य है कि आप अपने आरोप के उत्तर में प्रतिहारियों और सैनिकों पर प्रत्यारोप कर रहे हैं?” महादंडनायक बोले।

“जी नहीं, ऐसा बिल्कुल नहीं है। मैं तो उन स्थितियों को बता रहा हूँ, जिनके द्वारा मुझे यह जरा भी नहीं मालूम हुआ कि मंच पर चढ़ना वर्जित है।” मैं बोलता गया—“जब धनुष सार्वजनिक रूप से सबके दर्शनार्थ सार्वजनिक स्थल पर रखा था, तब उस तक पहुँचकर मैंने कोई अपराध किया है, ऐसा मैं नहीं समझता।”

महादंडनायक कुछ समय तक चुप ही रहे। फिर बहुत सोचते हुए बोले, “दर्शन और पूजन तो ठीक है। माल्यार्पण तक की बात समझ में आती है; पर उसका स्पर्श करने में आपका क्या प्रयोजन था?”

मैं कुछ सोचूँ, इसके पहले ही अब तक चुप बैठे भैया बोल पड़े—“दर्शन-पूजन की तरह दैवी वस्तु का स्पर्श भी हमें दैवी शक्ति प्रदान करता है।”

“क्यों? स्पर्श में कोई विशेष बात थी क्या?” मैंने मर्म पर अँगुली धरी।

वह एकदम हड़बड़ा गया—“नहीं-नहीं, ऐसी कोई बात नहीं थी।”

“थोड़ा कष्ट तो होगा। पर आप जरा बैठें, मैं अभी आता हूँ।” इतना कहकर महादंडनायक चले गए। स्पष्ट लगा कि किसी निर्णय पर पहुँचने के बाद भी निर्णय देना उनके हाथ में नहीं है।

कुछ देर बाद लौटते ही वे बोले, “आप क्षमा करें। हमारे सैनिकों द्वारा बहुत बड़ी भूल हो गई है। आपको बहुत कष्ट हुआ, हम लज्जित हैं।”

इसके बाद रथ से उन्होंने हमें पहुँचाने की व्यवस्था की। मैंने चलते-चलते ही पूछा, “क्यों? मामाजी नहीं हैं क्या? मैं उनसे मिल लेता।”

“इस समय वे पूजन पर बैठ चुके हैं।” महादंडनायक बोले।

मुझे मन-ही-मन हँसी आ गई। ‘कैसी पूजा? किसकी पूजा? जो भगवान् के अस्तित्व को ही नकारता हो और यदि स्वीकार करता हो तो स्वयं को ही भगवान् मानता हो, वह किसकी पूजा करेगा?’

□

इस घटना से तनाव काफी बढ़ गया था। गोकुल से आए लोग भीतर-ही-भीतर उबलने लगे थे। अक्रूर चाचा के लिए भी यह असह्य था। उन्होंने प्रद्योत से इसका स्पष्ट विरोध किया।

वह पहले बोला, “आप तो यहाँ की स्थिति मुझे से अधिक जानते हैं।” फिर उसने स्वयं को सँभालते हुए सत्ता का सधा-सधाया उत्तर दिया—“सबकुछ भूल से हो गया था।”

“महादंडनायक ने भी सारी पूछताछ भूल से की थी?”

चाचा के इस प्रश्न का प्रद्योत क्या उत्तर देता। फिर भी बोला, “मैं तो उस दिन राजधानी में था भी नहीं। आया तो सारा कांड मालूम हुआ! यह सबकुछ दुर्भाग्यपूर्ण है।”

मुझे यह भी आभास लगा कि मथुरा के सामान्य लोगों के गले भी सत्ता का यह व्यवहार नहीं उतरा। राजपथ से सरककर चर्चा वीथियों तक में आ गई थी।

“यदि कन्हैया का धनुष मंच पर जाना नियम विरुद्ध था, तो कर्मचारियों ने उसे रोका क्यों नहीं?...और यदि वह मंच पर चला ही गया तो उसने कौन सा अपराध कर दिया कि उसे महादंडनायक के समक्ष उपस्थित होना पड़ा?...अवश्य इसमें रहस्य है।”

साधारण लोगों को भी षड्यंत्र की गंध आने लगी थी।

इसी बीच एक घटना हुई। मेरे शांति आकाश का एक नक्षत्र और टूटा।

इधर दो दिनों से मैं कुब्जा के घर नहीं जा पाया था। तन अवश्य झमेले में उलझा रहता, पर मन मौका पाते ही उसकी छवि से खेलने लगता था। संध्या होते-होते निश्चय किया कि कल अवश्य जाऊँगा।

इसी बीच कर्मा की आवाज सुनाई पड़ी। वह द्वार से ही ‘कन्हैया-कन्हैया’ पुकारे जा रहा था। उसके स्वर में व्यग्रता थी और थी आसन्न खड़ी अप्रत्याशित विपत्ति की आशंका।

मैंने बाहर आकर देखा, कर्मा पसीने से लथपथ था। उसने घबराहट में बस इतना ही बताया कि प्रभास को सैनिक

पकड़ ले गए हैं।

मैं भी व्यग्र हो उठा। आखिर प्रभास को सैनिक पकड़कर ले जाएँगे कहाँ? अब क्या होगा? कहीं बँधी मुट्ठी खुल न जाए? मेरे मन पर प्रभास और प्रद्योत के चित्र एक के बाद एक उभरने लगे।

फिर भी मैंने स्वयं पर काफी नियंत्रण रखा। पूछा, “आखिर बात क्या थी?”

“अंगारक आया था। वह कल भी आया था और परसों भी। कल उसकी मालिनी से बातों-बातों में झड़प हो गई। कल तो वह चुपचाप चला गया; पर आज वह आपे में नहीं था। लगता है, उसने काफी मैरेय पी ली थी। वह मालिनी को बलात् खींचकर घर से ले जाने लगा। वह चिल्लाई। फिर प्रभास आ गया। उसने दो धौल जमाए। अंगारक मुँह के बल गिरा। वह तो भागा; पर इसके तुरंत बाद सैनिक आए और प्रभास को पकड़ ले गए।” इतना कर्मा ने एक ही साँस में कह सुनाया।

मैं सोच में पड़ गया। प्रभास के बंदी बनाए जाने का उतना दुःख मुझे नहीं था, जितना यह सोचकर कि यदि उसे महामात्य के सामने उपस्थित किया जाएगा तो क्या स्थिति होगी। यदि पिता ने पुत्र को पहचान लिया तब?...समय के पूर्व रहस्य का उद्घाटन खतरनाक होगा। फिर सुवासिनी क्या सोचेगी? उसका जीवन ही संकटापन्न हो जाएगा। विचित्र स्थिति थी। कर्मा मात्र इतने से चिंतित था कि प्रभास पकड़ा गया; पर मेरी व्यग्रता के पीछे कारणों की एक लंबी शृंखला थी। फिर भी, भीतर से उबलते हुए भी मैं ऊपर से शांत था। मेरा आत्ममंथन किसी ऐसे सूत्र की खोज में था, जिससे समस्या सुलझ सके।

“तुम यह बता सकते हो कि वह सैनिक मागधी थे या मथुरिया?”

“मुझे तो लगता है, वे मागधी थे।”

“यह तुम कैसे कह सकते हो?”

“उनकी बोली और वेश से।”

मेरे मस्तिष्क ने शीघ्र ही एक रास्ता सुझाया। उद्धव ने मागधी सैनिक अधिकारियों से अच्छा परिचय कर लिया है। क्यों नहीं उससे सहयोग लिया जाय?

मैंने तुरंत कर्मा को प्रासाद के अतिथिगृह की ओर उद्धव के पास भेजा।

अभी सूर्यास्त नहीं हुआ था। दो घड़ी दिन बाकी था।...मौन से व्यग्रता ढक तो जाती है, पर वह समाप्त नहीं होती। वह मेरी गति में समा गई थी। मैं अनायास उद्यान में टहल रहा था। मेरी मनःस्थिति का अनुमान भैया को लग गया।

उन्होंने मेरे पास आकर पूछा, “क्या बात है? इतने परेशान क्यों हो?”

“कोई बात नहीं।” मैंने अपने अधरों पर कृत्रिम मुसकान चिपकाई। भैया, प्रद्योत और प्रभास संदर्भ से दूर थे और मैंने उन्हें दूर ही रखना ठीक समझा। मैंने बात बदलते हुए बड़ी गंभीरता से कहा, “सोचता हूँ, उस धनुष में कोई रहस्य अवश्य है।”

“इसमें इतना सोचने की क्या बात है? यह तो स्थापित सत्य है।” भैया बोले।

“मुझे लगता है, उन जोड़ों पर प्रहार करने पर धनुष टूट जाएगा।” मैंने कहा, “और उसका वह पेंच भी खोला जा सकता है।”

“तब क्यों नहीं हम लोग एक दिन अचानक चलें और उसे तोड़कर उसका सारा देवत्व जनता में बिखेर दें?”

भैया ने कहा ही था कि पीछे से एक अपरिचित आवाज आई—“नहीं, अभी ऐसा मत कीजिए।”

मैंने मुड़कर देखा। लकुटी के सहारे अंधक बाहुक चला आ रहा था।

कितना नाटकीय था उस समय उसका आगमन! नाम लेते ही उस व्यक्ति की उपस्थिति पर कोई विश्वास नहीं करेगा।

उसकी उपस्थिति संयोग भले ही लगती हो, पर सार्थक थी।

उसने हमें समझाते हुए कहा, “हमें जल्दबाजी में कुछ नहीं करना चाहिए। आज मेरी लोहिता से भेंट हो गई थी।” इतना कहने के बाद वह रहस्यमय ढंग से मुसकराया। फिर बड़ी गंभीरता से बोला, “यदि दीवारों के कान होते हैं तो उनमें कहीं-न-कहीं जबान भी होती है, जिसकी आवाज हवाएँ चुरा ले आती हैं।” उसने कहा। पर मैंने उसका तात्पर्य नहीं समझा। उसने स्वयं समझाया—“लोहिता बता रहा था कि उसे राजभवन में लगभग बंदी बना लिया गया है। वह किसीसे मिल नहीं सकता। किसीसे बात नहीं कर सकता। मुक्त आकाश के पक्षी का पंख कतरकर स्वर्ण के पिंजड़े में डाल दिया गया है।”

“तो उस पिंजड़े से मुक्त हो आप तक कैसे आ गया?” मैंने जिज्ञासा की।

“वह पूजन के लिए राजभवन के देवालय की ओर गया था। वहीं मिला। अभी बातें शुरू ही हुई थीं कि एक गुप्तचर ने उसे देख लिया। यह तो कहिए, वह गुप्तचर को पहचानता था। उसे देखते ही चुप हो गया, अन्यथा उसके प्राण संकट में पड़ जाते।”

“इसका मतलब है कि अभी भी रहस्य रहस्य ही है।”

“हाँ।” बाहुक बोला, “पर अब यह रहस्य अधिक दिनों तक गोपनीय नहीं रहेगा।”

“क्यों?”

“अब मैं जान गया हूँ कि प्रासाद में वह कहाँ है? कोई-न-कोई युक्ति लगेगी ही।” बाहुक बोला, “उस दिन आपको महादंडनायक के समक्ष प्रस्तुत किए जाने की प्रतिक्रिया भी भयानक हुई है।”

उस घिरती हुई संध्या में हम दोनों की मुद्रा प्रश्नवाची हो गई।

“जनता समझ गई कि यह पूरा धनुर्यज्ञ कोई षड्यंत्र या किसी षड्यंत्र का अंश है।” बाहुक कहता गया—“दूसरी ओर धनुष मंडप के प्रतिहारी और सुरक्षा सैनिकों को बदल दिया गया है। यहाँ तक कि पुजारियों तक को चेतावनी दे दी गई है।”

“किस बात की चेतावनी?”

“उनके रहते अब कोई धनुष मंच पर नहीं चढ़ेगा।”

बातें तो चल रही थीं, पर मेरा मन प्रभास की ओर लगा था। कर्मा भी अभी लौटकर नहीं आया। कोई बात जरूर है। पता नहीं उद्धव उसे मिला या नहीं? यदि प्रभास न छूटा, तब क्या होगा?

“आप चुप क्यों हो गए? क्या सोचने लगे?” बाहुक ने पूछा और भैया भी बोल पड़े—“पता नहीं क्यों, आज कन्हैया अधिक गंभीर है!”

मेरी विचित्र स्थिति थी। मैं जितना स्वयं को ढकता था उतना ही मेरा कोई-न-कोई कोना खुल जाता था और लोग मेरे भीतर झाँक लेते थे।

अब मुझे स्वयं बताना पड़ा—“मेरे एक साथी प्रभास को सैनिक कर्मा के यहाँ से पकड़ ले गए हैं।”

“क्यों?”

“यही तो नहीं मालूम।” मैंने कहा, “मेरा इस संबंध में स्वयं सैनिकों से मिलना भी ठीक नहीं।”

“तब आपने क्या किया?” बाहुक बोला।

“मैंने संदेश उद्धव को भिजवाया है। पता नहीं उसे सूचना मिली या नहीं।”

“सूचना अवश्य मिल गई है।” बाहुक मुसकराया।

“इसे आप कैसे कह सकते हैं?” मैंने पूछा।

“क्योंकि उद्धव को मैंने मागधी सेनाधिकारी विश्वर के कार्यालय की ओर जाते देखा था। उसके साथ कर्मा भी था और छंदक भी। छंदक कह रहा था कि पहले हमें अंगारक से मिल लेना चाहिए। कर्मा की प्रतिक्रिया थी कि यह सब तो उसीकी करतूत है।...छंदक ने विस्तार से बताया और कहा, ‘मुझे तो आपके पास आना था। इसीसे मैं इस बीच में नहीं पड़ा। आपको इस विषय में चिंतित नहीं होना चाहिए; क्योंकि जहाँ छंदक है वहाँ कोई-न-कोई हल तो निकलेगा ही।’ ”

□

प्रभास को उद्धव ने छुड़ा लिया। उसका मागधी सैनिकों से किया गया परिचय काम आया। इस कार्य में मागधी हस्तिपाल कुलिक ने भी अच्छी भूमिका निभाई। कुलिक तो ऐसा अवसर देख ही रहा था, जिसमें वह अंगारक को नीचा दिखा सके।

यह सूचना मुझे उसी रात मिल गई थी। पर बात क्या थी? अंगारक ने ऐसी अभद्रता क्यों की? मैं कुछ समझ नहीं सका। अनुमान के सहारे मैं बहुत दूर तक जा नहीं पाया। शय्या पर दुलका पड़ा मैं इसी संदर्भ में सोचता रहा। कब नींद आई, पता नहीं।

पर जब नींद खुली तब रात्रि काफी थी। अभी ब्राह्म मुहूर्त का पूजन आरंभ नहीं हुआ था। सामने गवाक्ष से एक तारा विचित्र ढंग से मुसकरा रहा था। मुझे लगा कि मालिनी मेरे समक्ष खड़ी है। वह कह रही है कि ‘मैं क्या फिर उस राक्षस के हाथ में चली जाऊँ?’

‘किस राक्षस के हाथ में?’

‘क्या तुम उसे नहीं जानते?’ मालिनी बोलती रही, ‘यदि ऐसा ही करना था तो तुम अपना दिया हुआ स्वास्थ्य मुझसे ले लो। मैं पहले ही अच्छी थी।’ इतना कहते-कहते उसने कुछ अपने शरीर पर से उतारकर फेंका।

और फिर वह कुब्जा हो गई—पीड़ा से चीखती और तड़पती कुब्जा।

‘यह क्या किया तुमने?’

‘मैंने जो किया, ठीक किया।’ वह बोलती गई, ‘शरीर की पीड़ा तो मैं सह सकती हूँ, पर मन की पीड़ा मैं सह नहीं सकती।’

इसी बीच मंदिर के घंटे-घड़ियाल की ध्वनि उस सन्नाटे को फाड़ती आगे बढ़ी। ब्राह्म मुहूर्त की सूचना मिली।

मेरी चेतना लौटी। मैंने देखा, न कुब्जा थी और न मालिनी। तो क्या था? मेरा अवचेतन ही मुझसे संवाद करने लगा था।

मैं उठा।

‘पूर्णमदः पूर्णमिदं...’—भैया की आवाज सुनाई पड़ी। लगता है, वे भी अभी-अभी उठे हैं; क्योंकि जगते ही उपनिषद् का यह वाक्य उनके मुख से निकलता है।

किसीसे बिना कुछ कहे मैं उपवन की ओर आया। नक्षत्रों को प्रणाम किया। पश्चिम की ओर दुलकता चंद्रमा पीला पड़ चुका था।

शीघ्र ही निवृत्त होकर मैं मालिनी की ओर चल पड़ा। मुझे ऐसा लग रहा था कि कोई खींच रहा है। मैं किस गति से बढ़ा चला जा रहा था कि क्या बताऊँ।

मुझे कर्मा द्वार पर ही मिल गया। उसने संक्षेप में यह भी बता दिया कि प्रभास को कैसे छुड़ाया गया। बातें चल

ही रही थीं कि मालिनी भीतर से निकल आई। उसकी लाल-लाल और फूली-फूली आँखों से स्पष्ट लगा कि वह रात को सोई नहीं है। मेरे सामने आते ही वह फफक पड़ी—“तुमने मुझे इसीलिए स्वस्थ किया है कि मैं फिर उसी राक्षस के हाथ में पड़ जाऊँ!”

मुझे लगा कि मेरे अवचेतन में बैठी मालिनी पुनः मेरे सामने है। उसके प्रश्न भी वैसे ही हैं।

मैं उसे देखता रहा, वह बोलती गई, “यदि मैं जानती कि बाद में यही होना है तो स्वास्थ्य प्रदान करने की तुम्हारी कृपा स्वीकार न करती।”

मुझे लगा कि स्वप्न की मालिनी की तरह यह स्वास्थ्य उतारकर मुझपर फेंक देगी। पर स्वप्न का सभी संभव जीवन में कहाँ संभव होता है।

वह मात्र सिसकती रही और मैं मूर्तिवत् उसके सामने बैठा रहा।

‘आखिर बात क्या है?’ मैं नहीं, मेरी मुखमुद्रा ही पूछ बैठी।

उसने आँसुओं से भीगे लड़खड़ाते स्वर में जो कुछ बताया, उसका सारांश था—“ज्यों ही मैं पहले जैसी हो गई, वह राक्षस अंगारक मेरे पास आया और बोला कि तुम मेरी पत्नी हो, मेरे साथ चलो।”

“तब तुमने क्या कहा?”

“मैंने कहा कि तुम्हारी पत्नी कुब्जा थी, जो अब मर चुकी है। अब यह मालिनी है इसपर तुम्हारा कोई अधिकार नहीं है। तब वह दुष्ट बोला, मालिनी ही मेरी पत्नी थी। अब वह नीरोग है। अब वह मेरी है।”

“फिर आगे क्या हुआ?” मैंने पूछा।

“विवाद बढ़ता रहा। मैंने कहा, कुब्जा को जिसने मालिनी बनाया है, अब यह मालिनी उसकी है। पर वह इसे मानने को तैयार कहाँ था!...तू-तू मैं-मैं में उसका अमर्ष इतना बढ़ा कि वह घसीटकर मुझे ले चला। यह तो कहिए प्रभास था, अन्यथा वह मेरी क्या गति करता, भगवान् ही जाने!”

मालिनी कुछ क्षणों के लिए रुकी। फिर वह बड़ी गंभीरता से बोली, “अच्छा, एक बात बताइए।”

“क्या?”

“मैंने तो आपके चरणों में स्वयं को अर्पित कर दिया था, आपने मुझे स्वीकार नहीं किया क्या?”

“नहीं, ऐसी बात तो नहीं है।” मैंने कहा, “मेरे हृदय में इस समय तुम्हारे सिवा कोई दूसरा नहीं है।”

“तब तुम मेरी रक्षा क्यों नहीं करते, कन्हैया?” वह एकदम मेरे चरणों पर गिर पड़ी।

“पर तुमपर आपत्ति ही कौन सी है, जो तुम इतना घबरा रही हो?”

“अरे, यह तुम क्या कह रहे हो? अब कोई दूसरी आपत्ति होगी क्या?”

“यह सब तो होता ही रहता है।” मैंने मुसकराते हुए कहा, “अंगारक की जगह यदि मैं भी होता तो यही करता।”

“क्या कहा, तुम भी यही करते? मेरे तन में विकृति आते ही तुम मुझे छोड़ देते?”

मैंने कहा था कुछ और तथा उसने समझ कुछ और लिया।

“नहीं-नहीं, मैं यह नहीं करता। मैंने तो तुम्हें चिढ़ाने के लिए कहा था। भला अंगारक की नीचता तक कोई जा सकता है!” मैंने उसे और सांत्वना देते हुए कहा, “तुम बिल्कुल चिंता मत करो। तुम्हारी समस्या का समाधान मैं अपने ढंग से करूँगा।”

“अब वह यहाँ फिर आएगा तो?”

“अब वह यहाँ कभी नहीं आएगा।”

“कभी नहीं!” वह एकदम खिल उठी; मानो बादलों को फाड़कर चंद्रमा निकल आया। उसके भीतर का अशांत

समुद्र स्थिर हो गया। उसमें प्रसन्नता की लहरें उठने लगीं—“सचमुच तुम कितने अच्छे हो, कन्हैया!” इतना कहते हुए उसने दोनों बाँहें मेरे गले में डाल दीं और मालती की माला की तरह मुझसे झूल गई। उस समय न प्रभास था और न कर्मा। दिन एक घड़ी चढ़ आया था और हम दोनों एक-दूसरे के हृदय में झूल रहे थे।

“यह तुमने कैसे कहा कि अब वह नहीं आएगा?” अनचाही आशंका उसे फिर घेरने लगी थी।

“इसलिए कि मेरा मन कहता है कि अब वह यहाँ नहीं आएगा।”

मैंने कहा और मुसकराता रहा। मेरी मुसकराहट उसके लिए अबूझ पहेली थी। यद्यपि अंगारक के न आने की बात मैंने अपने मन से ही कही थी, उसके पीछे मेरी कोई योजना न थी। पर वह बहुत प्रसन्न थी। बाज से मुक्त पक्षी की तरह वह चहकती रही।

अचानक कोलाहल के साथ कुछ लोगों के दौड़ने की आहट बाहर से आई। इस एकांत में तो शायद ही कोई आता हो। इतने लोग अचानक इधर से गुजरेंगे, यह अनुमान से परे था। मैं और मालिनी दोनों बाहर निकले।

उधर से प्रभास दौड़ा आ रहा था। उसने मुझे देखते ही कहा, “लोहिता मारा गया!”

वह अत्यधिक हाँफ रहा था। लगता है, काफी तेज दौड़कर आया था।

“मैं उसका शव देखकर आ रहा हूँ। हे भगवान्!” उसका रोम-रोम जैसे गिनगिना उठा—“ऐसी अमानुषिक हत्या! मनुष्य कितना निर्दय हो गया है!”

उसकी मुद्रा से घृणा टपक रही थी। उसे आश्चर्य था उस पाशविकता पर, जो मथुरा की मानवता चबा गई थी।

मैंने उसका कंधा थपथपाया और उसे शांत करते हुए बोला, “देखो, क्या-क्या हो जाता है इस मथुरा में! पर ईश्वर जो कुछ करता है, किसी उद्देश्य से। और विडंबना यह है कि हम उस उद्देश्य से परिचित नहीं रहते। यही हमारी परेशानी का कारण है।”

फिर भी प्रभास का तन काँप रहा था। उसके नेत्र विस्फारित थे। वह एकटक गली से गुजरती और बढ़ती भीड़ को देखता चला जा रहा था। मेरी बगल में जड़वत् मालिनी खड़ी थी।

“आखिर मारा क्यों गया?” मेरे मुख से निकल पड़ा।

“और मारना भी था तो इस तरह एकदम दुर्दशा करके! उसका हर अंग विकृत हो गया है। सिर धड़ से अलग है। आँखें निकाल ली गई हैं। लगता है, सारे अंग को किसी पाषाणखंड से अच्छी तरह कुचला गया है। वह तो पहचाना भी नहीं जा सकता।” कहते-कहते वह फिर जैसे गिनगिना गया—“हे भगवान्, मनुष्य इतना निर्मम हो सकता है!”

“फिर पहचाना कैसे गया?” मैंने पूछा।

“लोगों ने उसके कुंडल और मेखला से पहचाना।” वह क्षण भर रुककर पुनः बोलने लगा, “उसकी स्त्री तो उसको देखते ही संज्ञाशून्य होकर गिर पड़ी।”

इसके बाद एक विचित्र सन्नाटा उसकी आकृति पर चिपक गया। उसके विस्फारित नेत्र जैसे अब भी उसे देख रहे हों।

मैंने प्रभास को लिया और चुपचाप उधर चल पड़ा जिधर भीड़ जा रही थी।

वह भीड़ केवल भीड़ नहीं थी। प्रतिहिंसा, विद्रोह, अमर्ष, घृणा—जाने कितने भावों का सहज प्रवाह उधर बढ़ा चला जा रहा था। मैं भी प्रभास के साथ आगे बढ़ा। मैंने अपनी वंशी और चक्र दोनों कटिबंध में खोंस लिये।

मथुरा का ऐसा करुणार्द्र जनप्रवाह मैंने इसके पूर्व कभी नहीं देखा था। बाल-वृद्ध, युवा, स्त्री-पुरुष—जो सुनता था वही चल पड़ता था।

“कभी-कभी मृत्यु भी व्यक्ति को कितना महान् बना देती है, अन्यथा लोहिता को कितने लोग जानते थे!” यह आवाज मेरे पीछे से आई थी।

“प्रश्न लोहिता को जानने अथवा न जानने का नहीं है। प्रश्न है, मनुष्य किस सीमा तक गिर सकता है?”

अरे, यह ध्वनि तो मेरी जानी-पहचानी है। मैंने मुड़कर देखा, यह तो उपदेव है, अक्रूर चाचा का पुत्र, मेरा भाई। वह मुझे देखते ही सहम गया। फिर बोला, “मथुरा में कभी ऐसी बीभत्स घटना नहीं घटी थी।”

“अरे भैया, इस समय जो न हो जाए, वह थोड़ा है। कभी देखना, इसी तरह महाराज उग्रसेन का भी शव क्षत-विक्षत किसी नाले के किनारे दिखाई देगा।” यह भी भीड़ की ही आवाज थी—अनजानी-अनचीन्ही, अनपहचानी; पर सार्थक इतनी कि बहुत सी आवाजें उसके समर्थन में उमड़ पड़ीं।

मैंने देखा कि शकट का पिता मल्लाट भी है। बूढ़ा लकुटी के सहारे पग घसीटता बढ़ा चला आ रहा है। “लगता है, जो दशा मेरे पुत्र की हुई, वही इसकी भी हुई। जो भी कंस के साथ गया, उसका सर्वनाश!”

मनुष्य किसीके संदर्भ में सोचते समय स्वयं को भूल नहीं पाता। मल्लाट लोहिता की मृत्यु में अपने पुत्र का संदर्भ ही देख रहा था। मैं कैसे कहता कि दोनों के संदर्भ अलग हैं।

जब मैं वहाँ पहुँचा, विचित्र दृश्य था। एक विशाल नाले के किनारे भीड़ इकट्ठी होती चली जा रही थी। यह नाला आगे जाकर यमुना में ही गिरता था। यमुना की रेती और पहले से आरंभ हो जाती थी। यह प्रशस्त सैकत क्षेत्र जन-समूह से भरता चला जा रहा था।

इसी नाले के किनारे लोहिता का क्षत-विक्षत शव पड़ा था। रोते-कलपते परिजन-पुरजन वहाँ एकत्र थे। मुझे पहचानते ही लोगों ने रास्ता दिया और मैं आगे बढ़ा।

जो कुछ देखा, रोमांचक था। यह हत्या नहीं थी वरन् मृत्यु को भी दंड देने की मानो कुचेष्टा की गई थी। जीव को बलात् ढकेलकर बाहर निकालने के बाद वस्त्र की भी धज्जियाँ उड़ा देने का दुष्प्रयास था।

मैं कुछ कहूँ, उसके परिजनों को सांत्वना दूँ, इसके पहले ही मैंने देखा, एक ढूहे पर दौड़कर छंदक खड़ा हो गया। वह पूरे जन-समूह को संबोधित करते हुए बोला। उसके शब्द ज्यों-के-त्यों तो मुझे याद नहीं हैं, पर उसने जो भी कहा था, वह कुछ इस प्रकार है—

“मथुरावासियो! जो कुछ आप देख रहे हैं, वह जघन्य है, कुत्सित है, दुर्भाग्यपूर्ण है। इस नगर में आज तक कभी ऐसी हत्या नहीं हुई। और वह भी उस व्यक्ति की, जो राजकीय सुरक्षा में रहा हो।...जैसाकि बहुत कम लोग जानते हैं, इधर पंद्रह-बीस दिनों से उसे राजप्रासाद परिसर से बाहर निकलने नहीं दिया गया। किसीसे उसे मिलने भी नहीं दिया गया—यहाँ तक कि उसके परिवारवालों और मित्रगणों को भी नहीं। जब परिवार के लोग बहुत व्याकुल हुए तब राजकर्मचारियों से कहला दिया गया कि आप चिंता न करें, लोहिता राजभवन में सुरक्षित है। (अचानक उसका गला भर आता है।)...और यही थी उसकी सुरक्षा।

“हाँ, सुरक्षित था, जीने के लिए नहीं वरन् इस तरह मारे जाने के लिए। एक ऐसी मृत्यु मरने के लिए जैसी शायद ही कोई मरा हो। शत्रु भी अपने शत्रु की ऐसी दुर्दशा नहीं करता। मृत्यु के बाद फिर शत्रुता कैसी? बड़ी-से-बड़ी शत्रुता भी तो जीवन के अंतिम द्वार तक ही जाती है। उस द्वार के लाँघने के बाद न कोई शत्रु है और न कोई मित्र। वह देखिए, वह! (उसने लोहिता के विक्षत शव की ओर संकेत किया) उस शत्रुता के घृणित रूप की मौन चीखें आज भी उस शव से लिपटी हैं। उन्हें सुनिए और ध्यान से सुनिए। सुनी आपने लोहिता की अकथ कहानी? और आप देख रहे हैं यहाँ का वातावरण? इतना जन-समुद्र यहाँ उमड़ा है, पर एक भी राजकर्मचारी दिखाई नहीं दे रहा है। हमारी-आपकी जिज्ञासा हमें यहाँ घसीट ले आई, पर उन कर्मचारियों को ला न सकी। क्या वे मरे हुए हैं? या उनकी

संवेदना सूख गई है? या यह सबकुछ वे हमसे पहले जान चुके हैं।”

वह कुछ क्षणों के लिए रुका। लगा कि उसका गला भर आया है।

वह बड़ी गंभीर आवाज में बोला, “मनुष्य किसी और द्वारा नहीं, अपने कर्मों द्वारा ही मारा जाता है। आज लोहिता की यह दशा भी उसके कर्मों द्वारा ही हुई है। (लोगों को आश्चर्य हुआ कि उसने अपनी वाग्धारा किधर मोड़ दी) आप अचरज कर रहे होंगे; पर बात यही सही है। यदि उसने वह लौह धनुष न बनाया होता तो शायद उसकी यह हालत न होती। ज्यों-ज्यों वह धनुष देवत्व के निकट पहुँचता गया त्यों-त्यों मृत्यु लोहिता के करीब आती गई। न वह धनुष अपने ढंग का निराला होता और न इतनी दुर्दशा से लोहिता मारा जाता।

“मित्रो! अब मैं आपको अधिक पहेली बुझाना नहीं चाहता। उस धनुष के शिल्प को गोपनीय रखने के ही लिए लोहिता को राजभवन में बंदी किया गया था। तब भी सत्ता की आशंका बनी रही और बढ़ती ही गई। बढ़ती हुई आशंका का तूफान जीवन के जान-माल को खतरे में डाल देता है—और इस समय तो वह डूब ही गया है। लोहिता मारा गया।

“जब लोहिता जैसे अजातशत्रु की यह दशा हो सकती है तब भला यहाँ किसका जीवन सुरक्षित है! हम सब भय के साए में जी रहे हैं। ऐसी अस्थिरता तो शायद ही कभी मथुरा में रही हो।”

छंदक बहुत देर तक बोलता रहा। वह वस्तुतः बोल नहीं रहा था वरन् आग उगल रहा था, या अपनी बोई हुई चिनगारियों की फसल काटने की योजना बना रहा था।

निरंकुश राजतंत्र की पादाक्रांत जनता वह ज्वालामुखी है, जिसमें विस्फोट की संभावना लगभग समाप्त हो जाती है; पर जिसकी ऊर्जा चुकी नहीं होती। और जब वह धधकती है तो सत्ता अग्नि का एक ग्रास भी नहीं रह जाती। स्थिति लगभग ऐसी ही थी।...मुझे लगा कि पीछे से किसीने मेरे कंधे पर हाथ रखा। भीड़ है, पड़ गया होगा किसीका हाथ। मैंने बहुत ध्यान नहीं दिया। पर इस बार उसने कुछ विशेष ढंग से दबाया और मुझे पीछे देखने के लिए विवश किया।

मैंने देखा, अंधक बाहुक संकेत से मुझे किनारे ले जाना चाहता है। मैंने एकदम उसके संकेत का पालन किया। मेरे साथ प्रभास भी था।

“भैया कहाँ हैं?” अंधक बाहुक ने बलदाऊ भैया के बारे में पूछा।

मेरा स्पष्ट उत्तर था—“मुझे मालूम नहीं। हो सकता है, वे चाचा के यहाँ ही हों।”

“नहीं।” बूढ़े ने कहा, “उन्हें मैंने उपदेव के साथ इधर आते देखा था। उन्हें अविलंब खोजना चाहिए।”

इतना कहते हुए उसने प्रभास को उनकी खोज के लिए भेजा, या अपने और हमारे बीच से उसे अलग हटाया। फिर मुझे वह उसी वट वृक्ष के दूसरे तने की ओर ले गया।

“देख रहे हैं, कैसी भयानक स्थिति है! कुछ भी हो सकता है। जनता उबल रही है। इस समय एक भी कर्मचारी दिखाई पड़ जाए तो लोग उसका कचूमर निकाल लें। मेरा विचार है कि इसी समय चलकर उस धनुष को तोड़ देना चाहिए।”

मैं मौन था। स्थितिबल नहीं वरन् अपनी प्रकृतिबल। चुनौती देकर तो मुझसे विलक्षण-से-विलक्षण कार्य कराया जा सकता है और मैंने किया भी है; पर आग्रह और अवसर का लाभ उठाना मेरा स्वभाव नहीं। उसमें मुझे कायरता झलकती है।

“आप चुप क्यों हैं?” बाहुक बोला, “आज नहीं तो कल, उसे तो आपको तोड़ना ही पड़ेगा। आज लोहिता की मृत्यु आपसे कह रही है कि आप हमें जीवित तो नहीं कर सकते; पर कंस के उस स्वप्न को अवश्य भंग कर सकते

हैं, जिसने मुझे इस तरह मारे जाने के लिए विवश किया है।”

मेरी नसों में रक्त का संचार कुछ हुआ। तब तक प्रभास भैया को भी खोज ले आया। बाहुक ने उनसे भी वैसी ही बातें कहीं। वे एकदम तैयार हो गए।

हम धनुषमंडप की ओर बढ़े। निश्चित रूप से बाहुक ने छंदक को कुछ संकेत किया और सारी भीड़ हमारे पीछे चल पड़ी। अद्भुत दृश्य था। जैसे हम किसी साम्राज्य पर आक्रमण करने जा रहे हों। और सचमुच हम आक्रमण करने ही तो जा रहे थे। अपने विरुद्ध बनाई जा रही योजना पर आक्रमण, कंस की प्रतिष्ठा पर आक्रमण और इतने दिनों से दबाई गई जनता की हताशा पर आक्रमण।

भीड़ को निकट आते देखकर सुरक्षा सैनिकों ने उस मंडप को चारों ओर से घेर लिया, जिसपर वह धनुष रखा था।

“यदि कोई आगे बढ़ा तो कुशल नहीं।” सैनिकों का अधिकारी गरजा।

भीड़ सकते में आ गई। लोग अपने ही स्थान पर हिलते-डुलते रहे। उनका क्रोध मन-ही-मन भुनभुनाता रहा। आगे बढ़ने का उनका साहस जैसे सहम गया था।

साहस जब ढुलकता है, तब उसका वेग पहाड़ से गिरते शिलाखंड की तरह बढ़ता ही जाता है। इसी वेग को सँभालने मैं आगे आया—“आप सब जहाँ हैं वहीं खड़े रहिए।”

उनके स्वाभाविक भय पर मेरे आदेश का आवरण चढ़ा और मैं स्वयं उस मंच की ओर बढ़ा।

“आप आगे नहीं जा सकते।” सुरक्षा अधिकारी की वर्जना थी।

“क्यों? इसलिए कि एक और लोहिता की हत्या हो?”

अब चक्र मेरी तर्जनी में नाच रहा था। मेरी बगल में खड़े भैया का हाथ भी अपने हलायुध पर था।

“आखिर मुझे रोकने से तुम्हारा क्या लाभ है?” मैंने कुछ धीरे से कहा; क्योंकि वेश और भाषा से मैंने समझ लिया था कि सुरक्षा अधिकारी मथुरिया है।

“तुम इनको देख रहे हो!” मैंने वहाँ जमी भीड़ की ओर इशारा किया।

उस अधिकारी की दृष्टि उधर गई।

“इनकी निर्दोष आँखों में झाँककर देखो। इनमें लोहिता की मृत्यु की छाया तुम्हें स्पष्ट दिखाई देगी।” मेरी ध्वनि प्रभावशाली होती गई—“और जब तुम और ध्यान से देखोगे, वह काली छाया एक काले सागर में बदलने लगेगी। उत्ताल तरंगाघातवाले काले सागर में, जिसमें तुम्हारे जैसे लोगों की मृत्युएँ भी डूबती-उतराती दिखाई पड़ जाएँगी।”

लोग बताते हैं कि उस समय मेरे स्वरों का आरोह-अवरोह इतना प्रभावशाली था कि वह मेरा मुँह ही देखता रह गया।

ऐसा बहुधा मेरे जीवन में हुआ है। जब भी मेरा चिंतन प्रगल्भ हुआ है, मेरी ध्वनि का चढ़ाव और उतराव इतना प्रभावशाली हुआ कि लोग मुझे देखते रह गए हैं। युद्ध के मध्य मोहग्रस्त अर्जुन के अज्ञान को जब मैंने झकझोरना शुरू किया था तब भी लगभग ऐसी ही स्थिति हो गई थी। मुझे बंदी बनाने की कुचेष्टा करते समय दुर्योधन की भरी सभा में मेरी ध्वनि का ही चमत्कार था कि उसे मुझमें ब्रह्मांड दिखाई देने लगा था।

इस समय भी वह सुरक्षाधिकारी मेरा मुँह देखता रह गया। मैं धड़धड़ाता हुआ मंच पर चढ़ गया। मेरे पीछे-पीछे भैया भी थे। उन्होंने पुजारियों को धक्का देना आरंभ किया। एक के बाद एक वे लुंड-मुंड हो नीचे गिरने लगे। फिर एक पैर से अखंड दीप की ज्योति चूर-चूर होकर बिखर गई। धनुष पर आरोपित सारा देवत्व मिट्टी में मिल गया। इसके बाद उसपर पड़ी मालाएँ और फूल उन्होंने जनता में फेंकने आरंभ किए।

मुझे धनुष की वास्तविकता का ज्ञान पहले से ही था। मैंने जल्दी-जल्दी पेंच खोले और उस धनुष को उठाकर

पटक दिया। वह तीन टुकड़ों में अलग हो गया।

अब सुरक्षा सैनिकों को लगा कि अरे, यह क्या हो गया! अप्रत्याशित झंझा के बाद उपलवृष्टि की तरह उनकी मानसिकता आंदोलित हो उठी। उन सबों ने एक साथ हमपर आक्रमण कर दिया। यह आक्रमण इतनी निकटता और क्षिप्रता से किया गया था कि चक्र से प्रहार का औचित्य ही नहीं रह गया था। मैंने धनुष के टूटे लौह खंड से ही मारना आरंभ कर दिया।...और बराबर मारता ही गया। मैंने यह भी नहीं देखा कि किसको और कहाँ लग रहा है!

दूसरी ओर, भैया भी अपने हल से प्रहार पर प्रहार किए जा रहे थे। अनेक सैनिक यम को प्रिय हो गए। अनेक रक्तरंजित होकर धराशायी हुए। फिर भी विस्मय यह कि जनता चुपचाप तमाशा देखती रही। वह न मेरी ओर से बोली और न कंस के सैनिकों की ओर से। यह मेरी वर्जना का फल था या उसकी मानसिकता सत्ता द्वारा दबाई जाने से इतनी पथरा गई थी कि विद्रोह के किसी अंकुर के उगने की संभावना तक उसमें नहीं रही। फिर भी छंदक था कि चिनगारियाँ बोता जा रहा था और अग्नि की फसल का स्वप्न देखता था। इस बार उसने आवाज लगा ही दी कि एक भी सैनिक बचकर जाने न पाए।

“यह क्या कहते हो? आप सब जहाँ खड़े हैं वहीं खड़े रहें।” मुझे लगा कि मैं अपनी आवाज का विरोध कर रहा हूँ। पर क्या करता! मरी हुई जनता को जिलाने से पहले उससे किसी कार्य की आकांक्षा करना हिम से अग्नि पैदा करना था। अतएव मैंने उसे कुछ भी न करने से वर्जित ही रखा और कहा, “यह धनुष भंग नहीं हुआ है वरन् लोहिता का वह कर्तव्य भंग हुआ है, जिसके कारण उसकी मृत्यु हुई। उसका व्यक्तित्व चोरी से, कायरों की तरह दुनिया की आँखों से छिपाकर समाप्त किया गया। पर उसका कर्मत्व आप सबके सामने हमने इतिहास को सौंप दिया। इतिहास वह कालपुरुष है, जिसकी लंबी भुजाएँ सबको अपने में समेट लेती हैं। एक दिन वह हमें भी समेट लेंगी और आपको भी। रह जाएगा केवल हमारा धर्म और कर्म। आश्चर्य है कि हम इस सत्य को जानते हुए भी स्वीकार नहीं कर पाते। कोई वैभव से चिपका है, कोई सत्ता से चिपका है और किसीको महत्वाकांक्षा ने इतना धर दबाया है कि उसने अपने पिता तक को बंदीगृह में डाल दिया है।...अपनी बहन की सात-सात संतानों की निर्मम हत्या कर दी है।” इसके बाद मैंने एक कृत्रिम मुसकराहट उगाई—“यदि उसका वश चलता तो यह आठवीं संतान भी मारी जाती; पर कालदेवता को यह स्वीकार नहीं था।”

“और न कभी स्वीकार होगा!” जनता चिल्लाई।

“कालदेवता को क्या स्वीकार होगा और क्या नहीं, इसे हम नहीं जानते। शायद यह अज्ञान हमारे लिए सबसे बड़ा वरदान है, जो जीवन को रस देता है। हम सपने सँजोते हैं और उसीमें जीते चले जाते हैं।”

मैंने फिर मुद्रा बदली और कहा, “यदि यह धनुष भंग न होता तो निश्चित ही लोहिता की आत्मा को शांति न मिलती। वह छटपटाती रहती कि वह धनुष अब भी है, जो मेरी मृत्यु का कारण हुआ।”

इसके बाद मैंने कुछ ऐसा कहा, जिसका कुछ आशय इस प्रकार था कि आज लोहिता मारा गया है, कल किसीकी भी बारी आ सकती है; क्योंकि किस क्षण मथुरा में क्या हो जाएगा, कोई नहीं जानता।

अनिश्चितता, भय और आशंकाओं में डूबी भीड़ धीरे-धीरे खिसकने लगी। हमारे हटने के बाद तो शायद ही कोई वहाँ रह गया हो।

□

इस घटना के बाद मथुरा थर्रा उठी थी। राजभवन चिंतित हो उठा था। उसने अनुभव किया कि जनता पर से उसकी पकड़ ढीली पड़ती जा रही है। झंझा में थपेड़े खाते जलयान की तरह कंस की लड़खड़ाती मानसिकता कुछ भी करने को तैयार थी। उसने पहले प्रद्योत को बुलाया।

“यह सब कैसे हो गया?” व्यग्रता में अपने कक्ष में टहलते हुए ही उसने महामात्य से पूछा।

“क्या कहूँ, महाराज! एक तो लोहिता की हत्या से मथुरा उत्तेजित हो चुकी है, दूसरे उन दोनों नंद के छोकरी ने तो आकाश सिर पर उठा लिया है।” प्रद्योत बोला, “सैनिक बता रहे थे कि कन्हैया की आँखों में सम्मोहन है! उसकी वाणी का ऐंद्रजालिक प्रभाव पड़ता है।” अचानक महामात्य की मुद्रा एकदम विस्मय से भर गई—“और हाँ, उसने यह भी सार्वजनिक रूप से घोषित किया है कि वही देवकी का आठवाँ पुत्र है।”

“देखो, मेरी आशंका ठीक निकली न!” अचानक कंस गंभीर हो गया। उसे लगा कि प्रासाद-प्राचीरें टूटकर उसपर गिर पड़ेंगी। “तो...तो क्या नारद की भविष्यवाणी सचमुच सत्य होगी?”

अब प्रद्योत क्या कहता। केवल उसका मुँह देखता रह गया।

“नहीं-नहीं, ऐसा नहीं होगा। कदापि नहीं होगा। उन बालकों की सामर्थ्य ही क्या है! एक बार यदि यमराज भी आ जाए तो भी वह मेरा कुछ नहीं कर सकता।” वह व्यर्थ हवा में मुक्के मारता रहा।

फिर लगा जैसे ज्वार का सागर उतर गया है। टहलते-टहलते कंस अचानक आकर पर्यंक पर निढाल हो गया।

“क्या सचमुच तुम अनुभव करते हो कि वे दोनों बड़े शक्तिशाली हैं?”

“शक्तिशाली तो हैं ही।” इतना कहते-कहते जैसे किसीने प्रद्योत की जबान पकड़ ली। उसने सोचा कि कहीं मैंने और प्रशंसा की तो हो सकता है, कंस की विक्षिप्तता कहीं भड़क न उठे।

“क्या सोचते हो? बोलो, बोलो।” कंस की उद्धतता अचानक आत्मीयता में बदलने लगी—“देखो प्रद्योत, तुम्हीं इस समय मेरे अपने रह गए हो। और तुम्हीं मुझसे सत्य कहने में कतराते हो!”

प्रद्योत का कहना था कि उस समय उसे पहली बार लगा कि वह कंस के व्यक्तित्व की गहराइयों में बैठने लगा है।

“प्रद्योत! आखिर मैं किसपर विश्वास करूँ? मुझे तो लग रहा है कि मेरे चारों ओर की दीवारें भी मेरे लिए अविश्वस्त हो गई हैं। और तुम भी जो बताते हो वह आधा-अधूरा। खंडित सत्य।” वह क्षण भर के लिए रुका—“खंडित सत्य असत्य से कम खतरनाक नहीं होता।”

“मैंने आपसे कुछ छिपाया नहीं है। मैं तो कह रहा था कि वे शक्तिशाली हैं; पर इससे भी अधिक वे चामत्कारिक हैं।”

“चामत्कारिक! क्या कोई नया चमत्कार किया है उन्होंने?”

“कर्मा की पुत्री त्रिवक्रा को पूर्ण स्वस्थ कर दिया उन्होंने।”

“अरे वही न, जो मालिनी थी! प्रासाद की मुख्य परिचारिकाओं में थी!” कंस बोला, “उसकी अस्वस्थता के संबंध में राजवैद्यजी ने भी कहा था कि वह अच्छी नहीं हो सकती।”

“पर वह एकदम स्वस्थ हो चुकी है।” प्रद्योत बोला, “अब न वह कुब्जा है और न त्रिवक्रा वरन् मालिनी है—और यदि सुमालिनी कहूँ तो शायद अतिशयोक्ति नहीं होगी; क्योंकि अब वह पहले से कहीं अधिक सुंदर और आकर्षक है।”

“वह तो हमारे हस्तिपाल अंगारक की पत्नी है?”

“हाँ, महाराज, कभी थी।”

इसके बाद प्रद्योत ने सारी कथा संक्षेप में कह सुनाई। कंस बड़े कुतूहल के साथ सुनता गया; जैसे उसे विश्वास ही न हो पा रहा हो कि त्रिवक्रा पुनः मालिनी हो गई है।

“मैं चाहता हूँ कि वह मेरे सामने लाई जाए।”

“अभी, महाराज!”

प्रद्योत उसके यहाँ परिचर भेजने की व्यवस्था करने चला ही था कि कंस ने उसे पुनः बुलाया।

“त्रिवक्रा का संदर्भ तुमने वृतघ्न को अभी बताया है या नहीं?”

“उन्हें पहले से ही मालूम है।”

“पहले से ही मालूम है! लगता है, वह भी मुझसे बहुत कुछ छिपाता है।”

“केवल इसलिए कि आपकी शांति में खलल न पड़े।” प्रद्योत ने वृतघ्न की ओर से सफाई दी।

“खलल न पड़े!” कंस हँसा—“अग्नि पर उत्तरीय डालने से अग्नि नहीं बुझती, प्रद्योत! बुझना तो दूर रहा, वह छिपती भी नहीं है। हाँ, छिपने का एक क्षण के लिए भ्रम अवश्य होता है। और जब वह उत्तरीय भी जलने लगता है तब वह भ्रम भी राख हो जाता है।”

लगता है, बाहर से ही वृतघ्न सारी बातें सुन रहा था। उसने कक्ष में प्रवेश करते ही कहा, “इसमें छिपाने की कोई बात नहीं थी। कहने के योग्य भी मैंने कुछ नहीं समझा। अरे, एक युवती अस्वस्थ थी, वह स्वस्थ हो गई। इसमें कौन सी विशेष बात हो गई?”

“विशेष बात नहीं है! अरे, यह चमत्कार है, चमत्कार!” कंस की भयग्रस्त मानसिकता बड़बड़ाती रही, “जिसे राजवैद्य ने असाध्य घोषित किया, वह एकदम अच्छी हो गई।”

“तो इसमें चमत्कार क्या है? यदि वह ऐसा ही चमत्कारी होता तो लोहिता को जीवित न कर देता।” वृतघ्न का तर्क अद्भुत था। अब तक प्रद्योत ने कंस के मन पर जो पानी चढ़ाया था, वह थोड़ा हलका पड़ा। वृतघ्न बोलता गया—“हाँ, यह अवश्य है कि धनुष कभी न टूटता, यदि लोहिता ने उसकी गोपनीयता उद्घाटित न कर दी होती। कन्हैया तो उसी धनुष की चपेट में मारा जाता। पर अब तो जो हो गया, सो हो गया।”

वृतघ्न कहता गया—“अब दो बातें विशेष हैं! इतनी सुरक्षा के होते हुए भी कन्हैया ने आखिर धनुष तोड़ ही दिया। इससे हमारी सुरक्षा व्यवस्था पर लोगों का विश्वास नहीं रहा। दूसरे, हमारे सैनिकों का मनोबल भी गिरा। वे सोचने लगे कि नंद के छोकरो के समक्ष अब हम कुछ नहीं कर सकते हैं।”

वृतघ्न बोलते-बोलते एकदम रुक गया। कुछ सोचते हुए कहने लगा, “धनुषभंग के बाद उसने जो भाषण दिया है, वह तो बड़ा ही खतरनाक है। एक ओर वह यह भी कहता है कि मथुरा का भविष्य अब असुरक्षित है, किसीकी भी वह स्थिति हो सकती है, जो लोहिता की हुई; दूसरी ओर, प्रकारांतर से उसने स्वयं को देवकी का आठवाँ पुत्र भी घोषित किया है। अब हर व्यक्ति की जबान पर नारद की भविष्यवाणी है।”

कंस के जीवन के कंपित विश्वास को एक धक्का और लगा।

“ऐसी स्थिति में क्या करना चाहिए?” उसने पूछा।

“मेरे विचार से तो कृष्ण और बलराम को राजभवन में बुलाना चाहिए—और वह भी एक अपराधी की तरह।” वृतघ्न बोला।

मुझे आश्चर्य था कि इतना बड़ा कूटनीतिज्ञ ऐसी गलती करने पर क्यों उतारू हो गया?

प्रद्योत ने उसे रोका, “नहीं-नहीं! यह बहुत बड़ी भूल होगी।”

“क्यों भूल होगी, यदि एक अपराधी को अपराधी की तरह बुलाया जाए?” जहाँ भी जरा सा सहारा मिलता, कंस की हताशा फुफकारने लगती—“मैं तो कहता हूँ, उन्हें हथकड़ियाँ डालकर बुलाया जाए। कम-से-कम जनता तो देख ले कि राजसत्ता से टकराने का क्या परिणाम होता है!”

पर प्रद्योत ने फिर रोका। आज उसमें महाराज के समक्ष बोलने का साहस पहले से कुछ अधिक दिखाई दिया। उसने कहा, “यदि हथकड़ी लगाकर कृष्ण और बलराम को लाया गया तो सारी जनता उनके साथ राजभवन तक आ

जाएगी।... और ऐसा भी हो सकता है कि...” प्रद्योत कहते-कहते रुक गया।

“रुक क्यों गए? बताओ न कि क्या हो सकता है?”

“यह भी हो सकता है कि उनके हाथों में पड़ते ही हथकड़ियाँ टुकड़े-टुकड़े हो जाएँ।” महामात्य के मन में मेरे व्यक्तित्व का चमत्कार अधिक प्रभावी था।

“तुम भी क्या बात करते हो, प्रद्योत!” वृत्तध्न बोला, “लोहे की हथकड़ियाँ और चूर-चूर हो जाएँगी!”

“आखिर धनुष भी तो लोहे का ही था—और वह भी ठोस लोहे का।”

“उस संदर्भ में तो हमें धोखा हुआ।”

“हो सकता है, इस संदर्भ में भी आपको धोखा हो।”

“जब महामात्य होकर आप ऐसा कहते हैं तब धोखा हो सकता है।” वृत्तध्न के स्वर में रुक्षता थी।

पर उतनी ही रुक्षता से प्रद्योत ने भी कहा, “जरा दूसरी दृष्टि से भी देखने की चेष्टा कीजिए। किसी सम्मानित अतिथि को हथकड़ी डालकर राजभवन में लाना क्या उसके प्रति धोखा नहीं है?”

वृत्तध्न कुछ सोचने लगा, फिर भी बोला, “पर उन दोनों को राजभवन में बुलाना तो चाहिए ही।”

“बुला तो आप जब चाहें तब सकते हैं।” प्रद्योत बोला।

और दूसरे ही दिन हम आमंत्रित किए गए। यह पहला अवसर था जब अक्रूर जैसा भला आदमी भी शंकित हो उठा था।

वे बोले, “बेटा, जरा सावधान रहना।”

उनकी इच्छा तो स्वयं हमारे साथ चलने की थी; पर मैंने ही उन्हें मना कर दिया।

एक अजीब बात और हुई। राजभवन में आमंत्रण की सूचना हमें बाद में मिली और मथुरा को पहले। काफी लोग हमारे आवास पर आ गए थे। हम पहली बार इस तरह से राजभवन में बुलाए गए थे। अभी तक तो अतिथिकक्ष तक ही पहुँचे थे। लोग सोच रहे थे, कुछ-न-कुछ अवश्य होगा।

सूर्योदय के पूर्व ही तो मालिनी आ गई थी। वह काफी डरी-डरी और सहमी-सहमी थी। उसे विश्वास था कि कंस अपनी नीयत से बाज नहीं आएगा। वह स्वयं भी मेरे साथ चलना चाहती थी। पर मैंने बड़े प्यार से उसकी पीठ थपथपाते हुए कहा, “क्या तुम्हें विश्वास नहीं है कि मैं देवकी का आठवाँ बेटा हूँ?”

इतना सुनते ही वह एकदम मेरे चरणों की ओर झुकी।

जब तक प्रद्योत का रथ हमें लेने आया तब तक तो पूरी मथुरा ही उमड़ पड़ी थी। प्रद्योत ने सबको समझाया और बताया कि कोई विशेष बात नहीं है। फिर भी लोग माननेवाले कहाँ थे!

“लोहिता को भी लोग ऐसा ही कहकर ले गए थे।” जनता के बीच से उभरी यह एक ऐसी आवाज थी, जिसका कोई उत्तर प्रद्योत के पास नहीं था।

अंत में मुझे ही बोलना पड़ा—“आपको लोहिता में और मुझमें कोई अंतर दिखाई नहीं पड़ता?”

मैं बोल तो गया, पर मुझे लगा कि मेरा अहं प्रगल्भ होता जा रहा है।

“आपको व्यग्र होने की क्या आवश्यकता है? आपको अपने महामात्य का तो विश्वास करना ही चाहिए।”

किसी प्रकार भीड़ ने मुझे छोड़ा; पर हमारे मित्र हमें छोड़नेवाले नहीं थे। वे हमारे साथ तो नहीं चले, पर राजकीय अतिथिभवन में उद्धव और श्रीदाम के नेतृत्व में एकत्र होने लगे।

राजभवन के सभाकक्ष में हमें ले जाया गया। राजकीय वैभव से सजे-सँवरे इस विशाल कक्ष की आकर्षकता आत्माविहीन अलंकृत उस मूर्ति की तरह लगी, जो मात्र दर्शनीय होती है। मैं चारों ओर देखता रह गया। विचित्र बात

यह थी कि प्रद्योत भी मुझे बैठाकर चला गया था। यह उबाऊ सन्नाटा मुझसे अधिक भैया को साल रहा था। उन्हें कुछ ऐसा अनुभव हो रहा था कि यह हमारा अपमान किया जा रहा है।

तब तक महादंडनायक पधारे।

“आइए-आइए!” कहते हुए हम लोगों ने आकर उनका स्वागत किया—“कहिए, इस बार भी आपको ही हमारी पूछताछ करनी है?”

इस व्यंग्य बाण को वह सँभाल नहीं पाया। उसकी घिग्घी बँध गई। तब तक कुछ और सेनाधिकारी आ गए। भैया ने उन्हें बड़े ध्यान से देखा; जैसे उनकी आँखें हर एक के पौरुष को तौलने लगीं। कुछ क्षणों बाद ही महामात्य के साथ वृतघ्न आया। हम फिर उसके अभिवादन में खड़े हुए। आखिर वह मेरे मातुल का साला था।

पर वह बड़ी रुक्षता से पेश आया। बिना अभिवादन का उत्तर दिए और बिना किसी भूमिका के बोल पड़ा—“आप लोगों ने जो किया, वह अच्छा नहीं किया।”

इतना सुनते ही तो भैया आपे से बाहर होने लगे। वे कुछ बोले नहीं; पर उन्होंने धरती पर अपना पैर घिसना आरंभ किया।

मैंने तुरंत उत्तर दिया—“हम लोगों ने जो किया, उससे अच्छा दूसरा और कुछ हो ही नहीं सकता।”

“यह आप कैसे कह सकते हैं?” वृतघ्न की आवाज थोड़ी और तेज हुई।

“इसलिए कह सकते हैं,” भैया ने कुछ और ऊँची आवाज में बोलना आरंभ किया—“क्योंकि लोहिता की हत्या से अधिक जघन्य तथा कुत्सित और कुछ हो नहीं सकता था।” इतना कहते-कहते उनकी ध्वनि इतनी काँपने लगी थी कि उनका हाथ दबाकर मुझे शांत करना पड़ा था।

“उस हत्या को देखकर जनता पागल हो उठी थी।” अब मैंने सँभाला—“यह तो कहिए, धनुष तोड़कर उनके क्रोध को निकल जाने दिया गया, अन्यथा वह विद्रोह कर देती।”

“राजद्रोह इतना आसान नहीं है, वत्स!” उसने बड़े व्यंग्यात्मक ढंग से कहा।

“कभी ज्वालामुखी का विस्फोट आपने देखा है?” भैया ने सीधा प्रश्न किया।

वृतघ्न मुँह देखता रह गया।

“सोता हुआ सर्प भी आप जैसे भोलेभाले लोगों को रज्जु ही दिखाई देगा—और शायद आप उसे उठा लेने की भी शिशु जैसी नादानी करेंगे।”

भैया के इतना कहते ही मैं जोर से हँसा। यह हँसी यद्यपि नाटकीय थी, पर इतनी प्रभावकर थी कि सभी मेरा मुँह देखते रह गए। प्रद्योत ने मेरे चमत्कारी होने की बात पहले ही उससे कही थी। अब सचमुच उसकी मानसिकता मेरी हँसी में चमत्कार खोजने लगी।

अब वह ठंडा पड़ा—“भला बताइए, लोहिता की उस मृत्यु में हम लोगों का क्या हाथ?”

“आपका हाथ है या नहीं, इस संबंध में हम कुछ कहना नहीं चाहते; पर इतना पूछना अवश्य चाहते हैं कि यदि इस समय हमारी हत्या हो जाए तो उसमें आप लोगों का हाथ होगा या नहीं?”

भैया ने एक तीर से दो शिकार किए। बात भी कह दी और यदि इस प्रकार का कोई षड्यंत्र किया जा रहा हो तो उसकी भी धूल झाड़ दी।

“बात कुछ समझ में नहीं आई।” वृतघ्न कुछ घबराया हुआ सा बोला, “कैसी बातें कर रहे हैं आप?”

“देखिए, मैं स्वप्नजीवी नहीं हूँ। जो अनुभव करता हूँ, वह कहता हूँ।” भैया बोले, “और न मुँह देखी बातें करता हूँ। यदि यहाँ मेरी हत्या कर दी जाए तो क्यों किसीका विश्वास होगा कि इस कुकृत्य में राजभवन का हाथ नहीं

है?”

वृतघ्न हम दोनों का मुँह देखता रह गया।

“वैसे ही आप लोग लाख सफाई दें कि लोहिता की हत्या में हम लोगों का हाथ नहीं है, कोई विश्वास करने को तैयार नहीं होगा।” भैया बोलते रहे, “उसे घर से बुलाकर राजभवन में रखा गया—और फिर उसकी यह दशा हुई।”

भैया की ध्वनि इतनी तीखी तथा आक्रामक थी कि वृतघ्न की मानसिकता झुकती चली गई और भैया उसे और झुकाते रहे—“आज जनता को उत्तर चाहिए कि लोहिता की यह स्थिति क्यों और कैसे हुई?

“यह तो कहिए कि हमने उस धनुष को तोड़ दिया और सुरक्षा सैनिकों पर भी प्रहार किया, जिससे जनता के क्रोध का बहुत कुछ रेचन हो गया, अन्यथा मथुरा की जनता प्रासाद को घेर लेती और तब आपको रास्ता दिखाई न देता।”

वृतघ्न मौन रहा गया। कहाँ आया था आक्रामक मुद्रा में और कहाँ उसकी सारी आक्रामकता नींबू की तरह निचोड़ ली गई थी। हम लोगों ने उसे अहं के पहाड़ से ऐसा ढकेला था कि वह चूर-चूर हो चुका था।

“मामाजी कहाँ हैं?” मैंने जानबूझकर पूछा।

वही सधा-सधाया उत्तर मिला—“अभी वह पूजन पर हैं।”

“अच्छा, वे पूजा भी करते हैं!” मैंने कहा, “मैंने सुना है कि वे भगवान् के अस्तित्व को भी स्वीकार नहीं करते?”

“तब वे अपनी पूजा कर रहे होंगे।” भैया भी एक-से-एक तीखे बाण मारे चले जा रहे थे।

“इसका अर्थ है कि वे अपने अस्तित्व को स्वीकार करते हैं।” मैंने कहा, “पर इस समय वे ऐसा भी नहीं कर पा रहे होंगे; क्योंकि अपने अस्तित्व को स्वीकार करने का अर्थ ही है, ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करना।”

अब स्थिति यह हो गई थी कि हम दोनों भाई ही वक्ता रह गए थे। महादंडनायक का सामना तो एक बार हो ही चुका था। इस बार आरंभ से अंत तक वे चुपचाप मूर्तिवत् बैठे रहे। प्रद्योत बेचारे की स्थिति विचित्र थी। वह सोच रहा था, व्यर्थ में मैं क्यों बैठा लिया गया यहाँ। वह बीच-बीच में कभी मेरी ओर, कभी वृतघ्न की ओर दबी दृष्टि से देख लिया करता था।

वृतघ्न ने इस संदर्भ का उपसंहार मात्र एक वाक्य से किया—“खैर, जो कुछ भी हुआ, वह दुःखद है।” और हम लोगों के लिए जलपान की व्यवस्था करने लगा।

लोगों की कही हुई बातें हमारे कानों में एक बार फिर गूँजने लगीं—“देखो, राजभवन में एक बूँद जल भी गले के नीचे मत उतारना।”

मैंने तत्क्षण कहा, “आप व्यर्थ परेशान न हों। हम लोग कुछ भी ग्रहण न करेंगे।”

“क्यों?”

“क्या यह उचित है कि लोहिता का क्षत-विक्षत शव पड़ा रहे और उसी संदर्भ में आए हम लोग यहाँ बैठकर जलपान करें?”

“आप लोहिता की हत्या के संदर्भ में नहीं बुलाए गए हैं वरन् धनुषभंग के संदर्भ में आपको स्मरण किया गया है।” वृतघ्न बोला।

“पर हमारे लिए दोनों संदर्भ एक ही हैं। एक ओर शिल्पकार की मृत्यु हुई है और दूसरी ओर उसके शिल्प की।” मैंने कहा, “जिस राज्य में शिल्पकार और कलाकार की यह स्थिति हो, उसका भगवान् ही भला करें।”

“तुम फिर भगवान् की बात करते हो! यहाँ भगवान् मारा जा चुका है।” भैया ने एक झिड़की मुझको ही सुनाई।

मुझे हँसी आ गई। मैं बड़ी देर तक हँसता रहा।

□

जब हम बाहर निकले, प्रतीक्षारत भीड़ हमें देखते ही हर्षोल्लास से उन्मत्त हो उठी। मित्र तो एकदम नाचने लगे थे; जैसे हमने कोई विजय पाई हो। यदि एक दृष्टि से देखा जाए तो हम विजयी होकर ही लौटे थे। हमने वृतघ्न की सारी मानसिक व्यूह रचना ध्वस्त कर दी थी।...दूसरी ओर समूची जनता यह जानने को उत्सुक थी कि हम क्यों बुलाए गए थे?

जब मेरे रथ को बहुत से लोगों ने घेरा, तब मुझे कहना पड़ा—“समस्या विकट थी। धनुष तो भंग हो गया। अब धनुर्यज्ञ कैसे होगा?”

“तब आपने क्या कहा?” भीड़ ने पूछा।

“मैंने स्पष्ट कर दिया कि अब धनुर्यज्ञ की आवश्यकता नहीं।”

“ठीक ही किया आपने। अब उसकी आवश्यकता ही क्या है!”

“पर महाराज का कहना था कि जिस धनुर्यज्ञ के नाम पर मैंने इतना निमंत्रण बाँटा है, इतने लोगों को बुलाया है, उनसे क्या कहूँगा कि वह आपके आने के पूर्व ही संपन्न हो गया!”

“तब वे क्या करेंगे?” भीड़ में से ही एक प्रश्न और उछला।

“देखिए, क्या करते हैं! उत्सव तो किसी-न-किसी रूप में करना ही होगा।”

मैंने किसी प्रकार भीड़ से पिंड छुड़ाया। फिर भी भीड़ के बहुत से लोग अक्रूर चाचा के घर तक मुझे छोड़ने आए।

मैंने अक्रूर चाचा से सारी बातें बता दीं। वे बहुत प्रसन्न थे। कम-से-कम वृतघ्न का भाव-मर्दन तो हुआ।

उनकी स्पष्ट धारणा थी—“जिस परिवार में सालों का शासन चलता हो, उसके विनाश में देर नहीं लगती।”

दूसरे दिन उद्धव ने जो कुछ सुनाया, वह विलक्षण था।

उसने बड़ी व्यग्रता से बताया कि महाराज विक्षिप्त हो चुके हैं, पूर्ण विक्षिप्त। राजवैद्य को उनकी चिकित्सा के लिए बुलाया गया है। उन्हें दर्पण में अपनी आकृति ही नहीं दिखाई दे रही है। पता चला कि वे काफी देर तक अपने दोनों कानों में अँगुली डाले बैठे रहे। उन्हें देखकर लोग सन्न हो गए थे।

“महाराज, यह क्या कर रहे हैं?” सुलोचना ने उन्हें टोका भी।

पर वह कुछ नहीं बोले। उनकी भयातुर आँखें चारों ओर चौंधिया रही थीं; मानो वह प्रकाश में अंधकार खोज रही हों। अंत में वे बोल ही उठे, “सबकुछ समाप्त हो गया।”

“आप क्या कह रहे हैं, महाराज?” सुलोचना का विनम्र स्वर सांत्वना से भरा था।

“सुलोचना, मैं कानों में अँगुली डालकर सुन रहा हूँ। पहले जैसी धू-धू की आवाज भीतर से सुनाई देती थी, आज सुनाई नहीं दे रही है।”

“मन जब अशांत होता है तब ऐसा ही होता है।” सुलोचना बोली।

“यह मन की अशांति का द्योतक नहीं, सुलोचना, वरन् यह मेरे अनिष्ट का द्योतक है।”

महाराज की व्यग्रता इतनी अस्थिर थी कि उन्होंने उसी समय महामात्य को बुलाया। संयोग कि उस समय महामात्य प्रासाद में थे।

“कल रात मैंने आकाश में देखा। मुझे दो-दो चंद्रमा दिखाई दे रहे थे।” कंस ने प्रद्योत के आते ही कहा, “और मेरे शयनकक्ष के वातायन के ठीक सामने पड़नेवाला रसाल का वृक्ष है न, वह नहीं दिखाई दे रहा था।”

“हो सकता है, महाराज, कि कल रात आपको नींद अच्छी नहीं आई हो।” प्रद्योत बोला।

“यह मेरे नींद न आने के कारण नहीं है। यह मेरे अनिष्ट की पूर्व सूचना है।” फिर वह चुप हो गया। अचानक खड़े होकर महामात्य की दोनों भुजाएँ उसने अच्छी तरह पकड़ लीं और उन्हें झकझोरते हुए बोला, “मुझे तो नींद आई थी और खूब आई थी, प्रद्योत।” वह बड़बड़ाता रहा, “मुझे नींद आई थी। मैंने स्वप्न देखा, विचित्र स्वप्न! पूछो, क्या देखा था मैंने!”

प्रद्योत चुप था। केवल सुनता रहा।

“मैंने देखा कि मैं गधे पर सवार हूँ। मैं विष्टा खा रहा हूँ। और...और अचानक एकदम वस्त्र उतारकर फेंक देता हूँ। एकदम निर्वस्त्र, बिल्कुल नग्न। मैं अपने सामने नंगा हो गया था।...मनुष्य दूसरों को नंगा करता है। दूसरों के सामने नंगा होता है।...और जानते हो, मनुष्य जब अपने सामने नंगा होता है तब क्या होता है?”

प्रद्योत की अचंभित दृष्टि कंस को देखती रह गई।

कंस बोलता जा रहा था—“उसका विनाश!”

कहते हैं, इसके बाद महाराज को प्रद्योत ने अपने हाथों मैरेय पिलाई। फिर उन्हें सुलोचना को सौंपकर शयनकक्ष के बाहर निकल आया।

महामात्य ने शायद अंधक बाहुक को बताया था कि ऐसे अनेक अवसर आए हैं, जब महाराज दिन में ही मैरेय पीकर सो गए हैं।...पर इस बार की उनकी नींद कुछ विचित्र थी।

“आपको कैसे विचित्र लगी?” मेरी जिज्ञासा थी।

उनकी एक मुँह लगी परिचारिका का कहना था कि उस नींद में उन्हें अंतिम नींद दिखाई दे रही थी। संध्या को ज्यों ही वे उठे, उन्होंने प्रद्योत को बुलाया। अभी उनकी तंद्रा टूटी नहीं थी। उनकी व्यग्रता अब भी झूम रही थी।

उन्होंने बड़ी आत्मीयता से प्रद्योत को निकट बैठाया और बड़ी गंभीरता से पूछा, “क्या तुम इस निष्कर्ष पर पहुँच चुके हो कि कन्हैया देवकी का आठवाँ बेटा है?”

प्रद्योत चुप। एकदम चुप। निश्चित रूप से प्रद्योत को अपनी इस चुप्पी में नारद का अट्टहास सुनाई दिया होगा।

□

दूसरे दिन की कोलाहलपूर्ण संध्या। पश्चिमी आकाश पर जैसे लोहिता का रक्त पसर गया हो; क्योंकि हर स्थान पर उसकी मृत्यु और धनुषभंग की ही चर्चा थी।

अब मैं मथुरावासियों से घिरा रहता था। जो कुछ भी प्रासाद में होता था, उसकी गंध तुरंत नगर में फैल जाती थी और उसी संदर्भ में बातें करने लोग मेरे यहाँ पहुँच जाते थे। नियति मुझे कंस के अंतिम छोर पर खड़ा कर मुझसे अभीप्सित करा रही थी।

किस समय कौन सी घटना घट जाएगी, कुछ कहा नहीं जा सकता था। इस समय भी कर्मा अचानक दौड़ता हुआ आया। उसने बताया, “मालिनी को महाराज ने बुलाया है। उसे भेजा जाए या नहीं?”

“राजभवन से बुलावा आया है या महाराज ने बुलाया है?” मैंने पूछा, “समझकर बताना, क्योंकि दोनों में गुणात्मक अंतर है। राजभवन का बुलावा अंगारक का भी हो सकता है।”

“सारथि तो कहता था कि महाराज ने स्मरण किया है।” कर्मा बोला।

सारथि का नाम सुनते ही मैंने पूछा, “क्या राजभवन से रथ आया है?”

उसने सिर हिलाकर स्वीकार किया।

“तब तो महाराज का ही बुलावा हो सकता है।” मैंने कहा और उसे किसी प्रकार के खतरे की आशंका से मुक्त

करते हुए मालिनी को भेज देने की सलाह दी।

बातों के क्रम में ही पता चला कि मालिनी ने ही अपने पिता को भेजा था। अद्भुत था उसका समर्पण। अब वह मेरी सलाह के बिना एक पग भी धरने को तैयार न थी। सारथि और राजकीय परिचर को रोककर उसने मेरी अनुमति चाही थी; जैसे महाराज का आदेश उसके लिए कुछ भी न हो।

सुना है, प्रासाद में प्रवेश करते ही मालिनी को चारों ओर से बधाइयाँ मिलने लगीं—उसके पूर्ण स्वस्थ हो जाने के लिए। किसीको कल्पना भी नहीं थी कि वह पुनः ऐसी हो जाएगी।

यह संयोग ही था कि अंतःपुर में जाने के पूर्व ही अंगारक से उसकी भेंट हो गई। उसकी आग्नेय आँखों ने एक बार उसपर चिनगारियाँ बरसाईं; किंतु शीघ्र ही उसके कुतूहल ने बुझा दी—“अरे! तू यहाँ कैसे?”

“महाराज ने बुलाया है।”

“महाराज ने बुलाया है!” जैसे उसे विश्वास ही न हो।

वह उसे देखता रह गया। कई मौन क्षण खिसकते चले गए। और फिर वह मुसकराकर इठलाती हुई अंतःपुर में चली गई। अंगारक अपने पराजित अहं से उतना परेशान नहीं दिखा जितना उस जिज्ञासा से कि आखिर महाराज ने इसे बुलाया क्यों है?

उधर वह परिचारिकाओं के साथ सीधे महाराज के कक्ष में पहुँची। महाराज भी उसे देखते ही रह गए। ऐसी टकटकी लगी मानो वह सत्य और स्वप्न में अंतर ही न कर पा रहे हों।

अचानक उनके मुख से निकल पड़ा—“सचमुच तू कुब्जा है, त्रिवक्रा है, मालिनी है या देवलोक की कोई अप्सरा!”

अपने सौंदर्य की प्रशंसा सुनना नारी की सबसे बड़ी दुर्बलता है। यह एक ऐसा मंत्र है, जो नारी जैसी नागिन का सारा विष उतार लेता है। शायद इसीलिए कंस के नाम पर सदा फुफकारनेवाली मालिनी अत्यंत विनीत स्वर में बोली, “आप जो भी समझ लें; पर मैं तो हूँ आपकी सेविका ही।”

“तुम हो नहीं, कभी थीं।” मृत्यु की आशंकाएँ बहुधा सारी अहम्मन्यताओं को कुचल डालती हैं। तब मनुष्य एकदम बदल जाता है। इस समय कंस भी मालिनी को बदला लग रहा था। वह कह रहा था—“मैंने ही तुझे राजभवन की चाकरी से मुक्त किया था। और मैंने ही तेरी वृत्ति बंद की थी; पर इसमें मेरा दोष नहीं था।”

“नहीं, महाराज! आपका दोष कैसे हो सकता है!” मालिनी बोली, “दोष तो मेरे भाग्य का है। उस नियति का है, जिसने मुझे कुब्जा बनाकर हर दृष्टि से व्यर्थ कर दिया था।”

“शारीरिक अनुपयुक्तता के लिए ही तुझे वृत्ति दी जाती थी।” कंस ने बताया, “पर कुछ लोगों की शिकायत पर उसे बंद कर दी गई।”

उसका स्पष्ट संकेत अंगारक पर था।

किंतु मालिनी ने कोई प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं की। उसे एकटक देखती कंस की दृष्टि अचानक उसकी सिंदूर भरी माँग पर अटक गई।

“तू धन्य है, मालिनी! जिसने तुझे ठुकराया, विपत्ति में जिसने तुझे अकेला छोड़ दिया, आज भी तू उसकी मंगल कामना करती है।”

कंस के इस कथन का तात्पर्य पहले वह बिल्कुल समझ न पाई। उसकी जिज्ञासा प्रश्नवाचक मुद्रा में खड़ी रही।

“जिस अंगारक ने तुम्हारे लिए इतनी निष्ठुरता बरती, तुम उसीके लिए माँग में सिंदूर लगाती रहीं। सचमुच तू धन्य है, मालिनी!” कंस बोला।

मालिनी कुछ कह नहीं पाई; पर उसे आश्चर्य अवश्य था कि आज महाराज की प्रकृति में इतना परिवर्तन क्यों है? उन्होंने तो यह भी नहीं पूछा कि मेरे स्वास्थ्य के लौट आने का कारण क्या है? निश्चित ही वे यथार्थ से परिचित नहीं हैं। यदि परिचित होते तो मेरे सिंदूर के संबंध में उन्हें भ्रामक धारणा क्यों होती।

मालिनी का अंतर्मथन चलता रहा। उसे अचानक सुनाई पड़ा—

“अच्छा जा, आज से तू राजभवन की सेवा में पुनः रख ली गई।...पर महिषी को तेरी सेवा की बड़ी आवश्यकता है।”

अब तो मालिनी के पैर ही धरती पर नहीं पड़ रहे थे। प्रशंसाओं के फूल जैसे पहाड़ से दबी-दबी वह सीधे अस्ति और प्राप्ति के प्रकोष्ठ में पहुँची।

औरों की तरह दोनों महारानियाँ भी उसे देखकर चकित रह गई—“तुझे देखकर तो ईर्ष्या होती है, मालिनी!” प्राप्ति ने कहा।

“देख! महाराज की दृष्टि पर चढ़ मत जाना, नहीं तो अनर्थ हो जाएगा।” अस्ति ने मालिनी की टुड्डी हिलाते हुए कहा और सभी हँस पड़ीं।

वहीं मालिनी से रुक्मिणी भी मिली। वह अस्ति-प्राप्ति के इस व्यंग्य-विनोद में सम्मिलित होते हुए भी कुछ दूर थी। सबकी हँसी का साथ देना तो दूर रहा, लोगों के अधरों को छूकर निकल जानेवाली मुसकराहट भी उसके ओठों का स्पर्श न कर पाती।...ऐसी ही धीर-गंभीर और कुछ खोई-खोई सी दिखाई पड़ रही थी रुक्मिणी।

एक बार तो अस्ति ने पूछ ही दिया—“आजकल तुम बड़ी गंभीर दिखाई पड़ रही हो?”
रुक्मिणी ने बड़ी योग्यता से स्वयं को छिपाया—“धनुषवाली घटना के बाद तो लगता है कि यहाँ आना ही व्यर्थ हुआ।...हम तो उत्सव में आए थे और अब वही खटाई में पड़ गया।”
“ऐसा क्यों सोचती हो, बहन! मथुरा में तो रोज ही उत्सव होते रहते हैं। अब देखना, अगले दिनों लगातार मल्ल प्रतियोगिता होगी। यदि आवश्यक हुआ तो धनुर्यज्ञ का पुनः आयोजन किया जाएगा।”
“जब धनुष ही नहीं रहा तब धनुर्यज्ञ का क्या आयोजन होगा!”
“दूसरा धनुष बनवाया जाएगा।” प्राप्ति बोली, “महाराज इस विषय में भी सोच रहे हैं।”
“अब दूसरा धनुष कौन बनाएगा? लोहिता तो मारा गया।”

रुक्मिणी का स्वर निराशा से दबा था या घृणा से, कुछ भी कह पाना कठिन था। पर मालिनी को यह समझते देर न लगी कि प्रासाद में भी लोहिता की हत्या के प्रति घृणा की चिनगारियाँ कहीं कोने-अँतरे सुगबुगा रही हैं।

मालिनी के मन की भी विचित्र स्थिति थी। हर व्यक्ति उसके स्वस्थ होने के लिए बधाई दे रहा था; पर कोई नहीं पूछता था कि इस चमत्कार के पीछे किसका हाथ है। उसने कई अवसर निकाले कन्हैया की यशगाथा के लिए; पर उसकी बनाई ऐसी हर स्थिति की उपेक्षा की गई। लगता था कि कन्हैया के संबंध में कुछ कहने के पहले ही प्रासाद की दीवारें अपने कानों पर हाथ रख लेती हैं।

एक अवसर तो ऐसा आया, जब अंतःपुर के प्रांगण से गुजरते हुए मालिनी ने रुक्मिणी को देखा। वह चुपचाप खड़ी कुछ सोच रही थी। उसने मालिनी को संकेत से अपने पास बुलाया।

“तुम अंगारक की पत्नी हो न?” रुक्मिणी ने पूछा।

अब मालिनी क्या उत्तर देती। “आपका तात्पर्य क्या है?” उसने पूछा।

“तुम मेरी एक सहायता कर सकती हो।” रुक्मिणी कह तो गई, पर उसे लगा जैसे वह कोई भूल कर रही है। उसने तुरंत बात बदल दी—“मेरी सहायता नहीं वरन् किसी दूसरे की।”

“यह तो समस्या की गंभीरता और अपनी सामर्थ्य पर निर्भर करता है कि मैं क्या कर सकती हूँ!”

“समस्या गंभीर है। किसीके जीवन-मरण का प्रश्न है। और मुझे तुम्हारे सामर्थ्य पर विश्वास है।” रुक्मिणी ने कहा। मालिनी के विस्तार से पूछने पर रुक्मिणी ने बताया—“तुम्हारा पति यदि चाहे तो एक जीवन की रक्षा हो सकती है।”

“आखिर कैसे?”

“तुम्हारे पति के माध्यम से कुवलयापीड नामक एक राक्षस की व्यवस्था महाराज ने उसकी हत्या के लिए कराई है।”

“कौन है वह अभागा?”

“तुमने कन्हैया को देखा है?” रुक्मिणी ने चारों तरफ दृष्टि दौड़ाई, कोई देख तो नहीं रहा है—“कन्हैया है बहुत अच्छा। कितना सुंदर है! कितना बलिष्ठ है! पर कल उसके मार डालने की योजना बना ली गई है।”

इसी समय बगल से फरफराती हुई एक परिचारिका निकली। चोर का जी आधा। रुक्मिणी एकदम चुप हो गई।

मालिनी सोचती रह गई। उसे कन्हैया की ओर रुक्मिणी का यह आकर्षण अच्छा नहीं लगा; क्योंकि नारी सबकुछ सह सकती है, पर अपने प्रेम का विभाजन नहीं सह सकती। मालिनी को लगा कि उससे कोई उसके कन्हैया को बाँट रहा है।

शीघ्र ही मालिनी का मन बोल उठा, ‘कन्हैया जब तक रहेगा, बाँटा जाता रहेगा; पर सबकुछ जाने से तो अच्छा

है, आधे को ही बचा लेना।’

उसने तुरंत रुक्मिणी से कहा, “यदि अंगारक द्वारा कुछ संभव हो सकेगा तो आप विश्वास कीजिए, मैं अवश्य करूँगी।”

वचन लेकर रुक्मिणी ऐसे आगे बढ़ गई जैसे मालिनी से न कभी उसका वास्ता था और न है।

□

मालिनी उस समय विचित्र स्थिति में थी। वह उस बिंदु पर थी, जिससे कई रास्ते फूटते थे; पर सभी आशंकाओं से भरे हुए। पर वे उसे कहाँ ले जाएँगे, इसका भी उसे पता नहीं। अनिश्चय के उस अँधेरे में बस एक ही निश्चय वह पकड़ पाई थी कि कल कुछ होगा अवश्य—और वह भी उसके कन्हैया के विरुद्ध।

वह बड़ी ऊहापोहात्मक स्थिति में थी। कैसा है कुवल्यापीड राक्षस? सचमुच बड़ा भयंकर और दुर्दांत है? क्या कन्हैया को समाप्त कर देगा?...नहीं-नहीं, ऐसा नहीं होगा। अभी तक सारे राक्षस जो भी कृष्ण के पास भेजे गए, वे सभी मारे गए। तब उसकी भी वही स्थिति होगी; क्योंकि नारद की भविष्यवाणी झूठी नहीं हो सकती।

किंतु मैं मालिनी के लिए मात्र देवकी का आठवाँ बेटा ही नहीं था वरन् वह था, जिसे वह सबकुछ समर्पित कर चुकी है। मेरे अभाव में उसके लिए संसार सूना हो जाएगा। पहले तो उसने सोचा कि मुझे वस्तुस्थिति से अवगत करा दे; पर इसकी गुंजाइश नहीं थी। समय बहुत कम था। उसने बहुत सोच-समझकर अपने ढंग से रास्ता निकाला। वह अंगारक से मिली। कुँए को प्यासे के पास आया देखकर अंगारक चकित भी हुआ और प्रसन्न भी। उसने बड़ी आत्मीयता से उसका स्वागत किया। फिर भी मालिनी उसे प्रसन्न नहीं दिखी। भीतर से तो वह आशंकाओं में डूबती चली जा रही थी।

“मैं तुम्हें सावधान करने आई हूँ।” मालिनी ने उसे औरों से दूर हटकर कहा।

“किस बात के लिए?”

“तुम्हारा अंत निकट है; क्योंकि तुम राक्षस का साथ करने लगे हो।” मालिनी बोली, “क्योंकि अब तक किसी भी राक्षस को कन्हैया ने जीवित नहीं छोड़ा। जिसने भी उसके अहित की कुचेष्टा की, उसे उसने सीधे यमलोक पहुँचा दिया। अब लगता है कि नियति भी तुम्हारे साथ कुछ ऐसा ही करना चाहती है।”

“मैं कुछ समझ नहीं पा रहा हूँ, मालिनी, कि तुम कहना क्या चाहती हो?”

“सुना है, तुम्हारे माध्यम से कंस ने किसी कुवल्यापीड नामक राक्षस को ठीक किया है, कन्हैया की हत्या करने के लिए?”

“कुवल्यापीड राक्षस!” अंगारक जोर से हँसा।

मालिनी उसका मुँह देखती रह गई।

“यह तुमसे किसने कहा?” अंगारक ने पूछा।

“किसीने भी कहा हो, पर क्या यह झूठ है?” मालिनी और अधिक गंभीर हुई। “देखो, तुम मेरे पति रहे हो। तुम्हारे रोम-रोम से मैं परिचित हूँ। देखो, कुछ छिपाने की चेष्टा मत करना। निश्चित ही उससे तुम्हारा अहित हो जाएगा।”

मालिनी के कथन पर इस बार फिर अंगारक को हँसी आ गई।

“तुम्हारा पति था, क्या अब नहीं हूँ?”

“नहीं, बिल्कुल नहीं।”

“तब तुम मेरे यहाँ क्यों आई हो?” अंगारक ने मुसकराते हुए पूछा।

“इसलिए कि अब भी मैं तुम्हारा अहित नहीं चाहती।”

“वरन् इसलिए कि तुम अपने नए स्वामी का हित चाहती हो।” अंगारक की आवाज में कुटिलता थी।

“कौन स्वामी, किसका स्वामी?” मालिनी कुछ जानकर भी अनजान बन गई।

“अरे, वही कहैया!” अंगारक के अधरों पर मुसकान उग आई।

“तुम कैसी बातें करते हो जी!” मालिनी की नाटकीयता एकदम फनफना उठी—“वह मेरा ही नहीं जगत् का स्वामी है। कहते हैं, एक पत्ता भी उसकी इच्छा के बिना नहीं खड़कता।”

“इसका तात्पर्य यह है कि इस समय मथुरा में जो हो रहा है, वह भी उसकी इच्छा है?”

“निश्चय ही।”

“तुम्हारा अस्वस्थ होना भी उसीकी इच्छा का परिणाम था?”

“आप ऐसा ही समझें।”

“और तुम्हारा स्वस्थ होना?”

“वह भी उसके आशीर्वाद का फल है।” मालिनी की आकृति पर गर्व की ललाई दौड़ गई।

“इसका मतलब है कि तुम्हारा तथाकथित स्वामी बड़ा धोखेबाज है।” अंगारक बोला, “तुम्हें मुझसे छीनने के लिए बीमार भी किया और पा जाने के लिए अच्छा भी।”

“मनुष्य जैसा होता है, वह दूसरों को वैसा ही देखता है।” मालिनी की आवाज थोड़ी तेज हुई—“तुम बदले नहीं जा सके, अंगारक।”

“अंगारक!” अंगारक को स्वयं अपने प्रति किए गए अपनी पत्नी के इस संबोधन पर आश्चर्य था। पर मालिनी ने तुरंत कहा, “मुँह क्या देखते हो! अब तुम मेरे लिए अंगारक के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो।...और अभी ‘तुम’ हो, फिर शायद वह भी नहीं।” इतना कहते-कहते मालिनी का गला रुँध गया। उसकी आँखों में आँसू आ गए। आँसू नारी के लिए अस्त्र भी हैं और ढाल भी। इस समय मालिनी ने अपने आँसुओं से दोनों काम लिया।

“क्यों चुप हो गई? बोलो, क्या बात है?” अंगारक ने थोड़ी सतर्कता दिखाई।

“चाहे मेरे पति थे या अंगारक हो। तुमसे मेरा कोई-न-कोई संबंध तो है ही।” उसकी ध्वनि में पुनः नाटकीयता से भरा भारीपन आया—“पर अब नहीं रहेगा।”

“क्यों?”

“क्योंकि तुमने किसी ऐसे राक्षस से संबंध स्थापित कर लिया है, जिसका वध होने वाला है और उसके साथ तुम्हारा भी।”

“राक्षस से!” अंगारक समझ गया। वह फिर हँसा।

“तुम उस कुवलयपीड राक्षस से संबंध तोड़ लो, अन्यथा मारे जाओगे।” उसने आशंका पुनः दोहराई।

अंगारक जोर से हँसा और हँसता गया मालिनी के अज्ञान पर। वह भी ऐसी हँसी, जिसे वह रोक नहीं पा रहा था। मालिनी उसका मुँह देखती रही और बोली, “क्या बात है, जो तुम इतना हँस रहे हो?”

“इसलिए हँस रहा हूँ कि तुम कुवलयपीड की हस्ती को चुनौती दे रही हो। सचमुच वह एक हस्ती है।”

मालिनी अब भी यथार्थ समझ नहीं पाई—“क्या परिहास कर रहे हो?”

“विश्वास करो! कुवलयपीड हस्ती है। वह राक्षस नहीं है।” वह मालिनी के अज्ञान पर पुनः हँसने लगा—“और तुम्हारी कही सारी बातें ठीक हैं।”

अब और पहेली न बुझाकर अंगारक ने सारा यथार्थ बता दिया, “तुम्हीं समझो, मैं हस्तिपाल हूँ, तो मेरी देखरेख में हाथी रहेगा या राक्षस! तुम भी पता नहीं कहाँ-कहाँ से कैसी-कैसी सूचनाएँ लेकर आती हो!...सुना है, भगवान् की

जब तीन-चौथाई बुद्धि मनुष्यों के निर्माण में खर्च हो चुकी थी, तब उसने तुम नारियों का निर्माण किया।” इतना कहते-कहते उसने प्रेम की एक चपत मालिनी के गाल पर लगा दी।

यद्यपि मालिनी को यह स्वीकार्य नहीं था, फिर भी वह अंगारक की दुर्बलता जानती थी और उससे लाभ उठाना चाहती थी। उसने बड़े भोलेपन से पूछा, “वह हाथी है कैसा?”

“एकदम राक्षस!” अंगारक बोला, “जब उसे मदिरापान कराकर क्रुद्ध कर बड़े-बड़े शक्तिशालियों के बीच छोड़ दिया जाता है, तब वह उन्हें चीरकर टुकड़े-टुकड़े कर देता है।”

भयभीत न होते हुए भी मालिनी की आकृति की ललाई दौड़ गई।

“तब क्या होगा?” उसके मुख से निकल पड़ा।

“तुम तो कहती हो कि कन्हैया का कोई कुछ बिगाड़ नहीं सकता।”

“मैं कन्हैया के लिए चिंतित नहीं हूँ। मैं तो चिंतित हूँ तुम्हारे लिए।” मालिनी बात बनाने में इतनी चतुर है, इसकी कल्पना मुझे नहीं थी। उसने पक्के कूटनीतिज्ञ की तरह अंगारक के मस्तिष्क पर छाना आरंभ किया—“जानते हो, यह काम तुमपर क्यों छोड़ा गया?”

“क्योंकि महाराज मुझपर विश्वास करते हैं।” अंगारक बोला।

मालिनी हँसी—“नहीं, क्योंकि महाराज तुमपर विश्वास नहीं करते। इसीसे वे एक तीर से दो आखेट करना चाहते हैं। यदि तुम मारे गए तो तुम्हारा मागधी प्रतिद्वंद्वी हस्तिपाल हो जाएगा।” क्षण भर रुकने के बाद उसने पुनः कहा, “यदि स्थिति इतनी खतरनाक न होती तो यह काम उसीको सौंपा जाता।”

अंगारक के चिंतन पर मालिनी का तर्क छा गया। वह सोचने लगा।

“तुम ठीक कहती हो, मालिनी!” वह बोला, “आखिर कुलिक को मेरे समानांतर अधिकारी बनाया गया है, तब यह कार्य उसे क्यों नहीं सौंपा गया, या मेरे साथ ही उसे लगा दिया गया होता। अवश्य ही इसमें कोई रहस्य है।” बड़बड़ाते हुए उसने मालिनी से पूछा, “तो क्या करूँ? मैं भी रुग्णता का बहाना करके पड़ा रह जाऊँ?”

मालिनी के मन ने कहा, ‘इससे लाभ क्या होगा? यदि कुलिक को यह कार्य दिया गया, तब तो हाथ में आई स्थिति की रही-सही अनुकूलता भी खिसक जाएगी।’ अब उसने अंगारक के पौरुष को ललकारा—“सोचने लगे न कायरों जैसी बातें! अरे पुरुष हो, पुरुषार्थ की बात सोचो। कुछ ऐसा कर दिखाओ कि महाराज भी सोचें कि मेरा हस्तिपाल भी राजनीति की गोटियाँ बिछाना जानता है।”

“तब मैं क्या कर सकता हूँ?” अंगारक पुनः सोच में डूब गया।

डूबते को डुबाना बड़ा आसान होता है। किंतु इस समय अंगारक के चिंतन की बाँह मालिनी के हाथ में थी। वह डुबा भी सकती थी और उबार भी सकती थी। शीघ्र ही उसने अंगारक के चिंतन को एक झटका और दिया—“कुवल्यापीड तो मारा ही जाएगा, तब क्यों नहीं तुम भी उसकी हत्या में भागीदार बनते? कंस का पक्ष छोड़कर कन्हैया का पक्ष धरते?”

“तब क्या मैं कुवल्यापीड को स्वयं मार डालूँ?” अंगारक बोला, “तब शायद मैं उसकी मृत्यु के पहले ही यमराज का प्रिय बना दिया जाऊँ।”

कुछ क्षण इस सोच में बीत गए। सन्नाटा उनके चिंतन पर रेंगता चला गया। ऐसा लगा जैसे वे अँधेरे में कुछ खोज रहे हों। शीघ्र ही अंगारक के हाथ एक युक्ति लगी।

“एक काम हो सकता है।” वह बोला। फिर उसने चारों ओर देखा, कहीं कोई सुन तो नहीं रहा है। फिर भी उसने सावधानी बरती। मालिनी को संकेत से अपने पास बुलाया और उसके कान में धीरे से कुछ कहा। फिर बोला, “पर

कार्य कठिन है।”

“उस घास को तो मैं भी जानती हूँ और शायद मेरे पिताजी भी।” मालिनी ने बताया।

“उसे जानना कठिन नहीं है; पर उसे यहाँ तक लाना कठिन है।” अंगारक ने कहा, “एक काम हो सकता है। तुम अपने पिता से कहो कि हस्तिशाला के पिछले फाटक के लघुद्वार की साँकल आज रात बंद नहीं रहेगी। यदि वे उस घास के दो बोझ उधर से चुपचाप पहुँचा दें तो काम बन सकता है। पर किसीको कानोंकान खबर न हो।”

“ऐसा ही होगा।” मालिनी बोली, “तुम उसे खिलाओगे या क्या करोगे? ऐसा न हो कि प्रातः होते-होते उसका प्राणांत हो जाए!”

“तब तो मेरा भी प्राणांत ही समझो।” अंगारक बोला। फिर एक कुटिल मुसकराहट उसके अधरों के बीच दौड़ी —“अंगारक कच्ची गोटियाँ नहीं खेलता। जानती हो, इस गुल्म का प्रभाव हाथी के नेत्रों पर पहले पड़ता है। उसे हर वस्तु दो-दो दिखाई देती हैं और फिर वह अंधा हो जाता है।...मुझे तो उसे थोड़ा सा खिलाना है; क्योंकि मंडप में ले जाने के पहले उसे मदिरा भी पिलानी है।

मालिनी अंगारक की युक्ति पर मुसकराई और मुसकराती रही।

“क्या सोच रही हो, मालिनी?” अंगारक ने पूछा।

“सोच रही हूँ कि तुम कभी तो इतने होशियार नहीं थे।” और वह फिर खिलखिला पड़ी—“जानते हो, यह तुम्हारा बुद्धि-कौशल भी उसीकी कृपा का परिणाम है।”

“सोचूँ मैं और कृपा उसकी हो!” अंगारक ने कहा, “तुम भी धन्य हो!”

“चाहे धन्य कहो या और कुछ, सत्य यही है।” मालिनी बोली, “इसे हमेशा याद रखो, जैसी बुद्धि होती है वैसी भवितव्यता नहीं होती, वरन् जैसी भवितव्यता होती है वैसी बुद्धि हो जाती है। लगता है, भवितव्यता ही हमसे वह कराना चाहती है, जिसके योग्य हम नहीं हैं।”

मालिनी का यह संक्षिप्त प्रवचन अंगारक के उस अहंकार को कुचल देने के लिए था, जिसको विश्वास हो चला था कि वह मेरा (कन्हैया का) सहायक बनने जा रहा है—तारणहार का सहायक!

□

अगला प्रातः बड़ा कोलाहलपूर्ण था। आज नंदजी के साथ ही गोकुल से और लोग भी पधारे थे। यों अपने क्षेत्र की आय का छठा हिस्सा कंस को भेंट देने के लिए वे छकड़ों पर लादकर पहले ही भेज चुके थे। अब मथुरोत्सव का अंतिम पक्ष था। उनका आना नियमानुसार था और आवश्यक भी।...वे अपनी रुग्णता का बहाना बनाकर केवल भेंट भेजकर काम चला सकते थे। पिछले कई वर्षों से उन्होंने ऐसा ही किया था। पर पता नहीं क्यों, दो दिनों से उनके हृदय की धड़कन बढ़ गई थी। रह-रहकर विचित्र आशंकाएँ उनके मन में उठने लगी थीं।

शायद इसीसे जिन्होंने बहुत दिनों से मथुरा की जमीन पर पैर नहीं रखा था, आज वे भी पधारे थे। उनमें वसुदेव और देवकी विशेष उल्लेख्य हैं। अन्य ऐसे अनेक बड़े-बूढ़े लोग भी राजपथ पर देखे गए, जिनका दर्शन मथुरा शायद ही कभी कर पाती थी।

यमुना पार होते ही गर्गाचार्य ने उनकी अगवानी की और उन्हें सीधे अक्रूर चाचा के यहाँ ले आए।

“क्यों? हम सीधे राजभवन में ही क्यों न चलें?” नंदजी ने जिज्ञासा की।

“चलने को तो हम चल सकते हैं, पर समय के पूर्व चलना क्या उचित होगा?” इस कथन से अधिक आचार्यजी की रहस्यमय मुसकराहट ने इस प्रस्ताव पर रोक लगा दी।

अक्रूर चाचा ने सबका यथोचित सम्मान किया।...और जब मैंने नंदजी एवं पिताजी का सम्मान किया, तब दोनों

गद्गद हो उठे। पिता वसुदेव तो छाती से लगाए बहुत देर तक मेरा सिर सूँघते रहे; मानो वह मुझे आशीर्वाद ही नहीं दे रहे हों, मेरे इतिहास की गंध भी ले रहे हों और भविष्य भी टटोल रहे हों।

मामा देवक की आत्मीयता भी अपूर्व लगी। उन्हें मैं किसी द्वीप से चलकर सागर में डूबता-उतराता, उत्ताल तरंगाघात सहता एक ऐसा व्यक्ति लगा, जो न तो थका है और न हारा है; जिसमें अभी भी अपरिमित ऊर्जा शेष है। पर जब मैंने नंदजी का चरण स्पर्श किया तो उन्होंने भी मुझे उठाकर वक्ष से लगा तो लिया, पर वे आँखों-आँखों में ही मुसकराए—‘आजकल बड़ी शरारत कर रहे हो!’

उस कुटिल मुसकराहट ने मुझे भीतर तक छेद दिया। नंदजी कभी ऐसा मेरे प्रति नहीं कहते। क्या बात हो गई? यहाँ की घटनाओं की जानकारी तो उन्हें होगी ही; पर वह मेरी शरारत तो नहीं थी—मेरा शौर्य था, पराक्रम था। छंदक की बोई हुई चिनगारियों को काटने का प्रयास था। तब उन्होंने ऐसा क्यों कहा?

मैं सोच ही रहा था कि वे बोल उठे, “गोपियाँ बहुत परेशान हैं। राधा ने तो ऐसी-ऐसी बातें कही हैं कि क्या बताऊँ!”

अब मैं समझ गया। यह सारा मामला कुब्जा के संदर्भ को लेकर है। मैं उस समय वहाँ से चुपचाप हट गया। पर मैं बाद में सोचने लगा कि मैं किसीसे प्रेम करने का अधिकार कैसे छीन सकता हूँ? यदि गोपियों को मुझसे प्रेम करने का अधिकार है तो क्या वह अधिकार कुब्जा को नहीं है? फिर मैंने गोपियों के अधिकार को कम तो नहीं किया।

‘पर प्रेम कोई वस्तु नहीं है, जिसे तोड़कर थोड़ा-थोड़ा सबको बाँटते फिरो। प्रेम तो समर्पण है। प्रेम दीपक नहीं, पतंगा है। जलते तो दोनों हैं। किंतु दीपक बार-बार जलता है, बार-बार बुझता है। बुझकर भी जलता है। पर पतंगा एक बार जल जाने के बाद फिर नहीं जलता।’ मुझे लगा, यह मेरा मन नहीं, मेरे भीतर बैठी राधा बोल रही है।

मैं कुछ इसी मानसिकता में उपवन की ओर निकल गया; क्योंकि लता प्रकोष्ठ में या गुल्मों के बीच जाने पर मेरा अंतर्मथन थोड़ा स्थिर हो जाता था। वहीं मुझे व्रजवासी एक छोकरा मिला, जिसकी आकृति तो जानी-पहचानी थी, पर जिसका नाम याद नहीं आ रहा था।

उसने एक पत्र मुझे देते हुए कहा, “इसे पढ़िएगा अवश्य।”

“तुम कैसे विश्वास करते हो कि मैं इसे नहीं पढ़ूँगा?”

“क्योंकि गोपियों का कहना है कि आपने उनका एक भी पत्र नहीं पढ़ा है।”

“यह वे कैसे कह सकती हैं?”

“इसलिए कि यदि आपने पढ़ा होता तो आप उनका उत्तर देते। इतने पत्र उन्होंने लिखे, यदि उन्हें आप कुँ में भी डालते गए हों, तो भी कुँ पट गए होंगे। एक का भी उत्तर नहीं। उनके मनों में तरह-तरह की शंकाएँ पैदा हो रही हैं।”

अब मुझे वह सारा परिवेश गोपियों की आँखों में बदलता दिखाई दिया। एक नहीं, दो नहीं, हजारों आँखों से मैं घिर गया था। हजारों शंकाकुल आँखें मुझे घूर रही थीं।

लगता है, उस छोकरे ने मेरी मानसिकता का अनुमान लगा लिया। उसका कहना था, “यदि आपने उन पत्रों को पढ़ा होता तो इतने निष्ठुर न होते।”

मैं चुप रह गया।

“आप इस पत्र को अवश्य पढ़िएगा। यह मात्र राधा का ही पत्र नहीं है वरन् समस्त गोपियों का समवेत पत्र है। अब तक भेजे गए पत्रों में यह उनका सबसे छोटा पत्र है और इसे उन्होंने भोजपत्र पर अपने रक्त से लिखा है।”

मैंने उसके सामने ही उस भोजपत्र को खोलकर पढ़ना शुरू किया। उसमें लिखा था—‘चकोरी के लिए तो एक ही चंद्रमा होता है, पर चंद्रमा के लिए तो बहुत सारी चकोरियाँ हैं। आँचल में अपने चंद्रमा को छिपाकर उसे औरों से अलग करने का हमें क्या अधिकार है? आप जहाँ रहें, जैसे रहें, पर सकुशल रहें। आप मेरे स्नेहाकाश में चमकते रहें। हम आपको स्मृति का अर्घ्य चढ़ाते रहेंगे।’ इतने कम शब्दों में इतना प्रभावशाली पत्र राधा कभी लिख सकेगी, यह मेरे विश्वास से परे था।

मेरी दृष्टि के समक्ष एक के बाद कई दृश्य आने लगे। गोकुल गाँव, यमुना का किनारा, करील की कुंजें और फिर रास-विलास। मेरा मन उन्हींमें डूबता चला गया कि अचानक मुझे भीतर से बुलाया गया—“उत्सव में चलने की तैयारी करोगे कि प्रातः वायु का सेवन ही करते रह जाओगे?”

मैं अब यथार्थ के धरातल पर आया। दिन एक घड़ी चढ़ आया था। नंदजी अपने विशेष उपहार लेकर महाराज से मिलने के लिए प्रस्थान कर चुके थे। पर गार्गाचार्य, वसुदेव और देवक अभी बैठे ही थे। भैया की भी पूजा समाप्त हो चुकी थी। वे मुझे अब तक तैयार न होने के लिए कोस रहे थे।

पर मुझमें किसी प्रकार की उद्विग्नता नहीं थी। मल्लयुद्ध होगा। इसमें मुझे क्या करना है? अद्भुत है कि उस दिन मुझे किसी प्रकार के षड्यंत्र की गंध भी नहीं लगने दी गई थी। यह अवश्य पता चला कि अपने पिता के साथ मालिनी आई थी। उस समय मेरे पिता और चाचा आदि गंभीर मंत्रणा में थे। वह चुपचाप लौटा दी गई।

इस बार पुनः तीन राजकीय रथ आए थे। दो पर आचार्यजी, पिताजी और देवक, यहाँ तक कि अक्रूर चाचा भी चले गए थे। एक रथ हमारे लिए छोड़ दिया गया था।

जब मैं चलने के लिए तैयार हो रहा था तभी भैया मेरे कक्ष में आए और धीरे से बोले, “पूरी तैयारी से चलना, कुछ भी हो सकता है।”

“यह आपको कैसे मालूम?”

“आज प्रातः भ्रमण के समय नगर का अप्रत्याशित सन्नाटा कुछ ऐसा ही कह रहा था।” भैया कहते जा रहे थे, “भीड़भाड़ तो काफी थी, पर हर मुँह जैसे सिला हुआ था। एक आतंक भरी चुप्पी पूरे नगर पर छाई है। वातावरण को जैसे लकवा मार गया है।”

यों तो राजभवन में सदैव तैयारी से ही जाता था। पर भैया का सचेत करना कोई अर्थ रखता है। उनके जैसा सहज स्वभावी व्यक्ति बड़ी कठिनाई से कहीं आशंका देख पाता है। इसका परिणाम यह हुआ कि मेरी सारी मानसिकता युद्धक हो गई।

पूरी तैयारी के बाद जब मैं रथ पर चढ़ने के लिए बाहर आया, तब मैंने देखा कि छंदक और बूढ़ा बाहुक दोनों खड़े हैं।

छंदक ने मुझे देखते ही पूछा, “यदि अनुमति हो तो हम दोनों इसी रथ पर चले चलें।”

पहले तो मैं झिझका, क्योंकि दोनों महाराज के घोषित विरोधी थे। भैया बोल ही पड़े—“क्यों? आप किसी दूसरे वाहन से नहीं जा सकते क्या?”

“हमारे लिए उस मंडप में जाना वर्जित घोषित कर दिया गया है।” अपनी लकुटी को कुछ और जोर से दबाते हुए बूढ़े बाहुक की क्रोध में डूबी आवाज कुछ विशेष ढंग से भर्राई।

अब मेरे कान खड़े हुए। मैंने तत्काल जानना चाहा—“यह वर्जना आप ही लोगों के लिए है कि औरों के लिए भी?”

“औरों के लिए भी है।” बूढ़ा पुनः बोला, “राजभवन ने जिन्हें अपना विरोधी समझा, उन सबके लिए प्रवेश बंद

कर दिया।”

“तब तो वे प्रवेश नहीं कर पाए होंगे?”

“नहीं, ऐसा नहीं है। लुक-छिपकर, वेश बदलकर लगभग सभी वहाँ पहुँच चुके हैं।”

“पर आप नहीं पहुँच पाए?” भैया बोले। मुझे लगा कि उन्हें ऐसा नहीं कहना चाहिए। यह भी उनकी सहजता का ही परिणाम था। फिर वे बोल पड़े—“जब वे आपको अपना विरोधी समझते हैं, तब मैं कैसे आपको ले चलूँ?”

“तो क्या वे हमें अपना हितैषी समझते हैं?” अब मुझसे नहीं रहा गया।

भैया भी मेरी बात सुनकर चुप हो गए।

“आप लोग मेरे रथ पर बैठिए।” मैंने कहा, “आखिर हममें और आपमें अंतर क्या है!”

“अंतर तो बहुत है, प्रभु!” बाहुक बोला।

“केवल शरीरयष्टि का। इस शरीर से परे जो कुछ है, उसमें अंतर नहीं होता।” आज मुझे लगता है कि उस समय मैं नहीं, ‘गीता’ का कृष्ण बोला था।

हम लोग जब प्रासाद द्वार पर पहुँचे तो वहाँ भी सुरक्षा व्यवस्था देखकर चकित रह गए। इतनी संख्या में मागधी सैनिक वहाँ खड़े मिलेंगे, इसकी कल्पना भी नहीं थी। लग रहा था, किसी युद्धस्थल पर पहुँच गया हूँ।

छंदक और बाहुक की उपस्थिति के कारण मेरा रथ रोक दिया गया।

“ये दोनों महानुभाव नहीं जा सकते।”

“यदि ये नहीं जाएँगे तो हम भी नहीं जाएँगे।” भैया बोले।

“पर इनका प्रवेश राजाज्ञा से वर्जित है।” प्रधान प्रहरी ने कहा।

“इनके बिना हमारा प्रवेश स्वेच्छा से वर्जित होगा।” भैया ने पुनः कहा।

मैं चुप बैठा और मुसकराता रहा।

“पर आप तो राजकीय अतिथि हैं।”

“और ये मेरे अतिथि हैं।”

अब प्रधान प्रहरी बड़ा असमंजस में पड़ा। उसने मेरी ओर देखा। मैं अब भी मुसकरा रहा था। अनर्गल उगाई मुसकराहट रहस्यमय न होते हुए भी बड़ी रहस्यमय लगती है। वह प्रहरी भी उसी रहस्य में उलझ गया। हमें वहीं रोककर वह भीतर सूचना देने गया।

थोड़ी देर बाद ही मैंने देखा कि महामात्य के साथ पूरा अमात्य मंडल चला आ रहा है।

प्रद्योत चुपचाप आकर खड़ा हो गया। विचित्र स्थिति थी। वह हम लोगों को देख रहा था, हम उसे देख रहे थे।...और यह मूकता पसरते-पसरते पूरे वातावरण पर छा गई।

अंत में प्रद्योत ने हाथ जोड़कर बाहुक और छंदक को संबोधित करते हुए कहा, “यदि आप लोग प्रवेश न करते तो बड़ी कृपा होती।”

“यदि हमें भी न बुलाया गया होता तो बड़ी कृपा होती।” भैया बोले और एकदम चुप हो गए।

संक्षिप्त अंतराल के बाद छंदक ने बड़ी बुद्धिमानी की बात कही, “हमें महामात्य की बात मानकर बाहर ही रह जाना चाहिए; क्योंकि यदि भीतर कुछ हुआ तो सारा अपयश हमीं लोगों के मत्थे मढ़ा जाएगा।...और कुछ-न-कुछ होगा अवश्य, यह निश्चित है।”

छंदक इतने विश्वास से बोला कि सारे मागधी सैनिक भौंचक्के रह गए। उनमें से एक ने पूछा, “यह आप कैसे कह सकते हैं?”

“क्योंकि नारद ने कहा है।”

“नारद ने जब कहा था, तब कहा था।”

“ऋषियों की वाणी कभी बासी नहीं होती, युवक!” फिर बड़े कुटिल ढंग से हँसते हुए बोला, “अभी वह कल भी ताजा थी।”

इस रहस्यमय वाक्य का विलक्षण संदर्भ बैठा।

“तो क्या कल भी नारद पधारे थे?”

छंदक केवल हँसता रहा। संदेह तो उसने बिखेर ही दिया था। धारा फैलने लगी—‘सुना, कल भी नारद पधारे थे।...सुना, कल भी नारद पधारे थे। सुना...’ बात एक मुँह से धीरे-धीरे हजार मुँह की होती चली गई।...और फिर यही ध्वनि तथा प्रतिध्वनि पूरी रंगशाला में गूँजने लगी।

संशय की गहनता ने लोगों की दृष्टि पर नया रंग चढ़ाया। उन्हें अब हम कुछ और ही दिखाई दे रहे थे। अब किसमें साहस था, जो हमें रोकता। हमारा रथ प्रासाद में प्रवेश पा गया था।

रथ छोड़कर अब हम रंगशाला की ओर बढ़ रहे थे। द्वार से ही हमने देखा कि एक विशालकाय हाथी झूम रहा है। उसका महावत उसे नियंत्रित करने के लिए उसके मस्तक पर निरंतर अंकुश प्रहार कर रहा है; पर वह नियंत्रण के बाहर है।

मुझे देखते ही चाणूर महावत को संबोधित करते हुए चिल्लाया, “उतर जाओ ऊपर से।”

महावत ने तुरंत आज्ञा-पालन की चेष्टा की। पर उतरने में उसे सफलता नहीं मिल रही थी। जहाँ वह उतरने के लिए नीचे की ओर झुकता, हाथी हिरणी की तरह कुलाँचे भरने लगता। बड़ी विचित्र स्थिति में फँस गया था महावत।

हम सब बड़े ध्यान से देख रहे थे। तब तक चाणूर पुनः गरजा—“अरे दुष्ट, उतरता क्यों नहीं है? देख नहीं रहा कि कुवलयापीड को नियंत्रित करनेवाला आ गया है।”

इस गर्जना के बाद ही वह महावत कूद पड़ा या उस हाथी ने उसे उठाकर पटक दिया, यह मैं ठीक से नहीं कह सकता हूँ; पर इतना निश्चित था कि अब महावत उठने की स्थिति में नहीं था। उसके कटि प्रदेश की कई हड्डियों का कचूमर निकल गया था। छह-सात परिचरों ने एक साथ उसे उठाकर वहाँ से हटाया।

तब चाणूर मेरी ओर संकेत करके बोला, “आप तो हस्ति की सवारी का कौशल जानते हैं। हम चाहते हैं कि आप इसे भी नियंत्रित करें।”

मैं चुपचाप स्थिति को परख रहा था।

“लगता है, हाथी पागल है या इसे बहुत अधिक मदिरा पिला दी गई है।” छंदक ने धीरे से बूढ़े बाहुक से कहा।

“लगता है कि कोई भयंकर षड्यंत्र है।” नितांत शांत लगनेवाले बाहुक की यह प्रतिक्रिया व्यग्रता से भरी थी।

“आखिर क्या सोच रहे हैं आप?” कंस के दूसरे मल्ल मुष्टिक ने व्यंग्य किया—“यदि डर लग रहा हो तो जाने दीजिए। लगता है, ब्रज में हस्तिन् को नियंत्रित करनेवाली बात झूठी थी।”

“झूठी नहीं, सत्य है।” छंदक बोला, “पर वह तो नाम का ही हस्तिन् था, पर था तो साँड़।”

“हो सकता है, तुम्हारा कन्हैया भी नाम का ही शौर्यवान् हो।” शल के इस व्यंग्य पर कंस के मल्लों में गंभीर अट्टहास हुआ।

इससे भी चुभती बात कूट ने कही, “लगता है, कन्हैया की जिह्वा पर दही जमी हुई है। इसीसे उसकी ओर से छंदक को बोलना पड़ रहा है।”

इस बार अट्टहास का घनत्व पहले से अधिक था। यह सब मुझे हताश करने के लिए किया जा रहा था; पर परिणाम उलटा हो रहा था। मुझे लग रहा था कि मुझे भरी सभा में चुनौती दी जा रही है। मेरा अहं फनफना उठा था।

मैंने एक बनावटी मुसकराहट पुनः अपने अधरों पर उगाई और उन मल्लों के अभिमान पर धूल उड़ते हुए बोला, “मैं इसलिए चुप था कि देख रहा था कि यह जानवर अधिक मतवाला है या मामाजी के पालतू हाथी!”

मेरा स्पष्ट संकेत कंस के मल्लों की ओर था।

मेरे इतना कहते ही एक सनसनाती-सी बिजली उस रंगशाला में दौड़ गई। मैंने चारों ओर देखा। हर दृष्टि में कुतूहल था, संशय था, व्यग्रता थी। कुछ होने जा रहा है, इसकी व्यग्रता थी। सभी लोग मुझे एकटक निहार रहे थे।

इसी ऊहापोहात्मक स्थिति में मुझे दिखाई दिया कि अंगारक छंदक को कुछ संकेत कर रहा है। अब मेरी दृष्टि उधर भी गई, जिधर महिलाएँ बैठी थीं। ‘अरे, यहाँ तो माँ देवकी भी है। कैसे कंस ने देवकी को यहाँ बैठने की अनुमति दी? शायद वह चाहता हो कि वह अपनी आँखों से अपने पुत्र का प्राणांत देखे।’

प्रेम की तो कोई परिधि होती है, कोई सीमा होती है; पर निष्ठुरता की कोई सीमा नहीं। मेरी मृत्यु से कंस का काम चल सकता था; पर मेरी माँ को छटपटाते देखकर उसे क्या मिलता?

दूसरे को जलाने के लिए आग को भी जलना पड़ता है। शायद कंस भी जल रहा था। यद्यपि वह कहीं दिखाई नहीं दे रहा था। मैंने स्पष्ट रूप से चाणूर से कहा, “मामाजी नहीं दिखाई दे रहे हैं?”

“आज उनका स्वास्थ्य कुछ ठीक नहीं है। वह ऊपर अपने कक्ष के वातायन से देख रहे हैं।”

अब मेरी दृष्टि उस वातायन की ओर गई। सचमुच उसकी भयग्रस्त आँखें हमें निहार रही थीं। वह इस सारे वातावरण के बहुत ऊपर था। ऐसा लगा, उस खिड़की पर बैठकर वह बड़वाग्नि के बहुत ऊपर सागर की लहरियों पर अपनी कामनाओं के कागज की नाव छोड़ रहा हो।

मैं बहुत देर तक उसपर दृष्टि जमाएँ था। उसने अपनी आँखें फेर लीं।

“आप क्या चाहते हैं? महाराज से कोई निवेदन हो तो मुझसे कहें।” चाणूर बोला।

“बड़े स्वामीभक्त मालूम होते हो। शायद यमराज के आने पर भी तुम ऐसा ही कहते!” मेरी आवाज पहले से अधिक तेज थी और शायद हँसी उससे भी अधिक।

मेरी ध्वनि का कंपन रंगशाला में दौड़ता चला गया। सारी सभा थर्रा उठी। यदि वह थरथराहट शब्दाचित होती तो लोग कदाचित् यही सुनते—‘देवकी का आठवाँ बेटा है न!’

और माँ देवकी? वह स्वयं काँप रही थी। यह तो अच्छा ही था कि मालिनी उसके पार्श्व में बैठी थी। उससे बातें कर रही थी। निश्चित ही वह उसे समझा रही होगी, अन्यथा मुझे कुछ होने के पहले ही वह संज्ञाशून्य हो जाती। उसकी व्यग्रता ने मेरी दृष्टि को विवश किया कि वह नंद की भी खोज करे और वसुदेव की भी। उनकी मनःस्थितियों के प्रति मेरा जिज्ञासु होना स्वाभाविक था। पर वे कहीं दिखाई नहीं दिए। मेरे अन्य मित्रों में से अधिकांश मेरे दृष्टि-पथ में थे, अत्यधिक कुड़बुड़ाहट से भरे-भरे। वे अपने-अपने स्थान पर बैठे अवश्य थे, पर इतने कसमसाते हुए कि आवश्यकता पड़ते ही वे कूद पड़ेंगे।

चाणूर, मुष्टिक, कूट, शल, तोशल आदि कंस के सभी मल्ल मुझे एकटक देख रहे थे; पर किसीमें भी कुछ बोलने की हिम्मत नहीं थी। चाणूर को मैंने ऐसा मुँहतोड़ जवाब दिया था कि किसीमें भी अब बोलने का साहस नहीं था। मैंने अनुभव किया कि इस भयग्रस्त मानसिकता को अधिक देर तक बनाए रखा नहीं जा सकता।

अब हम दोनों भाई रंगशाला में कूद पड़े। आश्चर्य था कि हमारे आते ही कुवलयापीड की चंचलता पहले से कम हो गई।

हमने कुछ करने के पहले ही सभाजनों को संबोधित करना ही उचित समझा।

“पूज्य वृद्धजनो, मथुरा और व्रज के सम्मान्य बंधुओ, आदरणीय मल्लो, महाराज के श्रद्धेय अधिकारियो तथा माताओ और बहनो!

“रंगशाला में आप सबका दर्शन करके हम कृतकृत्य हुए। हमने सोचा था कि हमारी प्रतिद्वंद्विता मथुरा के मल्लों से होगी। उनसे होगी, जो राजप्रासाद का अन्न खाते हैं, जिनके रक्त में महाराज का नमक है। हमें इसकी कल्पना बिल्कुल नहीं थी कि हमारी प्रतिद्वंद्विता एक निरीह पशु से होगी, जिसे मात्र एक लौह अंकुश नियंत्रित कर सकता है। खैर, कोई बात नहीं। यह संसार है। इसमें बड़ी विचित्रता है। यहीं देखिए, मैं पशुओं में मल्ल और मल्लों में पशुओं को देख रहा हूँ।”

इतना सुनना था कि पूरा सभास्थल खिलखिला उठा।

इस प्रतिक्रिया से मुझे यह भी पता चला कि यहाँ बहुमत हमारा है। कदाचित् ही पाँच-सात प्रतिशत लोग कंस के पक्ष में हों। वे भी अब कुछ बुझे-बुझे-से दिखाई पड़े। अब मैंने उनके ध्वस्त होते साहस को एक धक्का और दिया तथा और जोर से बोलना आरंभ किया—“खैर, इस निरीह पशु में जो मल्ल है, उसे अवश्य पराजित करूँगा।”

“वह तो अभी से ही पराजित लगता है। देखिए, आपके आने के पहले कैसा चंचल था, अब तो लगभग शांत है।” यह भीड़ से छूटी पहली आवाज थी।

“हाँ, भाई, मल्ल तो पराजित हो गया है, मात्र पशु रह गया है।” पहली आवाज के समर्थन में दूसरी आवाज आई।

अब चाणूर उठा और बोला, “चुनौती मल्ल को पराजित करने की नहीं, चुनौती पशु को पराजित करने की है।”

“तो मैं इस चुनौती को स्वीकार करता हूँ।” मैंने कहा, “जैसे मनुष्य का विकास पशुता से मानवता की ओर हुआ है वैसे ही इस मल्ल प्रतिद्वंद्विता की विकट यात्रा पशु से मनुष्य की ओर जाएगी।” इतना कहने के बाद मैंने ऐसा घूरकर चाणूर की ओर देखा कि निश्चित ही वह भीतर-ही-भीतर बिंध गया होगा।

फिर मैंने भैया के कान में कहा, “विशालकाय हाथी को परास्त करना आसान है, अपेक्षाकृत किसी छोटी कायावाले पशु के।”

“वह कैसे?” भैया मेरे विचार से सहमत नहीं थे।

मैंने उन्हें समझाया, “पहले इसे थकाना पड़ेगा। फिर यह अपनी मौत मरेगा।”

अब हम दोनों हाथी के सामने आए। भैया ने अपना आयुध सँभाला। मैंने चक्र घुमाना आरंभ किया। तब तक मुष्टिक अचानक खड़ा हो गया।

“मल्लयुद्ध में आयुध प्रयोग वर्जित है।” वह बोला।

मैंने भैया की ओर देखा। मुझे लगा, बात ठीक कही गई है। जैसे युग में, जब जीवन के हर क्षेत्र में नैतिकता स्खलित हो गई हो, मथुरा अनीति का केंद्र बनती जा रही हो और राजप्रासाद तो अनैतिकता की सड़ी दुर्गंध में जी रहा हो, वहाँ मुझे मल्लयुद्ध की नैतिकता सिखाई जा रही थी। मुझे ही क्रोध नहीं आया, भैया का चेहरा भी लाल हो उठा। उन्होंने बड़े झटके से हलायुध एक किनारे फेंक दिया। मैंने भी चक्र हटाया। पर वंशी अब भी मेरे साथ थी। मैं हाथी को मोहित करने के लिए कोई राग बजा सकता था; क्योंकि संगीत की शक्ति पर मेरा अटूट विश्वास था और है। उस ‘हस्तिन्’ को वश में करने में मैंने संगीत का ही सहारा लिया था।

किंतु यह समय वंशी बजाने का नहीं था। यदि वे मूर्ख कहते कि आयुध की तरह संगीत भी मल्लयुद्ध में वर्जित है, तब मैं क्या करता?

अब नीति यही निश्चित हुई कि पहले हाथी को थकाया जाए।

अब मैं उसकी सूँड़ की तरफ आ गया और भैया को पूँछ की ओर भेजा। मैं आगे से उसे उत्तेजित करूँगा, भैया पीछे से। मैंने उसकी सूँड़ पकड़ी; पर वह उत्तेजित नहीं हुआ वरन् उसने मुझे सूँड़ में लपेट लिया और चारों ओर घुमाने लगा। दर्शकों ने देखा कि वह मुझे घुमाकर धड़ाम से पटक देगा। सभा की भयग्रस्त मूकता एकटक मुझे निहारती रही और मैं सूँड़ में लिपटा खिलखिला रहा था।

स्थिति दर्शकों की आशा के विपरीत थी। विचित्र दशा थी। हाथी मुझे पटक नहीं रहा था और मैं उसकी सूँड़ में झूलता हुआ केलि कर रहा था। कितनी अविश्वस्त लग रही होगी आपको यह बात! नियति मेरा साथ दे रही थी या हाथी पर मैरेय की मादकता अथवा उसपर उस विशेष प्रकार की घास का विष चढ़ चुका था। अंत में जब भैया ने उसकी जोर से पूँछ खींची, तब थोड़ा वह उत्तेजित हुआ। उसने मुझे धरती पर ऐसा पटका मानो वह मुझसे लड़ना नहीं चाहता वरन् क्रीड़ा करना चाहता हो।

इस बार मैंने उसका दाँत पकड़कर अपनी शक्ति भर दबाया। उसने एक चिंघाड़ भरी और प्रांगण के मध्य बने विशाल स्तंभ से जा टकराया। उसका एक दाँत स्तंभ से लड़कर लगभग उखड़ चुका था। रक्त की धारा बह चली। निश्चित उसकी दृष्टि भ्रष्ट हो चुकी थी।

हाथी का रक्त देखते ही लोग हमारे पक्ष में चिल्ला उठे। उत्साह का यह विस्फोट जय-जयकार के गगनभेदी नारों में बदल गया।

इस समवेत मानवीय ध्वनि का उस पशु पर भी अवश्य प्रभाव हुआ होगा। वह लगभग पागल-सा हो गया था। बराबर उसी स्थान से टकरा रहा था। कैसी विडंबना थी, मेरे प्रति उस हाथी के किटकिटाते क्रोध का सामना एक विशाल पाषाण स्तंभ कर रहा था।

मैं तो हाथी के चारों पैरों के बीच में खड़े होकर, कभी उसके पेट में जोर से घूँसा मारता था और कभी उसके थुलथुल मांस को दोनों पंजों से पकड़कर झूल जा रहा था।...वह ज्यों-ज्यों उत्तेजित होता त्यों-त्यों स्तंभ पर उसकी प्रहारक क्षमता बढ़ती जाती। परिणाम यह हुआ कि उसका दूसरा दाँत भी टूट गया।

फिर हमारे सम्मान में एक तुमुल घोष हुआ। उसके दाँतों के टूटते ही हमने समझ लिया कि हम आधी लड़ाई जीत गए। अब एक दाँत को भैया ने और दूसरे को मैंने उठाया। जिधर से वे टूटे थे, उधर नोंक निकल आए थे। अब हम उन्हीं नोकों से शक्तिशाली प्रहार करने लगे।

अब कुवलयापीड की विषम स्थिति थी। हमारे प्रहार से उसकी दोनों आँखें लहलुहान हो गई थीं। उसकी दृष्टि एकदम जाती रही। अब वह हमपर क्या प्रहार करता।...और हम निरंतर उसे उत्तेजित करते रहे। वह बराबर खंभे को मारता। एक बार तो उसने इतनी जोर से उस विशाल खंभे के जगमोहन को मारा, जिसपर वह विशाल स्तंभ बना था कि उसकी अगली दाहिनी टाँग टूट गई और वह धरती पर निढाल हो गया।

हम दोनों भाई उसीके टूटे दाँतों के नुकीले भाग से उसपर अनवरत प्रहार करते रहे। जनता उत्तेजना में चिल्लाती रही। वह लगभग तीन-चौथाई मर चुका था।

भैया ने अचानक प्रहार रोक दिया। बोले, “जब शत्रु धराशायी हो जाए तब उसपर प्रहार नहीं करना चाहिए।”

धुएँ की दीवार के बीच से निकली चिनगारी की तरह मेरे भैया का अचानक सिद्धांत जागा। हर सिद्धांतवादी की लगभग यही दुर्बलता होती है कि उसका सिद्धांत कभी-कभी ऐसे समय जाग जाता है, जब उसकी बिल्कुल अपेक्षा नहीं रहती।

अब विषम स्थिति हुई। उनके रुकते ही मुझे भी प्रहार रोक देना पड़ा। मैंने भैया को समझाया, “यह कुवलयापीड मेरा शत्रु नहीं है। मेरा तो शत्रु है...” मैंने चाणूर की ओर संकेत करके कहा, “उसका अभिमान। अभी वह

अभिमान कहाँ भू-लुंठित हुआ है!”

संयोग अच्छा था कि भैया विवाद किए बिना मान गए। फिर प्रहार पर प्रहार चलता रहा। हर प्रहार पर कुवल्यापीड चिंघाड़ता। धीरे-धीरे उसकी चिंघाड़ क्षमता भी कम होती गई। और एक क्षण ऐसा भी आया जब वह मौन हो गया—एकदम मौन, सदा के लिए मौन।

फिर क्या था! हमारी जय-जयकार का ऐसा तुमुल कोलाहल हुआ कि सारे नगर ने जान लिया कि कुवल्यापीड मारा गया। हम दोनों भाई विजयोन्माद में थे। हमारे तन रक्त से लथपथ और हम उस हाथी का एक-एक दाँत कंधे पर लिये हुए ऐसे उछल रहे थे मानो इंद्र को उसीके प्रासाद प्रांगण में पराजित कर उसके प्रत्येक सैनिक को ललकार रहे हों—‘है कोई हमसे भिड़नेवाला!’

हम ही नहीं, लगभग हर व्यक्ति विक्षिप्त हो गया था। यहाँ तक कि बूढ़ा अंधक बाहुक भी अपनी लकुटी के सहारे नाचने लगा था।...और छंदक, जिधर मुष्टिक आदि कंस के पालित मल्ल बैठे थे, उधर जाकर चिल्ला रहा था—“बोलो-बोलो कृष्ण कन्हैया की जय!”

और वे बेचारे लज्जा से मुँह नीचा किए खिसकते जा रहे थे।

जब उत्साह का ज्वार कुछ थमा तब मेरा चिंतन ही मुझे कोसने लगा। तुम तो निमित्त मात्र हो। हाथी तो पहले से ही मरा था। तुम मात्र अस्त्र थे—उस नियति के हाथ के, जो स्वयं लड़ा रही थी; जिसने तुम्हें बनाया भी और तुम्हारा उपयोग भी किया। मेरा सारा उत्साह मंत्रबद्ध साँप की तरह पिटारे में सिकुड़ गया।

मैं एकदम शांत हो गया। भैया तब तक ब्रजवासियों की भीड़ में चले गए थे। मैंने महिलाओं की ओर देखा। सबसे विचित्र स्थिति थी माता देवकी की। वह अपने स्थान पर खड़ी, दोनों हाथ जोड़े, आँखें मूँदे मंदिर के शांत दीप की तरह अपने आराध्य की पूजा में सन्नद्ध थी। उसके एक ओर थी रुक्मिणी और दूसरी ओर थी मालिनी। दोनों किस विचित्र दृष्टि से मुझे देख रही थीं कि क्या बताऊँ। मुझे अचानक राधा याद आई।...या दोनों की दृष्टियों की ललक ही राधा का रूप लेकर मेरे मन में उतर गई। मैं कुछ देर के लिए यमुना के कूल पर चला गया था।

जब आँखें खुलीं तो प्रासाद के उस ऊपरी कक्ष की ओर दृष्टि गई, जिसके वातायन से कंस देख रहा था। अब वहाँ कंस नहीं था। वातायन ने भी अपने नेत्र बंद कर लिये थे।

□

मारा तो मात्र एक हाथी गया था, पर उस घटना का नगर पर अद्भुत प्रभाव पड़ा। दूसरे दिन मथुरा उल्लास में निमग्न थी। अक्रूर चाचा के यहाँ सवेरे से ही लोग आने लगे थे। दिन चढ़ते-चढ़ते भीड़ हो गई थी। कोई मुझे देखने आ रहा था तो कोई मेरा चरण स्पर्श करने। किसीको देवकी के आठवें पुत्र का ईश्वरत्व आकर्षित कर रहा था तो किसीके मस्तिष्क में नारद की भविष्यवाणी गूँज रही थी।

संध्या होते-होते सूचना मिली कि महामात्य पधार रहे हैं। चाचा ने दौड़कर उनकी अगवानी की। उनके साथ एक सज्जन और भी थे, जिन्हें मैं नहीं जानता; पर चाचाजी उनके चरणों की ओर झुके ही थे कि उन्होंने उन्हें उठाकर वक्ष से लगा लिया।

“मैं मात्र यह सूचना देने आया हूँ कि नंद महाराज आज यहाँ नहीं पधरेंगे।” प्रद्योत ने चाचा से कहा।

“तब वे कहाँ रहेंगे?”

“राजभवन में ही।” प्रद्योत बोला, “महाराज ने उन्हें वहीं रोक लिया है।”

‘क्यों? किसलिए?’ चाचाजी यह कुछ न पूछ सके। केवल उनका मुख देखते रहे। ‘ऐसा तो नहीं है कि वह पुत्र का प्रतिशोध पिता से निकाले।’ चाचाजी प्रद्योत से अवश्य अपने मन की शंका कहते, पर उस व्यक्ति की उपस्थिति के

कारण वह मौन रह गए।

“आप विश्वास कीजिए, उनपर कोई संकट नहीं है।” लगता है, प्रद्योत ने चाचा के मन की बात जान ली और हँसते हुए बोलता रहा, “यदि कोई बात होगी तो हम लोग तो हैं ही।”

“आप ही का तो भरोसा है।”

“हमारा नहीं, भरोसा उसका है, जिसने कुवल्यापीड को यमलोक पहुँचा दिया।” प्रद्योत बोला और बातों के क्रम में बताया, “महाराज की मानसिक स्थिति ठीक नहीं है। बातें करते-करते पता नहीं क्या-क्या बकने लगते हैं। नंदजी से बातें करते-करते अचानक वे दोनों हाथों से अपनी ग्रीवा दबाने लगे और बोले, ‘देखते हैं आप! यह दबाए नहीं दबती। लोहा है, लोहा। शायद अभी तक ऐसी कोई असि तो बन नहीं पाई होगी, जो इसके पार उतर जाए!’ ”

“यह भय की चरमावस्था है।” चाचा ने कहा, “मृत्यु से लड़ते समय तो जीवन का साथ चिंतन देता है; पर मृत्यु के भय से लड़ते समय चिंतन जीवन का साथ छोड़ देता है। मनुष्य अकेला हो जाता है।”

सचमुच कंस इस समय अकेला हो गया था। उसके चिंतन ने उसका साथ छोड़ दिया है।

“इससे क्या हुआ, वृत्तधन तो उसके साथ होगा ही।” चाचा ने कहा।

“यदि वह साथ होता तो रोना किस बात का था!” प्रद्योत बोला, “उसने भी सोच लिया कि अब कंस का साथ देना डूबती नाव पर सवार होना है।”

“तब?”

“तब क्या!” प्रद्योत बोला, “उसने एक मागधी वृद्ध अद्य को कंस के साथ लगा दिया है, जिसका काम केवल महाराज की हाँ में हाँ मिलाना है। अब आप इसीसे समझिए कि जब रंगशाला में कन्हैया कुवल्यापीड को परास्त करने लगा था तब उसने उस ऊपरी कक्ष का वातायन बंद कर दिया था, जहाँ से कंस देख रहा था। जब महाराज ने इसका कारण पूछा तब उसने जानते हो क्या कहा?”

क्षण भर रुककर प्रद्योत हँसते हुए स्वयं बोलने लगा—“ ‘महाराज, कुवल्यापीड पशु अवश्य है, पर है बड़ा समझदार। वह आपको देखते हुए संकोचवश पूरी निष्ठुरता के साथ आपके भानजे पर कैसे आक्रमण कर सकता है?’ ”

“और कंस ने इस बात को मान लिया!” चाचा हँसते रहे।

“अब आप इसीसे महाराज की मानसिक स्थिति का अनुमान लगा सकते हैं।...अरे, बात यहीं समाप्त नहीं होती। जब कन्हैया और बलराम का प्रहार चरम उत्कर्ष पर था, लोग उनकी जय-जयकार कर रहे थे तब भी कंस कोलाहल के बारे में पूछता गया; पर अद्य ने बताया कि महाराज, लोग आपकी जय के नारे लगा रहे हैं।

“सुना है, कुछ समय बाद जब फिर गंभीर कोलाहल हुआ तब उसने पुनः पूछा। बड़ी सहजता से अद्य ने बताया कि ‘लगता है, कुवल्यापीड गिर गया है। पर वह इतनी सहजता से मारा नहीं जा सकता। उसे मारने के लिए यमराज को स्वयं आना होगा।’ ”

“ ‘और स्वयं यमराज ही आ गया हो तो?’ कहते हैं, कंस इसके बाद स्वयं बड़बड़ाने लगा।’ ”

“कंस को कुवल्यापीड के मारे जाने की सूचना है या नहीं?” चाचा ने पूछा।

“मारे जाने की सूचना तो हो सकती है; पर उस समय का दृश्य न तो उसे देखने दिया गया और न किसीने बताया।” इतना कहने के बाद उसने अपने साथ आए व्यक्ति का परिचय कराते हुए कहा, “इन्हें तो आप जानते ही होंगे। (चाचा को उन्होंने कुछ और बताया, पर चाचा को जैसे कुछ याद नहीं आया।) ये महाकवि हैं। इनकी प्रतिभा भी कुवल्यापीड की मृत्यु की साक्षी है। उस समय लोगों को कृष्ण कैसे दिखाई पड़ रहे थे, इसका इन्होंने बड़ा ही

सजीव और मोहक वर्णन किया है।”

“वाह, तब तो अवश्य सुनाइए!”

“सुनाने के लिए ही ये आए हैं; पर इनकी इच्छा है कि ये कृष्ण को स्वयं सुनाएँ।” प्रद्योत बोला।

चाचाजी बड़े सत्कार के साथ दोनों व्यक्तियों को भीतर ले आए। महाकवि का मुझसे परिचय कराया। उनका प्रणम्य भाव मेरे समक्ष झुकने को था ही कि मेरे मुख से निकल पड़ा—“अरे, आप यह क्या कर रहे हैं? कविर्मनीषी परंभू स्वयंभू!”

फिर भी वह मेरे ईश्वरत्व से अभिभूत दिखे। बोले, “मैं नारद की भविष्यवाणी को प्रणाम करते हुए अपनी कविता सुना रहा हूँ।”

उन्होंने जो कविता सुनाई उसका छंद तो मुझे याद नहीं है, पर उसका भाव कुछ इस प्रकार था—“आप उस दुर्दांत हाथी को मारने के बाद कंधे पर उसका दाँत रखे हुए रक्तस्नात् अद्भुत दिखे। विचित्र तो यह था कि जो जैसा था उसे आप वैसे ही दिखाई दे रहे थे। मल्ल आपको वज्र से कठोर, मनुष्य आपको नररत्न, स्त्रियाँ कामदेव का अवतार, व्रज के गोपों को स्वजन, दुष्ट राजाओं को दंडित करनेवाला दुर्दम्य शासक, छोटे बच्चों को अभिभावक, वृद्धों को शिशु, असानियों को विराट्, योगियों को परम तत्त्व, वृष्णि वंशियों को अपने इष्टदेव और कंस को साक्षात् मृत्यु की तरह आप दिखाई पड़े।”

मैंने हँसते हुए स्वीकार किया—“बड़ा यथार्थ है आपका चित्रण; क्योंकि किसी दृश्य को जैसा वह है हम वैसा नहीं देखते, वरन् हम जैसे हैं वह वैसा ही दिखाई देता है।”

हमारी बातें चल ही रही थीं कि एक गोप ने आकर मेरे कान में धीरे से कहा, “एक स्त्री आपसे मिलना चाहती है।” “स्त्री और इस समय!” सूर्य तो लगभग डूब ही चुका था। उसकी रही-सही किरणों पर भी अंधकार का परदा पड़ चुका था।

‘स्त्री’ शब्द सुनते ही मेरे चिंतन में मालिनी उभर आई। मैं सविनय अनुमति लेकर उद्यान की ओर आया। मैंने देखा, धवल वस्त्र में एक स्त्री खड़ी है। लगती तो साधारण है, पर अत्यंत दुःखी दिखाई दे रही है; मानो उदास चंद्रिका में लिपटी कोई धूम-पुंजिका भभकने को तैयार हो।

मैं ध्यान से देखता हुआ उसकी ओर बढ़ता जा रहा था। वह स्थिर जड़वत् मौन खड़ी रही।

“नाथ, आप तारणहार हैं। मेरा भी उद्धार कीजिए।” उसने करबद्ध प्रार्थना की और संकेतों से बताया, “मैं लोहिता की अभागिन पत्नी हूँ।” यद्यपि वह टूट चुकी थी, फिर भी उसका वैधव्य पूजा के दीप-सा लपलपा रहा था।

“लेकिन! मैं क्या कर सकता हूँ? जो कुछ होना था, वह तो हो चुका है।” मैंने उसे समझाया।

“यह तो मैं भी समझती हूँ।” उसकी ध्वनि के तीखेपन में अग्नि जैसी लपक थी।

“तब तुम क्या चाहती हो?”

वह एकदम खुलने को तैयार हुई; पर अचानक सँभल गई—“मेरे पति के साथ विश्वासघात हुआ है।”

“विश्वासघात तो सारी मथुरा के साथ हुआ है।”

“पर जिस निर्दयता और निष्ठुरता से मेरा पति मारा गया है वैसी हत्या शायद ही किसीकी हुई हो।” वह स्त्री बोली। उस घिरते अँधेरे में भी उसका क्रोध धुआँ उगलता मालूम पड़ा।

“तो फिर अब क्या किया जा सकता है?”

“मेरे पति के हत्यारे की हत्या—वह भी उतनी ही निष्ठुरता और निर्दयता के साथ; क्योंकि मैं जल रही हूँ। मेरी अंतराग्नि मेरे पति के हत्यारे का रक्त माँगती है। शायद वह उसीसे शांत होगी।”

मैंने अनुभव किया कि वह अपने पति की मृत्यु से दुःखी अवश्य है, पर संतप्त है प्रतिशोध की भावना से। प्रतिहिंसा वह आग है, जो पैदा होती है दूसरों को जलाने के लिए और अंत में स्वयं जलकर खाक हो जाती है। वह स्त्री भी राख होती दिखाई दी। उसके व्यक्तित्व में एक क्रुद्ध नागिन थी, जिसने पटक-पटककर अपने फन घायल कर लिये थे।

मैंने बड़ी शांति से उसे एक पाषाणखंड पर बैठाया और धीरे-धीरे उसके प्रतिशोध को सहलाना आरंभ किया —“निश्चित ही तुम्हारे साथ अनर्थ हुआ। ईश्वर कभी उन लोगों को क्षमा नहीं करेगा।”

“पर कहाँ है ईश्वर?” वह भभकी—“मुझे विश्वास नहीं।”

“यदि विश्वास नहीं है तो ईश्वर नहीं है।” अवश्य ही मेरी सहज मुसकान का उसने उस अँधेरे में भी अनुभव किया होगा, “और यदि विश्वास है तो वह यहाँ भी हो सकता है।”

इतना सुनते ही वह मेरा मुँह देखती रह गई—“ईश्वर है और मेरे प्रति इतना बड़ा अत्याचार हो गया! आखिर क्या दोष था मेरे पति का?”

“यही कि वह शिल्पकार था। लोहे का ऐसा धनुष बना सकता था, जिसपर कोई प्रत्यंचा चढ़ाने में भी समर्थ न हो सके।”

“पर आपने तो चढ़ा दिया। चढ़ा ही नहीं दिया, उसकी धज्जियाँ भी उड़ा दीं।” उसने कहा, “इसीसे मैं आपके पास आई हूँ। क्योंकि जब मैंने आपको कुवलयापीड का अंत करते देखा, तब मुझे विश्वास हो गया कि आप ही मेरी प्रतिहिंसा की आग भी बुझा सकते हैं।” इसी क्रम में पता नहीं वह और क्या-क्या कह गई।

वह कहती चली जा रही थी, “मैंने सुना है कि आप देवकी के आठवें बेटे हैं। आप ईश्वर के अवतार हैं। पर अब मुझे ईश्वर से भी घृणा हो गई है। उसके रहते आदमी ने इतना जघन्य कार्य किया—और वह ईश्वर देखता रह गया।”

ऐसा तो नहीं कि यह स्त्री मेरी अस्मिता को ही ललकार रही हो! किंतु वह दुःखी थी और दुःखी व्यक्ति की चिंतना नियंत्रण में नहीं रहती।

“मनुष्य को अपने कर्मों का फल तो भोगना ही पड़ेगा। इसमें ईश्वर क्या करेगा?” मैंने उसे समझाया—“हो सकता है, तुम्हारे पति के पूर्वजन्म के कर्म ऐसे ही रहे हों।”

“तो इसका मतलब है कि मेरे पति के हत्यारों को भी अपने कर्मों का फल भोगना पड़ेगा?”

“निश्चय ही।” मैंने कहा, “हो सकता है, इस जन्म में न भोगकर वे अगले जन्म में भोगें।”

“नहीं-नहीं, उन्हें इसी जन्म में भोगना चाहिए और मेरी आँखों के सामने भोगना चाहिए।” उसने कहा।

मैंने अनुभव किया कि पति की हत्या ने उसे ऐसा पीड़ित कर दिया है कि उसने अपना मानसिक संतुलन ही खो दिया है। लगभग विक्षिप्त-सी है और जो भी जी में आ रहा है, बकती चली जा रही है।

“मैंने सुना है कि नारद की भविष्यवाणी के अनुसार, आप कंस का वध कर देंगे। पर मेरे पति के हत्यारों के संबंध में तो उनकी कोई भविष्यवाणी नहीं है। आप ही कर दीजिए न भविष्यवाणी!”

वह अचानक मेरे चरणों पर गिर पड़ी।

मैंने उसी क्षण अनुभव किया कि मनुष्य को हिंसा ने उतना परेशान नहीं किया है, जितना प्रतिहिंसा ने। यह स्त्री प्रतिहिंसा से ही व्याकुल है।

मैंने कहा, “मैं क्या भविष्यवाणी करूँ! मैं तो तुम्हारे पति के हत्यारों को जानता तक नहीं।”

“अरे आप नहीं जानते, आश्चर्य है!” वह चकित-सी बोली, “संसार जानता है कि मेरे पति की वह दुर्दशा चाणूर

या मुष्टिक ने या दोनों ने मिलकर की थी।”

मुझे लगा कि यह स्त्री शीघ्र मुझे छोड़ने वाली नहीं है। अतएव मैंने अपना पीछा छुड़ाने की नीयत से ही कहा, “अच्छा जाओ, तुम्हारे पति के हत्यारों की वही गति होगी।”

इतना सुनना था कि वह खुशी से उछल पड़ी—“मैंने वचन ले लिया। आदमी से ही नहीं वरन् ईश्वर से वचन ले लिया।”

वह शीघ्र ही नाचती-गाती, उछलती-कूदती उस अंधकार में खो गई; पर उसकी प्रतिहिंसा अंत तक मुझे पकड़े रही।

□

एक दिन तो ऐसे ही बीत गया।

अगले कार्यक्रम की किसीको कोई सूचना नहीं। केवल लोगों को इतनी ही जानकारी है कि कंस की मनःस्थिति ठीक नहीं। राजवैद्य की चिकित्सा चल रही है। दिन में भी उसे सोने की सलाह दी गई है। कितना विचित्र था यह! अप्रिय झेलने की अपेक्षा अप्रिय की ओर से आँखें मूँद लेना उस अप्रियता से क्या पराजित होना नहीं है? किंतु राजवैद्य के विचार से अब इस स्थिति में स्वयं को भुलाए रखना कंस के अनुकूल था।

यह अनिश्चितता अचानक दूसरे दिन टूटी। पूरे नगर में मुनादी करा दी गई कि अपराह्न में मल्लोत्सव होगा। महाराज भी उस उत्सव में पधारेंगे।

“महाराज तो अस्वस्थ चल रहे हैं।” भैया ने शंका की।

“आज ठीक हो गए होंगे!” अक्रूर चाचा ने कहा, “हो सकता है, राजवैद्य ने अनुमति दे दी हो! फिर महाराज को अनुमति कौन दे सकता है!”

लोगों से पता चला कि जो लोग बाहर से आए थे, उनमें से अधिकांश लौटने की मुद्रा में थे। उनमें से कितनों ने तो अभी महाराज के दर्शन भी नहीं किए हैं। वे सभी उदास और खिन्न हैं।

“बुलाया था धनुर्यज्ञ के लिए और किस पचड़े में हम पड़े!”

स्पष्ट लग रहा था कि आज का उत्सव इसी परिस्थिति के दबाव का परिणाम है। फिर बाहर से बहुत सारे मल्ल भी आ चुके थे। उन्हें भी अपने कौशल के प्रदर्शन का अवसर नहीं मिला था। यदि वे ऐसी ही लौट जाते तो उनके राज्य की प्रजा उन्हें क्या कहती।

प्रातः से ही नगर उत्सव की तैयारी में लग गया। देश-देश से आए मल्लों का आज प्रदर्शन देखने को मिलेगा। लोग अत्यधिक उत्साह में थे। बहुत दिनों बाद आज सार्वजनिक रूप से महाराज के दर्शन होंगे।

अचानक एक अफवाह जंगल की आग की तरह फैल गई कि नगर में नारदजी पधारे हैं। अब क्या था! लोग उनके दर्शन के लिए दौड़ पड़े। किसीने कहा कि यमुना के तट पर उन्हें देखा गया था। किसीने कहा, राजकीय उद्यान पर उनकी वीणा सुनाई पड़ी थी। बस, लोग अपने कान को न देखकर कौए के पीछे दौड़ पड़े थे।

कुछ लोग तो ऐसे थे, जिन्होंने नगर का चप्पा-चप्पा छान डाला; पर नारद कहीं हों तब तो मिलें। हाँ, उनकी भविष्यवाणी हर जगह थी, हर जबान पर चढ़ी।

“लगता है, किसी राजनीतिज्ञ ने हवा में यह पासा फेंका है।”

“छंदक के सिवा कौन हो सकता है!” मेरे मुख से निकला और मेरे पास खड़ा हर व्यक्ति हँस पड़ा।

लोग मध्याह्न से ही तैयार होने लगे; क्योंकि उन दिनों अस्त्रयुद्ध से अधिक बाहुयुद्ध या मल्लयुद्ध का सम्मान था। अस्त्र तो गिर सकता है, छीना जा सकता है, चोर चुरा सकता है, बहुत दिनों तक प्रयोग न करने पर कार्य योग्य नहीं

रह जाता; पर बाहुयुद्ध और मल्लयुद्ध की कला के संबंध में ऐसी कोई बात नहीं थी। वह तो जीवन के अंतिम क्षण तक काम आता था। अंतिम साँस तक उसकी उपयोगिता बनी रहती थी।

जब हम लोग रंगशाला में पहुँचे तो वह पिछली बार की अपेक्षा आज अधिक सजी-सँवरी थी। सबसे विलक्षण बात यह थी कि प्रासाद प्रांगण के मध्य में जो विशाल स्तंभ था, जिसमें कुवलयपीड की विक्षिप्तता बार-बार टक्कर मार रही थी, वह एकदम गायब था। दो ही दिनों में उसका नामोनिशान मिटा दिया गया था।

खचाखच भरे उस सभामंडप में निश्चित रूप से हर दृष्टि स्तंभ को खोज रही थी और उसका अभाव विस्मय से अधिक लोगों को कंस की भयग्रस्त मानसिकता की सूचना दे रहा था। लोग महाराज की मूर्खता पर मन-ही-मन या खुलकर मुसकरा रहे थे।

मंडप में बैठने की व्यवस्था चतुष्कोणीय थी। सामने का उच्च स्थान महाराज, उनके पारिषद् और कुछ बाहर से आए मुख्य अतिथियों के लिए सुरक्षित था। वहीं मेरे पिता नंद और वसुदेव भी बैठे थे; पर व्रज के अन्य लोग सामान्य अतिथियोंवाली पंक्ति में थे। हमें अपने सारे साथी वहीं दिखाई दिए। हम चुपचाप उधर चले। कुछ लोगों ने हमें रोका भी, कुछ लोगों ने हमारे पहुँचते ही हमारे सम्मान में नारे लगाए; पर हम चुपचाप अपने मित्रों के बीच में ही बैठ गए। अक्रूर चाचा आए थे हमारे साथ ही, पर लोगों ने उन्हें ले जाकर पिता नंदजी की बगल में बैठा दिया। हम अपने पक्ष की प्रथम पंक्ति में थे। मेरे एक ओर भैया और दूसरी ओर प्रभास। फिर उद्धव, श्रीदाम आदि। मैंने देखा, महामात्य से वृत्घ्न की कुछ बातें हो रही हैं। इसके बाद ही प्रद्योत को हमने अपनी ओर आते देखा। अनुमान लग गया कि अब हमें यहाँ से हटाने की योजना है।

“बड़ी कृपा हो, आप दोनों भाई यहाँ से उठकर राजकीय पक्ष की ओर चलें।” प्रद्योत ने आते ही निवेदन किया।

“पर हम तो आपकी प्रजा हैं। हमें प्रजा के बीच में ही रहने दीजिए।” मैंने कहा और मेरे साथियों ने समवेत स्वर में मेरा समर्थन किया।

अब प्रद्योत बेचारा क्या करता। उसकी दृष्टि अचानक प्रभास पर पड़ी और जैसे अटक-सी गई। मुझे लगा कि महामात्य की आँखें प्रभास के अंगों का बड़ी ममता से स्पर्श कर रही हैं और एक विचित्र अपनापन का उन्हें अनुभव हो रहा है।

अब महामात्य ने मुझे और निकट बुलाया।

“वह लड़का कौन है?” उसने प्रभास की ओर संकेत कर पूछा।

“यहाँ मेरे मित्र के सिवा और कौन हो सकता है!” मैंने मुसकराते हुए कहा।

फिर भी वह उसे देखता रहा। अब प्रभास भी उसे देखने लगा था। पुत्र पिता की आत्मा होता है और आत्मा की खोज की यह ललक कोई अप्रत्याशित नहीं थी।

अचानक कोलाहल हुआ कि महाराज आ गए। अब प्रद्योत को महाराज की अगवानी में जाना पड़ा। महाराज के आने पर राजकीय शिष्टाचार के अनुसार सभी को खड़े हो जाना पड़ा। ‘महाराज की जय’ के नारे लगाए गए। मैंने ध्यान से देखा, महाराज एक बूढ़े व्यक्ति के कंधों का सहारा लेकर पधारे थे। वह व्यक्ति भी महाराज की बगल में रखे महामात्य के सिंहासन पर बैठ गया।

“मथुरा में कोई नया महामात्य हो गया है क्या?” मैंने व्यंग्य करते हुए उद्धव से पूछा।

“ऐसा ही समझिए।” उद्धव बोला, “अरे, आपको मालूम नहीं है! यह अद्य है। बहुत ही चापलूस।”

“मैं भी थोड़ा-बहुत जानता हूँ।” मैंने मुसकराते हुए कहा।

“नई घटना शायद आपको मालूम होगी!” उद्धव बोला, “अभी दो दिनों पूर्व तक इस प्रांगण के मध्य में एक

विशाल स्तंभ था—प्रशस्त जगमोहन पर बना हुआ।”

“हाँ-हाँ, जिसपर वह कुवल्यापीड बार-बार धक्के मारता था।” मैंने कहा।

“उसका समूल उच्छेद इसी अद्य की कृपा का फल है।” उद्धव हँसते हुए बताता रहा, “उसने महाराज से कहा, ‘राजन्! यदि वह स्तंभ न होता तो कुवल्यापीड को मारनेवाला कोई इस धरती पर पैदा नहीं हुआ था।’ ”

मुझे हँसी आ गई। मेरे आसपास बैठे लोग भी हँस पड़े।

“तब क्या कहा महाराज ने?” हममें से किसीने जिज्ञासा की।

“महाराज की बात सुनेंगे, तब तो आपको और हँसी आएगी।” उद्धव बोला, “महाराज ने कहा, ‘तब तो यह स्तंभ ही हमारा शत्रु है। सबसे बड़ा शत्रु। और कंस किसी शत्रु को जीवित नहीं छोड़ता। उसके शव को भी देखना नहीं चाहता।’ उसने स्पष्ट आदेश दिया कि इस स्तंभ का अस्तित्व भी कल दिखाई नहीं देना चाहिए।...और कर्मचारियों को रातोंरात ऐसा करना पड़ा।”

उद्धव के इस कथन पर लोग उतना नहीं हँसे, जितना कंस की मूर्खता पर। मैं भी सोचने लगा कि इस प्रांगण से स्तंभ के अस्तित्व को तो मामाजी ने हटवा दिया, पर क्या जीवन के छोर पर खड़ी वह मृत्यु की अस्मिता को भी हटा सकते हैं?

इसी बीच राजकीय उद्घोषणा सुनाई पड़ी। बूढ़ा अद्य उच्च स्वर में बोल रहा था—

“मंत्रिपरिषद्, पारिषदो और भद्रजनो!

“महामहिम, अत्र भवान्, मथुराधीश महाराज कंस की अनुमति से अब मल्लोत्सव के आरंभ की घोषणा की जा रही है।”

“क्या मंत्रिपरिषद् में कोई परिवर्तन किया गया है?” दर्शकों के बीच से एक आवाज उछली।

कोई व्यक्ति स्पष्ट तो नहीं हुआ, पर आवाज छंदक की ही लग रही थी।

“आधार स्पष्ट है, महाराज!” छंदक ही बोल रहा था—“पूर्व घोषणा महामात्य के मुख से होनी चाहिए; पर वह एक ऐसे व्यक्ति के मुख से हुई है, जिसे हम जानते ही नहीं, जो महामात्य के आसन पर बैठा अवश्य है।”

कंस की आँखों से चिनगारियाँ छूटने लगीं। उसका क्रोध घायल नाग की तरह फुफकारकर अपनी कुंडली पर ही बैठा रहा। केवल उसके ओठ फड़फड़ाते रहे। उधर दर्शक समूह में तरह-तरह की भुनभुनाहट तैरने लगी।

स्थिति नियंत्रण से बाहर होते ही वृत्तघ्न खड़ा हुआ—“शंका ठीक उठाई गई है। जिन वृद्ध सज्जन ने पूर्व घोषणा की है, वे यहाँ के नहीं, मगध के अमात्य हैं। पूज्य पिताजी (जरासंध) ने जीजाजी की शुश्रूषा में उन्हें भेजा था। महाराज ने उन्हींको घोषणा करने का आदेश दिया और वे कर बैठे। आप इसे गंभीरता से न लें।”

“आप बिल्कुल व्यग्र न हों। जब हम लोगों ने अपने ऊपर थोपे गए मागधी शासन को गंभीरता से नहीं लिया तब हम इस घोषणा को गंभीरता से क्यों लेंगे!”

छंदक का इतना कहना था कि पूरी सभा खिलखिला उठी।

सभा की मानसिकता से स्पष्ट लगा कि छंदक की फसल लहलहा रही है। चिनगारियाँ धधकने लगी हैं।

फिर शांत होने की उद्घोषणा के बाद कार्यक्रम आरंभ हुआ।

अद्य ने पुनः बोलना शुरू किया—“हमारा सौभाग्य है कि अनेक राज्यों के प्रख्यात मल्ल आज इस सभा में उपस्थित हैं। इनमें से अधिकांश की यशगाथा से आप सभी परिचित हैं। अभी आपको उनके मल्लयुद्ध और बाहुयुद्ध देखने को मिलेंगे।” फिर अद्य ने विस्तार से दोनों युद्धों के नियम बताए। मुख्य बात यह कही कि “मल्लयुद्ध और बाहुयुद्ध की प्रतिस्पर्धा में प्रतिपक्षी का प्राण लेना वर्जित है। मल्लयुद्ध में तो वह वर्जना इस सीमा तक है कि यदि

किसी प्रकार की भूल या गलती से भी प्रतिपक्षी दम तोड़ देता है तो दूसरा पक्ष अवश्य ही उस पाप का भागी होगा। पर बाहुयुद्ध में भूल या गलती से प्रतिपक्षी का प्राणांत होने पर व्यक्ति को किसी प्रकार का पाप नहीं लगेगा।”

इतना बोलते-बोलते अद्य का हाथ कंस ने पकड़कर खींच लिया—“क्या व्यर्थ की बकवास में लगे हो! कार्यक्रम आरंभ करो।”

और कार्यक्रम आरंभ हो गया।

लगभग दो सौ मल्लों ने एक के बाद एक उठकर अपने करतब दिखाए। सभी पहले से लँगोट लगाए और बदन पर उत्तरीय डाले तैयार बैठे थे। ज्यों ही वे अपना शौर्य दिखाने के लिए उठते थे, उनके परिचर उत्तरीय थाम लेते थे।

कार्यक्रम चलता रहा। प्रत्येक उत्कृष्ट करतब पर ‘साधु-साधु’ और ‘धन्य-धन्य’ की ध्वनियाँ होतीं, तालियाँ बजतीं।

धीरे-धीरे सभी मल्लों ने अपने शौर्य दिखाए। सबने प्रशंसा भी लूटी; किंतु दो ही तीन दाँव ऐसे देखने को मिले, जिनपर भैया के मुख से ‘वाह’ निकला। वस्तुतः वे मल्लयुद्ध के अच्छे ज्ञाता थे। किसी दाँव पर उनके मुँह से ‘वाह’ निकलने का कोई अर्थ था।

जब सारे जोड़े समाप्त हो गए तब मात्र महाराज के पालित मल्ल ही बचे। अब चाणूर और मुष्टिक साथ ही उठे। उस अस्ताचलगामी सूर्य की किरणों में दोनों के स्वर्णिम चमचमाते उत्तरीय ऐसे लगे मानो मध्याह्न की धूप स्वयं आकर दोनों के विशाल कंधों पर फड़फड़ा रही हो।

“अब इन दोनों की कुशती देखने लायक होगी।” भैया बोले।

पर दोनों अक्षवाट (अखाड़े) में नहीं आए, वरन् अपने वृषभ कंधों पर अपनी दोनों भुजाओं को तौलते और उठाते हुए प्रांगण में चारों ओर घूमते रहे—‘और है कोई भिड़नेवाला’ कहकर ललकारते रहे। अब स्पष्ट था कि दोनों आपस में नहीं लड़ेंगे वरन् अपनी जोड़ की खोज में हैं।

तब तक चाणूर मेरी ओर आया। मैं आगे की पंक्ति में था ही। उसने मुझे खींच लिया।

“यह आप क्या कर रहे हैं?” मैंने अपना हाथ छुड़ाते हुए कहा।

“तुझसे अच्छा अब मेरे लिए कौन जोड़ हो सकता है!” वह अट्टहास करते हुए बोला।

“आप अपनी ओर देखिए और मेरे किशोर वय के बालक की ओर देखिए।” मैंने कहा, “क्या आप इसीको अच्छा जोड़ कहेंगे?”

“तुम किशोर बालक। हा! हा! हा!” वह जोर से हँस पड़ा—“तुम किशोर बालक कैसे? तुमने तो कुवलयापीड को परास्त किया।”

चाणूर मुझे खींचे जा रहा था और मैं उससे बाँहें छुड़ाए जा रहा था। यही स्थिति मुष्टिक ने भैया के साथ पैदा की।...सभा पर जैसे पाला मार गया। विस्मय के अभेद्य सन्नाटे में लोग भीतर-ही-भीतर कुड़बुड़ा रहे थे। तब तक अक्रूर चाचा उठ खड़े हुए और बड़े आवेग के साथ बोले, “नहीं-नहीं, यह नहीं होगा। मल्ल स्पर्धा के नियम के अनुसार, कोई किसीको बलात् लड़ने के लिए विवश नहीं कर सकता।”

“चुपचाप बैठ जाओ!” कंस आपे से बाहर होकर गरजा—“राजकीय अन्न पर पलनेवाले लोग भी नियम बघारने चले हैं!”

जैसे किसीने जबरदस्ती अक्रूर चाचा का गला दबा दिया हो। वह तिलमिलाकर रह गए। पर हमें यह अच्छा नहीं लगा। यद्यपि चाणूर और मुष्टिक हमारे हाथ पकड़े थे, जनता का विरोध भी था; फिर भी चाचा का अपमान हमें स्वेच्छा से अखाड़े की ओर ले चला।

तब तक नारियों की ओर से एक तड़पती आवाज आई—“अब राजकीय अन्न का अस्तित्व मेरे रक्त में नहीं है। मैं चिल्लाकर कहती हूँ कि कन्हैया और चाणूर का मल्लयुद्ध उचित नहीं। इसे बंद कर देना चाहिए।”

यह मालिनी थी। अपने आसन से कूदती-फाँदती रंगशाला में चली आई थी और पूरी सभा से गुहार कर रही थी। मालिनी के इस व्यवहार ने एक नई उत्तेजना पैदा कर दी। बहुत सारे लोग अपने स्थान पर खड़े हो गए थे उसका पक्ष लेते हुए। कंस सकपकाया। अब वह क्या करे? उसकी ज्वलित दृष्टि चारों ओर दौड़ रही थी। तब तक एक दूसरी ही स्थिति पैदा हो गई। मेरी माता देवकी भी पता नहीं किधर से लाँघती-फाँदती चली आई।

“यह सरासर अन्याय है, भैया!” देवकी चीख उठी—“अब तक मैं तुम्हारा अन्याय सहती आई। मेरी सात-सात संतानें तुमने मार डालीं, पर मैं कुछ नहीं बोली। कलेजे पर पत्थर रखकर मैंने सबकुछ सहा। अब यदि मेरा आठवाँ बेटा मारा गया तो मैं अग्निस्नान करूँगी। भरी सभा में भस्म हो जाऊँगी।”

अब तो और लोग भी अपने मंचकों से उठ आए। छंदक और बूढ़ा अंधक बाहुक उनमें सबसे आगे थे। सबसे अधिक धैर्य रखा था हमारे गोप मित्रों ने। वे अपने स्थान से टस से मस नहीं हुए।

“यह सरासर अन्याय है, अंधकराज।” बाहुक की काँपती आवाज सीधे कंस से टकराई।

“क्यों?” कंस बोला और एक बार फिर सन्नाटा छा गया।

“क्योंकि नियमानुसार मल्लयुद्ध समान बलशालियों के बीच होना चाहिए। कृष्ण और चाणूर में कोई समानता नहीं है।”

“यह आप कैसे कह सकते हैं?” कंस बोला, “जिसने कुवलयापीड को मार डाला हो, उसका बल क्या आप चाणूर से कम समझते हैं?”

“नहीं-नहीं, हम बिल्कुल कम नहीं समझते।” छंदक ने आगे बढ़कर कहा और सभी चकित रह गए—“हमारा तो विश्वास है कि कन्हैया चाणूर से भी अधिक शक्तिशाली है। वह आज अवश्य उसके रक्त से स्नान करेगा।”

छंदक इतना कहकर सबको समझा-बुझाकर बैठा ही रहा था कि एक दूसरी स्त्री पागलों-सी खिलखिलाती हुई बीच में चली आई—“नहीं-नहीं, चाणूर के रक्त से मैं स्नान करूँगी। मैं...” अरे, यह तो लोहिता की पत्नी है। श्वेत वस्त्र से परिवेष्टित खुले बालोंवाला उसका वैधव्य इतना प्रतिहिंसक हो गया था कि उसने कंस को भी ललकारते हुए कहा, “महाराज, आपने नारी की दीनता देखी है, अग्निस्नान की आकांक्षा करती महारानी देवकी की विवशता देखी है; नारी का प्रतिशोध नहीं देखा है। आज देख लो, कंस! जब मैं चाणूर और मुष्टिक के रक्त से स्नान करूँगी। रक्त से स्नान। हा! हा! हा!” वह फिर खिलखिला उठी।

इस सबकुछ के बाद मैं एक विचित्र मानसिकता में आ गया था। अनेक आवाजें मेरे भीतर एक-दूसरे से टकराने लगी थीं।

‘तुम देवकी के आठवें बेटे हो। तुम्हें किस तरह से बचाया गया है! तुम नारद की भविष्यवाणी हो। तुमपर तुम्हारे असहाय पिता की दृष्टि है। तुम नारद की भविष्यवाणी हो। तुम्हारे लिए तुम्हारी माँ अग्निस्नान के लिए संकल्पबद्ध है। तुम नारद की भविष्यवाणी हो। तुम्हारे लिए छंदक ने चिनगारियाँ बोई हैं और आग की फसलें उगाई हैं।...जानते हो, ये सब जीवित नहीं हैं वरन् चलते-फिरते शव हैं। ये सब मारे जा चुके हैं। तुम केवल निमित्त मात्र हो और इनकी मृत्यु के निमित्त बनो।...’

उधर लोहिता की पत्नी अब भी खिलखिला रही थी। चाणूर का क्रोध नियंत्रण से बाहर हुआ। वह स्वयं को रोक नहीं पाया। उसपर झपटा।

“क्या नारी पर झपटते हो!” अब मैं बोला, “तुम्हारा सामना करने के लिए तो मैं तैयार ही हूँ।”

हास्य की तरह क्रोध भी छेड़ने से बढ़ता है। मेरे कथन से चाणूर आगबबूला हो गया। उसने मुझपर झपट्टा मारा और मैं बड़ी क्षिप्रता से पीछे हट गया। वह अपने ही वेग को सँभाल नहीं पाया और इतनी तेजी से मुँह के बल गिरा कि उसके दाँत से रक्त निकलने लगा। मैं चाहता तो उसके उठने के पूर्व ही दो-चार लात जड़ सकता था; पर मैं खड़ा होकर मुसकराता रहा। क्षण भर में मेरा ईश्वरत्व पूरी सभा पर छा गया।

उधर गिरे हुए चाणूर को उठाने मुष्टिक आया; क्योंकि अभी भैया और मुष्टिक में युद्ध आरंभ नहीं हुआ था।

“खबरदार जो आगे बढ़े!” कई लोग एक साथ चिल्ला उठे।

इसी बीच मैंने भैया से कहा, “मुष्टिक के मुष्टिका प्रहार से बचना; क्योंकि मुष्टिक के भयानक प्रहार के कारण ही इसका नाम मुष्टिक पड़ा है।”

उठते ही चाणूर मुझे उठाकर पटक देने के लिए बड़े वेग से बढ़ा और मैं बड़ी फुरती से स्वयं को बचा ले गया। यह वैसी ही नीति थी जैसी मैंने कालिय, हस्तिन् या कुवलयापीड आदि को परास्त करने में अपनाई थी।

मुझे सफलता भी मिली। चाणूर पस्त होने लगा। वह जोर-जोर से हाँफने लगा; जैसे बुझने के पूर्व अग्नि धुआँ छोड़ रही हो। अब मेरा प्रहार और तेज हो गया।

इसी बीच पता नहीं कैसे, भैया ने उठाकर मुष्टिक को इतनी तेजी से फेंका कि वह अखाड़े के बाहर गिरा। उसका सिर फट गया और उसी क्षण उसका प्राणांत हो गया। चारों ओर से अपूर्व कोलाहल उठा—‘जय-जय, धन्य-धन्य’ का। मरते चाणूर को इस कोलाहल ने और अधिक मार दिया।...और फिर मैंने अपने प्रहार और तेज कर दिए। शीघ्र ही लोगों ने देखा कि संध्या के झुटपुटे में जब सारे पखेरू अपने घोंसलों में जा रहे थे तब चाणूर का प्राण-पखेरू घोंसले से निकलकर अनंत अंतरिक्ष में चला जा रहा था।

चाणूर के मरते ही सारी सभा हमारे अभिनंदन में चिल्ला उठी। लोग खड़े होकर नाचने लगे। गोपों ने तो हमें अपने कंधों पर उठा लिया और चारों ओर विजयी योद्धा की तरह घुमाया। सारी मथुरा उस समय हमें अपने साथ दिखी।

अब कंस के रहे-सहे मल्ल भी खिसकने लगे। तोशल को तो मैंने साफ देखा, वह बिल्ली की तरह दुबक गया। मुझे रुक्मिणी भी हँसती हुई दिखाई पड़ी। वह कंस की बगल में बैठे अपने भाई की ओर खिलखिलाती चली जा रही थी।

लोग विजयोन्माद में थे और लोहिता की पत्नी दूसरे उन्माद में। वह मरे हुए चाणूर की छाती पर सवार थी। वह चाणूर के मुख से निकलते खून से अपनी अंजुलि भर-भरकर अपने मुख पर पोत रही थी, अपनी देह पर लगा रही थी। उस स्थिति में उसे अपने वस्त्रों का ध्यान भी न रहा।

उसके उन्माद में हमें नारी प्रतिशोध की मूर्तिमान चंडिका दिखाई दी।

इसी बीच स्थिति ने एक दूसरी करवट और ली। कंस को अचानक विक्षिप्तता का दौरा पड़ा। वह नंगी तलवार लिये मंच से कूदा और चिल्लाया—“कौन कहता कि चाणूर मारा गया? मुष्टिक मारा गया? और यदि मारा भी गया तो क्या हुआ? अभी मैं हूँ! मुझे मारनेवाला अभी धरती पर कोई पैदा नहीं हुआ है। यदि कोई हो तो सामने आए। मेरी तलवार में पानी है, मेरी भुजाओं में शक्ति है, मेरे जीवन की ऊर्जा अभी शेष है।” पता नहीं वह क्या-क्या बड़बड़ाता रहा।

अचानक मैंने देखा कि एक मागधी सैनिक अधिकारी की गरदन मेरे भैया ने उसीकी असि छीनकर काट दी।

“अरे, आपने यह क्या किया?” अभिनंदन कर रही भीड़ के कंधे से कूदकर मैं भैया की ओर लपका।

“तुमने देखा नहीं उसका दुस्साहस!” भैया बोले, “उसने पिता वसुदेव पर अचानक और अनायास आक्रमण कर दिया था। यदि मैं न देखता तो आज उनका अंत निश्चित था।”

“तब अनर्थ हो जाता।” मैं बोला, “लगता है, वृत्तघ्न या अघ के संकेत पर ही उसने ऐसा किया होगा।” हम दोनों ने चारों ओर दृष्टि दौड़ाई; पर न कहीं वृत्तघ्न दिखाई दिया और न अघ। अब भैया बोले, “दोनों दिखाई नहीं पड़ रहे हैं। हो सकता है, मागधी सैनिकों की सहायता से वे हम लोगों पर आक्रमण करने की योजना बना रहे हों; क्योंकि मथुरा तो उनके हाथ से निकल चुकी है।”

“हो सकता है।” मुझे शंका निर्मूल नहीं लगी; क्योंकि रंगशाला से सभी मागधी सैनिक अदृश्य हो चुके थे।

“अब क्या किया जाए?”

“कंस का वध!” भैया ने तत्काल निर्णय लिया—“क्षण भर का विलंब भी हमें कठिनाई में डाल सकता है। तुम इसी असि से अभी उसका काम तमाम करो।”

उन्होंने मुझे आगा-पीछा करते देखा—“विश्वास करो, यह युद्ध के नियम के विरुद्ध नहीं है। वह स्वयं अपने शत्रु को ललकारता हुआ रंगशाला में घूम रहा है।”

फिर भी मैं असमंजस में था।

“यदि तुम नहीं मारोगे तो उसका पागलपन स्वयं उसे मार देगा।” भैया बोलते रहे—“कैसे हो तुम? तुम्हारे माता-पिता को उसने बंदी बनाया। यातनाएँ दीं। तुम्हारे सात-सात अग्रजों का उसने वध किया। अभी-अभी तुम्हारे पिता का प्राणांत निश्चित था। फिर भी तुम सोच रहे हो!”

अचानक मेरे मन में फिर वह पुरानी आवाज उभरी—‘तुम तो निमित्त मात्र हो, कन्हैया। कंस तो पहले ही मारा जा चुका है। उसी दिन मारा जा चुका है, जिस दिन नारद ने भविष्यवाणी की थी!’

इतना सोचना था कि मैं बाज की तरह उस कपोत पर झपटा।

कंस मारा गया।

इतना निष्ठुर जीवन जीनेवाला व्यक्ति इतनी सरलता से मारा गया। कोई भी उसे बचाने नहीं आया। सब जीवन के साथी थे, कोई भी उसकी मृत्यु का साथी नहीं बना।

एक अभूतपूर्व कोलाहल हुआ—हमारे जयनाद का, हमारे अभिनंदन का। लोग कंस के शासनकाल से इतने दुःखी थे कि कहीं भी हाहाकार नहीं, कहीं पीड़ा नहीं, व्यथा का संभार नहीं। यहाँ तक कि मेरी मामियों का रुदन भी हर्ष के तपते तवे पर मात्र कुछ बूँदों की तरह छनछनाकर रह गया।

इसी बीच भीड़ की मानसिकता में अचानक एक परिवर्तन हुआ। पता नहीं किधर से आवाजें उठने लगीं—“नारद की भविष्यवाणी पूरी हुई। महर्षि नारद की जय! महर्षि नारद की जय!” अनवरत नारे लगने लगे।

सबकी आँखें सकपका गईं। मुझे भी लगा कि कहीं से नारदजी पधार रहे हैं।

पर छंदक आगे आता दिखाई दिया। अब तक चरण छूनेवाला छंदक मुझसे गले मिला और हँसते हुए बोला, “नारदजी नहीं आए तो क्या हुआ, मैं तो आ गया हूँ।”

क्या यह छंदक ही नारद थे? अभी इस प्रश्न का उत्तर हमें खोजना शेष है।

□

छह

यद्यपि मैंने यह बात कुरुक्षेत्र में कौरवों और पांडवों की सेना के बीच में खड़े मोहग्रस्त अर्जुन से कही थी —‘सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते’—सम्मानित पुरुष के लिए अपकीर्ति मृत्यु से भी बुरी होती है; किंतु जब कंस मारा गया तब मेरे मन में कुछ ऐसे ही विचार आए थे। मैंने सुना था कि अपने पिता उग्रसेन के शासनकाल में वह कितना सम्मानित राजकुमार था, प्रजा का कितना प्रिय था! पर अचानक उसके जीवन में एक मोड़ आया। उसके श्वसुर जरासंध ने उसके भीतर एक ऐसी आग लगाई कि उसकी अस्मिता महत्वाकांक्षा के हिमालय पर जा बैठी—और एक भविष्यवाणी ने उसकी कीर्ति को एकदम राक्षसी बना दिया।

फिर वह अपकीर्तियों से घिरता गया, घिरता गया, बराबर घिरता गया।

उन्हीं अपकीर्तियों ने उसके जीवन को मृत्यु से भी घिनौना और कुत्सित बना दिया। वस्तुतः उसकी हत्या उसकी मृत्यु के पहले हो गई थी। वह अपनी अहम्मन्यता में ऐंठा एकमात्र जीवित शव रह गया था। मैं तो उसकी मृत्यु का निमित्त मात्र था। उसके कर्म तो उसे बहुत पहले ही मार चुके थे।

पर जो कुछ भी हो, इस समय तो रक्त उगलता उसका मृत शरीर अंतःपुर के प्रशस्त प्रांगण में ले आया गया था। मेरी दोनों मामियाँ उससे लिपटकर, दहाड़ मारकर रो रही थीं। उनके लिए तो अब कुछ भी नहीं रह गया था। सबकुछ लुट चुका था। सिर पटकना भर उनके हाथ में था।

उनकी रुलाई के स्वर में समवेत हो गया था दासियों और परिचारिकाओं का आर्त स्वर।

यह सम्मिलित स्वर उदास जंगल के अँधेरे में हजारों शृगालों के साथ रोने जैसा भयावह और अशुभ था। मैं लगभग घबरा गया—हे भगवान्, यह मैंने क्या कर डाला? पर दूसरे ही क्षण जैसे मेरे मन ने ही मुझे रोका—यह सब तो होना ही था, इसमें तुम्हारा क्या दोष?

फिर भी उन चीखों ने मुझे काफी व्यग्र कर दिया था। मेरे मन में एक बार आया कि मैं अपनी मामियों को स्वयं समझाऊँ। मैं आगे भी बढ़ा; पर मेरी बगल में खड़ी एक बूढ़ी-सी महिला ने मुझे रोकते हुए कहा, “वह धधकती हुई आग है। उसके पास मत जाओ। केवल यहीं से देखते रहो। वह धीरे-धीरे स्वयं बुझ जाएगी।”

हुआ ऐसा ही। यह रुलाई कब तक चलती? उन महिलाओं ने ही एक-दूसरे को चुप कराना आरंभ किया —“अब तो जो कुछ होना था, हो गया। अब महाराज की आत्मा की शांति की व्यवस्था करो।”

अचानक मेरी दृष्टि ईशान की ओर गई। मैंने देखा, मेरी माँ देवकी वहाँ चुपचाप बैठी है। बगल में मालिनी उसे सहारा दिए हैं। स्पष्ट लग रहा था कि उसकी मानसिक स्थिति मूर्च्छा के निकट है। क्यों न हो! कंस उसका भाई था। उसके विवाह की डोली में उसने स्वयं कंधा लगाया था।

इसी बीच एक अप्रत्याशित खड़बड़ाहट-सी हुई। कुछ मागधी सैनिकों के साथ वृतघ्न अंतःपुर में चला आया—और उसने कुछ खोजते हुए जैसे चारों ओर दृष्टि दौड़ाई। मुझपर आकर उसकी आग्नेय दृष्टि रुक गई। कुछ क्षणों तक उसकी आँखों से निकली चिनगारियाँ मुझपर बरसती रहीं।

अचानक एक दूसरी स्थिति और पैदा हुई। दूसरे द्वार से कुछ मथुरिए सैनिकों के साथ प्रद्योत आ धमका। वह चुपचाप आकर मेरी बगल में खड़ा हो गया। इसके बाद छंदक और अंधक बाहुक भी कुछ व्यक्तियों के साथ आ गए।

“अक्रूर चाचा कहाँ हैं?” मैंने प्रद्योत से पूछा।

“बाहर तो दिखाई पड़े थे।” उसने कहा और फिर एकटक उसने वृतघ्न को घूरना शुरू किया। ‘लगता है, कोई गंभीर स्थिति पैदा हो रही है।’ मैंने सोचा।

“मैं सोचता हूँ कि महाराज उग्रसेन को बंदीगृह से ससम्मान बुला लिया जाए।” मैंने प्रद्योत से कहा। पर वह चुप ही रहा।

“अभी नहीं।” छंदक धीरे से बोला।

“अक्रूरजी को आ जाने दीजिए, तभी कोई निर्णय लेना उचित होगा।” अंधक बाहुक ने कहा।

मेरी समझ में नहीं आ रहा था कि बंदीगृह से नानाजी को लाने में ऐसी कौन सी बात है कि लोग इतनी सावधानी बरत रहे हैं। सूचना तो उन्हें पुत्र के निधन की मिल ही गई होगी। फिर उन्हें पुत्र के शव के निकट क्यों नहीं ला रहे हैं?

फिर मामाजी की अंत्येष्टि का प्रश्न है। अब बलराम भैया ने कहा, “पिता के रहते पुत्र को मुखान्नि कौन देगा?”

भैया से इतना सुनते ही मेरे पास खड़ा एक बूढ़ा बिलख पड़ा—“हाय रे दुर्भाग्य! पुत्र को मुखान्नि पिता दे!” मैंने उसकी ओर देखा अवश्य, पर यह नहीं जान पाया कि वह कौन है। इतना उसकी सिसकन में अवश्य था कि वह राजपरिवार से संबंधित है।

“तेरे कर्म ऐसे न होते, कंस, तो यह स्थिति क्यों आती!” और वह फिर बिलखने लगा।

वातावरण की इस संपूर्ण गंभीरता और करुणार्द्रता में भी वृतघ्न पिघलते बादलों में बिजली की तरह कुछ अलग दिखाई दे रहा था। मेरी दृष्टि रह-रहकर उसकी ओर जा रही थी। वह मुझे ऐसे घूर रहा था जैसे कच्चा चबा जाएगा। उसके दोनों नथने बनैले सूअर की तरह फड़क रहे थे।

तब तक अक्रूर चाचा भी आ गए। मैंने उन्हें देखते ही नानाजी को लाने की बात कही।

“अभी नहीं।” इस बार छंदक की आवाज पहले से अधिक तेज थी—“उनके जीवन को खतरा है।”

‘खतरा है!’ मैं सोच ही रहा था कि तब तक मैं क्या देखता हूँ कि वृतघ्न ने बड़े आवेश के साथ अपने म्यान से तलवार खींच ली। उस रोते-कलपते वातावरण में एक विचित्र-सी खड़बड़ाहट हुई।

पर वहाँ उसने कुछ किया नहीं। ज्वार के सिंधु के सामने अचानक उसके विवेक की चट्टान आ गई। वह रुक तो गया, पर असि उसके म्यान में नहीं गई—और न वह वहाँ ठहर ही सका। एक तप्त झोंके-सा अपने सैनिकों के साथ चला गया।

उधर प्रद्योत जैसे पहले से ही तैयार था। वृतघ्न के बाहर निकलते ही वह भी दूसरे द्वार से झपटा। छंदक और बाहुक सब दौड़ पड़े। हमारे मित्रों में हड़बड़ाहट हुई। स्पष्ट हो गया था, कुछ-न-कुछ होगा ही।

“तुम वृतघ्न को देख रहे थे न?” भैया धीरे से बोले, “कैसा आक्रोश में था! एक ओर उसकी बहन का सिंदूर धुल रहा था और दूसरी ओर वह आगबबूला हो रहा था।” इसी क्रम में भैया ने कुछ और भी कहा; पर मैं सुन नहीं पाया।

मेरी मनःस्थिति तो उस प्रतिशोध को तौलने लगी थी, जिसका कोई अंत नहीं होता; जो दूसरे को जलाने की प्रक्रिया में स्वयं को जलाना पहले आरंभ करती है। इस समय भी वृतघ्न स्वयं जल रहा था।

अचानक जोर का कोलाहल सुनाई दिया। मैं दौड़ता हुआ अंतःपुर से बाहर आया तो देखा कि वृतघ्न मारा जा चुका है। पता चला कि उसके शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर दिए गए। प्रद्योत तो बड़ा सहज और सरल व्यक्ति लगता था। उसमें क्रोध का ऐसा उद्रेक कैसे हुआ? मैं दूर से ही देख रहा था कि यदि छंदक ने उसे पकड़ा न होता तो वह

कई मागधी सेनानायकों को यमपुर की राह दिखा देता।

मैंने जब उसे शांत करने की चेष्टा की तो वह फफककर रो पड़ा। थमा हुआ तूफान बरसने लगा—“मेरा क्या रह गया, कन्हैया! मेरी पत्नी मारी गई, बच्चों का पता नहीं। एकदम एकाकी, निःसंग जीने के लिए विवश किया गया; क्योंकि मर भी नहीं सकता था। मेरी मृत्यु पर इसी नीच का पहरा था।” उसने वृतघ्न की लाश की ओर संकेत किया और मुझसे लिपटकर रोता रहा—“फिर भी यह मुझे आँखें दिखाता है। आखिर यह है कौन मेरा? महाराज तो स्वर्ग सिधार गए। अब इससे मेरा क्या वास्ता?”

इधर बातें चल ही रही थीं कि उधर मागधी और मथुरिया सैनिकों के बीच तलवारें चलने लगीं। इतने दिनों का गुबार तो था ही, आज निकालने का अवसर मिला था। मथुरियों में उत्साह कुछ अधिक था। देखते-देखते सैकड़ों मागधी धराशायी हो गए।

यह तो विचित्र हो गया। इसकी कल्पना भी नहीं थी। मैंने शीघ्र ही भैया से विचार-विमर्श किया। छंदक की राय थी कि जो कुछ होना है, आज हो जाना चाहिए; क्योंकि मथुरिया सैनिकों का मनोबल ऊँचा है। यही समय है मागधी प्रभाव से मथुरा के मुक्त होने का।

पर मैं व्यर्थ के विनाश के पक्ष में नहीं था। तब तक बाहुक ने भी छंदक से कहा, “तुमने जो चिनगारियाँ बोई थीं, उसकी फसल तो काट ली, अब पूरे खेत को बरबाद करने पर क्यों लगे हो?”

इतना सुनना था कि मैं एकदम चलती तलवारों के बीच में कूद पड़ा और सभी को संबोधित करते हुए बोला, “यह क्या कर रहे हो, हमारे वीर सैनिकों? अभी महाराज का शव पड़ा ही है कि तुम्हारी तलवारें चमकने लगीं। कोई सुनेगा तो क्या कहेगा!”

इतना सुनना था कि तलवारें तो रुक गईं, पर वे अभी म्यान में नहीं गई थीं। मैंने बोलना जारी रखा, “जरा सोचो तो, तुम स्थान की दृष्टि से अवश्य अलग हो। कोई मगध का रहनेवाला है, कोई मथुरा का; पर तुम्हारा रक्त तो एक ही है। उसे आपस में लड़कर क्यों बहा रहे हो?”

“मागधी सैनिकों ने हमपर अधिकार करना चाहा था। उन्होंने अनेक अत्याचार किए हैं।” भीड़ से एक तेज आवाज उभरी।

“सैनिक कभी अत्याचारी नहीं होता। अत्याचारी तो वह होता है, जिसकी आज्ञा मानने के लिए वह विवश है। संयोग कुछ ऐसा है कि आज आपको आज्ञा देनेवाले दोनों (कंस और वृतघ्न) स्वर्ग सिधार चुके हैं। जब अत्याचारी ही नहीं रहा तब अत्याचार कहाँ!”

लोग मौन खड़े रह गए। तलवारें धरती चूमने लगीं। मैंने उठते तूफान को बड़ी सहजता से रोक लिया था। वृतघ्न की लाश भी अंतःपुर में ले आई गई।

□

इसके बाद ही एक अफवाह उड़ी—प्रद्योत राजा बनना चाहता है। मुझे विश्वास नहीं हुआ। मैंने चारों ओर दृष्टि घुमाई, पर प्रद्योत कहीं दिखाई नहीं दिया। हाँ, गर्गाचार्य अवश्य दृष्टि में आ गए। मैं दौड़ता हुआ उनके पास गया।

“सुनता हूँ, प्रद्योत ने राजसिंहासन के लिए वृतघ्न की हत्या की?”

“सुन तो मैं भी रहा हूँ।” आचार्यजी बोले, “पर विश्वास मुझे नहीं होता।”

“विश्वास तो मुझे भी नहीं है।” मैंने कहा, “वृतघ्न के वध के बाद प्रद्योत की आँखों से झरनेवाले पश्चात्ताप में मुझे किसी प्रकार की महत्वाकांक्षा दिखाई नहीं दी।”

“हो सकता है कि अव्यवस्था फैलाने के लिए यह मागधी सैनिकों का षड्यंत्र हो; क्योंकि इस समय वे यहाँ

लगभग दो सहस्र हैं।” आचार्य बोले।

“दो सहस्र! इतने सैनिक!” मुझे आश्चर्य हुआ—“लगता है, यहाँ के सैनिकों पर से कंस का विश्वास उठ गया था!”

“उठ नहीं गया था वरन् उठा दिया गया था।” आचार्य बोले, “यह सारी विषवेलि जरासंध और उसके पुत्र वृत्घ्न की बोई है।”

तब तक अचानक किसी ओर से आवाज आई—“प्रद्योत किसी दृष्टि से सिंहासन का अधिकारी नहीं हो सकता, क्योंकि वह विधुर है। आखिर पट्टमहिषी का स्थान कौन ग्रहण करेगी?”

“राजसिंहासन पर बैठने के बाद व्यक्ति विधुर हो सकता है, पर विधुर को राजसिंहासन पर बैठाया नहीं जा सकता।” यह दूसरी आवाज थी, जो वहाँ की भीड़ से उभरी थी।

“पर अभी तो महाराज उग्रसेनजी जीवित हैं।” यह किसी और ने कहा।

इन विवादों से दो बातें स्पष्ट हो रही थीं। एक तो किसीने प्रद्योत को राजसिंहासन का आकांक्षी बताकर, एक झूठी अफवाह उड़ाकर अराजकता पैदा करने की चेष्टा की है; दूसरे, यदि राजसिंहासन के उत्तराधिकारी की शीघ्र घोषणा न की गई तो स्थिति विषम हो सकती है। मैंने इस संदर्भ में आचार्य से मंत्रणा की और मैंने उनसे स्थिति सँभालने को कहा। उन्होंने उत्तल पर खड़े होकर घोषणा की—

“राज्याधिकारियों और प्रजाजनो! यह संकट काल है। और संकट से भी अधिक संक्रमण काल है। एक व्यवस्था समाप्त हो चुकी है और दूसरी व्यवस्था को जन्म लेना बाकी है। एक रिक्तता की स्थिति है। अनेक अफवाहें, असत्य सूचनाएँ और मिथ्या प्रचार आपको उद्वेलित कर सकते हैं; पर आपको अपनी शांति बनाए रखना है। आपकी जरा सी भी व्यग्रता मथुरा को संकट में डाल सकती है।

“राजसिंहासन खाली है। इसके प्रति आपकी व्यग्रता स्वाभाविक है। वस्तुतः हम भी व्यग्र हैं। शीघ्र ही मंत्रिपरिषद् मिल रही है, जिसमें धर्म के अनुसार न्यायोचित व्यक्ति का चयन किया जाएगा।”

“इसके लिए वसुदेव तो हैं ही। निरंतर पच्चीस वर्षों तक उन्होंने यातनाएँ झेली हैं। उनकी संतानों का उनके सामने हनन किया गया है—और प्रसन्नता की बात यह है कि उनकी ही संतान ने इस अत्याचारी कुशासन का अंत भी किया है। इस गद्दी पर उन्हींका अधिकार होना चाहिए।” भीड़ से उभरी यह आवाज काफी प्रभावशाली थी।

“आपका प्रस्ताव भी मेरी दृष्टि में है।”

गर्गाचार्य बोल ही रहे थे कि वसुदेवजी स्वयं अपने एक सहयोगी के कंधे का सहारा लेते हुए उत्तल पर चढ़ आए। उनके आते ही आचार्यजी पीछे हट गए। लोगों की करतलध्वनि से लगा कि राजसिंहासन के लिए वे अपनी स्वीकृति देंगे; किंतु उन्होंने जो कुछ कहा, उसमें गंभीर निर्वेद था।

“आप लोगों ने मेरे प्रति जो विश्वास व्यक्त किया है, उसके लिए मैं कृतज्ञ हूँ। मुझमें कुछ भी ऐसा नहीं है, जिसके आधार पर मैं स्वयं को मथुरा के राजसिंहासन के उपयुक्त समझूँ। पच्चीस वर्षों तक निर्वासित जीवन जीते-जीते, वह भी छिपे-छिपे, बादलों-सा भटकते-भटकते मैं एक संन्यस्त यायावर हो गया हूँ। मैं कहीं, मेरी पत्नी कहीं, मेरा बालक कहीं—यह भी कोई जीवन था!...और कभी मिले भी तो चोरों की तरह कि कहीं कोई देख न ले। मेरा ही बालक और दूसरों के यहाँ।

“हाय री नियति, तूने कैसे-कैसे खेल खिलाए हैं! भाद्रपद की वह काली अँधेरी रात! अब तक वह मेरे दृष्टों में समाई है। उस रात घने मेघों के बीच चमकती बिजली रह-रहकर आज भी मेरे मन में कड़क उठती है। और...और, वह बढ़ी हुई यमुना—उसके उफनते उन्माद को चीरता-तैरता मैं अपने नवजात शिशु, हृदय के टुकड़े

को लिये दूसरे के यहाँ छिपाने के निमित्त चला जा रहा था। ईश्वर न करे, किसी पिता को ऐसी स्थिति का सामना करना पड़े।

“कभी-कभी एकांत में बैठकर मैं सोचता रहा, आखिर यह सब क्यों हुआ? क्या कंस मेरा सचमुच शत्रु था? कदापि नहीं। आप विश्वास करें, मेरी-उसकी जैसी आत्मीयता थी, वह बहुत कम लोगों में होती है। उसीने मुझे अपनी बहन के लिए चुना था और मेरे सामाजिक स्तर का खयाल न करते हुए भी सर्वोत्कृष्ट वर घोषित किया था। बिदाई के समय उसने हमारी पालकी उठाई थी। फिर वह मेरा ऐसा विरोधी क्यों हो गया—इसी सिंहासन के लिए न!

“वस्तुतः राजसत्ता की आकांक्षा उस जघन्य निष्ठुरता को जन्म देती है, जो मनुष्य को पशु बना देती है। कृपा कर आप मुझमें ऐसी आशंका का बीजारोपण मत कीजिए कि मैं अपना मनुष्यत्व खो बैटूँ।...इतनी ठोकरें खाने के बाद तो मैंने उसे पाया है—और अब तो मैं वीतरागी का जीवन जी रहा हूँ। संसार में रहकर भी संसार से दूर हूँ।”

इतना कहकर पिताजी चुपचाप लौट पड़े। लोगों ने ‘साधु-साधु’ कहकर उनका सम्मान किया।

पिताजी का वह प्रवचन जितना प्रभावशाली था, मैं उतना आपको बता नहीं पाया। उसकी शब्दावली तो अब मुझे याद नहीं है, पर उसका प्रभाव अब तक मेरे मस्तिष्क पर अंकित है। लोगों ने बड़ी गंभीरता और शांति से उन्हें सुना था। एक बात और भी थी कि पिताजी ने सबकुछ सहा, पर कभी कुछ कहा नहीं था। आज पहली बार वे कह रहे थे। इसीसे अंतःपुर की कुछ महिलाएँ भी उन्हें सुनने आ गई थीं। मैं सबको तो नहीं जानता था, पर माँ देवकी और अगल-बगल खड़ी रुक्मिणी एवं मालिनी को तो पहचानता ही हूँ।

भाटा के थमे समुद्र में कहीं से एक लहर उठी और राजसिंहासन पर बैठाने के लिए मेरा नाम आया। मैंने सदा की भाँति मुसकराते हुए कहा, “जिस विषय पर मंत्रिपरिषद् अभी विचार करने जा रही है, अच्छा हो, उस विषय को हम उसी पर छोड़ दें।”

“हम निर्णय कहाँ ले रहे हैं! हम अपनी राय तो दे सकते हैं।” भीड़ से उठा यह दूसरा स्वर था।

“पर मैं कैसे सिंहासन पर बैठ सकता हूँ! अभी मेरी अवस्था क्या है!” इसके बाद मैंने हँसते हुए कहा, “फिर मैं अभी तो अविवाहित हूँ। मेरे राजा होने पर पट्टमहिषी कौन होगी?” और अचानक उस खिलखिलाहट ने उस शांति को झकझोर दिया।

मैंने देखा कि मेरे इस कथन पर रुक्मिणी और मालिनी मुँह पर हाथ रखकर हँस रही थीं, मानो मैंने उनकी दृष्टि से बहुत बड़ा झूठ कहा हो।

तब तक प्रद्योत एक बूढ़े को सहारा देकर ले आता दिखाई दिया। उस व्यक्ति के श्मश्रु तथा सिर के बाल हिम श्वेत हैं। झुर्रियों में अनुभव के साथ-साथ विपदा के संघर्ष की रेखाएँ हैं।

मैंने उस बूढ़े को कभी देखा नहीं था; किंतु उसे देखते ही भीड़ चिल्ला उठी—“महाराज उग्रसेन की जय!”

मेरी बगल में खड़े आचार्यजी का भी स्वर उनमें सम्मिलित हो गया। वे उन लोगों में थे, जिनका उत्साह चरम बिंदु पर था। मुझे समझते देर न लगी कि यही मेरे नानाजी हैं। मैंने दौड़कर उनके चरण छुए।

उन्होंने भी मुझे पहली बार देखा था। उठाकर वक्ष से लगा लिया। उन्होंने कहा, “मैंने तुम्हारे बारे में बहुत सुना था; पर मुझे विश्वास नहीं था कि जीवन में मैं तुम्हारा दर्शन भी कर सकूँगा।”

उनके नेत्र सजल हो उठे थे। मैंने अनुभव किया कि उनपर भी मेरा ईश्वरत्व ही प्रभावी था।

बड़ी देर तक जयनाद होता रहा। महाराज हाथ उठाकर सभी के अभिवादन का उत्तर देते रहे। मैं उनसे छूटकर सीधे आचार्य के पास लौटा; क्योंकि मैं अनेक जिज्ञासाओं से घिर चुका था।

मेरे निकट आते ही वे बोल पड़े—“देखा, हम सोचते ही रहे और प्रद्योत निर्णय लेकर महाराज को कारा से छुड़ा भी लाया।”

“पर लोग तो स्वयं उसके महाराज होने की बात कह रहे थे?”

“यह सब मागधियों का प्रचार था—अराजकता पैदा करने के लिए। अब तो स्पष्ट हो गया। अच्छा ही हुआ, लोगों ने अपनी आँखों देख लिया। दूध का दूध और पानी का पानी हो गया।”

“पर जब मैंने महाराज को छुड़ाने की बात कही थी, तब लोगों ने उनके लिए खतरा बताया था।” मैंने कहा।

“खतरा था; पर वृत्घ्न के वध के बाद वह संप्रति समाप्त हो चुका है। अब मागधी सैनिकों का मनोबल धराशायी है। इस समय तो वह कुछ नहीं कर सकते।”

“और वे दूसरे वृद्ध सज्जन कौन हैं, जो नानाजी के पीछे अपने बाएँ हाथ को दाएँ का सहारा देते हुए चले आ रहे हैं? उनकी आकृति पर पीड़ा का तनाव स्पष्ट दिखाई दे रहा है।”

“ये बाहुक हैं। इनपर वृत्घ्न ने तोमर से प्रहार किया था। इन्होंने अपने बाएँ हाथ से रोका और घायल हो गए।” आचार्यजी ने एक साँस में कह सुनाया।

“मैं समझ नहीं पाया कि ये कौन बाहुक हैं! एक अंधक बाहुक हैं, जो अभी-अभी मुझसे मिले थे और इसी भीड़ में कहीं होंगे!” मैंने कहा।

“ये वज्र बाहुक हैं। महाराज उग्रसेन के नितांत आत्मीय। जब महाराज को कारा में डालने का षड्यंत्र चल रहा था, तब उस षड्यंत्र का भंडाफोड़ करते हुए इन्होंने गंभीर विरोध किया था। परिणामतः इन्हें भी जेल में महाराज के साथ ही डाल दिया गया।”

“कारा में इनपर प्रहार हुआ! यह तो नितांत अनैतिक है।” मैंने कहा, “कारा में बंदी की सुरक्षा का पूरा दायित्व प्रशासन का होता है।”

“जब बंदी प्रजा हो, मात्र निरपेक्ष प्रजा।” गर्गाचार्य मुसकराए—“और जब वह राजशत्रु हो तो उसके विनाश का दायित्व प्रशासन को सौंपा जाता है।”

“तब तो नानाजी को अब तक स्वर्ग सिधार जाना चाहिए था।”

“हाँ, यही तो आश्चर्य है।” आचार्यजी बोले, “इसके मुख्य दो कारण हैं—एक तो उग्रसेन के प्रति जनता की व्यापक सहानुभूति, दूसरे भगवत् कृपा।”

हमारी बातें चल ही रही थीं। भीड़ बढ़ती चली जा रही थी कि उसके रेले को चीरता हुआ प्रद्योत हमारी ओर चला आया और उसने आचार्यजी से कहा, “आप सिंहासन पर विराजने के लिए महाराजजी से आग्रह करें।”

आचार्यजी तुरंत तैयार हो गए और मुझे लेकर मंच के निकट पहुँचे। उन्होंने तुमुल कोलाहल के बीच उद्घोषणा की—“मैं मथुरा की जनता की ओर से महाराज से आग्रह करता हूँ कि वे राजसिंहासन पर विराजें।”

जनता की करतलध्वनि और तुमुल जयघोष ने इस प्रस्ताव का समर्थन किया; पर महाराज मौन खड़े कुछ सोचते रहे। फिर मुझे अपनी ओर खींचकर मेरे कंधों पर अपने दोनों हाथ रखते हुए बोले, “मैं तुम्हारा अनुगृहीत हूँ कि इतनी विषम परिस्थितियों में भी तुमने मुझे याद रखा। लगभग तीस वर्षों से भी अधिक मैंने कारा में बिता दिया। अब वही जीवन जीने का मैं अभ्यस्त हो गया था। अब कारा ही मेरा घर हो गया था। उसकी यातना ही मेरी जीवन-पद्धति हो गई थी। मैंने स्वप्न में भी नहीं सोचा था कि मैं कभी उन दीवारों के बाहर निकल पाऊँगा, कभी आप लोगों के दर्शन का लाभ ले पाऊँगा।...”

इसके बाद उन्हें खाँसी-सी आ गई और कुछ देर तक खाँसते रहे। उनकी खरखराती पसलियों ने उनके रोगग्रस्त

होने की स्पष्ट घोषणा की।

वे रुक-रुककर फिर बोलते गए—“मेरे जैसा अभागा शायद इस धरती पर खोजने पर भी तुम्हें नहीं मिलेगा, जिसके जीवन का बहुमूल्य समय बंदीगृह में बीत गया। अब ठठरियों पर झूलते इस जीवित मांस के सिवा जीवन में क्या रहा!” उनकी आवाज गंभीर होते-होते एकदम भर्रा आई—“जिसके नौ-नौ बेटे हों और सबके शव जिसकी आँखों के सामने पड़े हों...” गला अवरुद्ध हो गया। आँखें बह चलीं। फिर भी वे बोलते रहे—“माना कि कंस राक्षस हो गया था, उसके अन्य भाई भी निकम्मे थे; पर मुझे अपने दो बेटों—कंक और न्यग्रोध पर बड़ा विश्वास था। वे भी मारे गए। अब उनकी अंत्येष्टि करने के लिए आप लोगों के सामने खड़ा मैं एक अभागा बूढ़ा बाप हूँ। इतनी यातनाएँ झेलीं, पर मरा नहीं। यही दिन देखने के लिए मुझे निष्ठुर नियति ने शायद जीवित रखा है।”

इतना कहते-कहते वे फफककर बच्चों की तरह रोने लगे। उस भीड़ में कदाचित् ही कोई ऐसा रहा हो, जिसकी आँखें नम न हो गई हों।

आचार्यजी ने उन्हें एक मंचक पर बैठाया। उन्हींकी बगल में उनके बालसखा वज्र बाहुक को भी स्थान दिया गया।

शीघ्र ही शीतल जल मँगाया गया। आचार्यजी ने उन्हें पिलाया। मैंने अनुभव किया कि मेरे पीछे खड़े अक्रूर चाचा की सिसकियाँ अब तक बंद नहीं हुई थीं।

“यह सब इसलिए हुआ कि आपने अपने समधी को बहुत अधिक सिर पर चढ़ा लिया था।” बात बहुत धीरे से कही गई थी, पर शांति इतनी थी कि रेंगती हुई सबके कानों को छू गई।

“अब तो जो होना था, वह हो चुका है।” आचार्यजी ने परिस्थिति को सँभाला, “अब हमें आगे और विशेषकर इस समय के लिए सोचना चाहिए। राजसिंहासन को खाली रखा नहीं जा सकता और महाराजजी से अधिक उपयुक्त इस समय कोई व्यक्ति दिखाई नहीं देता। प्रजा की भी यही इच्छा है।”

“प्रजा की इच्छा तो शिरोधार्य है; पर अब मैं राजसिंहासन का क्या भोग करूँगा! अब वैराग्य धारणकर मुझे परम पुरुषार्थ के लिए प्रयत्न करना चाहिए।”

कई लोगों ने उन्हें समझाया; पर वे कुछ समझ नहीं पा रहे थे। उनकी आँखों से निरंतर अतीत झर रहा था। वे वर्तमान की निस्सारता देख रहे थे। अंत में फिर वे बिलखते हुए बोले, “अब तो मैं निस्संतान हो गया हूँ। यदि कोई संतान होती तो मैं उसीको गद्दी पर बैठाकर अरण्यवासी हो जाता।” ऐसा लगा कि वे फिर फफककर रो पड़ेंगे; किंतु मुझे खींचकर पुनः अपने निकट खड़ा करते हुए वे बोले, “अब मैं इसीको अपना पुत्र बनाता हूँ।”

इतना सुनते ही भीड़ ‘साधु-साधु’ और ‘अति उत्तम, अति उत्तम’ चिल्ला पड़ी।

“इसे बनाने की क्या बात है! यह तो आपका है ही।” आचार्यजी ने कहा, “पर आप इसे मेरी प्रार्थना समझें या अपने कुलगुरु का आदेश, आप अवश्य सिंहासन पर विराजें।”

इसके बाद वे चुपचाप उठे और प्रासाद के प्रशस्त कक्ष की ओर बढ़ गए।

□

कुछ लोगों का विचार था कि वृत्घ्न का शव तेल में सुरक्षित रखकर कंस और उसके भाइयों की विधिवत् अंत्येष्टि कर दी जाए। वृत्घ्न की अंत्येष्टि के लिए हमें जरासंध की प्रतीक्षा करनी ही चाहिए। उसके आगमन की बाट जोहने के पक्ष में कंस की पत्नियाँ भी थीं।

किंतु प्रद्योत इसके विरुद्ध था। अपने वधित पुत्र को देखकर जरासंध के रक्त का उबाल अपनी सीमा से बाहर हो सकता है। हो सकता है, उसका पागलपन प्रलय मचा दे। फिर अभी मागधी सैनिक और अधिकारी तो यहाँ हैं ही।

ज्वालामुखी को विस्फोट का अवसर नहीं देना चाहिए। सुना है, इसके संबंध में उसने छंदक से भी मंत्रणा की।

निश्चित था कि प्रद्योत भीतर-ही-भीतर डर भी रहा था। अपने पुत्र को देखते ही जरासंध के सिर पर अवश्य खून सवार हो जाएगा। फिर वह प्रद्योत का संहार करके ही रहेगा, चाहे इसके लिए उसे कोई भी मूल्य चुकाना पड़े। जरासंध का क्रोध भूखे सिंह की तरह अपने शिकार को छोड़ता नहीं है।

छंदक ने अपने गणों से मिलकर एक योजना बनाई और यह प्रचारित कराया कि महाराज कंस और उनके भाइयों की अंत्येष्टि के बाद भी कोई शव राजभवन में अपने अंतिम संस्कार की प्रतीक्षा में रह जाए, यह अशुभ है।

“पर वृत्घ्न का संस्कार कौन करेगा?” अब प्रश्न यह खड़ा हुआ। मागधी सैनिकों का कहना था कि जिसका पिता हो, पुत्र हो, भाई हो, वह निपूतों की गति मरे—ऐसा नहीं हो सकता। इसके लिए हमें मगध सूचना भेजनी चाहिए और लोगों के आने तक प्रतीक्षा करनी चाहिए। यदि आप सूचना भेजने में असमर्थ हों तो हम लोग स्वयं किसी चर को भेजते हैं।

अब विचित्र स्थिति पैदा हो गई थी। किसी भी क्षण संघर्ष हो सकता था। यहाँ तक कि अक्रूर चाचा भी अशांत हो चुके थे। तूफान के उठने के पहले ही मैंने छंदक और प्रद्योत से मंत्रणा की। मैंने उससे कुछ घोषणा करने को कहा। उसने अपनी असमर्थता स्पष्ट की—“मैं तो वृत्घ्न का हंता हूँ। मेरे कहने का कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा।”

मैंने बहुत सोचा, इस जटिल समस्या से निकलने का आखिर उपाय क्या है? मुझे छंदक की बात ठीक लगी। मैंने उससे कहा, “तुम्हारा तर्क ही इस समय काम करेगा। रह गई अंत्येष्टि की बात, तो युद्ध में मारे गए लोगों की सामूहिक अंत्येष्टि होती है।...पर इस बात को आचार्यजी धर्म की आड़ लेते हुए कहें तो शायद मान ली जाए।”

अब आचार्यजी को कौन समझाए? हम लोगों ने वृद्ध अंधक बाहुक को पकड़ा और उन्हें समझाया कि ऐसे वैचारिक संघर्ष के समय आप बूढ़ों की राय का ही महत्त्व होगा।

बाहुक ने शीघ्र ही मथुरा एवं गोकुल के वृद्ध लोगों की एक सभा बुलाई और बड़ी होशियारी से वह मनवा लिया, जिसे हम लोग चाहते थे। अब आचार्यजी को अपना निर्णय सुनाने के लिए तैयार किया गया।

आचार्यजी ने बड़ी योग्यता से जो कुछ कहा, वह मुझे आज भी याद है—“बंधुओ, मुझे वर्तमान संदर्भ में कुछ वृद्धजनों ने धर्म की व्यवस्था देने को कहा है। धर्म के समक्ष अपना-पराया, शत्रु-मित्र आदि कुछ भी नहीं रह जाता। अग्नि, सूर्य, जल और वायु के समान धर्म भी सबसे समान व्यवहार करता है। इसलिए मैं तटस्थ भाव से धर्म वचन बोलता हूँ—वृत्घ्न एक वीर पुरुष था। उसने वीरगति पाई। धार्मिक व्यवस्था के अनुसार उसका स्वर्गारोहण हुआ। उसकी आत्मा जन्म-मरण के बंधन से मुक्त हो गई।

“यदि धर्म की यह व्यवस्था न होती तो बड़ा संकट होता। इतने लोग युद्धस्थल में मारे जाते हैं तो उनका क्या होता है? किसका कौन संबंधी है, कोई पहचानता तक नहीं। अरे शव तक तो पहचाने नहीं जाते, लोग उनके संबंधियों की क्या खोज करेंगे! ऐसी मृत्यु पिंडदान की भी अपेक्षा नहीं करती। वह इन सबसे मुक्त होती है।

“किंतु, मेरे प्रिय वृत्घ्न के समक्ष पहचान का संकट नहीं है। पर उसकी वीरगति पाई आत्मा को अंत्येष्टि के लिए वस्तुतः किसी आत्मीय की भी अपेक्षा नहीं है और न पिंडदान ही उसे चाहिए। उसके लिए हम जो भी करेंगे, वह अपनी संतुष्टि के लिए ही करेंगे। आप चाहे यहाँ कीजिए या मगध में, वह आपका अपना होगा। इसलिए महाराज कंस और उनके भाइयों आदि के साथ वृत्घ्न की भी अंत्येष्टि का हो जाना न धर्म के विरुद्ध होगा और न परंपरा के।”

इतना सुनते ही सारा ज्वार थम गया। कुछ मागधी इससे असंतुष्ट जरूर लगे; पर वे भीतर-ही-भीतर कुड़बुड़ाकर रह गए।

छंदक के लोगों ने कहना शुरू किया—“आचार्य ठीक कहते हैं। वृतघ्न ने महाराज का साथ जीवन भर निभाया और अंतिम समय उन्हींके साथ जा भी रहा है। साथी हो तो ऐसा हो।”

इस प्रचार में जितनी गहराई थी, उतनी आत्मीयता भी। परिणाम यह हुआ कि रात का अँधेरा बढ़ते-बढ़ते मागधी शिविरों का असंतोष भी धीरे-धीरे सोने लगा।

दूसरे दिन प्रातःकाल ही कंस की शवयात्रा आरंभ हुई। पूरी मथुरा उमड़ पड़ी। मृत्यु जीवन की सारी कालिमा धो डालती है। आज कंस सबके लिए निर्मल था। जो अत्याचारी था, वह तो चला गया। मायावश जीव ने सबकुछ किया। आत्मा तो अमलिन है, वह कर्ता और करण से मुक्त हुई। अब तो रह गया है मात्र उसका शरीर। उसका क्या दोष! महाराज की अंतिम यात्रा थी। पूरी मथुरा साथ हो चली थी।

आश्चर्य तो मुझे तब हुआ, जब राजप्रासाद से कंस का शव निकलते ही मेरी माँ देवकी संज्ञाशून्य होकर गिर पड़ी। पिता वसुदेव फफककर रो पड़े। जीवन भर जिन्होंने यातनाएँ सही, वे भी ऐसा बिलख पड़ेंगे, मुझे विश्वास नहीं था।

अक्रूर चाचा का साथ छोड़कर मैं अपनी बेहोश माँ के पास ही रह गया। मैंने इसकी भी परवाह नहीं की कि मैं मथुरा के प्रासाद में अकेला हूँ; जबकि मुझे बार-बार सावधान किया गया था कि कभी भी यहाँ निःसंग या एकाकी मत रहना। यद्यपि इस समय मेरे प्रति इस प्रासाद की घृणा और विद्वेष पर निर्वेद की गहरी धूल जम चुकी थी। केवल कुछ महिलाएँ मेरी माँ को सँभालने के लिए रह गई थीं।

माँ होश में आते ही बिलख पड़ी—“चाहे जो भी था, था तो मेरा भाई। अब वह मुझे सताने के लिए भी नहीं रहा।”

□

सामने यमुना बह रही है। समय की भाँति ही उसकी गति है। उसे कोई रोक नहीं सकता। बहना ही उसकी प्रकृति है, उसका धर्म है, उसकी नियति है और फिर सागर में मिलना उसकी चरम परिणति। जीवन की भी यही स्थिति है। नदियों के मूल स्रोत की तरह उसका भी मूल स्रोत किसे ज्ञात है? हाँ, इतना अवश्य लगता है कि जैसे सारी वारिधियाँ सागर में मिलती हैं वैसे ही शरीर छोड़ते ही हर आत्मा परमात्मा की ओर अग्रसर हो जाती है। इसीलिए आत्मा निर्मल है, अमलिन है, अजर और अमर है। वह जलाई नहीं जा सकती, वह बुझाई नहीं जा सकती। जो कुछ जलता है, वह भूत है, उसका भौतिक संदर्भ है। सामने कंसादि की चिता जल रही है और मैं एक किनारे खड़ा सोच रहा हूँ।

महाराज उग्रसेन ने मुखान्नि दी थी। उनकी आँखों में समुद्र हिलोरें ले रहा था। वे रह-रहकर काँप उठते थे। जैसे हवाओं का झोंका यमुना में हिलोर पैदा कर देता है वैसे ही लग रहा था कि वे विचारों के अतिरेक से कंपित हो जाते हैं। क्योंकि अचानक हम लोगों ने उन्हें बड़बड़ाते हुए सुना—“जीवन की अंतिम गति यही है। एक दिन हमें भी यहीं आना पड़ेगा। पर मैं यह नहीं सोचता था कि तुम मुझसे पहले यहाँ पहुँच जाओगे। शायद इसीलिए तुमने मुझे जीवित भी रखा था कि मैं तुम्हें मुखान्नि दे सकूँ। अन्यथा तुमने मुझे बंदी बनाया। कारा में ही तुम मेरा वध कर सकते थे।” फिर उन्होंने फफककर रोते हुए अपना सिर पीट लिया। लोगों ने उन्हें सँभाला, अन्यथा वे चिता पर ही ढुलक जाते।

नानाजी की ऐसी व्याकुलता और श्मशान घाट पर एकत्र इतना विशाल जनसमूह देखकर मेरी मानसिकता में भी कंस की विराट्ता उभरने लगी। अब तक बनी उसकी छवि अचानक धुल-सी गई। लगा, वह मामूली शासक नहीं था। जरासंध के आश्रय में गठित राजमंडल का वह प्रधान था। अपने पिता को कारा में डालकर उसने बड़े-बड़े

राजाओं को बंदी बना लिया था। इसमें अधिकांश मेरे नानाजी के मित्र थे।

इस मानसिकता में भी मुझे उसके वध का कोई पश्चात्ताप नहीं था। मैं तो नारद की भविष्यवाणी का मात्र कर्ता था। जो होना था वह तो पहले से निश्चित हो चुका था। अब भी मुझे मथुरा का क्षितिज आरक्त दिखाई दे रहा था।

मैंने चारों ओर दृष्टि दौड़ाई। छंदक मेरे निकट ही था। मैंने उसे संकेत से बुलाया और एक कोने में ले जाकर धीरे से कहा, “आपने जो चिनगारियाँ बोई थीं, उसकी फसल तो काट ली।”

वह मुसकराया अवश्य, पर वह समझ नहीं पाया कि मैं कहना क्या चाहता हूँ।

“पर कुछ फसलें ऐसी होती हैं कि काटने के बाद भी उनके डंठल से फिर शाखाएँ फूटने लगती हैं।”

अब उसने मेरी बात समझी। बोला, “मुझे भी कुछ ऐसा ही लगता है।”

“आपको चाहिए था कि नानाजी को मुक्त कराते समय अन्य बंदियों को भी मुक्त करवा देते।

“मेरी मंशा तो यही थी।” छंदक बोला, “पर वृत्त के वध के बाद प्रद्योत घबरा गया था। उसी हड़बड़ी में उसने महाराज उग्रसेन को कारा से मुक्त कर दिया; जबकि इसके लिए उसे विधिवत् मंत्रिपरिषद् से अनुमति लेनी चाहिए थी।”

“खैर, जो हुआ, वह तो हो गया।” मैंने कहा, “अब उन बंदियों को यथाशीघ्र छोड़ना चाहिए। इनमें से कई नानाजी के मित्र हैं, जिनकी सहायता की हमें आवश्यकता पड़ेगी।”

“आप सोचते तो ठीक हैं।” छंदक बोला, “पर मुझे नहीं लगता कि जो पच्चीस-छब्बीस वर्षों तक राजपाट से अलग रहा हो, अब उसका कोई प्रभाव प्रजा पर रह गया होगा। अरे, नई संततियाँ तो उन्हें जानती तक न होंगी और इधर बंदीगृह में पड़े-पड़े उन राजाओं की मनःस्थिति भी वीतरागी हो गई होगी।”

“पर मथुरा की कारा में अनेक ऐसे राजा भी बंदी हैं, जिन्होंने कंस या जरासंध के राजमंडल का विरोध किया था।” मैंने इस आशंका की ओर भी छंदक का ध्यान दिलाया—“मुझे तो मथुरा का आकाश रक्तिम दिखाई दे रहा है, और अभी तो यह संध्या है। हो सकता है, रात होते-होते विद्रोही बादल छा जाएँ। उधर जरासंध का आक्रोश भी आग उगलने लगे। एक दूसरी बात और है। जब मनुष्य नहीं रहता तब लोगों के सामने उसकी बुराई भी नहीं रहती। ऐसी स्थिति में उसके प्रति एक सहानुभूति की लहर उभरती है। हो सकता है, कंस मामा के संदर्भ में भी ऐसा हो। फिर यादवों में आपस में भी एका नहीं है। वह भी कई गुटों में बँटे हुए हैं। मेरे प्रति सहानुभूति रखनेवाले या तो मेरे पिता वसुदेव की तरह सज्जन हैं या मेरे काका अक्रूर की तरह संत—और राजनीति संतों का आशीर्वाद चाहती है, उनकी सलाह नहीं।”

मैं बोलता तो चला जा रहा था, पर मैंने ध्यान नहीं दिया कि कुछ और लोग यहाँ आ गए हैं। छंदक ने उन्हें देखते ही बात समाप्त करने की इच्छा से कहा, “आप जरा भी चिंता न करें। सब ठीक हो जाएगा।”

फिर उसने आगंतुकों की ओर देखा। जैसे वह उन्हींसे कह रहा हो, “नारदजी आने वाले हैं, वे सब ठीक कर देंगे।”

भीड़ तो चिता में आग लगते ही छँटने लगी थी; किंतु जब हम लोग अग्नि शांत कर चले, तब संध्या के मुख पर कालिख पुत चुकी थी। एक अध्याय समाप्त हो चुका था। कोई जीवन की नश्वरता की, कोई सत्ता के महत्वाकांक्षा की और कोई नारद की भविष्यवाणी की चर्चा आपस में कर रहा था। अँधेरा लगभग इतना था कि किसीको स्पष्ट देखा नहीं जा सकता था।

नानाजी मेरे कंधे का सहारा लिये चल रहे थे। उन्हींको घेरे हुए अमात्य गण, प्रद्योत, मेरे पिता वसुदेव, अक्रूर चाचा आदि थे। नंद और व्रज के लोग हमसे कुछ ही पीछे थे।

यमुना काफी पीछे छूट चुकी थी। हम चलने में कुछ आगे-पीछे हो गए थे कि एक उखड़ी-उखड़ी-सी आवाज सुनाई पड़ी—“निर्लज्जता की भी कोई सीमा होती है। आ रहे हैं पुत्र की अंत्येष्टि करके, पर पुत्र के हत्यारे का ही सहारा लेते हुए।”

हम लोग एक-दूसरे का मुँह देखने लगे। निश्चित है, यह आवाज नानाजी से भी टकराई होगी; पर वे निर्विकार भाव से चुपचाप बड़े चले आ रहे थे।

“हो सकता है, कोई बहुत बड़ा षड्यंत्र हो, जो बूढ़ा कारा के भीतर से चला रहा हो।” यह आवाज तो मुझे स्पष्ट लगी कि रुक्मी की है।

अब मैंने दृष्टि दौड़ाई। अंधकार में स्पष्ट तो दिखाई नहीं पड़ रहा था, पर आभास लगा कि आगे कुछ ही दूरी पर रुक्मी किसीके हाथ में हाथ डाले ऐसी मस्ती से जा रहा है मानो उसकी जन्म-जन्मान्तर की मित्रता हो; पर वह है कौन? स्पष्ट नहीं हुआ।

यह शोकाकुल सागर की एक ऐसी लहर थी, जो एकदम उससे अलग लगी और जो आसन्न आशंकाओं का आभास देती गई। मेरी जिज्ञासा का जाग उठना अनिवार्य था। मैं बलराम भैया को नाना के पास रखकर धीरे से खिसका और रुक्मी की ओर बढ़ा।

निकट पहुँचते ही आभास लग गया कि रुक्मी का दूसरा साथी बाण है। कंस का साथी और दुष्टता तथा नीचता में भी उसीके समान।

मैं आगे बढ़कर उन तक पहुँचूँ, इसके पहले ही प्रद्योत आ गया—“आपको महाराज खोज रहे हैं।”

मैंने प्रद्योत को संकेत से सबकुछ बता दिया। उसने कहा, “आप जाइए, मैं देखता हूँ।”

जब हम लोग प्रासाद से लौट रहे थे तब मृत्यु का विचित्र सन्नाटा दीपदानों की उदास ज्योति ओढ़ चुका था। वातावरण में सिसकनें थम चुकी थीं। महाराज अंतःपुर के शयनकक्ष में चले गए थे।

□

यद्यपि महाराज आज मुझे रोकना चाहते थे। उन्होंने सजल नयन से आग्रह भी किया; पर मेरी इच्छा बिल्कुल वहाँ रुकने की नहीं थी। अंधक बाहुक और छंदक का भी संकेत राजभवन से चल पड़ने का था; क्योंकि अब भी वे हमें वहाँ असुरक्षित समझते थे। पर मेरे मन में ऐसी कोई असुरक्षा की भावना नहीं थी; फिर भी मन मेरा अक्रूर चाचा के यहाँ ही चलने के लिए प्रेरित कर रहा था।

नानाजी को ब्राह्म मुहूर्त में ही आ जाने का आश्वासन देकर मैं चल पड़ा। वे बोले भी—“ब्राह्म मुहूर्त! वह तो अभी बहुत दूर है।”

पर मैं रुका नहीं।

जब मैं अंतःपुर के सोपान से उतर रहा था, तब मुझे मोड़ पर मौन खड़ी रुक्मिणी मिली। लगता है, वह मेरी प्रतीक्षा में ही वहाँ खड़ी थी। उसने चुपचाप मुझे पकड़कर अपने आलिंगन में खींच लिया।

रुक्मिणी से इतनी सघन निकटता का यह मेरा पहला अनुभव था। मैंने चारों ओर देखा कि कोई मुझे देख तो नहीं रहा है। दीपदान पर मँडराता एक पतंगा भस्म होने के लिए आतुर दिखा। मैं रुक्मिणी को छोड़कर उड़ चलना चाहता था, पर मेरे पंख मधु से चिपक-से गए थे।

“तुमने अच्छा किया।” रुक्मिणी बोली।

“क्या?”

“यही कि तुम रात में प्रासाद में नहीं ठहर रहे हो।” उसने कहा, “मेरे भाई की नीयत तुम्हारे प्रति अच्छी नहीं है।

और अब तो बाण भी आ गया है। दोनों बंद कक्ष में कोई योजना बना रहे हैं।”

“खैर, मैं तो जा ही रहा हूँ।” मैंने कहा, “यह बताओ, महाराज तो सुरक्षित हैं न?”

“कुछ कह नहीं सकती।” उस धुँधलके में भी रुक्मिणी की आँखों में भय की छाया स्पष्ट दिखाई दी।

“तब तो महामात्य को इसकी सूचना देनी चाहिए।”

“मैं उन्हें भी खोज रही हूँ; पर वे कहीं दिखाई नहीं दे रहे हैं।” रुक्मिणी ने कहा, “अब आप ही उन्हें सूचित कर दीजिएगा।”

“पर मैं तो जा रहा हूँ। सिंहद्वार पर मेरे पिता और अक्रूर चाचा मेरी प्रतीक्षा कर रहे होंगे।”

“तब प्रद्योत को सूचना देने का कार्य कैसे होगा?” रुक्मिणी बोली, “प्रासाद का कोना-कोना तो मैंने छान डाला है। वे कहीं दिखाई नहीं पड़े।”

“तब थोड़ा और अँधेरा होने पर प्रासाद से बाहर निकलकर देखने की चेष्टा करो।”

“यह मुझसे संभव नहीं।”

“क्यों? तुम अँधेरे से डरती हो?”

“अँधेरे से नहीं, अंधेर से डरती हूँ।” रुक्मिणी बोली, “मेरे पीछे तो सुव्रता की आँखें लगी हैं। मैं कहीं भी जाती हूँ, वह मेरा पीछा करती रहती है।”

“यह सुव्रता कौन है?”

“मेरी भाभी, रुक्मी की पत्नी।”

रुक्मिणी के इतना कहते-कहते किसीके आने की आहट लगी।

“अब तुम जल्दी से निकल जाओ। लगता है, कोई आ रहा है।” रुक्मिणी बोली।

मैं अभी प्रासाद के बाहर आया ही होऊँगा कि एक गंभीर कोलाहल सुनाई दिया। अवश्य कहीं कुछ हो गया है। मैं अक्रूर चाचा का पता लगाने के लिए दौड़ा। पहले तो वह कहीं दिखाई नहीं दिए; फिर लगा कि बढ़ती हुई भीड़ के मध्य वे घिर गए हैं।

“महाराज कहाँ हैं?” कई लोगों ने एक साथ पूछा; मानो वह भीड़ की जिज्ञासा हो।

“वे शायद शयनकक्ष में चले गए हैं।” यह आवाज अक्रूर चाचा की थी।

“तब हम उन्हें बधाई कैसे दे सकेंगे?”

“मैं अभी उन्हें आपके आगमन की सूचना देता हूँ।” यह आवाज प्रद्योत की है।

‘अरे, वह तो यहीं है।’ मेरे मन ने कहा।

“पर हमें तो बधाई बाद में, संवेदना पहले व्यक्त करनी है।” यह भी ध्वनि भीड़ से ही उभरी थी।

“वस्तुतः महाराज की मनःस्थिति बधाई और संवेदना के संधिस्थल पर श्लथ हो गिर चुकी है।” प्रद्योत पुनः बोला,

“आप सब प्रासाद की अतिथिशाला की ओर चलें। मैं महाराज को सूचना देता हूँ।”

मैं अभी तक नहीं समझ पाया था कि ये लोग कौन हैं। यही समझ रहा था कि मथुरा की घटना की जानकारी इन्हें देर से मिली है, इसीसे इन्हें यहाँ पहुँचने में विलंब हो गया है।

मैं किसी तरह भीड़ को चीरता हुआ चाचाजी के पास पहुँचा। वहीं मेरे पिता वसुदेव और नंद भी थे। चाचाजी मुझे देखते ही जैसे चिल्ला पड़े—“ये देखो, कन्हैया आ गया!”

अब तो जैसे भीड़ का सारा झुकाव मुझपर हो गया। हर एक मेरा चरण स्पर्श चाहने लगा। भीड़ की सारी विह्वलता एक जयकारे में बदल गई—“हमारे तारणहार कृष्ण कन्हैया की जय!”

आप विश्वास करें कि मैं अभी तक समझ नहीं पाया था कि ये लोग कौन हैं। तब तक एक बलिष्ठ व्यक्ति ने मुझे उठा लिया। वह चारों ओर मुझे घुमाने लगा; जैसे वह मेरा दर्शन करा रहा हो। अब तक कृष्णपक्ष की तृतीया का चंद्रमा पूरब से झाँकने लगा था। लोगों की आकृति की रेखाएँ स्पष्ट हो चली थीं। मैंने देखा कि उसमें अधिकांश बूढ़े लोग हैं, जिनके दाढ़ी और सिर के श्वेत बाल उस दुग्ध धवल ज्योत्स्ना में एकदम रजतवर्णी हो गए थे। वे बूढ़े लोग मुझे देखकर इतने प्रसन्न थे मानो ईश्वर को साक्षात् देख रहे हों। उनकी प्रसन्नता की प्रतिच्छाया मेरे पिता और चाचा की आकृतियों पर भी थी। वे उनसे भी अधिक प्रसन्न लग रहे थे।

“आप लोग अतिथिशाला में चलें।” प्रद्योत ने पुनः कहा।

“अतिथिशाला में क्यों, आज आप रात प्रासाद में महाराज के साथ ही विराजें।” छंदक बोला।

छंदक परिस्थिति को प्रद्योत से अधिक समझता था। वह नहीं चाहता था कि महाराज किसी भी तरह से अकेले रहें। बाण और रुक्मी की बातें वह यमुनातट पर विस्तार से सुनता रहा है।

मुझे चाचाजी ने बताया कि ये सब कारा से मुक्त हुए बंदी हैं। कारा का द्वार सबके लिए खोल दिया गया। घर लौटते समय चाचा की मुद्रा कुछ अधिक विचारमग्न थी। उन्होंने मेरे पिता और नंदजी को सुनाते हुए छंदक से कहा, “कारा का द्वार खोलने में प्रद्योत ने कुछ जल्दी कर दी।”

“क्यों?”

“इसके लिए उसे मंत्रिपरिषद् की राय लेनी चाहिए।” चाचाजी बोले, “और जहाँ तक मैं जानता हूँ, उन्होंने महाराज तक से नहीं पूछा होगा।”

इतना कहने के बाद उन्होंने समर्थन में मेरे पिताजी की ओर देखा और उन्होंने बड़े सहजभाव से स्वीकारात्मक ढंग से अपनी गरदन हिला दी।

“महामात्य का निर्णय मंत्रिपरिषद् का ही माना जाता है।” छंदक बोला।

“माना जाता है, पर वह होता नहीं है। माना जाना और बात है तथा होना और बात है।” चाचाजी छंदक की बात पूरी होने के पहले बोल पड़े।

“किंतु इस समय न तो मंत्रिपरिषद् बुलाने की स्थिति थी, न समय और न अवसर।” छंदक ने विस्तार से बताया — “मंत्रिपरिषद् में मागधी पारिषदों की संख्या लगभग आधी है। यह सही है कि वृत्घ्न की मृत्यु के बाद उनका मनोबल टूट चुका है। फिर भी इस विषय पर लंबा विवाद हो सकता था और प्रस्ताव खटाई में भी पड़ सकता था। प्रद्योत ने बड़ी बुद्धिमानी की कि उसने महाराज से नहीं पूछा। वे क्या उत्तर देते, वरन् औरों से सलाह करने लगते। बात फूट जाती तो वह भी खतरनाक होता।”

“तुम जानते हो, छंदक! निर्णय लेने की क्षमता जब निरंकुश हो जाती है तब वह अराजकता को जन्म देती है।”

“पर इससे भयावह अराजकता की भूमिका प्रासाद में तैयार है।” अब तक चुप मैं बोल पड़ा। लोगों को जैसे विश्वास ही न रहा हो कि विवाद में मैं भी बोल सकता हूँ। सभी मेरा मुख देखते रह गए। मैं अब और खुला — “महाराज रात्रि में जब मुझे रोक रहे थे, तब मेरे एक शुभचिंतक ने मुझसे संकेत में कहा, ‘आप यहाँ बिल्कुल मत रहिएगा।’”

“कारण नहीं बताया?” चाचा ने पूछा।

“बताया कि कुछ भी हो सकता है।”

“हाँ, महाराज, भीतर-ही-भीतर कुछ उबल रहा है।” छंदक बोला, “ऐसी स्थिति में कारा के बंदियों को मुक्त कर प्रद्योत ने गहरी कूटनीतिज्ञता का परिचय दिया है। अब कौन पूछने आता है कि किसकी राय पर यह काम किया

गया है। फिर बंदीगृह में अधिकांश उन राजमंडलों के शासनाध्यक्ष हैं, जिन्हें हटाकर कंस और जरासंध ने उन्हें अपने अधीन कर लिया तथा गद्दियों पर अपनी कठपुतलियों को बैठा दिया था। बंदीगृह से ये सभी छूटे हुए लोग तो कंस के विरोधी ही होंगे। इस समय महाराज को ऐसे ही व्यक्तियों की आवश्यकता है।”

परिस्थिति समझ लेने के बाद चाचाजी संतुष्ट तो अवश्य हुए, साथ ही उन्होंने यह भी कहा कि ऐसी ही स्थितियाँ अराजकता को जन्म देती हैं।

□

ब्राह्म मुहूर्त में ही आने का वचन दिया था; पर पहुँचते-पहुँचते सूर्योदय हो गया था। नानाजी अशौच में थे, इसलिए पूजन का कोई प्रश्न ही नहीं था। वे भगवान् सूर्य की ओर सिर झुकाए कुछ बुदबुदा अवश्य रहे थे। मैं चुपचाप उनके पीछे आकर खड़ा हो गया था—और उनको सुनने की चेष्टा करता रहा।

आहट से ही वे पीछे की ओर मुड़े और मुझे देखते ही छाती से लगा लिया। उन्होंने पूछा, “यहाँ कब से खड़े थे?” “थोड़ी देर हुआ।”

“फिर बोले क्यों नहीं?”

“आप प्रार्थना कर रहे थे। आपको टोकना मैंने उचित नहीं समझा।” मैंने कहा।

उन्होंने मुसकराते हुए पुनः मुझे भुजाओं में कस लिया। लगता था, अब मेरे सिवा उनका कोई इस संसार में नहीं है।

“तुमने सुना, मैं क्या कह रहा था?”

“कुछ सुना अवश्य, पर समझ नहीं पाया।”

नानाजी पुनः हँसे। अब उन्होंने पूरा मंत्र सुनाया—“ॐ विश्वानिदेव सवितर्दुरितानि परासुव। यद्भद्र तन्न आसुव।” इसका अर्थ विस्तार से समझाते हुए कहा, “हे देव सवितः (सूर्य भगवान्)! तुम हमारे विश्व के पापों को नष्ट करो और जो कल्याणकारी हो उसे प्रदान करो; क्योंकि कल्याणकारी क्या होगा, इसे मैं नहीं जानता। अब तक मैंने बहुत कुछ कल्याणकारी सोचा था, प्रभु! पर उसमें से कुछ भी तो कल्याणकारी नहीं निकला। मैंने सोचा था कि सत्ता कल्याणकारी होगी; किंतु मेरे लिए वह भी कल्याणकारी नहीं हुई। मैंने सोचा था, संपत्ति कल्याणकारी होगी; पर वह भी असत्य निकला। मैंने सोचा था, संततियाँ कल्याणकारी होंगी। मैंने उनके लिए प्रार्थना भी की। मेरी प्रार्थना सुनी भी गई। नौ-नौ पुत्र हुए; पर मेरे पुत्र ने ही मुझे बंदीगृह में डाला और आज उन्हींकी अंत्येष्टि करने के लिए मैं जीवित हूँ।”

उनका गला भर आया। आँखें डबडबा आईं। वह कुछ क्षणों के लिए मौन हो गए।

“इसीलिए अब मैं प्रभु पर ही छोड़ता हूँ कि अब तुम्हीं निश्चित करो, प्रभु, कि मेरे लिए क्या कल्याणकारी है?”

इतना कहकर नानाजी चुप हो गए।

वह मुझे लेकर पर्यंक पर आए और दुलक गए। बगल में मैं भी लेटा उनकी मुखाकृति देखता रहा। वे वातायन की ओर ऐसी टकटकी लगाए थे मानो उनकी दृष्टि दूर, कहीं दूर आकाश में कुछ खोज रही हो।

“क्योंकि मैंने जिन्हें कल्याणकारी समझा, वे सब असत्य थे। सत्य को मैं समझ ही नहीं पाया। इसीलिए तो कारा में पड़ा रहा। आज उससे तो तुमने मुक्ति दिला दी; पर यदि मेरा अज्ञान ऐसा ही बना रहा तो जीवन की इस कारा से मुझे मुक्ति कौन दिलाएगा?”

इसके बाद वे सिसक-सिसककर बच्चों-सा रोने लगे। अब उन्हें कौन समझाए? मुझमें साहस नहीं और उस कक्ष में मेरे सिवा कोई दूसरा नहीं।

अब मैं सोचता हूँ कि ‘गीता’ में मैंने जो कुछ कहा है, वह मेरे जीवन का ही तो अनुभव था। नानाजी की यह

मनःस्थिति और उसका चिंतन-निष्कर्ष ही तो कालांतर में मेरे मुख से निकला था—‘नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः’।

थोड़ी देर बाद लोग पिंडदान और तिलांजलि के लिए यमुनातट पर जाने की तैयारी करने लगे। मुझे लगा कि आज भी कल जैसी भीड़ हो जाएगी।

मुझे भी चलने के लिए उत्सुक देखकर नानाजी ने कहा, “भानजा मामा के लिए न तो पिंडदान करता है और न तिलांजलि देता है। अच्छा हो, तुम अपने साथियों के साथ प्रासाद में ही रहो।”

मैं प्रासाद में ही रह गया। मुझे पता चला कि रुक्मी और बाण भी घाट पर नहीं जा रहे हैं। भैया और उद्धव भी हमारे साथ रह गए थे। प्रासाद के अन्य अधिकारी और कर्मचारी मुझे बड़ा सम्मान देते थे। मुझपर आरोपित देवत्व तो उनके लिए पूज्य था ही, उन्हें यह भी विश्वास हो चला था कि अब सिंहासन का उत्तराधिकारी मैं ही होऊँगा।

मैंने एक परिचारक को बुलाकर पूछा, “रुक्मी कहाँ है?”

“अभी पता लगाता हूँ।” वह चलने को हुआ। उसे रोकते हुए मैंने कहा, “देखो, बुलाकर मत लाना। केवल देखकर आओ कि वह क्या कर रहा है!”

थोड़ी देर बाद आकर उसने सूचना दी कि वे अपने ही कक्ष में हैं और अपनी पत्नी तथा बहन का विवाद सुलझा रहे हैं।

“यह तुम्हें कैसे पता है कि वे विवाद ही सुलझा रहे हैं?”

“यह तो बाहर से ही सुनाई दे रहा है। लोग इतने जोर-जोर से बोल रहे हैं।”

इसके बाद मैं अपने साथियों से बहाना बनाकर चुपचाप उसके कक्ष की ओर गया; क्योंकि रुक्मिणी से हो रहे विवाद की जानकारी ने मेरी जिज्ञासा बढ़ा दी थी।

मुझे सुव्रता का स्वर सुनाई दिया—“आजकल यह अपने वश में नहीं रहती। जब देखो तब इधर-उधर घूमती रहती है।”

“मैं तो प्रासाद के बाहर जाती तक नहीं।” रुक्मिणी बोली।

“भले ही तू प्रासाद के बाहर न जाती हो। प्रासाद में तू कहाँ रहती है, किससे बात करती है, किसके पास जाती है, इसे तो भगवान् ही जानता है।”

“भगवान् जानता हो या न जानता हो, तू तो जानती है।” रुक्मी की आवाज कुछ तेज थी—“तो बताती क्यों नहीं?”

“मैं जान रही थी कि तुम अपनी बहन की शिकायत सुन नहीं सकोगे।” सुव्रता का स्वर रुआँसा हुआ—“पर सोचा, तुम्हें सावधान कर दूँ, अन्यथा पछताना ही हाथ में रह जाएगा।”

“ऐसा मैंने क्या किया है कि तुम सबको पछताना पड़ेगा?” रुक्मिणी बोली।

“तू शत्रु से मिल गई है।”

“मैं शत्रु से मिल गई हूँ! यह तू क्या कह रही है, भाभी?”

“मैं ठीक कह रही हूँ।” सुव्रता बोली, “अच्छा बोल, जब कृष्ण और चाणूर का युद्ध हो रहा था, तब तू कहाँ थी?”

“मैं माँ देवकी के पास थी।” रुक्मिणी बोली, “वह लगभग बेहोश होती जा रही थी। मैं उन्हें सँभाल रही थी तो कौन सा पाप कर रही थी? अरे, उनकी सात-सात संतानें उन्हींकी आँखों के सामने मारी जा चुकी थीं। महाराज कंस ने तो उनकी इस आठवीं संतान को भी मार डालने की पूरी तैयारी कर ली थी। पर वाह रे उसका शौर्य और

पराक्रम! कि उसने सबको परास्त कर दिया।”

“देखा न, यह कन्हैया की कैसी प्रशंसा कर रही है!” सुव्रता का स्वर थोड़ा और टेढ़ा हुआ—“जानती नहीं है, यह कन्हैया तेरे भाई का शत्रु है, जिसे जब मौका मिलता है, तू आँखें फाड़-फाड़कर देखती रहती है।”

“शत्रु है, तभी न नाली में पड़े भैया को उठाकर रथ में लिटा दिया था।” रुक्मिणी बोली।

रुक्मी एकदम उबल पड़ा—“बंद करो बकवास! मैं नहीं चाहता कि तुम उस नीच की प्रशंसा करो। उसने मेरे मित्र की हत्या की है।”

“कंस ने भी तो उसकी हत्या करने के लिए कुछ उठा नहीं छोड़ा था।” रुक्मिणी बोली तो धीरे से ही, पर रुक्मी तड़प उठा—

“तू अब भी जबान लड़ा रही है!”

“तुमसे जबान लड़ाती है और उससे आँखें।” सुव्रता बोली, “जरा भी इसे लज्जा नहीं आती।”

अभी उसका विवाद चल ही रहा था कि एक परिचर आता दिखाई दिया। मैं उसे देखकर आगे बढ़ गया। उसने बताया कि आपको छंदक ने याद किया है।

छंदक यमुनातट से लौट आया था। उसका कहना था कि आप लोग अभी वहाँ चले जाइए। आप लोगों को वहाँ न देखकर लोग तरह-तरह की शंकाएँ कर रहे हैं।

मैंने उस दिन अनुभव किया कि सत्ता के निकट शंकाओं का जंगल स्वयं उग आता है और हम उसमें खोने लगते हैं।

□

सात

जब कभी एकांत में बैठता हूँ, सोचने के लिए विवश हो जाता हूँ कि मैंने भी कैसा-कैसा जीवन जीया है! कारा में पैदा हुआ। भादों की काली अँधेरी रात की कालिख में लपेटकर नियति ने कहाँ ला फेंका—जहाँ आत्मीयता मिली, प्रेम मिला, ग्वालों की जिंदगियाँ मिलीं, चहकता हुआ उनका प्यार मिला। राधा और गोपांगनाओं का सान्निध्य मिला; पर संस्कार नहीं। संस्कार के नाम पर आचार्य श्रुतिकेतु मिले थे—गांधर्व विद्या के आचार्य। इसका परिणाम था कि कला का संस्कार तो मुझे समय के पूर्व ही मिल गया था। गायन-वादन और नृत्य-संगीत की तीनों शाखाओं की ओर मेरा आकर्षण हो गया। अभ्यास भी करता रहा। मेरी वंशी की धुन पर मनुष्य क्या, गायें तक स्तब्ध रह जाती थीं। मेरे नृत्य पर व्रज थिरकने लगता था।

इतना होने पर भी मेरा आर्ष संस्कार नहीं हुआ था। चौदह-पंद्रह वर्ष का हो गया था, यज्ञोपवीतविहीन था। मैं अपनी स्थिति को समझता था। इसीलिए जब सभी सरदारों ने एक स्वर से मेरे सिंहासनारूढ़ होने का प्रस्ताव रखा था, तब मैंने स्पष्ट रूप से उसे अस्वीकार कर दिया था।

और जब मालिनी तथा रुक्मिणी दोनों ऐसे सुखद अवसर को गँवा देने के लिए मुझे धिक्कारने लगीं, तब मैंने उनसे साफ कहा था कि सिंहासन पर बैठने के लिए जो योग्यताएँ चाहिए, वे मुझमें नहीं हैं।

“ये कैसी बातें आप करते हैं?” रुक्मिणी अपनी नाराजगी स्पष्ट करते हुए बोली, “मैं तो राजा होने के लिए तीन ही विशेषताएँ जानती हूँ—जिन्हें जनता का समर्थन प्राप्त हो, जिसकी आज्ञा-पालन करने की लोगों में स्वतः इच्छा हो तथा जो सिंहासन की रक्षा कर सके।”

मैंने कभी रुक्मिणी को इतनी विदुषी नहीं समझा था। मैंने हँसते हुए पूछा, “तुम्हें यह कैसे पता है कि लोगों में मेरे आज्ञा-पालन की स्वतः इच्छा है?”

“यह तो स्पष्ट दिखाई दे रहा है।”

“कभी-कभी जो दिखाई देता है, वही वास्तविकता नहीं होती। मुसकराहट के भीतर भी आग छिपी रहती है।”

“यह तुम अपनी बात कर रहे हो।” रुक्मिणी ने बड़ी योग्यता से मेरे ही प्रहार का मुख मेरी ओर मोड़ दिया।

“यह मेरी ही बात नहीं है।” मैंने कहा, “प्रकृति में ऐसी बातें बहुधा दिखाई देती हैं। हर शांत दिखनेवाले सिंधु के गर्भ में भी बड़वाग्नि होती है। पिघलकर पानी बन जानेवाली घन-घटाओं के आँचल में कड़कती हुई बिजलियाँ छिपी रहती हैं।”

“तुम मुझे बातों में बहकाने की चेष्टा मत करो।” रुक्मिणी की आत्मीयता ‘आप’ से ‘तुम’ पर उतर आई थी—“मैं तुम्हारी बातें बनाने की कला को अच्छी तरह समझती हूँ।”

“बातें बनाना भी राजा का एक गुण होता है।” मालिनी बोली और उसके व्यंग्य पर सभी हँस पड़े।

अब मैंने उन्हें विस्तार से समझाया—“देखो, कोई जरूरी नहीं है कि भवन को तोड़कर गिरा देनेवाला व्यक्ति भवन का निर्माण भी कर सकता हो। नियति ने कंस की मुझसे हत्या कराकर सिंहासन तो खाली करा दिया; पर कोई आवश्यक नहीं है कि उसपर बैठकर मैं कोई अच्छा शासक सिद्ध हो पाऊँ। क्योंकि अच्छा शासक होने के लिए बचपन से जिस वातावरण की तथा जिस संस्कार की आवश्यकता थी, वह मुझे नहीं मिला।

“अब तुम्हीं समझो, जन्म से ही मृत्यु मेरे सिर पर मँडराती रही। कंस का आतंक मुझे हर क्षण निगलने के लिए आतुर रहा। बचपन, पौगंड (पाँच से लेकर दस साल की वय) संघर्ष में ही बीत गया। कैशोर्य का क्षेत्र भी कम

रक्तिम नहीं रहा। अब उसे भी पार कर आया हूँ। न सही अर्थ में युद्धकला सीखी, न सैन्य-व्यूह रचना आई और न वेदादि का अध्ययन किया। कुछ भी तो व्यवस्थित नहीं रहा। यदि कुछ भी व्यवस्थित था तो केवल अव्यवस्था। मात्र संघर्ष, संघर्ष, संघर्ष!”

“और हर संघर्ष में तुम्हारी विजय।” रुक्मिणी बोली, “यह विजय का क्रम ही इस बात का द्योतक है कि तुम्हें हर विद्या आती है।”

“यह भी तुम्हारा भ्रम है। यह मात्र नियति का करतब था, जो मैं विजयी होता गया। मैं तो संयोग का पुष्प हूँ, जो भादों की अँधेरी, काली और तूफानी रात में खिला था।”

“या ईश्वर के अवतार!” इस बार मालिनी बोली, “क्या नारद की भविष्यवाणी गलत थी?”

“नारद की भविष्यवाणी चाहे जो रही हो, पर मैं इतना जानता हूँ कि मैं ईश्वर नहीं हूँ। हाँ, ईश्वरत्व मुझपर लादा अवश्य गया है।”

“पर चाहे जो हो, हम लोग तो तुम्हें ईश्वर ही समझते हैं; क्योंकि तुम्हारे चमत्कार बताते हैं कि तुम ईश्वर हो।”

“यदि मैं ईश्वर हूँ तो मैं मथुरा के सिंहासन पर बैठूँगा!” मैं जोर से हँसने लगा और उसी अट्टहास के बीच बोला, “यह ईश्वर का सिंहासन नहीं, नश्वर मनुष्य का सिंहासन है और न मात्र मथुरा ही ईश्वर का राज्य है। उसका राज्य तो सारे जगत् पर है, सारी सृष्टि पर है।” और फिर बड़ी देर तक मैं नाटकीय हँसी हँसता रहा। दोनों चमत्कृत हो मुझे देखने लगीं।

संयोग कुछ ऐसा कि उसी समय उधर से रुक्मी निकला—“आखिर इतना हँस क्यों रहे हो?” उसने पूछा।

“इन दोनों की मूर्खता पर हँस रहा हूँ।”

उसने अपनी बहन पर एक तप्त दृष्टि डाली—“यह मूर्ख ही है।” और उसकी बाँह पकड़कर उसे घसीटता ले चला।

मैं और जोर से हँसा—“जानते हो, मैं क्यों हँस रहा हूँ?” मैंने रुक्मी से पूछा।

वह खड़ा मेरा मुँह देखता रह गया।

अब मैं और गंभीर अट्टहास करते हुए बोला, “अब मैं तुम्हारी मूर्खता पर हँस रहा हूँ।”

□

आश्विन की धूप में मृग भी बेचैन हो जाते हैं, फिर वृद्ध महाराज उग्रसेन का क्या! आज कंस की अंत्येष्टि का तीसरा दिन था। यमुना से लौटने में कुछ देर हो गई। धूप लगी और पित्त कुपित हो गया। प्रासाद में आते-आते उन्हें वमन होने लगा। राजवैद्य ने उन्हें ओषधि और पूर्ण विश्राम की सलाह दी। दोपहर का भोजन उन्होंने नहीं किया और सो गए।

अपराह्न में उठते ही उन्होंने मुझे बुलाया। मैं तो जा ही रहा था, प्रद्योत भी मेरे साथ हो लिया। उन्होंने बड़े प्यार से मुझे अपनी शय्या पर बैठाया और महामात्य को भी पास के मंचक पर आसन ग्रहण करने का संकेत किया और कुछ क्षणों तक वे प्रश्नवाचक मुद्रा में मुझे देखते रहे।

“महाराज! आपका स्वास्थ्य कैसा है?” प्रद्योत बोला, “प्रजा आपके स्वास्थ्य के बारे में चिंतित है।”

“मेरा स्वास्थ्य तो ठीक ही है।” उन्होंने कहा, “पर मथुरा का स्वास्थ्य कैसा है?”

“ठीक ही है।”

“पर मुझे तो ठीक नहीं लगता।” इसके बाद उनकी आवाज थोड़ी और गंभीर हुई—“यह सही है कि मैं पच्चीस वर्षों तक गद्दी पर नहीं था; पर इसका यह अर्थ नहीं है कि जनता की धड़कन समझने का मेरा अभ्यास छूट गया

है।” फिर वे किसी सोच में डूब गए और स्वयं बड़बड़ाने लगे—“मेरी तो इच्छा थी कि मेरी कारा से जिन राजाओं को मुक्त किया गया है, उन्हें मैं शीघ्र ही अपने-अपने राज्यों में भेज दूँ, जिससे पड़ोसी राज्यों की स्थिति हमारे अनुकूल हो सके।”

“यह मुझे अभी संभव नहीं लगता; क्योंकि जनता की स्मरण शक्ति बड़ी दुर्बल होती है। इतने दिनों से ये कारा में थे, जनता इन्हें भूल चुकी होगी। दूसरी बात यह है कि उस समय उन राजाओं को बंदी बनाकर जिन्हें गद्दी सौंपी गई थी, वे सभी जरासंध और कंस के आत्मीय हैं। महाराज भीष्मक से तो आपके संबंध खराब नहीं थे, न जरासंध ने ही उन्हें बंदी बनाया था। उनका पुत्र रुक्मी तो यहीं है। आप उससे बातें कर देखें। कितनी आग है उसमें!...यही स्थिति बाण की भी है।”

“दोनों अभी हमारे अतिथि हैं।” महाराज बोले, “उनके सत्कार में किसी प्रकार की कमी नहीं होनी चाहिए।”

“कमी तो जरा भी नहीं है; पर वे संतुष्ट भी नहीं हैं। शायद आज संध्या या कल प्रातः वे यहाँ से जाने का कार्यक्रम भी बना चुके हैं।”

“उन्हें रोकना चाहिए।” महाराज बोले।

“यही तो मैं भी चाहता हूँ; क्योंकि वे अपने राज्यों में जाकर कोई-न-कोई खुराफात शुरू कर सकते हैं।” प्रद्योत बोला।

अब तक मैं चुप था; क्योंकि इतना आतंकित हो जाना मेरी प्रकृति के विरुद्ध था। मेरे मुँह से निकल पड़ा—“क्या मामा कंस ने कम खुराफात मचा रखी थी?”

इतना सुनते ही नानाजी ने मुझे अपने वक्ष से लगा लिया।

“सब तुम्हारा ही तो भरोसा है, कन्हैया।” उनके मुख से निकला।

“मेरा भरोसा क्या है, नानाजी?” मैंने कहा, “नियति सबकुछ ठीक कर देती है। कालदेवता इतना प्रबल है कि वह सारी खुराफात ठंडी कर देता है।”

“और तुम प्रबल नहीं हो?” मेरे ईश्वरत्व के प्रति उनकी श्रद्धा बोली।

“मेरी प्रबलता यदि कभी काम न आए तो काल की प्रबलता तो काम आएगी ही।” मैंने कहा, “अग्नि को शांत करने की दो रीति है—एक, उसपर जल छोड़कर बुझा देना और दूसरा स्वयं जलते हुए राख हो जाना। एक में मनुष्य का प्रयत्न है और दूसरे में नियति का। मनुष्य असमर्थ हो सकता है, पर नियति असमर्थ नहीं हो सकती। जलनेवाले को बुझना ही पड़ेगा—और वह बुझेगा, आज नहीं तो कल बुझेगा।”

मेरे कथन में इतना आत्मविश्वास था कि दोनों व्यक्ति मेरा मुँह देखते रह गए।

कुछ क्षणों तक एक सुखद मौन का गंभीर अंतराल था।

“पर मैं चाहता हूँ कि वे पंद्रह दिनों तक और यहाँ रुक जाएँ।” महाराज बोले।

“आखिर किसलिए?” मैंने पूछा।

“तुम्हारे उपनयन के लिए।” वे बोले और हँस पड़े।

थोड़ी देर बाद उन्होंने गर्गाचार्य के लिए महामात्य से कहा, “आप आचार्यजी को बुला सकते हैं?”

“क्यों नहीं! वे तो अभी प्रासाद में होंगे!” और शीघ्र ही आचार्यजी को बुला लिया गया।

आचार्य का अभिवादन करने के बाद महाराज सीधे प्रयोजन पर आ गए—“मैंने आपको एक विशेष कार्य के लिए कष्ट दिया है। मैं सोचता हूँ कि अशौच समाप्त होते ही कन्हैया का यज्ञोपवीत कर दिया जाए।”

“इससे उत्तम और क्या हो सकता है!” गर्गाचार्य बोले, “पर अवंती से आचार्य सांदीपनि पधारे हुए हैं। वे एक

आश्रम के आचार्य भी हैं। उनके रहते मैं यह कार्य संपन्न करूँ, यह कुछ उचित नहीं लगेगा।”

“आचार्य सांदीपनि पधारे हैं!” महाराज ने साश्चर्य कहा, “यह तो मुझे पता ही नहीं। आप लोगों ने मुझे बताया क्यों नहीं?”

“मैंने समझा कि आप जानते हैं।” प्रद्योत बोला और लगभग ऐसी ही बात आचार्यजी ने भी कही। उन्होंने तो यहाँ तक कहा कि “मैंने कल ही आपको उन्हें नमस्कार करते देखा था।”

“शायद आप भूल रहे हैं।” प्रद्योत बोला, “अंत्येष्टि की संध्या को वे आपको सांतवना देने भी आए थे। उन्होंने अपनी प्रभावशाली वाणी में कहा था कि जीवन के साथ यदि कोई अनिवार्यता लगी है तो वह मृत्यु ही है।”

“हाँ-हाँ, याद आया; पर मैंने पहचाना ही नहीं कि यही सांदीपनि हैं।” फिर वे अपनी यादों में खोने लगे—“तब उनके बाल एकदम काले थे। काल के प्रवाह ने उन्हें भी बदल दिया और मुझे भी। आज मैं उन्हें पहचान भी नहीं पाया।” उनकी आँखें झलझला आईं।

“पर इसमें आपका क्या दोष! कारा की प्रौढ़ प्राचीरों ने आपको जगत् से दूर कर रखा था।” गर्गाचार्य बोले।

उन्हें पहचान न पाने का इतना गहरा आघात महाराज को लगा कि वे व्याकुल-से हो गए—“आश्रम का आचार्य पधारे और मैं उसे पहचान भी न पाऊँ! जबकि परंपरा यह है कि राजा को अपने आसन से उठकर उसका स्वागत करना चाहिए। इस पाप का प्रायश्चित्त मुझे अभी करना पड़ेगा।” और वे उठकर अतिथिशाला की ओर एकदम चलने को तैयार हो गए।

पैदल ही और वह भी नंगे पैर महाराज अतिथिशाला की ओर चले जा रहे थे। हम लोग उनके पीछे थे; पर गर्गाचार्य वहीं रह गए थे।

महाराज ऐसे लपके चले जा रहे थे कि जो देख रहा था, वही आश्चर्य कर रहा था। आखिर क्या हो गया है महाराज को? और उधर पता नहीं कैसे महाराज के आगमन की सूचना आचार्य को लग गई। वे भी महाराज से मिलने अतिथिशाला से चल पड़े।

हम लोगों ने दूर से ही देखा कि रजतवर्णी केशों से युक्त एक स्वर्णवर्णी लंबी काया चली आ रही है। अवस्था सत्तर के भी पार, पर शरीर कहीं से झुका नहीं। दृढ़ मांसपेशियों की स्फीत शिराओं में यौवन की गति से रक्त प्रवाह उनके व्यक्तित्व की तेजस्विता को और अधिक ज्योतित कर रहा था। हमें देखते ही उनके अधरों से एक मुसकराहट छूटी और लगा कि उसी मुसकराती डोर में बँधे हम बड़े सहजभाव से खिंचे चले आ रहे हैं।

पहुँचते ही महाराज उनके चरणों पर गिर पड़े और उन्होंने झट से महाराज को उठाकर अपने वक्ष से लगा लिया।

“आप क्षमा करें, महाराज! मैंने आपको पहचाना नहीं, अन्यथा आपकी इतनी उपेक्षा न होती।”

“उपेक्षा! किसकी उपेक्षा?” सांदीपनि बोले, “राजन्, आचार्य उपेक्षित नहीं होता, आचार्यत्व उपेक्षित होता है। आचार्य तो व्यक्ति है, पर आचार्यत्व एक परंपरा है। संश्रय प्रवाह है—हमारी बौद्धिक अस्मिता का। व्यक्ति विरागी होकर अपना अहं छोड़ सकता है, पर परंपराएँ अपना अहं नहीं छोड़ती—और इसी अहं को लगी चोट की ही तो दूसरी संज्ञा है उपेक्षा। मैंने अपने आचार्यत्व को तो आश्रम में ही छोड़ दिया है। और फिर आश्रम में प्रविष्ट होते ही उसे ओढ़ लूँगा। शायद यही कारण था कि मैं मथुरा भी चला आया और यहाँ आकर भी मैंने उपेक्षित अनुभव नहीं किया; जबकि ऐसी अनेक स्थितियाँ आई थीं।”

“उन्हीं स्थितियों के लिए ही क्षमा माँगने आया हूँ, आचार्यप्रवर!” महाराज बोले।

“पर वे स्थितियाँ आप द्वारा तो पैदा नहीं की गईं। जिसके द्वारा की गई थीं, वह तो चला गया।” आचार्य की सिंधु-सी गंभीर वाणी गूँजती रही—“अपने कर्मों के फल के लिए आज वह यमराज से क्षमा माँग रहा होगा।” श्वेत

भौंहों के बर्फ से घिरी नीली झील जैसी उनकी आँखों से तेज विच्छुरित होने लगा—“मैंने नगर में प्रवेश करते ही कंस को अपने आगमन की सूचना दी थी। उसका आना तो दूर, मेरी अगवानी में महामात्य तक नहीं पधारे।”

“मुझे तो आपके आगमन की सूचना आपको अतिथिशाला में ठहराए जाने के दूसरे दिन प्राप्त हुई थी।” प्रद्योत बोला, “और मैं उसी क्षण आपकी सेवा में उपस्थित हुआ था। फिर भी कोई भूल हो गई हो तो क्षमा करें।”

आचार्य ने ठहाका लगाया—“मैंने तो यह नहीं कहा कि आपने कोई भूल की है या आप किसी अपराध के दोषी हैं; पर इतना अवश्य समझें, महामात्य, कि राजा के पाप का प्रायश्चित्त पूरे समाज को करना पड़ता है। और उस समाज में केवल मनुष्य ही नहीं हैं, पशु-पक्षी भी हैं। दुर्भिक्ष पड़ता है, ज्वालामुखी फूटते हैं, दावाग्नि भभकती है और उसका परिणाम जड़-चेतन सब भोगते हैं।...और वही भोगा है इस मथुरा ने। आपने देखा होगा, यहाँ की गायों के स्तन तक का दूध सूख गया है।”

“पर अब आगे से ऐसा कुछ नहीं होगा, महाराज, जो प्रजा को भोगना पड़े।” नानाजी ने करबद्ध होकर निवेदन किया।

पर लगा कि आचार्य ने उसपर बहुत ध्यान नहीं दिया। वे पूर्व क्रम में ही बोलते रहे—“हमारी अगवानी में एक सामान्य अधिकारी भेजा गया और वह भी सैनिक अधिकारी; जैसे मैं किसी आश्रम का आचार्य न होकर किसी राज्य का सामान्य सेनानायक हूँ।”

“और वह सैनिक अधिकारी भी मथुरा का नहीं था।” प्रद्योत ने धीरे से कहा।

“मैं इसे जानता हूँ, महामात्य। मुझे सब मालूम है।” आचार्य सांदीपनि बोले, “अब तक मथुरा पर मगध का ही शासन रहा है।” इसके बाद उन्होंने नानाजी की ओर दृष्टि घुमाई—“और आपके सिंहासनारूढ़ होने पर भी मथुरा इस कलंकित छाया से मुक्त नहीं हो पाई है।”

“मैं इसे जानता हूँ, महाराज!” करबद्ध नानाजी ने पुनः सिर झुकाया।

“आपने यदि उपेक्षावाली बात न कही होती तो शायद मैं न खुलता।” आचार्य बोले, “यह सब भीतर-ही-भीतर दबाए मैं मथुरा से चला जाता।...उपेक्षा! ‘उपेक्षा’ शब्द सुनते ही मुझे अपने गुरु परशुराम की याद हो आई। पच्चीस वर्षों तक मैंने उनके आश्रम में शिक्षा पाई है। उस भार्गव गोत्रीय आचार्य ने दीक्षा देते समय अन्य बातों के अतिरिक्त एक बात बड़ी जोर देकर कही थी।...और शायद यही उनकी अनुभूति का निचोड़ भी था कि जीवन में कभी सत्तोन्मुख मत होना। सदा सुखी रहोगे। सत्तोन्मुख होने का तात्पर्य है—सम्मान की अपेक्षा करना।...जब अपेक्षा ही नहीं तब उपेक्षा कैसी? इसीलिए ऐसे संदर्भों में हमारा अहं कभी हमें नहीं कोसता। मैं उपेक्षित होकर भी दुःखी नहीं होता। पर यदि इस स्थिति में मेरे आचार्य होते, उनकी उपेक्षा हुई होती तो मथुरा आज रक्त की सरिता में डूबती दिखाई देती।”

“इसी अपराधबोध ने ही मुझे आपके चरणों में उपस्थित किया है।”

“अपराधबोध ने नहीं वरन् आपकी महत्ता ने।” आचार्य मुसकराए—“ब्राह्मण संपत्ति का नहीं, सत्ता का नहीं वरन् सम्मान का भूखा होता है। यही उसकी महानता भी है और दुर्बलता भी।”

“दुर्बलता क्यों, महाराज?”

“दुर्बलता इसलिए कि इस भूख में भी एक अहं है। यदि अहं न होता तो मैं तुम्हारे ‘उपेक्षा’ शब्द पर इतना उबल न पड़ता। ब्राह्मण को तो शरद्कालीन गंगा की तरह होना चाहिए, वर्षा की तूफानी धारा की तरह नहीं, जो हाहाकार कर आपकी अस्मिता को ही बहा ले जाए, वरन् जिसके शीतल प्रवाह का स्पर्श चेतनादायक हो। मैं तो हाहाकार कर आप पर बरस पड़ा।” आचार्य मुसकराने लगे। इस मुसकराहट में सचमुच शीतलता थी।

मैंने अनुभव किया कि आचार्य स्वयं से अहं को अलग करने की बात तो कर रहे हैं; पर उनके अहं को कंस ने गहरी चोट पहुँचाई है। अब इतना उबलकर वे हलके हो चुके थे।

नानाजी का भी थोड़ा उत्साह बढ़ा—“मेरे पुत्र ने आपको नगर में बुलाया था और मैं आपको प्रासाद में आमंत्रित करने आया हूँ।”

“नहीं-नहीं। यह तुम्हारा भ्रम है, राजन्! मैं तुम्हारे पुत्र के आमंत्रण पर इस नगरी में नहीं आया था। अवन्ती से मैं अपने चालीस शिष्यों के साथ देशाटन पर निकला था। जब मैं चलने लगा तो अवन्तिराज जयसेन को चिंता हुई कि मैं आश्रम छोड़कर तो नहीं जा रहा हूँ। वे अचानक आश्रम में पधारे और अपनी शंका निवेदित की।

“मैंने उन्हें बताया कि यह आश्रम त्याग नहीं वरन् आश्रम के कार्यक्रम का एक अंश है। देशाटन हमारी शिक्षा का एक भाग है।”

“तब तो आपके आश्रम में मेरे दो कुमार भी हैं। क्या वे भी आपके साथ जा रहे हैं?” जयसेन ने पूछा।

“अवश्य जाएँगे। जाएँगे ही नहीं वरन् जाना पड़ेगा, यदि उन्हें अपनी शिक्षा पूरी करनी है।...तब कहीं महाराज संतुष्ट हुए। वे हमें अवन्ती की सीमा तक छोड़ने आए।”

“तो क्या वे राजकुमार यहाँ भी आए हैं?”

“हाँ, क्यों नहीं!” सांदीपनि बोले, “कुमार विंद और अनुविंद दोनों हमारे साथ हैं।”

नानाजी ने माथा ठोंक लिया।

“उन्हीं दोनों कुमारों के आग्रह पर ही यहाँ आया हूँ। वे यहाँ की कला और संस्कृति देखना चाहते थे, कंस का धनुर्यज्ञ नहीं। वे न तो इस यज्ञ का दर्शक होना चाहते थे और न इसके भोक्ता।” आचार्य क्षण भर के लिए रुके, फिर बोले, “विडंबना भी कैसी! आए थे कला एवं संस्कृति देखने और देखी घृणा, द्वेष, षड्यंत्र तथा हिंसा।”

नानाजी ने उनका चरण स्पर्श किया और अपने सभी शिष्यों के साथ प्रासाद में पधारने का विनयावनत आग्रह किया।

आचार्य हँसते हुए बोले, “चलिए, आज की संध्या आपके साथ ही बीतेगी।”

□

आचार्य सांदीपनि के पधारने पर महाराज सिंहासन से उठ गए। उन्हें अपने आसन पर बैठाया और स्वयं उनके नीचे के मंचक पर थोड़ी दूरी पर बैठे। हम लोग एक पंक्ति में उनके नीचे थे।

इस सम्मान से सांदीपनि बड़े प्रसन्न हुए। स्पष्ट लगा कि ठोकर खाई उनकी अहम्मन्यता को महाराज ने सहला दिया है। उन्होंने हँसते हुए कहा, “राजन्, तुम अब भी मुझसे दूरी बनाए हुए हो।”

“यह दूरी आपसे नहीं, महाराज, वरन् अशौच के कारण है।”

“धर्मशास्त्र और राजसिंहासन कभी अशुचि नहीं होते।” आचार्य बोले। फिर मुसकराते हुए उन्होंने गर्गाचार्य से पूछा, “आपको किस अशुचिता ने परेशान किया है कि आप भी इतनी दूरी पर बैठे हैं?”

“मैं अशुचिता से नहीं, आचार्य, यदि सत्य कहूँ तो लज्जा से परेशान हूँ।” बड़ी लड़खड़ाती आवाज में सिर नीचा किए गर्गाचार्य बोल रहे थे—“मुझे आपके आगमन की सूचना मिल चुकी थी। फिर भी मैं आपकी अगवानी के लिए उपस्थित नहीं हुआ; क्योंकि आप अनाहूत पधारे थे। महाराज को शंका हो चली थी कि आप मेरे विरुद्ध किसी षड्यंत्र के भागी तो नहीं हैं।”

मैंने कभी गर्गाचार्य को इतना दबा-दबा नहीं देखा था।

“आचार्य पर शंका! आचार्य कुल पर शंका! राष्ट्र की बौद्धिक अस्मिता पर शंका! क्या हो गया था कंस को?

लगता है, उसकी शंकाकुलता ने चारों ओर एक ऐसी अग्निरेखा खींच दी थी, जिसमें वह स्वयं को सुरक्षित समझता था; पर वस्तुतः वह उसमें ही बंदी हो गया था।”

“सही स्थिति तो यही थी।” गर्गाचार्य बोले।

“यदि यही सही स्थिति थी तो आप क्या कर रहे थे? क्या आपने अपनी पहचान को धरोहर रख दिया था? आपका आचार्यत्व कहाँ सो गया था?”

“वह सिंहासनाधीन हो गया था।” एक भभकती उल्का के समक्ष आचार्य गर्ग बुझते दीप-से दिखाई पड़े।

“जब आचार्यत्व सिंहासनाधीन हो जाता है तब उसकी स्थिति पिंजड़े में बंद सिंह जैसी हो जाती है।” सांदीपनि बोले, “सिंह तो फिर भी दहाड़ता है! लगता है, आपकी दहाड़ भी सुविधाभोगी हो गई थी। यदि आपकी यह गति न होती तो शायद कंस इतना निरंकुश न हो पाता।”

गर्गाचार्य चुप थे और चुप ही बैठे रह गए। इस प्रकार सांदीपनि को उन्होंने अपनी असमर्थता की मौन स्वीकृति दी।

जब विचारों का ज्वार थमा तब नानाजी ने खड़े होकर मेरा परिचय दिया।

“इसके परिचय की कोई आवश्यकता नहीं है। जिसका परिचय नारदजी दे चुके हों और जिसे सब जानते हों, उसका परिचय क्या देना! यह देवतुल्य है। इसे मेरा भी प्रणाम है और आशीर्वाद भी।”

उनके इतना कहते ही मैंने उठकर उनके पुनः चरण छुए। मुझे लगा कि युग-पतन के बाद भी अभी कुछ आचार्य श्रुतिकेतु जैसे हैं, जिनका पतन नहीं हुआ है।

“पर महाराज, यह मात्र आपका आशीर्वाद ही नहीं, आपसे कुछ और भी चाहता है।”

“मुझसे?” आचार्य ने मुझे साश्चर्य देखा—“क्या चाहता है?”

“आपका शिष्यत्व।”

“शिष्यत्व! आश्रम में प्रविष्ट होने की अब इसकी अवस्था तो पार हो चुकी है।” उन्होंने बलराम भैया की ओर देखा—“और इसका बड़ा भाई तो इससे भी बड़ा है।” एक वज्र जैसी शांति अचानक हम सब पर गिरी।

फिर मेरे नानाजी ने विस्तार से बताना शुरू किया—“परिस्थितियाँ तो आपसे छिपी नहीं हैं। मेरे नाती होकर भी इन लोगों ने अपना बचपन ग्वालों के बीच बिता दिया। आश्रम का संस्कार तक इन्हें नहीं मिला। यहाँ तक कि इनका यज्ञोपवीत तक नहीं हुआ।”

“यज्ञोपवीत नहीं हुआ!” आचार्य चकित थे—“तो उसे यथाशीघ्र कर डालिए।”

“तो इस सत्कर्म के प्रधान पुरोधा होना आप स्वीकार करें, महाराज, और इसकी तिथि भी निश्चित कर दें।”

आचार्य सांदीपनि ध्यानावस्थित हुए। उन्होंने अँगुलियों पर कुछ गणना भी की। और कार्तिक शुक्ल पंचमी की तिथि* मेरे उपनयन के लिए निश्चित कर दी।

मेरा उपनयन होगा। मैं आश्रमवासी होऊँगा। मैं सचमुच बड़ा प्रसन्न था। अब तक संघर्ष जीते-जीते संघर्ष से ऊबा नहीं था; पर जीवन में एकरसता आ गई थी। मेरे पिता वसुदेव तो निर्णय के क्षणों में उपस्थित नहीं थे। मैं भागा हुआ नंद के पास पहुँचा। उन्होंने बड़े प्रेम से मुझे वक्ष से लगाया। बड़ी देर तक मेरा सिर सँघते रहे। मुझे ऐसा लगा जैसे मैं इन्हें कुछ दूसरा दिखाई दे रहा हूँ।

और हुआ भी कुछ वैसा ही। जब मैंने उनसे उपनयन की बात कही तो वे प्रसन्न तो दिखे, पर कोई प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं की। जब मैंने यह कहा कि तब तक आप मथुरा में ही रुकें और माता यशोदा तथा अन्य व्रजवासियों को भी बुला लें, तब वे बड़ी गंभीरता से बोले, “अब तुम मेरे नहीं रहे, वत्स! मेरे तो कभी भी नहीं रहे। मेरे तो मात्र धरोहर

थे। जैसे राम की खड़ाऊँ रखकर भरत ने चौदह वर्ष तक उनका राज्य सँजोया था वैसे ही मैंने भी तुम्हें लगभग पंद्रह वर्षों तक सँजोया है। अब तुम्हारे माता-पिता और नानाजी को सौंपकर मुक्त हो रहा हूँ।” इतना कहते-कहते उनकी आँखें झलझला आईं। पर वे बोलते गए—“मैं तो सह लूँगा इस वियोग को; पर सोचता हूँ, तुम्हारी माता यशोदा इसे कैसे सह पाएगी? जिसने अपनी जनमी बच्ची तुम्हारे लिए बलि दे दी, तुम्हें स्तनपान कराकर पाला, वह माता यह वियोग कैसे सह सकेगी?”

“इसीलिए तो कह रहा हूँ कि आप उन्हें भी बुला लें।” मैंने कहा।

“वत्स, अब अधिक मोह में मत डालो।” नंद बोले, “यह माया ऐसी है कि इसमें जितना धिरेगा, उतना ही घेरती जाएगी। अब तो इस बंधन से जितना शीघ्र छुटकारा मिल सके, उतना ही अच्छा।”

“छुटकारा भला मिलेगा कैसे?” मैंने कहा, “यह असत्य माया का बंधन नहीं है, जो छोड़ा या तोड़ा जा सके; वरन् सत्य माया का बंधन है, स्तनपान का बंधन है, माता-पुत्र का बंधन है। यशोदा मेरी माँ थीं और हैं।”

“यह तेरी महानता है, कन्हैया, जो तू इस तरह की बात कर रहा है।” नंदजी ने कहा, “पर जगत् की दृष्टि में हम लोग कभी तेरे माता-पिता थे, पर अब नहीं हैं। अब तो वसुदेव और देवकी ही तेरे पिता-माता हैं। अब तो तू मेरा आराध्य मात्र रह गया है।”

मेरे आग्रह और नानाजी के बहुत निवेदन करने पर भी नंदजी अपने ब्रजवासियों के साथ चले गए और कहा कि यदि संभव हुआ तो यज्ञोपवीत के दिन आऊँगा।

इस घटना के बाद मैं माता देवकी से मिला। वह भी मुझसे लिपटकर सिसकने लगी।

“सुना है, अब तेरा यज्ञोपवीत होगा, तू आश्रम में जाएगा?” वह बोली।

मैंने स्वीकारात्मक ढंग से सिर हिलाया; पर वह मौन ही रही।

“इतने दिनों के बाद मैंने तुझे पाया है और फिर तू मुझसे दूर हो जाएगा।” देवकी बोली, “कन्हैया, तुझे मालूम नहीं है कि मैंने तेरे वियोग में क्या-क्या नहीं सहा है! बहुत दिनों तक तो तू मेरी आँखों से एकदम ओझल था। तेरी एक प्रतिमा पालने में लिटाकर झुलाती रही। उसीको प्यार करती थी, उसीसे बातें करती थी और सोचती थी कि एक-न-एक दिन तू मुझे अवश्य मिलेगा।”

“तेरा सोचना तो सही निकला, माँ!” मैं उसकी गोद में ही लेटा हुआ बोला, “तुझे मिल गया तेरा बेटा।”

“पर पुनः चले जाने के लिए।” माँ पूर्व क्रम में ही बोलती रही—“तू जानता नहीं है कि मैंने कैसी-कैसी यंत्रणाएँ झेली हैं तेरे लिए! एक समय था, जब मैं तुझे दूर-दूर से देखती थी, पर तेरे पास आ नहीं सकती थी।...और कभी निकट पहुँचने का अवसर भी मिलता था तो तेरा स्पर्श नहीं कर पाती थी। यदि कभी-कभार मैंने तेरा स्पर्श भी किया तो तुझे अपना कह नहीं पाई। उस कष्ट, उस वेदना और उस संत्रास को मेरी जैसी एक अभागिन माँ ही जान सकती है; पर तू नहीं जान सकता।”

मैंने उसे समझाया कि आश्रम में रहकर भी आचार्य की अनुमति से मैं तुझसे मिलने आ सकता हूँ, तू मुझसे भी मिल सकती है।

“पर मैंने तो सोचा था कि मैं अब अपने हृदय से तुझे कभी दूर नहीं करूँगी।”

“यदि तू कहे तो मैं तुझे छोड़कर न जाऊँ!” मैंने मुसकराते हुए कहा।

पर यह कैसे हो सकता था? देवकी की ममता भी आश्रम जीवन की महत्ता को स्वीकारती थी। अंततोगत्वा उसने मुझे सांदीपनि के आश्रम में शिक्षा प्राप्त करने की अनुमति दे दी।

पिता वसुदेव और चाचा अक्रूर इसलिए प्रसन्न थे कि मैंने राजगद्दी स्वीकार नहीं की। इधर कई रात में प्रासाद में

नानाजी के साथ रह गया था; पर वह रात में अक्रूर चाचा के यहाँ बिताई। पिताजी भी वहीं थे। दोनों रात गए बड़ी देर तक बातें करते रहे और मैं चुपचाप अपनी शय्या पर पड़ा-पड़ा सुनता रहा। बलराम भैया की नाक तो बहुत पहले बोलने लगी थी।

“मैं भी चाहता हूँ कि उपनयन के बाद दोनों भाई सीधे आश्रम में चले जाएँ।” अक्रूर चाचा बोले, “इस समय मथुरा की स्थिति कुछ ठीक नहीं लगती। कंस की मृत्यु का समाचार जरासंध को तो मिल ही गया होगा।”

“सुना है, यहाँ से सूचना तो गई ही है, पर बाण ने अपने चर भी भेजे हैं!” पिता वसुदेव ने कहा।

“तब तो कोई गहरी कूटनीति होगी।” चाचा बोले, “बाण कंस का जितना आत्मीय था, उतना जरासंध का भी। और कंस जरासंध का केवल जामाता ही नहीं था, उसका साथी भी था। उसके वध के साथ ही अब जब कन्हैया के उपनयन का समाचार उसे मिलेगा, तो वह अवश्य ही जल उठेगा।”

“यह आशंका महामात्य को भी है, पर आचार्यजी ने एक उपाय निकाला है।”

“क्या?”

“उनका कहना है कि यदि दमघोष को किसी तरह पक्ष में कर लिया जाए तो जरासंध को ठंडा किया जा सकता है।” पिताजी ने कहा, “और महाराज मुझे ही इस कार्य के लिए भोज-चेदि भेज रहे थे। उन्होंने रथ भी तैयार करा दिया था; पर पता नहीं क्यों, मेरी जाने की इच्छा नहीं हुई।”

“यदि आप नहीं जाइएगा तो कौन जाएगा?” चाचाजी ने समझाया—“आप दमघोष के सगे साले हैं। वह आपका बहनोई है। यदि वह आपका सहायक नहीं हो सकता तो कौन हो सकेगा?”

“यही विश्वास तो आचार्यजी का है।” पिताजी बोले, “पर मेरा मन नहीं कहता कि वह किसी रूप में मेरा सहायक हो सकता है; क्योंकि मैं उसके पुत्र शिशुपाल को जानता हूँ। विभिन्न अवसरों पर दो-तीन बार मेरा-उसका सामना हुआ है। वह मेरा भानजा है; पर नमस्कार करना तो दूर, कभी उसने मुझसे बात तक नहीं की। मैंने ही कभी कुछ पूछा, तो उसने ऐसी उपेक्षा दिखाई जैसे वह मुझे पहचानता ही न हो।”

“यह सब तो कंस से उसकी मित्रता के कारण था।” अक्रूर चाचा ने कहा।

“पर उसकी मित्रता तो जरासंध से भी थी। उससे तो उसकी दाँतों काटी रोटी थी।”

“यही वह बिंदु है, जिससे वह जरासंध को समझा सकता है।” चाचाजी बोले।

“पर मुझे यह संभव नहीं लगता।” पिताजी का विश्वास अडिग था।

चाचाजी के समझाने पर वह दमघोष और अपनी बहन को पत्र लिखने के लिए राजी हो गए।

सुना था कि दूसरे दिन ही चर पिताजी का पत्र लेकर भोज-चेदि गया; पर चाचाजी संतुष्ट नहीं थे। उनका सोचना था कि इसके लिए पिताजी को ही जाना चाहिए था। चर तो अन्य राजाओं के यहाँ भी जा रहे हैं; पर दमघोष की स्थिति इससे भिन्न है। वह वटु का सगा फूफा है।

□

घटनाएँ युगजन्य परिस्थितियों का ही परिणाम होती हैं। अतएव घटनाओं पर विचार करते समय उस युग की परिस्थितियों की उपेक्षा नहीं की जा सकती। यह युग यादवों के लिए संक्रमण काल था। पुरानी परंपराएँ समाप्तप्राय थीं। मान्यताओं की दीवारें ढह गई थीं। केवल उनके भगनावशेष ही रह गए थे, जिनमें पुराने बहुमूल्य कंकड़ों को बीनने का काम छंदक जैसे लोग कर रहे थे।

शास्त्र जीवन से हटकर आचार्यों के घरों के कोने-अँतरे में पड़े रहकर अपनी अस्मिता बनाए रखने के लिए किसी तरह साँस ले रहे थे। मूल्यध्वस्तता की भयंकर स्थिति थी। नए सामाजिक मूल्य बन नहीं पा रहे थे। मत्स्य

न्याय था। जो प्रबल पड़ता था, दुर्बल को निगल जाता था। लोगों की महत्वाकांक्षाएँ स्थापित मर्यादाओं का भी उल्लंघन कर सत्ता पर हावी होती जा रही थीं। यह केवल कंस और उग्रसेन की ही कहानी नहीं थी, आसपास के राज्यों में भी यही हो रहा था। राजा तो गद्दी पर था, पर चलती उसके पुत्रों की थी। यहाँ तक कि माता-पिता की सम्मति के बिना वे आर्य-अनार्य किसी कुल की कन्या से विवाह कर लेते थे। वर्णाश्रम धर्म की चूलें हिल चुकी थीं।

स्त्रियों की स्थिति तो और भी दयनीय थी। वह अपने पति की महत्वाकांक्षा की पूर्ति के लिए मोहरे बनती थीं। वे महामात्य की पत्नी महादेवी की तरह अपने प्राण तक देने के लिए विवश की जाती थीं।

मुझे यह भी पता चला कि कंस के समय में बाण और रुक्मी जैसे उसके मित्र मथुरा आते थे। महीनों प्रासाद में रहते थे और अंतःपुर में भी आते-जाते थे। रंगेलियाँ करते थे। आश्चर्य तो यह था कि वृत्घ्न के मथुरा प्रवास के समय भी यह सब होता रहा। भाई और पति के समक्ष मैरेय के नशे में दूसरे लोग पत्नी से अभद्रता करें, पतन की इससे अधिक और सीमा क्या हो सकती है!

विचित्र बात तो यह है कि जब तक व्यक्ति पतित होता रहता है, तब तक उसे पतन की अनुभूति होती है और जब वह पतन जीने लगता है, तब वह पतन की अनुभूति भी खो देता है। मूल्यहीनता की यह स्थिति मनुष्य को पशु बना देती है।

उस रात प्रथम प्रहर लगभग बीत चुका था। मेरी शय्या नाना के ही कक्ष में लगाई गई थी। नाना की एक बड़ी पुरानी परिचारिका थी—प्रमदा। उन्हींकी तरह बूढ़ी और मथुरा के इतिहास को अपने आँचल में सँजोए हुए। वह नानी के दिवंगत होने के बाद भी नानाजी की शुश्रूषा में थी। जब कंस द्वारा नानाजी को बंदी बनाया गया तब कारागार में भी उसने नानाजी की सेवा करने की इच्छा व्यक्त की थी; पर कंस ने उसकी प्रार्थना स्वीकार नहीं की और उसे निकाल दिया था। कंस को विश्वास था कि यदि यह मेरे पिता के साथ रहेगी तो उनके षड्यंत्र का माध्यम बन सकती है। इसी शंका ने उसे निष्कासित करा दिया था और उसकी राजकीय वृत्ति भी छीन ली गई थी।

प्रमदा के स्थान पर कंस ने एक दूसरी परिचारिका माया अपने पिता को दी थी। माया की माया बड़ी विचित्र थी। वह परिचारिका तो थी नानाजी की, पर काम करती थी मामाजी का। वह कारागार की और नानाजी की गतिविधि की सारी सूचना कंस को देती थी।

कंस की मृत्यु के बाद अचानक प्रमदा आकाश से टपक पड़ी थी। नानाजी उसे पाकर विह्वल हो उठे थे। जिस रात्रि की बात मैं कह रहा हूँ, उस रात प्रमदा भी नानाजी के कक्ष में थी। यद्यपि अंतःपुर में जाने का उसका समय हो गया था, फिर भी वह कुछ मथुरा के अतीत और कुछ जीवन की निस्सारता में ऐसी खोई कि वहीं बैठी रह गई।

अचानक अंतःपुर में हंगामा हुआ। जोर का कोलाहल। आशंकाएँ तो तरह-तरह की थीं ही। हम सब घबरा गए। मैंने उठकर अपना चक्र सँभाला और चलने को हुआ। नानाजी ने रोकते हुए कहा, “अभी तुम मत जाओ। प्रमदा, तुम देखो क्या बात है!”

प्रमदा के जाने के बाद नानाजी ने बड़े शांतभाव से पूछा, “तुम अंतःपुर में कितनी बार गए हो?”

“शायद दो या तीन बार।”

“इसका तात्पर्य है कि तुम इस विशाल अंतःपुर का मार्ग तक नहीं जानते।” उनकी वाणी और गंभीर हुई और वे सावधान करते हुए बोले, “जिस मार्ग को न जानो, उसपर कभी मत चलो।”

“पर मेरे जीवन का अनुभव इसके विपरीत है, नानाजी।” मेरा अहं मुखर हुआ—“मैंने कभी मार्ग नहीं जाना; पर संयोग कुछ ऐसा कि मार्ग मुझे जानता रहा है। इसीलिए मैं सदा अनजाने और अनचीन्हे मार्ग पर ही चला हूँ।”

नानाजी मेरा मुँह देखते रह गए। उन्हें लगा कि यह मेरे नाती की नहीं, किसी दैवी शक्ति की आवाज थी।

अंतःपुर का कोलाहल अब भी था, पर उसकी कमर टूट चुकी थी। लगता है, अब वह शांत हो रहा है। प्रमदा भी दौड़ी हुई आती दिखाई दी।

वह अभी द्वार में प्रविष्ट भी नहीं हुई थी कि नानाजी ने पूछा, “क्या बात थी, प्रमदा?”

“वही था, जो हमेशा यहाँ होता है।” फिर उसने अपना माथा ठोंकते हुए कहा, “मैं क्या कहूँ! मालिनी आ रही है, वही आपको बताएगी।”

तब तक रोती-सिसकती मालिनी कक्ष में आ ही गई। हम सबकी दृष्टि उसपर टँग गई। स्पष्ट लगा कि ऐसा कुछ जरूर हुआ है, जो नहीं होना चाहिए।

उसकी सिसकन अब बिलखने की स्थिति में थी कि महाराज बोल ही पड़े—“क्या हुआ, मालिनी?”

उसने जो कुछ बताया, उसका सारांश था कि बाण बलात् उसे अपने कक्ष में घसीटता ले चला था। वह चिल्लाती रही। अंत में मुक्त होने के लिए उसे युद्ध करना पड़ा। परिणामतः वह बाण की शक्ति और क्रोध का भाजन बनी।

उसने सिसकते और बिलखते हुए ऐसी व्यथा के साथ कहा कि मुझे भी क्रोध आ गया और जब उसने अपने शरीर पर बाण के नाखूनों के खरोंच और उसकी मुष्टिका के प्रहार की चोटें दिखाई तो मेरे रक्त में उबाल आना स्वाभाविक था। मेरे रहते ऐसा हो गया? भैया तो आवेश में उठकर खड़े हो गए। मेरा क्रोध मालिनी के प्रति आत्मीयता से प्रभावित हो सकता है, पर भैया का क्रोध निष्कलुष पौरुष के आदर्श का प्रतीक था। निश्चित था कि यदि इस समय बाण उनके समक्ष होता तो वे अवश्य झपट पड़ते, परिणाम चाहे जो होता।

पर नानाजी के एक संकेत ने भभकनेवाले ज्वालामुखी पर हाथ रख दिया।

“आखिर उस नीच को इस समय अंतःपुर में आने की क्या आवश्यकता थी?” वे बड़बड़ाए। पर उनके स्वर में वह आक्रोश नहीं था, जिसकी अपेक्षा थी वरन् एक लाचारी थी, जो नख-दंतहीन वृद्ध सिंह में होती है।

“अंतःपुर की महिला सैनिकों ने भी तेरी रक्षा नहीं की?”

“इतना चिल्लाती रही, किंतु कोई आया तक नहीं।” मालिनी ने रोते हुए बताया।

महाराज सोचते रहे। उनकी व्यग्रता स्वेद बिंदुओं के रूप में उनके मस्तक पर चुभचुभा आई। विवशता मुखर हुई—“बेटी, मैं उस सिंहासन पर बैठा हूँ, जिसके पाये अनाचार और भ्रष्टाचार के दलदल में धँस चुके हैं, जिन्हें निकालना मेरा प्राथमिक दायित्व है; पर मैं अभी कुछ करना उचित नहीं समझता।”

इसके बाद एक लंबी चुप्पी नानाजी के मुख पर चिपक गई। ऐसा लगा जैसे उसका मौन कह रहा है कि मथुरा में सत्ता की अस्मिता सड़ चुकी है। उससे दुर्गंध आ रही है। मेरे राजमुकुट के सुवर्ण में मिलावट हो गई है। न इस राजमुकुट में पवित्रता रही और न कारा की दीवारों के बीच गले इस शरीर में संघर्ष की ऊर्जा।

यद्यपि उन्होंने कुछ कहा नहीं, केवल चुपचाप अपनी विवश मानसिकता झेलते रहे और कुछ समय बाद मालिनी को प्रमदा को सहेजते हुए कहा, “इस रात यह तुम्हारे जिम्मे है। इसकी सुरक्षा करो और इसका उपचार भी।”

प्रमदा कुछ कहना चाहती थी, पर वह भी मौन रह गई और मालिनी को लेकर चली गई। जाते-जाते मालिनी की निरीह दृष्टि मुझसे कहती गई—“इसीलिए मैं तुमसे कहती थी कि सिंहासन पर तुम बैठो। कम-से-कम सत्ता एक सबल हाथ में तो होती।”

उसके जाते ही मैंने नानाजी को कुरेदा—“आप क्या सोचते हैं?”

“सोच रहा हूँ कि मैं कितना निरीह हूँ!” वह बहुत धीरे से बोले, “इस भ्रष्ट राजभवन से तो वह कारागार ही

अच्छा था। वहाँ यातना थी, पर इतनी भ्रष्टता तो नहीं थी।”

“भ्रष्टता इसलिए कि हम भ्रष्टाचारी को सहते हैं।” भैया तुरंत बोल पड़े।

“सहते नहीं हैं वरन् सहना पड़ता है।”

“ऐसी भी क्या लाचारी है?”

“यह लाचारी है राजसत्ता की, जिसे तुम्हारे जैसे लोगों ने मुझपर पुनः थोपा है। यह लाचारी है युग-परिस्थिति की।” नानाजी ने एक कृत्रिम मुसकराहट अपने अधरों पर उगाई। फिर धीरे-धीरे बताया—“यह सही है कि हम बाण को एक पल में ठीक कर सकते हैं; पर उन परिस्थितियों को नहीं ठीक कर सकते, जिनके कारण बाण ने ऐसा करने का साहस किया है। वे परिस्थितियाँ तो युगों में बनी हैं। हम गिरते-गिरते इस गर्त में आए हैं। अब कीचड़ हटाना एक काम है और उस कीचड़ में गिरे लोगों को उठाना दूसरा काम।”

महाराज कहते गए। फिर अचानक चुप हो गए। उन्हें लगा कि वे जो कुछ कहना चाहते थे, वह नहीं कह पाए। उन्होंने मुद्रा बदलते हुए बस इतना ही कहा, “कुछ भी हो, इस समय तो सब सहते हुए हमें चुप ही रहना पड़ेगा।”

इतना कहने के बाद वे फिर चुप हो गए। उनकी दृष्टि ऊपर गवाक्ष की ओर लगी, मानो वे संभावित तूफान को देखने लगे हों।

□

सवेरे तक राजभवन का वर्तमान संदर्भ मौन हो चुका था; पर जनता की जबान तो पकड़ी नहीं जा सकी। रात की घटना हजारों मुखों और कानों का स्पर्श करती हुई विषाक्त धुँ की तरह फैल चली थी। परिणामतः सवेरे-सवेरे ही मालिनी का बूढ़ा पिता अपनी लकड़ी टेकता हुआ राजभवन में चला आया था और इसे संयोग ही कहिए कि आते ही उसकी भेंट मुझे हो गई।

“यह सब क्या सुन रहा हूँ, कन्हैया?” उसने मुझसे कहा, “अब भी वही सब होगा, जो अब तक होता रहा है?” उससे भी बड़ी बात उसने यह कही—“और यह सब तुम्हारे रहते हो गया!”

“जब तक पाप का घड़ा भर नहीं जाता तब तक मैं उसे फोड़ता नहीं हूँ।” मैंने मुसकराते हुए कहा। कहा ही नहीं वरन् अपने बचाव के लिए रास्ता निकाला।

वह कह सकता था कि बेइज्जत और अपमानित होता हुआ व्यक्ति घड़े भरने की कब तक प्रतीक्षा करता रहेगा; पर वह चुप रह गया। उसका मौन पूछ रहा था कि मालिनी कहाँ है?

इस बीच राजभवन के मुख्य द्वार पर कोलाहल-सा हुआ। मुझे लगा कि कोई नई विकट स्थिति आसन्न है। मैंने बूढ़े से कहा, “इस समय आप जाइए, मालिनी की सुरक्षा का भार मुझपर है।” इतना कहते हुए मैं मुख्य द्वार की ओर बढ़ा।

वहाँ लगभग पचास वृद्ध अपने आयुध के साथ उत्तेजित दिखे। सभी महाराज से मिलना चाहते थे और प्रहरियों का समूह बिना अनुमति के उन्हें भीतर आने देना नहीं चाहता था। इसी बीच कुछ सैनिक भी वहाँ चले आए। मैं प्रतीक्षाकक्ष की खिड़की से चुपचाप तमाशा देख रहा था।

सिंहद्वार पर उपस्थित अधिकांश सैनिक मागधी थे। उन्होंने प्रतिहारियों से कहा, “इन्हें भीतर क्यों नहीं आने देते?”

“ये महाराज से मिलना चाहते हैं और इनके पास किसी भी अधिकारी का अनुमति पत्र नहीं है।” प्रतिहारियों में से एक बोला।

“इन्हें प्रतीक्षाकक्ष तक तो लाया जा सकता है। फिर ये वहाँ से अनुमति ले लेंगे।” मागधी सैनिकों में से एक बोला। उसका पक्ष लेते ही मेरे कान खड़े हुए। मेरा हाथ अपने कटिपट में बँधे चक्र पर गया; किंतु शीघ्र ही सुनाई पड़ा

—“हमें आपकी संस्तुति की आवश्यकता नहीं है।” बूढ़े में से एक चिल्लाया—“आप लोगों की कृपा से ही हमारी यह स्थिति हुई है।”

“हाँ-हाँ, आप अपना काम करें। यह हमारे और महाराज के बीच का मामला है। हम स्वयं निपट लेंगे।” उन लोगों के बीच से यह दूसरी आवाज आई।

अब तक मथुरिया सैनिक भी आ गए थे।

“अरे दादा, आप कैसे?” सैनिकों में से एक ने उस भीड़ के किसीको पहचाना—“और यह सिर पर पट्टी कैसी बँधी है?”

“अपने कर्मों का फल है, बेटा!” वह बूढ़ा बोला, “यदि मैं उन दिनों मथुरा छोड़कर न चला गया होता तो यह स्थिति नहीं आती।”

अब मुझे स्पष्ट लगा कि ये मथुरा के ही लोग हैं। लगता है, किसी विषय को लेकर इनमें झगड़ा हो गया है। अनुभव हुआ कि परिस्थिति विपरीत नहीं है; क्योंकि उन लोगों के दुत्कारने पर मागधी सैनिक अपना मुख लेकर हट गए थे। मैं इस स्थिति का अध्ययन करने बाहर आया। मुझे देखते ही सैनिक एक ओर हट गए और प्रतिहारी दूसरी ओर। अब मेरे और उस भीड़ के बीच एक छलाँग के अंतराल से अधिक और कुछ नहीं था।

मैं कहना चाहता था कि आप कैसे पधारे? पर मेरे मुख से कुछ निकले, इसके पहले ही मेरे मोर मुकुट और वंशी ने मेरी पहचान करा दी।

“अरे, कृष्ण कन्हैया! मेरे तारणहार!” और फिर पता नहीं क्या-क्या मुझे संबोधन देते हुए वे मेरा अभिवादन करने लगे।

मैं मौन खड़ा अपने ढंग से मुसकराता रहा।

कुछ बातों से और कुछ संकेतों से मैंने जाना कि ये सबके सब यादव सरदार हैं। कंस के अत्याचार से परेशान होकर इन्होंने मथुरा छोड़ दी थी। उसकी मृत्यु के समाचार के बाद ये लौट आए हैं।

“आप तो जानते हैं कि यह समय महाराज से मिलने का नहीं है।” मैंने उन्हें अतिथिकक्ष में बैठाते हुए कहा। पर उनकी संख्या इतनी थी कि उनमें से कुछ को कक्ष में खड़े ही रहना पड़ा। मैं भी खड़ा ही था।

“इस समय तो महाराज यमुना के तीर पर पिंडदान और तिलांजलि कर्म के लिए जाएँगे। आप अपराह्न ही मिल सकते हैं।”

“तो हमें भी वहीं चलना चाहिए।” उनमें से एक बोला।

“यदि केवल उनका दर्शन ही करना हो तो आप जा सकते हैं।” मैंने कहा।

“पर हमें तो अपनी समस्याएँ भी रखनी हैं।”

“तब वहाँ जाने से कोई लाभ नहीं।” मैंने अनुभव किया कि स्वार्थ के भीतर कितनी अशांति और व्यग्रता पलती है। अन्यथा इन्हें एक ऐसे पिता की मानसिकता का स्वयं अनुमान लगाना चाहिए, जो अपने नौ-नौ पुत्रों को एक साथ तिलांजलि दे रहा हो। सचमुच मथुरा की मानवता स्वार्थ और अराजकता की गलीज में फिसलकर गंदी हो चुकी थी। उससे दुर्गंध आ रही थी।

जुआड़ी की तरह अपने दाँव पर ही दृष्टि रखनेवाले इन वृद्धों से मैंने स्पष्ट पूछा, “आपकी समस्या क्या है?” उन्होंने विस्तार से अपनी कथा सुनाई और बताया कि जिन भूखंडों को छोड़कर वे चले गए थे, उनपर सरकारी निर्माण और राजकीय उद्यान बना लिये गए हैं। कुछ परती धरती अवश्य है; पर उनपर भी हमारा कोई चिह्न नहीं रह गया है। हम उसे कहते हैं, हमारी है; वे कहते हैं, हमारी है। इसका परिणाम आप स्पष्ट देख रहे हैं।” उनका संकेत

पट्टी बँधे सिर की ओर था।

“आपको यहाँ से छोड़कर जाना नहीं चाहिए था।” उन्हें गंभीरता से सुनने के बाद मैं बोला।

“हम जाते नहीं तो क्या करते?” सामने बैठा वृद्ध एकदम खड़ा हो गया। उसने अपनी सफेद दाढ़ी पर हाथ फेरते हुए कहा, “जिस राज्य में व्यवस्था नाम की कोई चीज न रह गई हो, जहाँ निर्बल सताए जा रहे हों, अबलाओं पर अत्याचार हो रहा हो; बहू-बेटियों की चारित्रिक अस्मिता कब राजभवन के विलास की वेदी पर चढ़ा दी जाएगी, इसका पता तक न हो, उस राज्य में रहना क्या संभव था? अरे, जलते वृक्ष को पक्षी भी छोड़ देते हैं। उस समय मथुरा जल रही थी।”

“और आपने उसे छोड़ दिया! जलते वृक्ष से उड़ा हुआ पक्षी फिर उस वृक्ष पर नहीं आता, पर आप तो चले आए।”

“इसलिए कि आग शांत हो चुकी है।”

“अब आपसे मथुरा यदि कहे कि चले जाओ यहाँ से। मुसीबत के समय तुम छोड़कर चले गए थे, अब तुम्हारा यहाँ कोई काम नहीं है, तब आप क्या करेंगे?”

मेरी बात सुनते ही वे एक-दूसरे का मुँह देखने लगे।

उनकी इस निरुत्तरता ने मेरे स्वर में और भी तेजस्विता भरी—“यह आपकी मातृभूमि है। यहाँ के अन्न से आपका शरीर बना है। यहाँ की वायु का आपके श्वास में प्रकंपन है। आपके पूर्वजों की पवित्र आत्माएँ यहीं के अनंत अंतरिक्ष में विलीन हुई हैं। फिर भी आपने इस धरती के साथ कुछ भी लगाव अनुभव नहीं किया। सचमुच आप कृतघ्न हैं।”

इतने पर तो उनपर घड़ों पानी पड़ गया। फिर भी एक ने साहस बटोरकर कहा ही—“यदि लगाव न होता तो हम क्यों आते?”

“आप लगाव के कारण नहीं, अपने स्वार्थ के कारण आए हैं।” मेरा स्वर और ऊँचा हुआ—“जिस धरती ने आपको पाला, उसपर विपत्ति पड़ी तो आप छोड़कर भाग गए—और जब अवसर अनुकूल आया तो उसे दुहने चले आए।”

मेरा तर्क उनपर भारी पड़ रहा था। मैंने यह सब उन्हें नाराज करने के लिए नहीं वरन् लज्जित करने के लिए कहा था; क्योंकि लज्जा एक ऐसा मनोभाव है, जिसके जाग्रत होने पर अहं धरातल पर आ जाता है। न क्रोध रह जाता है और न द्वेष। दूरी बनाए रखते हुए भी लज्जा की डोर एक-दूसरे को बाँध लेती है।

अब वे मुझे धरातल पर भी लगे और आपस में बँधे हुए भी दिखाई दे रहे थे।

“यदि आप महाराज से मिलना चाहते हों तो अपराह्न में आने का कष्ट करें।” मैंने कहा।

“उस समय यदि प्रहरी ने रोकते हुए अनुमति पत्र माँगा तो?”

“मैं स्वयं आपके लिए अनुमति पत्र बनकर इसी कक्ष में आपकी प्रतीक्षा करूँगा।”

इतना सुनते ही सब ऐसे पानी हुए कि क्या बताऊँ।

कक्ष से बाहर जाते हुए लगभग हर एक ने मेरा चरण स्पर्श किया।

□

सूर्य पश्चिम में ढुलकने लगा। अभी संध्या दूर थी। प्रतिहारियों ने महाराज को सूचना दी कि बाण प्रस्थान कर रहे हैं। आशंकित मन में हिलोरें उठीं, ऐसा तो नहीं कि वह अपने राज्य में जाकर कोई विपत्ति खड़ा करे। भैया इस पक्ष में थे कि उसे जाने देना चाहिए। आखिर क्या कर लेगा वह? इतना डरने से भी काम नहीं चलता।

पर नानाजी कोई खतरा मोल लेने की स्थिति में नहीं थे। वे जो कुछ हो गया था, उसीकी प्रतिक्रिया देख रहे थे। मथुरा स्वयं में विभाजित थी। अधिकांश लोग कंस की हत्या से संतुष्ट थे। इसे दैवी चमत्कार की तरह स्वीकार कर रहे थे और सोच रहे थे कि जैसे यह घट फूटा है वैसे सब ईश्वर ठीक कर देगा। उनका संतोष लगभग निष्क्रियता की परिधि छूने लगा था। दूसरी ओर ऐसे लोग भी थे, जो इस कांड से बड़े दुःखी थे। यद्यपि ऐसे लोगों की संख्या बहुत कम थी, पर वे बड़े खतरनाक थे। वे भीतर-ही-भीतर सुलग रहे थे। उधर कंस के अभाव में प्रशासन की पूरी पकड़ नानाजी के हाथ में नहीं आई थी। वह यही नहीं समझ पा रहे थे कि कौन हमारा विश्वस्त है और कौन नहीं। जो उनके समय के विश्वस्त थे, उनमें अधिकांश की सेवा समाप्त की जा चुकी थी। जिन्होंने उनकी विश्वसनीयता फेंककर कंस की विश्वसनीयता ओढ़ ली थी, उन्हें भी बढ़ती हुई वय की विवशता ने धर दबाया था। ऐसी विषम स्थिति में महाराज के समक्ष उलझन के सिवा कुछ नहीं था।

नानाजी ने बाण को कहला भेजा कि आपको महाराज स्मरण कर रहे हैं। पहले तो उसने इस आदेश की घोर उपेक्षा की। उसके मुख से यहाँ तक निकल गया कि मैं उस बूढ़े को महाराज ही नहीं मानता। किंतु जब उस परिचर ने कहा कि यह महाराज का आदेश नहीं, निवेदन है—और निवेदन किसी भी व्यक्ति का हो सकता है, तब वह किसी प्रकार समय टालकर उपस्थित हुआ।

महाराज पहले से ही उसकी प्रतीक्षा में बैठे थे। उसके आते ही उन्होंने हमें हट जाने का संकेत किया। इससे भैया के अहं को ठेस भी लगी। उनकी मुखमुद्रा से स्पष्ट भास हुआ। पर मैंने उन्हें समझाया कि नानाजी की परिस्थिति को देखते हुए इस आदेश पर हमें बहुत सोचना नहीं चाहिए।

भैया का कहना था कि मैं इस आदेश पर नहीं वरन् इस बात पर सोच रहा हूँ कि इस व्यक्ति को इतनी महत्ता क्यों दी जा रही है?

हम लोगों की जिज्ञासा तो बनी ही थी, हम बगल के कक्ष में चले गए और ऐसी जगह बैठे जहाँ से महाराज के कक्ष की बातें स्पष्ट सुनाई दे रही थीं।

बाण के आते ही महाराज ने पूछा, “सुना है, तुम जा रहे हो, वत्स?”

“तो क्या करूँ, यहाँ अपना अपमान कराऊँ!” उसके स्वर में एक ऐंठन थी।

“कैसा अपमान? किसके द्वारा अपमान किया गया?”

“क्यों, गत रात्रि में क्या हुआ था?” बाण के स्वर में आक्रोश उभरा—“एक दासी पुत्री ने मुझे लांछित किया और आपने उसे बुलाकर शरण दी। यह क्या मेरा सम्मान था?”

इतना सुनते ही भैया का क्रोध धीरे से मेरे कान के निकट मुखर हुआ—“देखा, नीच अपने पाप की कीचड़ दूसरे पर उछाल रहा है!”

मैंने धीरे से भैया का हाथ दबाया कि इस समय हमें कुछ बोलना नहीं चाहिए।

“वह स्त्री मेरे पास रोती हुई आई थी। मैंने उसे शांत करने के लिए परिचारिका को सौंप दिया।” महाराज ने कहा,

“मैंने इस संदर्भ में आपसे तो कुछ कहा नहीं।”

“आप कहते क्या! इस विषय में आप मुझसे पूछ सकते थे और वह भी आपने नहीं किया।”

“क्या करता पूछकर?”

“बात तो स्पष्ट हो जाती।” बाण बोला, “ऐसे तो लोगों ने समझ लिया कि उस कलमुँही की बातों पर आपने विश्वास कर लिया और मुझे पराया समझकर संप्रति आपने उपेक्षित किया।”

“मैं तुम्हें पराया कैसे समझ सकता हूँ!” स्वर में अपनत्व का भाव आया—“तुम मेरे बेटे के अंतरंग मित्र थे,

इसलिए बेटे जैसे हो।”

“जब बेटा चला गया तब मुझे भी जाने दीजिए।” बाण बोला, “और यहाँ अब मेरी आवश्यकता ही क्या है!”

“क्यों नहीं आवश्यकता है! मेरे नातियों का उपनयन जो है।”

“आपके नातियों का या पुत्रों के हत्यारों का?”

बाण के इतना बोलते ही शांति का एक धमाका-सा हो गया। फिर ऐसी चुप्पी पैदा हुई, जो कुछ क्षणों तक हिली तक नहीं। किसीको विश्वास नहीं था कि बाण इतना स्पष्ट और महाराज के मुँह पर बोल देगा। सत्य के प्रति यह उसके आग्रह का परिणाम नहीं था; पर यह उसकी दुर्विनीतता और उजड़ता का प्रतिफल था। इसीलिए इस सत्य कथन के पीछे जो नैतिकता का बल होना चाहिए वह उसमें नहीं था। इसका प्रतिफल था कि मेरे कान में भैया ने फिर कहा, “एक भ्रष्टाचारी भी इस तरह की बात कर सकता है।”

मैंने फिर उनका हाथ दबाया।

इस बार महाराज की ध्वनि विवशता में डूबी थी—“मैं तुम्हारी बात का क्या उत्तर दूँ, बाण? यही समझो, मेरी दो आँखें—एक मेरे पुत्र और दूसरे मेरे दौहित्र। एक आँख तो फूट ही गई, अब क्या चाहते हो कि मैं दूसरी भी फोड़ लूँ?”

“यदि एक आँख दूसरी को फोड़ती है तो दूसरी आँख को भी रहने का अधिकार नहीं।” ज्यों-ज्यों महाराज दबते जा रहे थे, बाण की आवाज उतनी ही तेज होती जा रही थी—“भले ही आपका स्वार्थ उन्हें रोके रहे।”

“मेरा स्वार्थ नहीं, यह सब तो नियति का खेल है, बाण! मैं कारागार में डाला गया, यह भी नियति की क्रूरता का परिणाम था, अन्यथा किसीका बेटा कहीं अपने पिता को बंदी बनाता है! इतिहास में शायद ही इसका कोई दूसरा उदाहरण मिले। मैं बंदीगृह से मुक्त हुआ, इसमें भी नियति का हाथ था। न कोई किसीको मारता है और न कोई स्वयं मरता है।” इसके बाद अचानक नानाजी का स्वर बदला—“क्या समझते हो, कृष्ण ने कंस को मारा? कंस तो पहले ही मर चुका था, कृष्ण तो निमित्त बना। रह गई उसके रहने और न रहने की बात...”

“उसके रहने और न रहने की बात के संदर्भ में तो मैंने कुछ नहीं कहा।”

“क्यों, तुमने कहा नहीं कि दूसरी आँख को नहीं रहना चाहिए।” हम लोगों ने अनुभव किया कि नानाजी ने पकड़ा खूब है। “तो सुन लो, वह आँख भी अब मेरे पास रहने वाली नहीं है। यज्ञोपवीत के बाद वे दोनों भाई सांदीपनि के आश्रम में चले जाएँगे, तब तुम्हीं रह जाओगे, जिनकी आँखों से मैं देखूँगा।”

इस आग्रह के बाद बाण गया नहीं। हम लोगों ने नानाजी को जितना सरल समझा था, वस्तुतः वे उतने लगे नहीं। सत्ता व्यक्ति की सहजता का बहुत कुछ अंश सोख लेती है। फिर आरंभिक जीवन का एक लंबा अरसा उन्होंने गद्दी पर बिताया था। कूटनीति से उन्हें अलग कर दिया गया था, पर कूटनीति उनसे अलग नहीं हुई थी। उन्होंने बाण को विश्वास दिला दिया कि कृष्ण-बलराम तो यहाँ से जाने ही वाले हैं, फिर तो मैं आप लोगों की मुट्ठी में रहूँगा।

वस्तुतः इस मिलन के बाद बाण नानाजी की मुट्ठी में आ गया था। उसने रुक्मी को भी जाने से रोका। थोड़ी देर बाद मैं जब नवागंतुकों की प्रतीक्षा में मुख्य द्वार की ओर गया तब वह मुझसे भी मिला। अब तो वह एकदम बदल चुका था। उसने बड़ी आत्मीयता से बातें कीं और कहा, “लो भाई, अब हमने तुम्हारे उपनयन तक यहीं रहने का संकल्प किया है।”

“यह आपकी कृपा है।” मैंने भी बड़ी विनम्रता से उत्तर दिया और अपनी कूटनीतिज्ञता से बाज नहीं आया—“संकल्प तो किसी बड़े काम के लिए किया जाता है। दो-चार दिन कहीं रुक जाना, यह ‘संकल्प’ जैसे बड़े

और विराट् शब्द की परिधि में नहीं आता; यह तो नानाजी के आग्रह की मात्र स्वीकृति है।”

“तो संकल्प की परिधि में क्या आता है?” उसने मुसकराते हुए पूछा।

“यहाँ हमेशा के लिए रहना और नानाजी की देखभाल करना।”

वह एकदम मेरी आकृति की ओर देखता रह गया; जैसे उसे विश्वास न हो रहा हो। उसके मुख से निकला भी —“यह तुम कह रहे हो?”

“तब क्या कोई और कह रहा है!” मैं जोर से हँसा—“अरे भाई, हम लोगों के आश्रमवासी होने पर आप और रुक्मी जैसे लोग ही न रह जाएँगे, जो नानाजी की देखभाल करेंगे। इस वृद्धावस्था में उन्हें युवा कंधों का सहारा चाहिए। अब आप लोगों के अतिरिक्त यहाँ है कौन?”

अंधा क्या चाहे—दो आँखें। उसने महाराज की ध्वनि की प्रतिध्वनि ही मुझमें पाई। वह परम प्रसन्न हुआ। निश्चित रूप से यहाँ से हटने के बाद वह रुक्मी के यहाँ गया होगा।

“तुमने उसकी महत्वाकांक्षा को जगाकर अच्छा नहीं किया।” भैया की सहजता ने कहा, “आग बुझाने के स्थान पर तुमने उसमें घी डाल दिया।”

“जब आग से काम लेना हो तो उसमें घी ही डालना चाहिए।” मैंने कहा, “मुझे इस समय वह काम करना पड़ रहा है, जिसे छंदक किया करता है।”

भैया की सहजता ने मेरे कथन को गंभीरता से नहीं लिया।

□

संध्या के कुछ पहले ही यादवों का वह समूह आया, जो आज सवेरे आया था। मुझे देखते ही उसने अभिवादन किया।

“देखिए, मैं आपके अनुमति पत्र के रूप में खड़ा हूँ।” मैंने कहा।

सबकी आकृतियों पर मुसकराहट दौड़ गई और सबके सिर विनम्रता से झुक गए।

“आपने हमारे पूर्व आगमन की महाराज को सूचना दे दी थी?” उनमें से एक ने पूछा।

“नहीं तो।” मैंने कहा, “और ऐसा करने के लिए आपने कहा भी नहीं था।”

फिर मैंने उन्हें प्रतीक्षाकक्ष में बैठाया—“आप थोड़ी देर विश्राम करें, तब तक महाराज सभाकक्ष में आ जाते हैं।”

मैंने आकर महाराज को सूचना दी और लगभग आधी घड़ी बाद उन यादव सरदारों को सभाकक्ष में ले गया।

सबने महाराज का अभिवादन किया और अपनी समस्याएँ रखीं। उनमें से कुछ को महाराज ने पहचाना भी। उनका कहना था कि मेरी धरती पर राजकीय निर्माण हो चुके हैं। जो परती पड़ी है, उन्होंने अपनी पहचान खो दी है।

“यह बहुत बड़ी बात है कि आप अपनी पहचान सँभाले हुए हैं।” महाराज बीच में ही बोले और हँस पड़े।

“यदि ये अपनी पहचान बनाए होते तो यह हालत न होती।” मैंने एक व्यक्ति के सिर पर लगी चोट की ओर संकेत करते हुए कहा।

“यह तो इसलिए हुआ कि धरती ने अपनी पहचान खो दी थी।” उस व्यक्ति ने पुनः अपनी बात दोहराई।

“पहचान खोई धरती ने और सिर फूटा आपका!” महाराज फिर जोर से हँसे, “दो ही वस्तु तो इस जगत् में ऐसी हैं, जो कभी पहचान नहीं खोतीं—एक है धरती और दूसरा आकाश। ये काल के प्रवाह को सहते हुए भी अपनी पहचान में फर्क नहीं पड़ने देते। मनुष्य इनपर रेखाएँ खींचता है और अपनी पहचान बनाता है। मानचित्र पर खींची गई सारी रेखाएँ हमने खींची हैं। ये राज्यों की सीमाएँ हमारी बनाई हुई हैं।...और हर क्षण हम उन्हें आगे बढ़ाने के प्रयास में लगे रहते हैं।” वे बोलते गए—“हमारी महत्वाकांक्षा इसी मरीचिका के पीछे दौड़ती है।...और एक दिन ऐसा आता

है कि बेटा बाप को ही बंदीगृह में डाल देता है।” निश्चित है, नानाजी अब अपने में खोने लगे थे।

सबके सब नानाजी को मौन सुनते रहे।

नानाजी बोलते गए—“धरती न किसीकी सदा हुई है और न किसीकी सदा होगी। कोई छाती पर लादकर धरती को अपने साथ ले नहीं गया है। यह उसकी ही रही है, जो इसे जोता-बोता रहा है। आप लोग तो स्वयं इसे छोड़कर चले गए थे।”

“हम स्वयं नहीं गए थे। हम जाने के लिए परिस्थितियों द्वारा विवश किए गए थे।”

“क्या आपके सामने ही परिस्थितियाँ थीं? उनके सामने नहीं थीं, जो मथुरा में रह गए और आज भी हैं?” महाराज ने अंत में कहा, “वह पुरुषत्व क्या, जो अपने अधिकारों के लिए लड़ना न जाने!”

सबके चेहरों पर चुपियाँ चिपक गई थीं। मौन का यह अंतराल थोड़े क्षणों का था, पर बड़ा लंबा लगा। फिर उन्हींमें से एक ने कहा, “महाराज, यदि आप अभयदान दें तो एक बात पूछूँ?”

“भय और संत्रास का युग तो चला गया। अब यहाँ भय कहाँ! हाँ, अनुशासन अवश्य है। आप परम मुक्त होकर पूछिए।”

फिर भी वह चुप रह गया। उसकी आकृति पर असमंजस और द्विविधा के भाव स्पष्ट दिखे।

“आप इतना हिचकिचा क्यों रहे हैं? पूछिए न!” महाराज ने जोर दिया।

“मेरा प्रश्न नितांत व्यक्तिगत है, वह अनुशासन की परिधि में भी आ सकता है।”

“फिर भी कोई बात नहीं। आप पूछिए।”

अब भी वह हिचकिचाते हुए ही बोला, “आप इस समय तो हम लोगों के लिए पुरुषत्व की बात करते हैं, जब आपको आपके बेटे ने ही बंदी बनाया था तब आपका पुरुषत्व कहाँ चला गया था?”

“कारा में बंदी हो गया था!” महाराज जोर से हँसे। यादव सरदारों को विश्वास नहीं था कि इतने गंभीर प्रश्न का उत्तर महाराज इतनी सहजता से दे देंगे। महाराज बोलते रहे—“फिर भी मैं संघर्ष करता रहा, उन यातनाओं को झेलता रहा। मैं चाहता तो बंदीगृह से भाग सकता था। कंस के अपने विशेष प्रहरियों के अतिरिक्त भी मेरे नियुक्त किए गए अनेक कर्मचारी उस समय बंदीगृह के अधिकारी थे। उन्होंने मेरे पास प्रस्ताव भी भेजा था; पर मैंने भागना उचित नहीं समझा। जब प्रजा ही कष्ट झेल रही हो तो मैं भाग जाऊँ, उसके कष्ट का भागीदार न बनूँ? और यदि भागता भी तो भागकर कहाँ जाता! जब विपत्ति आती है तो बाहर से भागकर लोग अपने घर आते हैं, मैं घर से भागकर बाहर जाता?”

नानाजी ने इतने प्रभावशाली ढंग से कहा था कि उनपर घड़ों पानी पड़ गया। उन्हें अपनी करनी याद आने लगी। नानाजी बोलते रहे—“वृक्ष का फल खाया। वृक्ष के कोटर में जीवन बिताया और आज जब वृक्ष में आग लगी तो हम उड़ चले। हमसे बड़ा कृतघ्न कौन होगा! अरे, हमें भी उस वृक्ष के साथ ही जल मरना चाहिए।”

महाराज के इस कथन ने सरदारों के रहे-सहे वैरभाव को भी तिरोहित कर दिया। अपनी जन्मभूमि के प्रति उनमें नया कर्तव्यबोध जागा। उन्होंने स्वीकार किया—“आप ठीक कहते हैं। हमें किसी भी स्थिति में मथुरा छोड़ना नहीं चाहिए था; पर अब तो भूल हो ही गई। अब हम लोगों के लिए क्या आदेश है?”

“आदेश क्या है! मथुरा आपकी है। इसके चपे-चपे पर आपका अधिकार है।” महाराज ने कहा, “अब हमारे सामने दो ही रास्ते हैं—या तो आपकी भूमि पर जो राजकीय निर्माण हो गए हैं, उन्हें ध्वस्त कराकर भूमि आप लोगों को सौंप दी जाए या आप अपनी भूमि के बदले और कहीं भूमि ले लें। अब आप ही समझें कि क्या उचित होगा!” सबने स्वीकार किया कि राजकीय संपत्ति भी हमारी संपत्ति है। उसको गिराने का तात्पर्य है, अपनी ही हानि करना।

“तब आप कहीं भी भूमि ले लीजिए; पर भूमि के लिए कलह मत कीजिए। धरती तो प्रभु की संपदा है। जैसे प्रभु ने हमें हवा दी है, जल दिया है, सूर्य के माध्यम से प्रकाश और ताप दिया है, मुक्त आकाश दिया है वैसे ही उसने भूमि भी दी है। हम हवा, जल, भूमि के लिए तो नहीं लड़ते, तब धरती के लिए झगड़ा कैसा?” नानाजी ने कहा और उन्होंने यह भी पूछा, “आप लोगों का परिवार भी तो होगा?”

“परिवार तो है, पर हम अभी उसे नहीं लाए हैं।” वृद्ध अचानक रुका। फिर बोला, “दो-चार लोगों का परिवार भी आ गया है।”

“खैर, कोई बात नहीं, सबकी व्यवस्था होगी।” महाराज बोले, “आप लोगों के यहाँ पर पुराने परिचित तो होंगे ही। आप चाहे उनके यहाँ दो-चार दिन रह लें, अन्यथा हमारा अतिथिगृह आप लोगों के लिए खुला ही है।” इतना सुनते ही ‘साधु-साधु’ कहकर महाराज की सदाशयता को उन्होंने सराहा।

महाराज बोलते रहे—“मैं दो-चार दिनों की बात इसलिए कह रहा हूँ कि अशौच से मुक्त होते ही मैं अपने दौहित्र के उपनयन संस्कार में व्यस्त हो जाऊँगा। उसके बाद ही आप लोगों की कोई व्यवस्था हो सकेगी।”

“बड़ी कृपा है आपकी!” सबने एक स्वर से कहा और चलने को हुए।

“आप सभी मेरे दौहित्र के उपनयन संस्कार में सादर आमंत्रित हैं।” इस बार महाराज की मुसकराहट बारी-बारी से सबको छूती निकल गई।

सूर्य पश्चिम की ओर ढुलक चुका था। संध्या गुलाबी पड़ने लगी थी। महाराज के यमुनातट पर जाने की व्यवस्था होने लगी।

आश्चर्य था कि आज जब महाराज जलदान के लिए जा रहे थे तो बाण और रुक्मी भी उनके साथ थे। मुझे लगा कि महाराज की ओषधि काम कर गई।

चलते-चलते बाण ने नानाजी से कहा, “मैंने उपनयन तक मागधी सैनिकों को भी रोक रखा है।”

“जैसी तुम्हारी इच्छा।” नानाजी ने कहा और इसके बाद ही तुरंत पूछा, “क्यों, वे भी जाना चाहते थे?”

“हाँ।” बाण ने बताया, “वे कह रहे थे कि हम कई वर्षों से यहाँ हैं। पेट के लिए परिवार से विलग होने की विवशता हमने स्वीकार की। अब आवश्यकता न हो तो हम लोग चले जाएँ।”

महाराज तो चाहते ही थे कि इन सैनिकों को यथाशीघ्र हटा दिया जाए। उन्हें मौका मिला। उन्होंने बड़े नाटकीय स्वर में कहा, “वत्स, मैं नहीं चाहता कि कोई अपने बाल-बच्चों से दूर रहे।” इतना कहते-कहते उनकी दृष्टि आकाश की ओर उठ गई—“पता नहीं कौन सा उस जन्म में पाप किया था कि जीवन के मंदिर क्षणों में ही मैं अपने परिवार से अलग कर दिया गया। पुत्रों का ही शत्रु बना और उनका जीवित मुख तक नहीं देख सका।” नानाजी का स्वर भर आया—“अब मैं ऐसा पाप नहीं करना चाहता। उन सैनिकों से कहो कि यथासुविधा लौट जाएँ।”

इसके बाद उन्होंने प्रद्योत से कहा, “देखो, मागधी सैनिकों की उचित बिदाई की व्यवस्था करो।”

“जैसी आज्ञा, महाराज।” कहकर प्रद्योत वहीं खड़ा रह गया। उसका सोचना था कि जब महाराज लौटेंगे तो उन्हींके साथ चलेगा।

पर महाराज तो ‘शुभं शीघ्रम्’ की भावना से भावित थे। वे सोच रहे थे कि जितनी जल्दी पाप कटे उतना अच्छा। उन्होंने शब्दों से अधिक संकेतों से कहा, “महामात्य, अभी जाइए और व्यवस्था आरंभ कर दीजिए। किसी प्रकार की भूल न रह जाए।”

इसके बाद उन्होंने बाण और रुक्मी से भी महामात्य की सहायता करने का निवेदन किया। दोनों पालित श्वान की

तरह महामात्य के पीछे चल पड़े।

मैं सबकुछ समझ रहा था। उनके जाने के बाद मुसकराता हुआ नानाजी के पास आया। वे मुझे देखते ही धीरे से बोले, “मुसकराते क्या हो! सत्ता का अस्तित्व कूटनीति की गोद में पलता है।”

□

आठ

अशौच समाप्त हो चुका था। राजभवन मेरे उपनयन की तैयारी में लग गया था।

सूर्य डूबने को था। संध्या का रंगीन आँचल कार्तिक की शीतल बयार में फहराने लगा था। मैं चाचा के उद्यान में टहल रहा था। मेरे साथ भैया भी थे। अचानक परिचर ने सूचना दी कि कुमार विंद और अनुविंद पधारे हैं। मैंने दौड़कर उनकी अगवानी की और उद्यान में ही उन्हें ले आया।

उन दोनों भाइयों ने हमें वक्ष से लगाते हुए कहा, “आचार्यजी ने आप लोगों की बड़ी प्रशंसा की है और बताया है कि अब आप हमारे सहपाठी होने वाले हैं। आश्रम में हमारे ही साथ निवास करेंगे।”

“यह तो आचार्यजी की महत्ता है कि उन्होंने हमें अपना लिया, अन्यथा हमें कौन अपना शिष्य बनाना स्वीकार करता!” मैंने कहा।

“आप कैसी बात करते हैं! आप जैसे गुणवान् और प्रज्ञासंपन्न शिष्य को पाकर कोई भी आचार्य धन्य हो सकता है!”

“यह तुम नहीं, मित्र, तुम्हारी सदाशयता बोल रही है।” मैंने कहा, “हम लोग वय की उस सीमा पर आ गए हैं, जब आश्रम का द्वार किसीके लिए भी बंद हो जाता है। पर नियति हमपर सदय ज्ञात होती है। उसीकी कृपा से आप सब अनाहूत आहूत हो गए हैं।”

“हम तो मथुरा की कला और इस नगरी का सौंदर्य देखने आए थे और दिखाई पड़ा छल-छद्म; पर इस कोयले के ढेर में हमें आप जैसे हीरे भी मिले। तभी तो आचार्य ने आज्ञा दी कि तुम उनसे जाकर परिचय प्राप्त करो और उन्हें सूचना दो।”

“सूचना दो! किस बात की?”

“सुना है, कल नारदजी पुनः मथुरा में पधारे थे?” अनुविंद बोला।

मेरी जिज्ञासा ने भैया की ओर पुनः देखा। उनकी मुद्रा भी प्रश्नवाची हो गई।

“तो कहाँ हैं वे?”

“लोगों का कहना है कि वे रात में ही चले गए; पर एक भविष्यवाणी छोड़ गए।” विंद बोला।

हमारी जिज्ञासा और बढ़ी।

अब अनुविंद ने ही बताया—“गुरुजी बता रहे थे कि नारदजी बड़े प्रसन्न थे कि मेरी भविष्यवाणी पूरी हुई; पर मथुरा अभी संताप से मुक्त नहीं हुई है। यहाँ जितने बाहरी लोग हैं, जब तक उनका विनाश नहीं हो जाएगा, मथुरा की अस्मिता पर बादल छाए रहेंगे।”

“आखिर इसका तात्पर्य क्या है?”

“तात्पर्य स्पष्ट है। यहाँ रह रहे बाहरी लोगों का विनाश।”

“क्या आचार्यजी ने नारद के दर्शन किए थे?”

“नहीं। हाँ, रात्रि में उनकी वीणा अवश्य सुनी थी।” अनुविंद बोला, “अतिथिकक्ष के बाहर वीणा का स्वर स्पष्ट था; पर आचार्यजी ने यह नहीं सोचा कि यह नारद की ही वीणा है, अन्यथा वे उसके दर्शन अवश्य करते।...किंतु ब्राह्म मुहूर्त में ही नारद के आगमन का समाचार राजभवन में फैल गया। स्वयं महामात्य ने इस संबंध में आचार्यजी को बताया।

“तब आचार्य सांदीपनि ने मुसकराते हुए कहा, ‘आप घबराएँ नहीं। हम नारद की भविष्यवाणी से मुक्त हैं; क्योंकि हम बाहरी अवश्य हैं, पर मथुरा में रहने नहीं आए हैं।’ ”

हम दोनों भाई विंद और अनुविंद की बात पर सोचते रह गए। इतनी महत्वपूर्ण बात और हम लोगों को पता नहीं। मथुरा भी इस तथ्य से अनभिज्ञ। यदि किसीको पता चलता तो हमें सूचना अवश्य मिल जाती।

“आज तो ब्राह्म मुहूर्त के पूर्व ही मेरी नींद टूट चुकी थी; पर मैंने तो किसी प्रकार की वीणा की आवाज नहीं सुनी थी।” भैया बोले।

“पर आचार्यजी ने स्पष्ट सुना है। आखिर वे असत्य क्यों कहेंगे?”

“नहीं-नहीं, आचार्यजी के कथन में मुझे संदेह नहीं है।” भैया ने स्वयं को सँभाला—“मुझे आश्चर्य है अपने कानों पर। इन अभागों ने उस अमर वीणा की आवाज क्यों नहीं सुनी!”

हमारा चिंतन एक-दूसरे की आकृति देखता रह गया।

थोड़ी देर बाद ही वे लोग चले गए।

“लगता है, हमारे उपनयन अनुष्ठान को असफल करने के लिए किसीने षड्यंत्र रचा है।” भैया बोले, “इसका परिणाम क्या होगा, जानते हो? जो लोग आए हैं, वे चले जाएँगे और जिन्हें निमंत्रण गया है, कदाचित् वे भी आना उचित न समझें।”

“पर मैं नहीं समझता कि ऐसा कोई परिणाम होगा।” प्रेत आत्मा की तरह बगल के कुंज से निकलते हुए छंदक बोल उठा।

जब कहीं आग लगती है तब सहज ही छंदक की याद हो आती है। या तो वह आग छंदक की बोई हुई चिनगारी का परिणाम होती है या तो वह किसी भी आग का धुआँ बटोरकर अन्य स्थानों में बिखेरता दिखाई देता है। इस समय भी उसके अप्रत्याशित अवतरण से स्पष्ट लगा कि अवश्य ही वह धुएँ का ढेर लाया है।

“आपको कुछ विचित्र लग रहा होगा।” छंदक ने नए समाचार के संबंध में कहा।

“विचित्र तो है ही।” मैंने कहा, “रात्रि में ही महर्षि पधारे और रात्रि में ही चले गए।”

“प्रकाश से कहीं अधिक अंधकार में रहस्य को बनाए रखने की क्षमता होती है।” छंदक बोला और बड़े रहस्यमय ढंग से मुसकराने लगा।

“आपने क्या महर्षि के दर्शन किए?”

“दर्शन तो नहीं किया, पर उनकी वीणा अवश्य सुनी।”

“फिर उनका दर्शन करने का सौभाग्य किसे मिला है?”

“यह मैं नहीं कह सकता।”

“आखिर उन्होंने किसीसे कहा होगा, तभी न यह बात प्रचारित हुई!”

“अवश्य कहा होगा।”

“पर वह भाग्यशाली कौन है?”

“अभी तक तो वह दिखाई नहीं दिया।” छंदक पुनः रहस्यमय ढंग से मुसकराया—और चुपचाप अभिवादन करके चला गया। स्पष्ट लगा कि वह उसी समाचार के संबंध में आया था।

हमने चाचाजी को इस घटना की सूचना दी। वह भी चकित रह गए। उन्होंने कहा, “बात कुछ विचित्र सी लगती है; पर मथुरा में सबकुछ संभव है।”

स्नान-ध्यान के बाद हम सीधे राजभवन की ओर चले।

भवन में प्रवेश करते ही अंतःपुर से आती रुक्मिणी दिखाई दी। उसकी भी आँखों में आश्चर्य और स्वर में विस्मय था—“तुमने कुछ सुना?” और इतना कहते हुए उसने सबकुछ सुना दिया, जो मैंने सुना था।

“क्या तुमने वीणा की आवाज सुनी थी?”

“मैंने तो नहीं सुनी थी। मैं सो गई थी; पर भैया ने सुनी थी।” रुक्मिणी ने यह भी बताया कि “भैया देर रात गए तक जाग रहे थे। मेरे बगल के कक्ष में बाण से उनकी मंत्रणा चल रही थी।”

बाण से रुक्मी की मंत्रणा! यह कान खड़े कर देनेवाली बात थी। फिर भी मैंने उसके संबंध में किसी प्रकार की जिज्ञासा नहीं की। करना भी व्यर्थ था। केवल यही पूछा, “वीणा की आवाज सुनकर भी तुम्हारे भैया बाहर नहीं निकले?”

“मैंने भी उनसे पूछा था।” रुक्मिणी ने बताया—“उन्होंने कहा कि स्वप्न में भी यह कल्पना नहीं थी कि महर्षि नारद पधारे होंगे। हम लोग तो यही सोच रहे थे कि कोई संगीत-साधक रात्रि में अपनी कला-साधना में तल्लीन है। पर उनका कहना था कि वीणा का स्वर बड़ा आकर्षक था। हम एक बार तो उसे सुनकर स्तब्ध रह गए।”

इससे एक बात तो स्पष्ट हुई कि रात्रि में वीणा अवश्य बजी है और वादक कलाकार अपनी वीणा लेकर राजभवन के आसपास ही रहा है; क्योंकि गर्गाचार्य का कहना था कि उन्हें तो किसी प्रकार का स्वर सुनाई नहीं दिया।

“क्या आप रात को जाग रहे थे?” आचार्यजी से मेरा सीधा प्रश्न था।

“जाग तो नहीं रहा था, पर हमारी श्वाननिद्रा में सबकुछ सुनाई देता है।” उनका भी विश्वास था कि निश्चित ही यह वीणा प्रासाद के निकट ही बजती रही थी।

“पर यह कैसे कहा जा सकता है कि यह वीणा नारद की ही थी?”

“यही तो मैं नहीं समझ पा रहा हूँ।” गर्गाचार्य बोले, “यदि महर्षि पधारते तो उनकी कृपा मुझपर अवश्य होती।”

उनका विचार था कि इसमें कोई रहस्य अवश्य है।

मैंने उन्हें बताया कि बात करते समय छंदक बड़े कुटिल ढंग से मुसकरा रहा था।

“तब तो अवश्य इस आग के पीछे उसीकी चिनगारी है।” गर्गाचार्य ने कहा और कुछ देर तक हँसते रहे।

सामने से बाण और रुक्मी को आते देखकर वह एकदम गंभीर हो गए।

“आप लोगों ने कुछ सुना है?” निकट आते ही रुक्मी बोला।

“हाँ, रात्रि के बाद वीणा की सरस ध्वनि मैंने सुनी थी।” आचार्यजी ने बड़ी गंभीरता से कहा।

“वह महर्षि नारद की थी?” बाण के स्वर में विस्मय था।

“हाँ, भाई, यही तो मैं सुन रहा हूँ।” आचार्यजी ने कहा, “यदि मुझे जरा भी आभास लगता तो मैं निकलकर अवश्य उनसे आशीर्वाद लेता; पर मैं इतना भाग्यशाली कहाँ!”

“लगता है, कोई भाग्यशाली था, जिसे उनका आशीर्वाद मिला है और उन्होंने उसे अपनी दूसरी भविष्यवाणी सुनाई है।”

“पर वह भाग्यशाली है कौन?” आचार्यजी बोले।

“यही तो नहीं पता चल रहा है।” बाण ने कहा, “अभी हम लोग महाराज के पास से आ रहे हैं। वहीं महामात्य भी थे। महामात्य का कहना है कि बिना अग्नि के धूम नहीं होता। यदि धुआँ है तो कहीं-न-कहीं आग रही होगी या होगी। कोई व्यक्ति ऐसा अवश्य होगा, जिससे महर्षि ने बातें की होंगी।”

“तब वह व्यक्ति सामने आता क्यों नहीं?” आचार्य बोले।

“महाराज का कहना है कि वह व्यक्ति डर रहा होगा।” बाण ने बताया—“उसे भय रहा होगा कि कहीं बाहरी

लोग अप्रसन्न होकर उसकी हत्या न कर दें, जो इस समय मथुरा में हैं।”

“जैसी प्रभु की इच्छा!” गर्गाचार्य के मुख से निकल पड़ा—“महर्षि का कथन तो कभी टलता नहीं। पर आप लोग इतने परेशान क्यों हैं?”

“परेशान हम नहीं, परेशान तो मागधी सैनिक हो गए। अब वे यथाशीघ्र मथुरा छोड़ते चले जा रहे हैं।” बाण की आकृति पर एक हलकी सी हँसी उभरी—“कितना विचित्र है कि अभी उस दिन महाराज ने जब उन सैनिकों की बिदाई की उचित व्यवस्था कर दी थी, तब वे जाने को तैयार नहीं हुए।”

“आखिर क्यों?”

“उनको कहीं से सूचना मिली थी कि महाराज जरासंध पधार रहे हैं। ऐसी स्थिति में उनका यहाँ से जाना उन्हें उचित नहीं लगा।”

“तो क्या सचमुच जरासंध पधार रहे हैं?” मैंने बीच में ही टोका।

“इसकी कोई सूचना हमारे पास नहीं है। यह उन सैनिकों का अनुमान मात्र है।” बाण ने कहा, “निमंत्रण तो उनके यहाँ भी गया है। वे आ सकते हैं।”

अब हम लोगों ने बाण को छोड़ा और महाराज के कक्ष की ओर बढ़े। महाराज महामात्य से मंत्रणा में व्यस्त थे। आचार्य को देखकर खड़े हो गए।

“आप मेरे आचार्यत्व का सम्मान करते हैं, यह बहुत बड़ी बात है।” आचार्यजी बोले, “पर मेरा आग्रह है कि आप मेरे आने पर खड़े मत हुआ करें।”

“क्यों?”

“क्योंकि आप मुझसे बड़े हैं।”

“व्यक्ति न वय से बड़ा होता है और न पद से, व्यक्ति बड़ा होता है ज्ञान से।”

“यह सोचना भी आपकी महत्ता है।” गर्गाचार्य बोले और कुछ दबे-दबे से कहा, “पर आपका पुत्र तो मुझे कभी देखकर खड़ा नहीं होता था।”

“मेरा पुत्र तो अपने पिता को बंदी बनाकर गद्दी पर बैठा था; पर मैंने सत्ता प्राप्त करने के लिए यह पाप नहीं किया।” इतना कहकर नानाजी मुसकराए। उनकी इस स्मिति रेखा में व्यंग्य अधिक था या पश्चात्ताप, मैं आज तक समझ नहीं पाया; पर मैंने उस समय यह अवश्य देखा कि आचार्यजी कुछ बोल नहीं पाए थे।

“हम लोग आपके ही संबंध में सोच रहे थे।” आचार्यजी ने नानाजी से कहा।

“आप लोगों ने सारी घटना तो सुनी होगी। अब आप बताइए, क्या करना चाहिए?”

“मेरे विचार से मौन रहना ही उचित होगा।” आचार्यजी ने तत्काल उत्तर दिया। ऐसा लगा कि वे पहले से ही इस निष्कर्ष पर आ चुके थे।

“इस घटना का सीधा प्रभाव कहीं हमारे आनेवाले अतिथियों पर तो नहीं पड़ेगा?” महाराज ने शंका व्यक्त की।

“मुझे तो नहीं लगता।” आचार्यजी बोले, “पहले तो अब मात्र दो दिन उपनयन की तिथि का शेष है। इतने कम समय में यह बात अतिथियों के कानों को छू नहीं पाएगी। दूसरे यह भी प्रचारित हो गया है कि इस भविष्यवाणी का उन्हीं पर प्रभाव होगा, जो बाहरी होते हुए भी मथुरा की सत्ता पर अपनी आँखें गड़ाए हैं।”

“तब तो इसका फल हमारे अनुकूल ही होना चाहिए।”

“निश्चय ही।...एक बात और है, महाराज!” आचार्यजी कुछ कहते-कहते मुसकराते हुए रुक गए।

“क्या बात है? आप चुप क्यों हो गए?” महाराज ने पूछा।

“हमें तो इस आग के पीछे किसीकी बोई हुई चिनगारी दिखाई देती है।”

इस बार आचार्यजी खुलकर हँसे। अवश्य ही उनकी दृष्टि में छंदक की छवि उभर आई थी।

□

प्रातः किरणों के साथ ही चेदिराज का चर राजभवन में आया। उसने महामात्य को महाराज के नाम दमघोष का पत्र दिया। अभी पत्र खुला नहीं था कि राजभवन में प्रचारित हो गया कि उपनयन संस्कार में चेदिराज नहीं आ रहे हैं।

हमारी आधी राजनीति महाराज दमघोष पर निर्भर थी। वे मेरे फूफा थे। नानाजी भी उनसे बड़ी आशाएँ लगाए बैठे थे। पत्र में उचित अभिवादन के बाद केवल एक पंक्ति लिखी थी—‘अपरिहार्य कारणों से उपस्थित नहीं हो पा रहा हूँ, और लोग तो पहुँच ही रहे हैं।’ पत्र की संक्षिप्तता इस सीमा पर थी कि उन्होंने अपने भतीजों और होनेवाले वटुओं को आशीर्वाद तक नहीं लिखा था।

“हो सकता है, कोई आवश्यक कार्य आ गया हो!” पिताजी की सहजता बोल पड़ी।

“आवश्यक कार्य नहीं, इसके पीछे कूटनीति है—जरासंध के विरोध में न खड़े होने की।”

पिताजी सोचते रह गए। फिर तनाव को सामान्य करते हुए बोले, “कोई बात नहीं, और लोग तो आ ही रहे हैं न!” उनका स्पष्ट संकेत अपने भानजे शिशुपाल की ओर था। सभी को मालूम था कि जरासंध से शिशुपाल की मित्रता है। उसकी उपस्थिति से यदि जरासंध का क्रोध ठंडा नहीं होगा तो सीमित अवश्य हो जाएगा।

पर महाराज की चिंता अपनी जगह थी। उनका सोचना था कि पत्र में लिखे ‘और लोग’ का तात्पर्य कोई जरूरी नहीं है कि उनके परिवार से हो। वह अन्यो के संबंध में व्यंग्य करते हुए भी लिखा जा सकता है।

“मुझे विश्वास नहीं है कि मेरी बहन श्रुतश्रवा भी आएगी।” पिताजी बोले।

“राजनीति का बंधन ममता के बंधन से कहीं अधिक कठोर होता है, वसुदेव!” महाराज ने अपने जीवन का निचोड़ सुनाते हुए कहा, “वह पिता की ममता को रौंदकर उसे बंदीगृह में भी डाल सकता है।”

अक्रूर चाचा सबकुछ चुपचाप सुनते रहे; पर वे बहुत परेशान दिखाई नहीं पड़ रहे थे। जब उनसे महामात्य ने कहा कि कंस की हत्या के बाद भी शांति की संभावना नहीं दिखती, तब चाचा बड़े सहजभाव से बोले, “अग्नि के बुझ जाने के बाद भी कुछ देर तक धुआँ तो छाया ही रहता है; पर हर धुँधलके से ही कोई-न-कोई किरण फूटती है। मैं निराश नहीं हूँ।”

चाचाजी की यह आशान्विता उनकी प्रकृति और ईश्वर पर अटूट विश्वास के कारण था। मैंने अनेक बार देखा है कि जब भी कोई गंभीर प्रश्न उठता, चाचाजी आँखें मूँद लेते थे। एक दिन पिताजी ने इसका कारण भी पूछा था।

उन्होंने बताया—“जब भी मैं आँखें बंद करके अंतर्मुखी होता हूँ, मुझे उस समय का दृश्य दिखाई देने लगता है, जब मैं कन्हैया को व्रज से लेकर आ रहा था और यमुना के किनारे ध्यानावस्थित प्रातः पूजन के लिए बैठा था। जब-जब मैं विष्णु का ध्यान करता था, यमुना मैया कन्हैया को अपनी गोद में उठाकर मेरे सामने कर देती थी। तब से मैं किसी विपत्ति की आशंका से व्यग्र नहीं होता।”

अभी दिन का प्रथम प्रहर फिसलने ही वाला था कि सूचना आई कि चेदिराज की पट्टमहिषी को लेकर सैनिक आ रहे हैं। प्रसन्नता की एक लहर-सी दौड़ गई। पिताजी दौड़े हुए नानाजी के पास गए।

“मैंने कहा था न कि श्रुतश्रवा अवश्य आएगी।”

महाराज ने उन्हें ही उसकी अगवानी में भेज दिया।

श्रुतश्रवा अपने भाई को देखते ही खिल उठी। उसकी आँखों से प्रसन्नता के फूल झरने लगे। वह पिताजी से प्रेम से

मिली अवश्य, पर कुछ बोली नहीं।

“सब कुशल तो है?” पिताजी ने पूछा।

“आपके आशीर्वाद से सब ठीक है।”

“पर मुझे जब दमघोष का पत्र मिला था तब तो मैं बिल्कुल घबरा गया था।” पिताजी बोले, “शिशुपाल कहाँ है?”

“वह तो नहीं आया।”

“क्यों?”

“यह तो नहीं बता सकती।” श्रुतश्रवा बोली और उसकी सशंक मौन दृष्टि अपने चेदि सैनिकों की ओर घूम आई। स्पष्ट था कि यहाँ कुछ और कहना तथा बताना खतरे से खाली नहीं है।

शिशुपाल का न आना अपने में एक समाचार था। नानाजी चिंतित हुए। बाण और रुक्मी ने भी इसे बड़ी गंभीरता से लिया। पर छंदक और बूढ़ा अंधक बाहुक प्रसन्न थे। अच्छा हुआ शिशुपाल नहीं आया, अन्यथा वह हमारे विरोधियों का ही साथ देता।

पिताजी इस मत के थे कि जब तक वस्तुस्थिति जान न ली जाए तब तक किसी निष्कर्ष पर पहुँचना ठीक नहीं है। वह अपनी बहन से एकांत में मिलना चाहते थे; पर राजभवन में पहुँचते ही श्रुतश्रवा सीधे कंस की पत्नियों के पास सांत्वना देने पहुँची।

“हमें बड़ा विश्वास था कि हमारे धनुर्यज्ञ में आप लोग अवश्य आएँगे—और आपके पुत्र शिशुपाल पर तो हमें पूरा विश्वास था। हमारे पति को तो उसके पराक्रम का बड़ा भरोसा था। उसका न आना हमें खल गया।” अस्ति बोली।

“क्या कहूँ बहन, उन दिनों वह अस्वस्थ था।” श्रुतश्रवा ने कहा, “वह तो बहुत आने के लिए व्यग्र था, पर राजवैद्य ने उसे अनुमति नहीं दी।”

“इसका तात्पर्य यह है कि वही हमारे विपरीत थे।” प्राप्ति बोली, “अन्यथा सब होता, पर हमारा भाई (वृत्घ्न) तो न मारा जाता।” इतना कहते-कहते वह फूटकर रो पड़ी। अपने पति की हत्या का उसे तो दुःख था ही, पर वह तो नारद की भविष्यवाणी का परिणाम थी। इसीसे भाई की हत्या उसे अधिक खल गई। “और कृतघ्नता देखिए, जो हमारे ही अन्न से पला, उस प्रद्योत ने उसे मारा।”

संयोग कुछ ऐसा कि यह बात किसीके जानने के पहले प्रद्योत को ही पता चली। आभास तो उसे पहले ही से था; पर अब पूर्ण विश्वास हो गया कि राजभवन ऊपर से तो पश्चात्ताप में डूबा है, पर अंतःपुर में प्रतिशोध सुलग रहा है। पर यह बात प्रत्यक्ष कहने की नहीं थी। उसने अंधक बाहुक से व्यक्तिगत चर्चा की। उसने स्पष्ट कहा कि जिनके पति और भाई मारे जाएँगे, वे क्या आपकी प्रशंसा करेंगे।

प्रद्योत क्षण भर के लिए चुप हुआ। बाद में बोला, “ऐसी स्थिति में मैं क्या करूँ?”

“कुछ नहीं।” सीधा उत्तर था वृद्ध बाहुक का—“अब तक तुमने क्या किया?” उसने पूछा।

‘वृत्घ्न की हत्या।’ उसका मन बोल उठा। पर वह चुप ही रह गया।

“तुमने जो कुछ किया है, वह तुमने नहीं किया है। परिस्थितियों ने तुमसे कराया है। इसलिए कुछ करना है तुम्हें, यह सोचने का प्रश्न ही नहीं पैदा होता। तुम तो कागज की नाव की तरह घटनाओं की सरिता में बहते चले जा रहे हो।” इतना कहकर अंधक बाहुक आगे बढ़ गया। कदाचित् उसे कोई आवश्यक कार्य था।

प्रद्योत सोचने लगा, सचमुच उसका जीवन कागज की नाव ही तो है, जो हवा के उस थपेड़े को झेलता और उसके अनुकूल स्वयं को बनाता चला जा रहा है। वह अब तक गला नहीं, यही आश्चर्य है। सोचते-सोचते वह बड़बड़ाने-

सा लगा—“सचमुच मैं गला नहीं और गलूँगा भी नहीं।”

“और आपको गलने की आवश्यकता भी नहीं है।” बड़बड़ाते महामात्य को देखकर मैं बोल पड़ा। साथ ही मेरी खिलखिलाहट उस एकांत को झकझोरने लगी।

वह मेरे कथन से हड़बड़ाकर चुप हो गया और एक आश्वस्त मुसकराहट उसकी आकृति पर उग आई।

□

एक रहस्य के उद्घाटन के बिना न मेरे नाना की मानसिकता समझी जा सकती है और न उस युग के माहौल को ही रेखांकित किया जा सकता है।

हमारे पूर्वजों में एक ययाति थे। परम पराक्रमी, पर भोग में लिप्त रहनेवाली अपनी विलास मनोवृत्ति के दास। असुरगुरु शुक्राचार्य की अनिद्य सुंदरी कन्या से उनका विवाह हुआ था। दहेज में आचार्य ने उन्हें अनेक दासियों के साथ शर्मिष्ठा को भी दिया था। शर्मिष्ठा असुरराज वृषपर्वा की पुत्री थी। सौंदर्य में अप्रतिम और गुणों में अद्वितीय। पर शर्मिष्ठा को देते समय शुक्राचार्य ने स्पष्ट कहा था कि इसे कभी भी आप अपनी अंकशायिनी मत बनाइएगा।

आरंभ में ययाति ने इस वचन का ध्यान रखा, पर धीरे-धीरे बात पुरानी पड़ गई।

एक दिन ययाति को एकांत में देखकर शर्मिष्ठा ने अपना प्रणय निवेदन किया—‘महाराज, मेरे ऋतुकाल को सफल बनाइए।’

महाराज का काम जाग्रत हो चला और चिंतन की आँखों पर पट्टी बँध गई। फिर ययाति से शर्मिष्ठा को तीन पुत्र हुए। यह देखकर चोट खाई नागिन की तरह फुफकारती हुई देवयानी अपने पिता के पास पहुँची।

शुक्राचार्य ने ययाति को शाप दिया—‘जिस काम के वशीभूत होकर तूने मेरी वर्जना भुला दी, वह काम तेरे काम न आए। तू वृद्ध हो जा।’

परिणामतः ययाति का तारुण्य स्खलित हो गया। अब उसमें आसक्ति तो थी, पर शक्ति नहीं थी। उस बूढ़े को वासना चिढ़ाती हुई जान पड़ी।

ययाति क्षमायाचना के लिए अपने श्वसुर शुक्राचार्य के यहाँ पहुँचे। बड़ा अनुनय-विनय किया, तब शुक्राचार्य ने कहा, ‘मैं यह दी हुई वृद्धता वापस तो नहीं ले सकता, पर तुम किसीको भी यह वृद्धता देकर उसकी तरुणाई उधार ले सकते हो।’ ययाति वहाँ से चुपचाप लौट आए। उन्होंने शाप के परिमार्जन की बात अपने बड़े बेटे यदु से कही और उसीसे उसकी तरुणाई उधार माँगी।

‘मेरी ही तरुणाई मेरी माँ का उपभोग करे! छिः, छिः! यह मुझसे नहीं होगा।’ यदु ने स्पष्ट रूप से अस्वीकार कर दिया।

‘जानते हो, आचार्यजी ने यह भी कहा है कि जो पुत्र तुझे तरुणाई न दे, उसे तुम अपना उत्तराधिकारी भी न बनाना।’ ययाति बोले।

‘कामातुराणां न भयं न लज्जा।’ ययाति ने स्पष्ट घोषित किया कि तू ही नहीं, तेरा वंशज भी कभी सत्ता का भोग नहीं कर सकेगा। वस्तुतः इसे शुक्राचार्य ने कहा नहीं था, ययाति ने अपनी ओर से जोड़ा था।

इस शाप को स्वीकार करते हुए भी यदु ने अपना यौवन नहीं दिया। यही नहीं, ययाति के तीन-तीन पुत्रों ने उनका प्रस्ताव यदु की तरह ही ठुकरा दिया। अंत में उनके कनिष्ठ पुत्र पुरु ने उनकी जरा स्वीकार की और उनकी सत्ता का अधिकारी बना।

यह एक ऐसी घटना थी, जिसका मेरे नाना के मन पर अद्भुत प्रभाव था। वे स्वयं यदु के वंशज थे और मानते थे कि सत्ता हम लोगों के भाग्य में नहीं लिखी है। शायद इसी मानसिकता के कारण उन्होंने कारा को बड़ी सहजता

से स्वीकार किया था।

आज ही जब मेरे उपनयन की व्यवस्था के संबंध में वे आचार्य सांदीपनि से बातें कर रहे थे तो अनायास ही उनके मुख से निकल गया—“यह कन्हैया का भाग्य था कि आप अचानक पधारे। अंधे को प्रकाश मिल गया, अन्यथा यह गोकुल में गायें चराता रह जाता।”

“यह कैसे होता? अरे, मैं न मिलता तो कोई दूसरा मिलता।” सांदीपनि बोले, “राजकुमारों को आचार्य की कमी कहाँ!”

“राजकुमार!” महाराज की वाणी गंभीर हुई—“हम यदुवंशी न राजा हो सकते हैं और न राजकुमार। हमारे लिए राजसत्ता शापित है।”

इसके बाद महाराज ने ययाति की पूरी कथा कह सुनाई।

आचार्यजी बड़े ध्यान से सुनते रहे और अंत में बोले, “मुझे विश्वास नहीं है कि शाप का कोई सार्थक परिणाम होगा।”

“क्यों?”

“भोगभ्रष्ट की शाप शक्ति नष्ट हो जाती है।” आचार्यजी ने कहा, “योग-भ्रष्ट की शाप शक्ति तो क्षीण होने पर भी कुछ-न-कुछ रह जाती है, पर भोगभ्रष्ट की शाप क्षमता ही समाप्त हो जाती है।...और ययाति भोगभ्रष्ट हो चुका था। अरे, उसने अपने पुत्र से यौवन माँगा और वह भी भोग करने के लिए, वासना का दास होकर। इससे बड़ा नीच कर्म और क्या हो सकता है!” आचार्यजी कुछ क्षणों के लिए मौन हुए। फिर बोले, “ययाति को तो छोड़िए, यदि कोई ऋषि भी यदु को इस संदर्भ में शाप देता तो उसका शाप भी निरर्थक ही जाता।”

“क्यों?” महाराज ने पुनः जिज्ञासा की।

“इसलिए कि यदु ने मानवीय मर्यादा की रक्षा की। उसका मोह अपने यौवन के प्रति नहीं था और उसने यह कहा भी नहीं कि मैं अपना यौवन नहीं दूँगा। उसकी सारी आपत्ति यह थी कि पुत्र के यौवन से माँ का संभोग किया जाएगा! आखिर मानवीय संबंधों की पवित्रता का क्या होगा!”

“तो आपकी दृष्टि में यदु पुरु से अधिक महान् है?”

“निश्चित ही।” आचार्यजी की वाणी की ऊर्जा बढ़ी—“उसने सत्ता ठुकरा दी, पर मर्यादा नहीं ठुकराई।”

“कुछ लोगों का विश्वास है कि यदु में स्वयं काम वासना ऐसी थी कि वह अपना तारुण्य छोड़ न सका।” नानाजी ने कहा।

“पहले तो उसके वक्तव्य से स्वयं स्पष्ट है कि ऐसा सोचना गलत है—और यदि एक क्षण के लिए हम मान ही लें कि कामवश उसने ऐसा नहीं किया, तो क्या बुरा किया? उसकी अवस्था थी। वह गार्हस्थ्य आश्रम में था। गार्हस्थ्य आश्रम में काम देववर्णी होता है। वह सृष्टि की अस्मिता का कारण बनता है। किंतु वानप्रस्थ और संन्यास का काम राक्षसी होता है। वह मानवीय मर्यादाओं को चबा जाता है।”

नानाजी बड़ी गंभीरता से आचार्य को सुनते रहे और उन्होंने एक जिज्ञासा व्यक्त की—“क्या पिता की आज्ञा का पालन न करना पारिवारिक मर्यादा का उल्लंघन नहीं है?”

“पिता की आज्ञा न मानना एक बात है और पिता की गलत आज्ञा न मानना एकदम दूसरी बात है।” आचार्यजी ने कहा, “हम पिता की ही नहीं वरन् किसीकी भी गलत आज्ञा मानने के लिए बाध्य नहीं हैं।”

“यह कौन निश्चय करेगा कि कौन सी आज्ञा गलत है और कौन सी सही?”

“हमारा विवेक।” आचार्यजी बोले, “और विवेक भी समाज, काल और परिस्थिति से निरपेक्ष नहीं होता।”

अचानक आचार्यजी की आकृति पर मुसकराहट उभरी—“यदि आप मुझे आदेश दें कि पैर नीचे और सिर ऊपर करके खड़े हो जाओ, तो मैं कभी स्वीकार नहीं करूँगा। भले ही यह मेरे लिए राजाज्ञा ही क्यों न हो!”

आचार्यजी ऐसे ढंग से बोले कि हम सबको हँसी आ गई।

“आपके कथन से कुछ आश्वस्त होता हूँ; पर मेरा अनुभव तो इसके विपरीत ही है।” नानाजी ने कहा, “मेरे पिता आहुक एक प्रतापी राजा थे; पर उन्होंने पूर्ण राजसुख नहीं भोगा। अनायास एक दिन सत्ता छोड़कर चले गए। फिर मेरी स्थिति तो आप देख ही रहे हैं। अब प्रश्न है कि क्या मेरे पुत्र कंस ने राजसुख भोगा? जिस दिन से उसने सत्ता हथियाई, शायद एक दिन भी वह शांति से सो नहीं पाया। नित्य आशंकाओं और अपनी ही पैदा की हुई समस्याओं से जूझता रहा।”

“यह सब तो अपने कर्मों का ही फल है।” आचार्य सांदीपनि बोले, “मनुष्य सबसे मुक्त हो सकता है—एक बार वह शाप से भी मुक्त हो सकता है; पर अपने कर्मों से मुक्त नहीं हो सकता। फिर आप कर्मफल को ययाति के शाप से क्यों जोड़ते हैं?”

“क्योंकि मैं शाप को भी कर्मफल ही मानता हूँ।”

“पर ययाति का शाप कर्मफल नहीं है। वह है विकृत वासना की जघन्य अभिव्यक्ति।”

□

मेरे उपनयन संस्कार की तैयारियाँ बड़े वेग से चल रही थीं। धनुर्यज्ञ के लिए जितना बड़ा मंडप बनाया गया था, उससे भी बड़ा मंडप लगभग बनकर तैयार हो चुका था। चारों ओर सोपानवत् दर्शक दीर्घा बनाई गई थी। दीर्घा के आगे और मंडप के बीच में विशिष्ट अतिथियों के बैठने के लिए पंक्ति से सिंहासन और मंचक लगाए गए थे। अब केवल फूलों की सजावट शेष रह गई थी।

अतिथि भी जिन्हें आना था, उनमें से अधिकांश आ गए थे। कई महत्त्वपूर्ण राजाओं का अभाव स्पष्ट खटक रहा था; पर हाँ, उनके प्रतिनिधि अवश्य पधारे थे।

इस स्थिति से नानाजी प्रसन्न नहीं थे। उन्होंने अपने पास बुलाकर बड़े ही चिंताकुल स्वर में कहा, “देखो, भीष्मक भी नहीं आया। उसका पत्र आया है।” इतना कहते हुए उन्होंने पत्र मेरी ओर बढ़ा दिया। अत्यंत संक्षिप्त पत्र में उचित अभिवादन के बाद लिखा था—‘प्रिय कंस के स्वर्गारोहण से दुःख हुआ। पर जो होना था, वह तो हो ही गया। इस संदर्भ में आप मेरी संवेदना स्वीकार करें। आप अपने दौहित्र के लिए यज्ञोपवीत का जो विराट् अनुष्ठान करने जा रहे हैं, उनमें मैं किन्हीं अपरिहार्य कारणों से उपस्थित नहीं हो पा रहा हूँ। इसका मुझे दुःख है। दुःख इस बात का भी है कि मैं उस महत् आयोजन को नहीं देख पा रहा हूँ, जो एक पिता अपने पुत्र के हत्यारे के लिए कर रहा है। इस दृष्टि से यह अनुष्ठान अद्भुत है। इतिहास में शायद ही कोई इसका दूसरा उदाहरण मिले। खैर, मेरा पुत्र रुक्मी और पुत्री रुक्मिणी तो आपके यहाँ हैं ही। वह हमारा प्रतिनिधित्व करेंगे।’

“सब जगह एक जैसी आग लगी है।” नानाजी बोले, “जरासंध का बनाया हुआ राष्ट्रमंडल लगभग एक ही दृष्टि से सोचता है। भगवान् किसी प्रकार यह अनुष्ठान पूरा करें।” इतना कहते-कहते नानाजी ने अपने दोनों हाथों से अपना सिर थाम लिया। स्पष्ट लगा कि वे काफी घबराए हुए हैं।

उनकी मानसिकता विचित्र स्थिति में थी। एक ओर जब उन्हें मेरे ईश्वरत्व का भान होता था तो वे निश्चित हो जाते थे और दूसरी ओर जब वह वर्तमान स्थिति की ओर दृष्टि डालते थे तथा ययाति का शाप याद हो आता था तो व्यग्र हो जाते थे।

इस समय भी अंधक बाहुक ने उन्हें ढाढ़स बँधाया—“आप व्यर्थ में ही घबरा जाते हैं। आप जानते हैं कि आप

किसका उपनयन करने जा रहे हैं? वह क्या कोई साधारण मनुष्य है?”

बस इतना सुनना काफी था। वे एकदम प्रकृतिस्थ हो गए। उनका मन जैसे उनसे कहने लगा—‘मैं तो मात्र ‘करण’ हूँ। ‘कर्ता’ तो कोई और है।’

अब जो कोई भी आता, महाराज स्वयं उससे मिलने की चेष्टा करते। अब उन्हें राजकीय मर्यादाओं की भी परवाह न रहती। नंदजी से तो वे स्वयं मिले ही, साथ ही गोकुल से आए हर ग्वाले का उन्होंने स्वागत किया।

गोकुल का सारा जन समाज उमड़ पड़ा था। अधिकांश अनाहूत थे। फिर भी वे मुझपर अपना अधिकार समझते थे। यदि कोई उनसे हँसी में भी कहता कि तुम बिना बुलाए आए हो, तो वे बड़े विश्वास के साथ कहते कि मुझे कौन बुलाएगा? मैं तो स्वयं बुलानेवाला हूँ।

पर एक विचित्र बात थी। गोकुल के अधिकांश गोप पधारे थे, किंतु गोपिका एक भी नहीं आई थी। न ललिता, न विशाखा और न राधा। मुझे विश्वास था कि चाहे कोई आए या न आए, पर राधा अवश्य आएगी।

मैंने इस संदर्भ में श्रीदाम से बातें कीं। उसने बताया, “व्रज में इस बात की गहरी आशंका है कि तुम्हारे यज्ञोपवीत के समय गंभीर अशांति हो सकती है। इसलिए जानबूझकर गोपियों को नहीं लाया गया है। किंतु राधा आदि कुछ गोपियों को मैं लाना अवश्य चाहता था। वे गोपियाँ तैयार भी हुईं, पर राधा ने उन्हें रोक दिया।”

“क्यों?”

“तुम्हारी उपेक्षाभावना से राधा को गहरा आघात लगा है।” श्रीदाम बोला, “उसने गोपियों से स्पष्ट कहा, ‘हम तो उनके प्रेम में व्याकुल हुए जा रहे थे। पत्र पर पत्र लिख रहे थे; पर वे उस कलमुँही कुब्जा के प्रेम में ऐसे रँगें कि एकदम हमें भूल गए। पंद्रह दिनों की अवधि देकर गए थे और आज तक अपनी आकृति दिखाना तो दूर रहा, एक पत्र भी नहीं लिखा।’”

“मैंने पत्र नहीं भेजा, पर उद्धव को तो भेजा था।” मैंने कहा।

“और यही तुम्हारी भूल हो गई।” श्रीदाम बोला, “यदि पत्र होता तो जो कुछ लिखा जाता, बात वहीं तक होती। गोपियाँ अपने मन का अर्थ लगातीं; पर उद्धव तो शंका समाधान में उलझ गया—और विशुद्ध प्रेम की जगह दर्शन झाड़ने लगा।”

“यही तो उसने भूल की; पर इस भूल की चर्चा उसने नहीं की। यह तो बताया था कि वे तुम्हारे प्रेम के अतिरिक्त कुछ भी सुनना नहीं चाहतीं; पर वह ‘कुछ’ क्या है, इसे नहीं बताया।”

“वह तो प्रेम में विह्वल गोपियों को दर्शन की शिक्षा देने गया था। क्या बताता!” श्रीदाम बोला।

“इसीलिए तो समझ नहीं पा रहा था कि लोग मुझसे इतने चिढ़े-चिढ़े क्यों लगते हैं!” मैंने कहा, “जब भी कोई गोप मिलता था, मुझे विचित्र दृष्टि से देखता था। उसकी आँखों में आत्मीयता की भी कुछ कमी दिखाई देती थी।”

मैं श्रीदाम से बातें कर ही रहा था कि मुझे व्रज की कुंजें याद आने लगीं। पूर्ण राका की केलि क्रीड़ाओं में मेरा मन खोने लगा।

पर अधिक समय बीता न होगा कि श्रीदाम ने पूछा, “किस सोच में पड़ गए?”

“यही सोच रहा हूँ कि दर्शन जीवन में क्या, किधर, कहाँ जैसे प्रश्नों का उत्तर देता है, जीवन को पहचानने की दृष्टि देता है; पर वह जीवन नहीं है। प्रेम तो जीवन है, समाज की मूल अस्मिता है। सामाजिक संदर्भों के निर्धारण में दर्शन नहीं, प्रेम है। प्रेम न होता तो मनुष्य न होता, समाज न होता—और शायद ईश्वर भी न होता।” मैं बोलता जा रहा था—“दर्शन तो मानवीय चिंतन का परिणाम है और मानव जीवन प्रेम का परिणाम है। इसीलिए प्रेम का दर्शन हो सकता है, पर दर्शन का प्रेम नहीं होता। उद्धव ने शायद यही नहीं समझा था। इसीसे उसने भूल की।”

“और आश्चर्य है कि उसने भूल को स्वीकार नहीं किया।” श्रीदाम बोला।

“किसीके सामने स्वीकार भले ही न किया हो, पर अनुभव तो किया ही।”

“यह आप कैसे कह सकते हैं?”

“तुम स्वयं उससे बातें करके देख लो।” मैंने श्रीदाम से कहा, “वह ब्रजभूमि की यात्रा के संबंध में बातें करते समय कैसा झेंपता है! वह इधर-उधर की बातें करेगा, पर यह नहीं बताएगा कि गोपियों ने क्या कहा!”

“खैर, इस समय इस संदर्भ में उलझने का समय नहीं है।” मैंने श्रीदाम से कहा, “मैं स्वयं उपनयन के बाद गोपियों से मिलूँगा।”

“हाँ, आवश्यक भी है।” श्रीदाम बोला और बड़े नटखट ढंग से मुसकराया।

“तुम्हारा तात्पर्य क्या है?” मैंने भी हँसते हुए पूछा। मैंने समझ लिया था यह कोई गहरी चिकोटी काटेगा।

“उपनयन संस्कार के बाद नयन संस्कार की भी आवश्यकता पड़ेगी और वह बिना राधा के हो नहीं सकता!” श्रीदाम फिर हँसा।

“क्यों, यह काम कुब्जा से नहीं हो सकता?” मैंने भी उसकी हँसी में अपनी हँसी मिला दी।

इसी समय चर ने सूचना दी कि पिताजी मुझे स्मरण कर रहे हैं। मैं श्रीदाम को छोड़कर चल पड़ा।

□

वसुदेव के पास ही नंदजी बैठे थे। वे आज ही पधारे थे। वहाँ मेरे दो पिताओं का सान्निध्य था। एक ने जन्म दिया था तो दूसरे ने पाला था। एक से जीवन मिला था और दूसरे से उसकी रक्षा। मैंने पहुँचते ही उनके चरण छुए। उन्होंने मुझे वक्ष से लगा लिया। मैं बहुत देर तक उनके हृदय की धड़कन का अनुभव करता रहा।

“माताजी भी आई हैं?” मैंने पूछा।

“हाँ, वह तुम्हारी माँ से मिलने गई है।” उनका स्पष्ट संकेत देवकी की ओर था। मैं भीतर जाने को हुआ।

वसुदेवजी ने मुझे रोकते हुए कहा, “देखो, मैंने तुम्हें किसी प्रयोजन से बुलाया है। अभी-अभी सूचना मिली है कि हस्तिनापुर से तुम्हारी बुआ कुंती आ रही है। उसके साथ उसके पुत्र और सचिव विदुरजी भी हैं। महामात्य तो उनकी अगवानी में जाएँगे ही, साथ ही तुम्हें भी जाना चाहिए।” इसके बाद उन्होंने अपने कथन के समर्थन के लिए नंदजी की ओर देखा; पर वे गंभीर थे। उनकी आकृति पर मथुरा की असामान्य उत्तेजना जैसे चिपक गई थी।

“तुम दोनों भाई महामात्य के साथ चले जाओ।” उन्होंने पुनः कहा।

मैंने आज्ञा शिरोधार्य की और माता देवकी के कक्ष की ओर माँ यशोदा से मिलने चला गया।

सुना है, मेरे जाने के बाद दोनों पिताओं में मथुरा के वर्तमान तनाव के संदर्भ में ही चर्चा होने लगी। उन दिनों जरासंध के साम्राज्य के बाद शक्ति और सामर्थ्य की दृष्टि से हस्तिनापुर का ही नाम सर्वत्र लिया जाता था। हस्तिनापुर में प्रतापी कौरवों का शासन था। कुरु भरतों की मुख्य शाखा थी और मेरा भी भरतों से सीधा संबंध था।

“यह अच्छा ही हुआ कि कुंती अपने पुत्रों के साथ आई हैं।” नंदजी बोले, “सुना है कि उनके पुत्र बड़े पराक्रमी भी हैं?”

“अरे, पराक्रम और शौर्य में तो पूरा परिवार ही अद्वितीय है। महाराज धृतराष्ट्र तो अंधे हैं। राज्य में भीष्म का वर्चस्व है। उनके प्रताप के समक्ष सारा आर्यावर्त थर-थर काँपता है। भगवान् परशुराम जैसे शस्त्रज्ञ से उन्होंने शिक्षा ग्रहण की है।”

“और कुंती के पुत्र ही कौन कम हैं!” नंदजी बोले, “आचार्य द्रोण राजभवन में रहकर उन्हें शस्त्र-संचालन की शिक्षा देते हैं। कम-से-कम आपके विरोधियों को अब तो आभास हो गया होगा कि आपके पुत्र अकेले नहीं हैं।”

केवल ब्रजवासी ही उनके साथ नहीं हैं, राजपरिवारों का भी उन्हें आश्रय प्राप्त है।”

“यह सब आप लोगों के आशीर्वाद का फल है।...” वसुदेवजी अपनी बात पूरी करें, इसके पहले ही प्रद्योत आ पहुँचा।

वह बीच में ही बोल पड़ा—“शंकु का हाथ भी इस सत्कर्म में कम महत्त्व का नहीं है।”

अचानक पधारे महामात्य की ओर मेरे दोनों पिताओं की दृष्टि एकदम लग गई।

“हस्तिनापुर का निमंत्रण सेनापति शंकु ही लेकर गए थे। वहाँ की स्थिति भी हमारे अनुकूल नहीं थी; पर शंकु की योग्यता थी कि वे उन लोगों को प्रभावित कर सके।”

“क्या महाराज धृतराष्ट्र भी यहाँ आने के पक्ष में नहीं थे?” वसुदेवजी ने शंका की।

“हाँ।” प्रद्योत बोला, “उनका कहना था कि मथुरा का वातावरण इस समय अनुकूल नहीं है। हमें वहाँ की राजनीति से क्या लेना-देना है! धृतराष्ट्र महोदय तो उपस्थित न हो पाने की असमर्थता के लिए एक औपचारिक पत्र भी लिखा चुके थे।”

“तब?”

“तब क्या! शंकु सीधे कुंती से मिले। उन्हें समझाया कि यह भाई और बहन के संबंधों का प्रश्न है, राजनीति का नहीं। कुंती तो आने के लिए सहज ही तैयार हो गईं। अब महाराज की अनुमति की समस्या थी।”

“फिर क्या हुआ?” पिताजी की जिज्ञासा आगे बढ़ी।

“होता क्या! कुंती ने महाराज धृतराष्ट्र से सीधे मिलना उचित नहीं समझा; क्योंकि उनका मन मेल नहीं खाता। दुर्योधन ने उन्हें इतना भर रखा है कि पांडव उन्हें फूटी आँखों भी नहीं सुहाते। कुंती का उनसे कुछ कहने का मतलब था, सीधे-सीधे उनकी वर्जना स्वीकार करना। तब चुपचाप कुंती विदुर से मिलीं। वे सुलझे हुए नीतिज्ञ हैं। यहाँ की सारी घटनाएँ उन्हें पहले से ही मालूम हैं। उन्होंने कुंती को राय दी कि आप पितामह के पास चली जाएँ और उनसे स्पष्ट कहिए कि मथुरा की राजनीति से हमारा कोई मतलब नहीं है। मैं तो अपने भतीजे के यज्ञोपवीत में जाना चाहती हूँ।”

“तब?”

“तब कुंती ने वैसा ही किया। पितामह ने उन्हें गंभीरता से सुना और कहा, ‘मेरे विचार से तो महाराज को तुम्हें अनुमति देने में कोई बाधा दिखाई नहीं देती।’

“कुंती बोलीं, ‘आप कहते तो ठीक हैं, मुझे भी कुछ ऐसा ही लगता है; पर दैवयोग से वे आजकल हम लोगों से कुछ अप्रसन्न लगते हैं। भय है कि हमारे आग्रह का कहीं कोई दूसरा अर्थ न लगा लें।’

“‘अच्छी बात है, तो मैं ही तुम्हारी ओर से चर्चा छेड़ता हूँ।’ पितामह ने कहा और उसी संध्या को वे महाराज से मंत्रणाकक्ष में मिले। मथुरा के निमंत्रण की बात छेड़ी। धृतराष्ट्र छूटते ही बोले, ‘मथुरा तो जल रही है।’ लगता है, अंधी आँखों से भी वे मथुरा की ज्वाला देख रहे हैं। वे बोलते रहे—‘इसके पहले धनुर्यज्ञ का भी निमंत्रण आया था और मल्लयुद्ध का भी; पर हमने अपने यहाँ से किसीको भेजना उचित नहीं समझा; क्योंकि मैं नहीं चाहता कि व्यर्थ आग में कूदा जाए।’

“‘पर यह तो यज्ञोपवीत का निमंत्रण है।’ पितामह ने कहा, ‘और यह यज्ञोपवीत भी किसी और का नहीं, आपके भ्रातृजों का ही है।’ फिर उन्होंने हमारे और कुंती के रिश्ते को स्पष्ट किया और विस्तार से बताया कि हम भी भरत कुल के हैं और कृष्ण भी भरत कुल का ही है।

“महाराज मौन हो सुनते रहे। फिर कुछ सोचते हुए बोले, ‘वृत्घ्न की हत्या के बाद मथुरा की शांति अनिश्चितता

की डोर से लटक रही है। ऐसी स्थिति में हमें अपने बच्चों को वहाँ भेजना क्या उपयुक्त होगा? मेरे विचार से तो इस समारोह में जाने का स्पष्ट मतलब होगा, जरासंध का कोपभाजन बनना।’

“ ‘आपका सोचना राजनीतिक दृष्टि से उचित ही है; पर जीवन के कुछ ऐसे भी संबंध होते हैं, जिनमें राजनीति आड़े नहीं आती है।’

“ ‘जैसे?’

“ ‘जैसे बुआ और भतीजे का संबंध, कृष्ण और कुंती का संबंध।’ पितामह बोले, ‘इसमें जरासंध का क्रोध क्या करेगा?’ महाराज चुप हो गए।

“ ‘मेरी तो सलाह है कि आप स्वयं उपस्थित न हो पाने के लिए एक पत्र अवश्य भेज दें और कुंती को भी जाने की अनुमति दें।’

“ ‘कुंती ने मुझसे कहा ही नहीं कि वह जाना चाहती है। मैं उसे भेजूँ और वहाँ कोई बात हो जाए तो लोग सहज ही समझ लेंगे कि धृतराष्ट्र ने कोई राजनीति कर दी।’ महाराज की शंका पर पितामह को हँसी आ गई। फिर भी उन्होंने हँसी दबाते हुए कहा, ‘निमंत्रण आपके नाम आया है, निर्णय आपको लेना है। कुंती स्वयं आकर कैसे कहे कि मैं जाऊँगी। अरे, आप उसे बुलाइए और आदेश दीजिए।’

“ महाराज पुनः सोच में पड़ गए—‘तो मैं उससे ही अपनी असमर्थता के लिए पत्र भी भेज दूँ?’

“ ‘पत्र ले जाने के लिए तो वह उपयुक्त नहीं होगी।’ पितामह ने कहा, ‘इसके लिए तो आपको अपना कोई सचिव भेजना पड़ेगा।’

“ पितामह की राय मान ली गई। कुंती के परिवार के साथ विदुरजी को भी धृतराष्ट्र ने अपना पत्र देकर भेज दिया। कुछ लोगों का कहना था कि विदुर का नाम भी पितामह ने ही प्रस्तावित किया था। मैं इस उधेड़बुन में नहीं गया।”

□

कुंती बुआ की अगवानी के लिए महाराज ने महामात्य प्रद्योत को भेजा था। वह सीधे विदुरजी से मिला। महामात्य का कहना है कि विदुरजी की सज्जनता तो अद्भुत थी। उन्होंने महामात्य का अभिनंदन महाराज उग्रसेन की तरह किया।

प्रद्योत पानी-पानी हो गया। उसने बड़े संकोच से कहा, “महाराज, मैं तो आपका चाकर हूँ।”

“पर इस समय तो आप मेरे समक्ष महाराज के प्रतिनिधि हैं, अर्थात् महाराज ही हैं।” इतना कहते हुए विदुरजी ने प्रद्योत को वक्ष से लगा लिया।

महामात्य गद्गद थे। अचानक उन्होंने अनुभव किया कि उन्हींके पीछे से छंदक तेज हवा के झोंके की तरह आया और कटे पंख के पक्षी की तरह विदुर के चरणों पर गिर पड़ा।

“अरे, छंदक, तुम यहाँ भी!” विदुरजी ने इतना कहते हुए उसे उठाया।

प्रद्योत को आश्चर्य था कि छंदक यहाँ भी पहुँच गया।

“मथुरा में प्रवेश के पहले ही तुमने मेरे चरणों पर चिनगारियाँ तो नहीं बोईं!” छंदक को उठाते हुए विदुरजी बोले और फिर हँसने लगे।

“चरणों पर चिनगारियाँ नहीं बोई जातीं, पर इन चरणों की कृपा से बोई जाती हैं।”

छंदक भी हँसा और हम सब भी। महामात्य ने समझ लिया कि मथुरा की राजनीति से विदुरजी अच्छी तरह परिचित हैं।

कुंती बुआ सीधे पिताजी के पास आई और विदुरजी महाराज के पास। कुंती के साथ उसके पाँचों पुत्र भी थे। सबने

पिताजी और अक्रूर चाचा के चरण छुए। मैं जैसे ही बुआ के चरणों की ओर झुका कि उसने मुझे छाती से लगा लिया।

“तू ऐसा निकलेगा, हम सबको विश्वास नहीं था।” उसने कहा। यद्यपि मैंने इसके पूर्व कुंती बुआ को नहीं देखा था और न उसने मुझे देखा था; फिर भी हम एक-दूसरे को पहचान गए। ऐसा लगा जैसे जन्म-जन्मांतर से जानते हों। बुआ के लड़के भी काफी बलिष्ठ और तेजस्वी दिखे। उनकी स्फीत शिराओं में से जैसे ओजस्विता प्रवाहित हो रही थी। उनके उन्नत ललाट पर राजवंशों की भाग्यलक्ष्मी देदीप्यमान थी। सबसे बड़े युधिष्ठिर थे—अपने नाम की ही तरह धीर और गंभीर, जो वय में मुझसे तीन-चार वर्ष बड़े रहे होंगे। दूसरा भाई भीम—भैया से मुश्किल से दो अंगुल कद में छोटा। शरीरयष्टि वैसी ही बलिष्ठ। पूरा कसरती। फौलादी स्नायुओं से बना हुआ। प्रसन्न वदन। चंचल और शरारत भरी आँखें। वय में वह भी मुझसे बड़ा। मैंने जब उसे प्रणाम किया तो उसने बड़ी आत्मीयता से मुझे खींचकर मेरी पीठ पर एक धौल जमाया।

“देखने में तो बड़ा सीधा लगता है।” वह बोला और फिर हँसने लगा।

तीसरा अर्जुन—लगभग मेरी ही अवस्था का, किंतु मुझसे थोड़ा दुबला-पतला और रंग में भी मुझसे बहुत साफ। आँखें भी अद्भुत, बड़ी-बड़ी—जैसे ऊपर से जड़ी हुई। धनुष उसके कंधे पर और पीठ पर तूणीर। मन ने कहा, यदि राम गौरवर्ण के होते तो कदाचित् ऐसे ही रहे होते। जब मैं उसके पास गया, उसने मुसकराकर मुझे प्रणाम किया। मैंने उसे वक्ष से लगा लिया। पहले ही संस्पर्श में मुझे ऐसा लगा जैसे मैं अपने हृदय की धड़कन किसी दूसरे के हृदय में सुन रहा हूँ।

शेष दो भाई नकुल और सहदेव इन तीनों से अलग ही थे। कद में भी थोड़े छोटे और इकहरे बदन के; पर अत्यंत गंभीर थे। देखने में बुद्धिमान भी लगते थे। उनकी भी दृष्टि में मेरे प्रति अत्यंत सम्मान था। पिताजी से मिलकर बुआजी अंतःपुर की ओर चलीं। इधर हम दोनों भाई पाँचों पांडवों को लेकर उद्यान की ओर बढ़े।

“सुना है, तुम एक चमत्कारी व्यक्ति हो?” भीम मेरी बाँह पकड़कर खींचते हुए बोला।

मैं क्या उत्तर देता।

फिर उसने बकासुर, पूतना, तृणावर्त, केशी, अरिष्ट, कालिय नाग आदि अनेक संदर्भों को छोड़ा—“क्या मैंने यह सबकुछ सत्य सुना है?”

इस बार भी मैं केवल मुसकराकर रह गया।

“तुमने गोवर्धन पूजा भी बंद करा दी।” भीम फिर बोला, “इंद्र को भी चुनौती दी। विश्वास नहीं होता है।”

“तुम इसकी बात पर ध्यान मत देना। यह बड़ा वाचाल है। तुम्हें ऐसे ही परेशान करता रहेगा।” युधिष्ठिर बोले।

“कोई बात नहीं। जो इसने सुना है, वही कह रहा है न!” इस बार भैया ने कहा।

“जब सत्य विश्वास से परे हो जाता है, तभी वह चमत्कार की संज्ञा पाता है।” युधिष्ठिर बोले, “कन्हैया, तुम्हारे संबंध में हस्तिनापुर में बहुत सी कथाएँ प्रचलित हो गई हैं। तुम अभी से इतिहासपुरुष हो गए हो।”

“यह सब आपकी कृपा है, भैया।”

“हमारी कृपा नहीं, ईश्वर की कृपा कहो। तुम्हारे संबंध में शंकु ने भी बहुत सी बातें बताई हैं।” युधिष्ठिर बोले,

“तुममें अवश्य ही दैवी शक्ति है। नारद की भविष्यवाणी का कोई अर्थ है।”

“ये सब बातें जो हैं, सो तो हैं ही, यार, यह बताओ कि तुमने कंस और चाणूर का कैसे वध किया?” युधिष्ठिर के रोकते-रोकते भीम बोल पड़ा—“मेरे यहाँ भी दो पापी हैं, जिनका मैं वध करना चाहता हूँ।”

“तुम्हारे यहाँ ऐसे दो पापी!” युधिष्ठिर चकित-से बोल पड़े—“कौन हैं वे दो पापी?”

“दुर्योधन और दुःशासन।” भीम बोला, “आप उन्हें क्या समझते हैं?”

“तू मूर्ख है!” युधिष्ठिर ने कहा और फिर मुझे संकेत करते हुए बोले, “कन्हैया, तू इसकी बातों पर ध्यान मत देना। यह इसी प्रकार की व्यर्थ की बातें किया करता है।”

आप विश्वास करें, मैं उस समय तक दुर्योधन और दुःशासन को भी नहीं जानता था। नामों के माध्यम से जो उनके व्यक्तित्व के चित्र उभरे, उससे तो लगा कि दोनों अवश्य ही दुष्ट होंगे।

युधिष्ठिर के डाँटने के बाद बात लगभग बंद हो गई थी; पर मुझे लगा कि जीवन के मोड़ पर मुझे काम के साथी मिल गए हैं। मेरे मुख से निकल पड़ा—“चलो अच्छा हुआ, अब जब कभी भी आवश्यकता पड़ेगी, तुम्हारी ओर हाथ बढ़ाऊँगा।” मैंने कहा।

“भगवान् न करें, तुम्हें कभी हमारी सहायता की आवश्यकता पड़े।” अर्जुन बोला। उसके नेत्रों से एक विवशतापूर्ण विषाद झलकता दिखाई दिया। स्पष्ट लगा कि वह अपनी स्थिति से संतुष्ट नहीं है। पर मैं इस संदर्भ में कुछ पूछ नहीं पाया।

बात बदलते हुए मैंने कहा, “आपने तो शस्त्र और शास्त्र दोनों की शिक्षा पूरी कर ली होगी?”

“अभी पूरी तो नहीं हुई है, पर हो जाएगी।” भीम बीच में ही बोल पड़ा।

“शिक्षा कभी पूरी नहीं होती। सरिता के प्रवाह की तरह वह जीवन भर चलती रहती है। उसका चलता रहना ही जीवन की सार्थकता है। और उस प्रवाह के रुकते ही बंद पानी की तरह मानव चिंतन में सड़न उत्पन्न हो जाती है।” अर्जुन के इस कथन से मुझे अनुभव हुआ कि उसमें सीखने की कितनी ललक है।

“इसका तात्पर्य है कि तुम्हारी शिक्षा निरंतर चला करती है?” मैंने कहा।

“निश्चित ही।” वह बोला और बड़े रहस्यमय ढंग से मुसकराया।

“गुरु के अभाव में भी तुम्हारी शिक्षा चलती रहेगी?”

“गुरु तो बस मार्ग दिखाता है। यदि उसने मार्ग दिखा दिया तो चलना तो अपना काम है।”

“बात कुछ समझ में नहीं आई।” इस बार भैया बोले, “तुम कोई उदाहरण दे सकते हो?”

और भाई चुपचाप खड़े सुनते रहे। अर्जुन मुसकराता रहा, मुसकराता रहा। उसने बताया कि वह अँधेरे में भी शर-संधान कर सकता है।

“अंधकार में शर-संधान! यह तो अद्भुत करतब है। आखिर तुमने इसका अभ्यास कैसे किया?” मैं चकित था।

अब उसने कहा, “ज्ञान की यह चमक सचमुच मुझे अँधेरे में ही दिखाई दी। बात यह हुई कि हम सभी लोग पाकशाला में बैठकर भोजन कर रहे थे। अचानक प्रकृति की मानसिकता कुछ उद्धत हो गई। तेज की आँधी आई। वात्याचक्र बड़ा प्रखर था। पाकशाला के वातायनों के कपाट इतनी तीव्रता से फड़फड़ाए कि वे घायल हो गए। ज्योति पात्रों की दीपशिखाएँ काँपकर सबकी सब बिदा हो गईं।

“अब हम गहन अंधकार में थे। सभी भाई भोजन छोड़कर उठ गए; पर मेरी बगल में बैठे भीम भैया टस से मस न हुए। वह उदरपूर्ति किए जा रहे थे। पार्श्व में बैठे रहने के कारण शिष्टतावश मुझे भी इनका साथ निभाना पड़ा।

“‘क्या कर रहे हो अँधेरे में वहाँ बैठकर?’ दुःशासन बोला और उसके भाई हँस पड़े।

“‘पाकशाला में जो किया जाता है, वही कर रहा हूँ।’ भीम भैया बिना किसीकी परवाह किए मस्ती भरे स्वाभाविक स्वर में बोलते गए—‘क्या अँधेरे में भोजन नहीं किया जा सकता?’

“‘अँधेरे में भोजन करना ही जानते हो या कुछ और भी?’ दुर्योधन ने भी भीम भैया की भोजन प्रवृत्ति पर सीधा

व्यंग्य किया और बात मुझे चुभ गई। अब बाहर की आँधी मेरे भीतर भी चलने लगी थी। मैंने सोचना आरंभ किया कि इस अंधकार में और क्या किया जा सकता है।

“मैंने अनुभव किया कि अँधेरे में भी भोजन करते समय हाथ का ग्रास सीधे मुँह में जा रहा है।” अर्जुन बताता गया—“मैं सोचने लगा कि ऐसा क्यों हो रहा है? क्योंकि लक्ष्य और लक्ष्यी में एकनिष्ठता है। यदि ऐसी एकनिष्ठता दूसरी जगह आ जाए तो अंधकार में भी लक्ष्यवेध संभव है। बस इतनी सी संभावना पर मैंने अँधेरे में अभ्यास शुरू किया। रात-रात भर जंगलों में बाण चलाता रहा। एक रात तो मैं इतना तन्मय हो गया था कि सोया ही नहीं।

“ब्राह्म मुहूर्त में जब धनुष की टंकार आचार्यजी ने सुनी तो उन्हें आश्चर्य हुआ। आखिर यह कौन है? उनकी जिज्ञासा जागी। वे टंकार की ध्वनि का पीछा करते हुए मुझ तक आए और मुझे अभ्यास करता देखकर कैसे विह्वल हुए कि क्या बताऊँ! ‘अरे, अर्जुन, तुम!’ इतना कहते हुए उन्होंने मुझे छाती से लगा लिया। उन्होंने जिज्ञासा की, मैंने सब बता दिया।” अर्जुन बोला।

“इसके बाद द्रोणाचार्य ने कहा, ‘तेरी साधना अद्भुत है। मैं तेरे जैसा शिष्य पाकर धन्य हुआ!’ ”

“क्या यह सूचना दुर्योधन को मिली?” भैया पूछ बैठे।

“यह तो मैं नहीं कह सकता।” अर्जुन बड़े सहजभाव से मुसकराते हुए बोला, “जब सभी जान गए हैं तब वह भी जानता ही होगा।”

“जिस वय में आप लोगों ने सारी शिक्षा समाप्त कर ली है, उस वय में अब हम लोग शिक्षा ग्रहण करने जा रहे हैं।” मैंने कहा, “आप बड़भागी हैं।”

“पर मैं तो कुछ इससे भिन्न समझता हूँ।” अर्जुन मुसकराया—“आपने अनुभव के गुरुकुल में साधना और तपस्या से जो शिक्षा प्राप्त की, वही असली शिक्षा है—और वह हम लोगों के भाग्य में नहीं है। हमारी शिक्षा किसी गुरुकुल या आश्रम में नहीं हुई। हमारा मानसिक विकास राजभवन में खरीदी हुई शिक्षा द्वारा हुआ।”

“खरीदी हुई शिक्षा!” बात मेरी समझ में नहीं आई।

“जब हमें तपोभूमि तक जाने नहीं दिया गया, आचार्यों को वेतनभोगी बनाकर राजभवन में रख लिया गया, जब उनका आचार्यत्व भी विलास की गंध में दूषित हो गया, तब हमारी शिक्षा भी क्रीत हो गई।”

“शिक्षा तो शिक्षा है, चाहे वह क्रीत हो या अक्रीत, चाहे वह आश्रम की हो या राजभवन की।” भैया बोले।

“नहीं आर्य, दोनों में बड़ा अंतर है। तपोभूमि की शिक्षा साधना और तपस्या की शिक्षा है। वहाँ जीवन की कठोरता में तपकर शिक्षा कंचन-सा पवित्र और देदीप्यमान होती है। इस स्थिति में ब्रह्मचारी जीवन की कला सीखता है। आश्रम की मनीषा पूजित होती है। राजा-महाराजा उसके समक्ष मस्तक झुकाते हैं। राजभवन का आचार्य स्वयं राजा के समक्ष नत रहता है।” अर्जुन कुछ आवेश में था—“शिक्षा जब सिंहासन के अधीन होती है तब उसके शिक्षार्थी भी दुर्योधन और दुःशासन हो जाते हैं।”

“क्या व्यर्थ की बकवास लगा रखी है!” युधिष्ठिर ने हस्तक्षेप किया। और बात वहीं खत्म हो गई।

हमारी बातचीत के बीच में सभी भाई वहाँ खड़े थे। सभी चुप, सभी शांत—जैसे मात्र निरपेक्ष श्रोता हों। भीम जैसा उद्धत और चंचल प्रकृति का व्यक्ति भी केवल अर्जुन का मुँह देखता रह गया; पर युधिष्ठिर का अर्जुन को चुप कराना उसे अच्छा नहीं लगा। फिर भी बड़े भाई के अनुशासन के समक्ष उसकी उद्धता नतमस्तक दिखी।

जहाँ भाइयों में मैंने ऐसा अनुशासन देखा वहीं मुझे लगा कि अर्जुन की चिंतना इन सबमें प्रखर है। मुझे आश्चर्य होता है कि ऐसा अर्जुन युद्धक्षेत्र में मोहग्रस्त कैसे हो गया।

□

उन बातों का सिलसिला तो टूट गया, पर हमारी प्रगाढ़ होती मित्रता का क्रम जारी था। हम लोग उद्यान की ओर बढ़ रहे थे कि बलराम भैया ने अचानक भीम के कंधे पर हाथ मारते हुए कहा, “सुना है, तुमने मल्लयुद्ध में अद्वितीय क्षमता प्राप्त की है?”

भीम गर्व से गरदन ऊँची करते हुए मुसकराया।

“तो चलो अक्षवाट (अखाड़े) में हो जाए दो-दो हाथ। देखूँ तेरे दाँव!”

कहना न होगा कि वह तुरंत तैयार हो गया। पहली भेंट में ही उसका यह व्यवहार निश्चित रूप से मुझे कुछ अप्रत्याशित लगा। दोनों अक्षवाट की ओर चल पड़े। नकुल और सहदेव भी उनके साथ हो लिये।

मैं भैया के साथ चलने ही वाला था कि वह स्वयं बोल पड़े, “अच्छा, मैं चलता हूँ, तुम कहाँ मिलोगे?”

“मैं अर्जुन के साथ यमुना की ओर जा रहा हूँ।” मैंने कहा।

“और मुझे चाचाजी (अक्रूर) को हस्तिनापुर का पूरा समाचार देना है।” धर्मराज बोले और हम तीन दिशाओं की ओर मुड़ गए।

मार्ग में अर्जुन ने हस्तिनापुर की विस्तृत चर्चा छेड़ दी। स्पष्ट लगा कि उसके मन में काफी उबाल है।

“संसार जानता है कि हम कौरवों के भाई हैं; पर वास्तविकता यह है कि वहाँ हमारी स्थिति असहाय आश्रितों जैसी भी नहीं है।” फिर उसने बड़े विषादपूर्ण स्वर में कहा, “हो सकता है, कन्हैया, कि तुम्हारी सहायता की हमें आवश्यकता पड़े।”

अर्जुन की मनःस्थिति को हलका करने के लिए मैं हँस पड़ा—“मैं सोचता था कि मुझे ही तुम्हारी सहायता की आवश्यकता पड़ेगी!”

“यह उलटी बात कैसी, कन्हैया?”

“यह उलटी बात नहीं है, अर्जुन! मैंने यहाँ इतने शत्रु बना लिये हैं कि किसी भी समय कोई भी स्थिति पैदा हो सकती है।”

“स्थितियाँ चाहे जैसी भी उत्पन्न हों, आप उन सबमें विजयी होंगे; क्योंकि आपने धर्म की रक्षा के लिए ही सबकुछ किया है। अधर्म के पक्षधर आपसे टकराएँगे अवश्य; पर चट्टान से टकरानेवाली लहरों की तरह अपना सिर फोड़कर लौट जाएँगे।”

“फिर तुम क्यों घबराते हो! धर्म पर रहो। भगवान् तुम्हारी सहायता करेगा।” मैंने कहा। मैं विस्तार से अपनी स्थिति की चर्चा करना चाहता था; पर उधर तो स्वयं आग लगी थी।

मैंने देखा कि यमुना की ओर से छंदक आ रहा है। उसने अर्जुन को देखते ही कहा, “आपका धनुष कहाँ है?”

“इस समय धनुष की क्या आवश्यकता?”

“मथुरा की स्थिति ऐसी है, पार्थ, कि यहाँ धनुष की आवश्यकता किसी समय भी पड़ सकती है।”

जो कार्य मैं नहीं कर पाया था, उसे छंदक करके मुसकराता हुआ चला गया।

अब हम यमुना के तट पर थे। हमने वस्त्र बदले और लहरों में छलाँग लगा दी। जल किल्लोल करते हुए मैंने अर्जुन से पूछा, “मैंने सुना है, तुम इंद्र के पुत्र हो?”

“मैंने भी यही सुना है।” वह मुसकराया। उस अबोध शिशु की झेंप थी, जो अपने पिता के संबंध में निश्चित जानकारी नहीं रखता। वह स्वयं को सँभालते हुए पुनः लड़खड़ाया—“मुझसे महाराज ने भी यही कहा था।”

“किस महाराज ने?” मैंने सोचा, वह पांडु के संबंध में कह रहा है।

“महाराज वेदव्यास ने।”

“क्या कहा था महाराज ने?”

“यही कि तुम इंद्र के पुत्र हो।”

“कैसे, यह कुछ नहीं बताया?”

“नहीं।”

“यही स्थिति तो मेरी भी है।” मैंने हँसकर कहा। वह मेरा मुख देखता रह गया।

मैं तैरता हुआ आगे बढ़ा, वह मेरे पीछे-पीछे चला। उसने फिर अपने पिता के संबंध में जिज्ञासा की। तब मैंने बताया कि मैंने जानबूझकर इंद्र को एक बार नाराज किया था। मैंने इंद्रोत्सव बंद करा दिया था।

“क्यों?”

“क्योंकि उसके अहंकार से मुझे चोट लगी थी। मैंने इंद्र की पूजा के स्थान पर गोवर्धन की पूजा शुरू की। मैंने वृक्षों और गायों की पूजा शुरू की। मैंने इंद्र महाराज के आधिपत्य को चुनौती दी। वे अप्रसन्न हो गए। कुपित होकर उन्होंने व्रज का विनाश करने की चेष्टा की। सारे व्रजवासियों ने एकजुट होकर इंद्र के कोप का सामना किया। पहली बार ग्रामवासियों की सामूहिक शक्ति को उन्होंने देखा। उसके समक्ष उन्हें नतमस्तक होना पड़ा।”

“फिर?”

“फिर कुछ दिनों बाद जंगल में गाय चराते समय मुझे एक अत्यंत देदीप्यमान व्यक्ति के दर्शन हुए। उन्होंने कहा, ‘इंद्र तुम्हारी नेतृत्व शक्ति से प्रभावित हैं। पहली बार व्रजवासियों ने उनके अहं को चूर किया है। अब वे अनुभव करने लगे हैं कि पूजा भय और आतंक से नहीं वरन् स्नेह और प्रेम से प्राप्त की जा सकती है।’ ”

“वे कौन महापुरुष थे?” अर्जुन ने पूछा।

“यही तो मैं नहीं जानता।” मैंने कहा, “मैं कुछ पूछूँ, इसके पहले ही वे मुसकराते हुए चले जा चुके थे।”

“हो सकता है, वे महाराज इंद्र ही रहे हों।”

“हो सकता है। यदि यह बात थी तो उन्होंने अपने आपको मुझसे छिपाया क्यों?” मैंने शंका की और फिर स्वयं सोचते हुए बोला, “हो सकता है, मुझसे पराजित होने के बाद उन्होंने मेरे सामने आने में संकोच का अनुभव किया हो। पर तुम जानते हो, मैंने इसके बाद क्या किया?”

“मुझे क्या मालूम!”

“मैंने सोचा, इंद्र तो शत्रु नहीं, शत्रु तो था उसका अहं, उसका आतंक। जब वही नहीं रहा तब उसका विरोध करना ठीक नहीं। तब मैंने महाराज इंद्र के सम्मान में एक यज्ञ किया। उस समारोह में पूरे व्रजवासियों ने वैसी ही तत्परता से योगदान किया, जिस तत्परता से उन्होंने गोवर्धन पूजा की थी।

“फिर बात आई-गई समाप्त हो गई। दिन पर दिन खिसकते चले गए।

“अचानक एक दिन एक विचित्र घटना घटी। राधा और अन्य गोपियों के साथ इसी यमुना में और लगभग इसी स्थान पर जल-विहार कर रहा था। गरमियों का प्रभात था। एक घड़ी बीतते-बीतते हम थक चुके थे। जल से बाहर निकले और वस्त्र बदलकर सामने—वो वट का वृक्ष देख रहे हो न?” तैरते हुए अर्जुन ने उस वट की ओर दृष्टि घुमाई। “उसीके सहारे लेट गया था।” मैं कहता गया—“आज भी मुझे याद है कि मैं सोया नहीं था। कुछ झपकी-सी लगी थी। तंद्रा में अवश्य था। फिर मुझे एक दिव्य व्यक्ति दिखाई दिए। वे कह रहे थे, ‘मैं तुमसे बहुत प्रभावित हूँ, कृष्ण! तुममें अद्भुत नेतृत्व क्षमता है। तुममें अलौकिक शक्ति है। जो मुझे पराजित कर सकता है, उसके लिए कुछ भी अजेय नहीं है। तुम्हें तो मेरी आवश्यकता शायद कभी न पड़ेगी, पर मुझे तुम्हारी आवश्यकता पड़ सकती है।’

“मैं चुप था। मेरा मौन पूछ रहा था—‘वह कैसे?’

“ ‘अपने पुत्र के लिए।’ इंद्र मुसकराए। उनकी मुसकराहट में एक विचित्र प्रकार की लाचारी भरा वात्सल्य था—‘तुम सोचते होगे, कन्हैया, कि वह कौन सी स्थिति है, जब इंद्र अपने वात्सल्य के समक्ष विवश है। पर इतना ही समझो कि है ऐसा ही।’...फिर वे मुसकराते हुए कुछ देर के बाद बोले थे, ‘तुम्हें मेरे पुत्र की सहायता करनी पड़ेगी।’

“मेरी मौन स्वीकृति के बाद वे चले गए।

“थोड़ी देर बाद मुझे लगा कि कोई मेरा सिर सहला रहा है। मेरी तंद्रा टूटी। मैंने देखा, राधा सचमुच मेरे सिर पर हाथ रखे थी। ‘तुम यहाँ बैठते ही सो गए। लगता है, तैरते-तैरते काफी थक गए थे।’

“ ‘मैं सचमुच सो गया था?’

“ ‘तो क्या मैं परिहास कर रही हूँ?’ राधा हँसते हुए बोली।

“ ‘यहाँ कोई और नहीं था?’ मैंने साश्चर्य पूछा।

“ ‘मेरे आने के पहले तो कोई नहीं था।’

“ ‘और उसके बाद?’

“ ‘उसके बाद तो केवल मैं थी।’ वह पुनः हँसी—‘आखिर तुम किसके संबंध में पूछ रहे हो?’

“तब मैंने उसे सारी बातें बताईं। ‘सचमुच अब तुम्हारा व्यक्तित्व भावनाप्रधान होता जा रहा है।’ राधा ने कहा, ‘हर बड़ा आदमी ऐसा ही होता है। जब से तुमने गोवर्धन पूजा की है, अपने ऊपर एक बड़प्पन लाद लिया है।’

“यद्यपि उस समय वह बात राधा के परिहास में उड़ गई; पर वह मेरे मन से हटी नहीं थी वरन् गहराई से धँसती चली गई। मैं सोचता रहा कि इंद्र का कौन ऐसा बेटा है, जिसे मेरी आवश्यकता पड़ सकती है!”

“और वह आज मिल गया।” अर्जुन ने तैरते हुए ही मेरे कंधे पर हाथ रखा।

“किंतु तुम्हें देखने से तो यह नहीं लगता कि कभी तुम्हें मेरी आवश्यकता पड़ेगी।”

“सभी चमकनेवाला पीत धातु सुवर्ण नहीं होता।” अर्जुन बोला, “बाह्य स्थिति आंतरिक स्थिति से बहुत भिन्न है। हस्तिनापुर में हमारी जो दशा है, उसे हमीं जानते हैं। महाराज वेदव्यास और पितामह की कृपा होते हुए भी हम वहाँ अनाथ जैसे हैं।”

अब हम जल से निकलकर तट पर आ गए थे। अपने वस्त्र बदलने लगे। अर्जुन हस्तिनापुर में अपनी स्थिति का विस्तार से वर्णन करता रहा। अंत में अत्यंत खिन्न स्वर में बोला, “यदि दुर्योधन ने हमें पैतृक उत्तराधिकार से वंचित कर दिया, तब हम क्या करेंगे?”

“तुम इतने निराश क्यों हो? इतने पराक्रमी और इतनी हताशा!” मैंने कहा, “आश्चर्य होता है कि जो स्वयं और जिसके चार-चार भाई ऐसे शौर्यवान् हों, जिसे महाराज वेदव्यास और भीष्म पितामह का आशीर्वाद प्राप्त हो, उसका मन ऐसा दब गया। बात मेरी समझ में नहीं आती।”

“मैंने कहा न, मेरी बाह्य स्थिति देखनेवाला मेरी भीतरी स्थिति का अनुमान नहीं लगा सकता।” अर्जुन ने अपनी पिछली बात दुहराई।

“यह हो सकता है।” मैंने कहा, “मुझे लगता है, अपने पर से तुम्हारा विश्वास उठ गया है। यह स्थिति बड़ी भयानक होती है किसी व्यक्ति के लिए। पहले अपने विश्वास को दृढ़ करो। किसमें साहस है कि तुम्हें तुम्हारे उत्तराधिकार से वंचित करे! क्या तुम समझते हो कि महात्मा विदुर, वेदव्यास और पितामह के रहते इतना बड़ा अधर्म हो जाएगा?”

“हस्तिनापुर में कुछ भी हो सकता है।”

“तो ऐसे अधर्म के विनाश के लिए, धर्म की संस्थापना के लिए हम तुम्हारे साथ सदा रहेंगे।” मेरे मुख से यह अचानक और आवेश में निकल पड़ा था। मुझे उस समय जरा भी विश्वास नहीं था कि आज का कहा कभी सच होगा। हस्तिनापुर सचमुच अधर्म में डूब जाएगा।

मेरी आवाज उस समय इतनी प्रभावशाली हो गई थी कि अर्जुन मुझे देखता ही रह गया। थोड़ी देर बाद वह कुछ दबी जबान में बोला, “इसका तात्पर्य है कि आप जानते हैं कि अधर्म क्या है और धर्म क्या है?”

अचानक अर्जुन की शब्दावली बदल गई। वह ‘तुम’ से इस बार ‘आप’ पर उतर आया।

“धर्म और अधर्म का निश्चय मनुष्य का अंतःकरण स्वयं कर देता है।” मैंने कहा, “जब अंतःकरण की आवाज नहीं सुनी जाती, तभी अधर्म का विस्तार होता है।”

“आप क्या समझते हैं कि धृतराष्ट्र के अंतःकरण में भी कोई आवाज है?”

“अवश्य होगी। यह बात दूसरी है कि वे उसकी उपेक्षा कर रहे हों।” मैंने कहा और अर्जुन पूर्व के आकाश को देखता और सोचता रह गया; जैसे सारी शून्यता उसके मन में उतरने लगी हो।



नौ

आज यज्ञोपवीत का दिन था। कंस मामा की मृत्यु के अभी तेईस दिन बीते थे। किसी प्रकार की विशेष साज-सज्जा नहीं की गई। हाँ, मथुरा के सैनिक पूर्णतः सावधान और सन्नद्ध थे। अशांति की आशंका तो बनी ही थी। फिर भी प्रातः से ही महामात्य कुछ प्रसन्न-से दीख रहे थे। उनकी आकृति पर आज किसी प्रकार का तनाव नहीं था। वह मुक्त रूप से इधर-उधर चारों ओर जाते दिखाई दे रहे थे। कल तक हरित मृग की तरह चौकन्ना रहनेवाला व्यक्ति इतना मुक्त कैसे?

मुझे स्वयं आश्चर्य था; पर मेरी मानसिकता दूसरी ओर उलझी थी। मैं सोच रहा था कि आज के बाद मैं एक नया जीवन आरंभ करूँगा; जिसमें बंधन होगा, अनुशासन होगा, त्याग होगा, तपस्या होगी। मुझे यह सबकुछ रात को अर्जुन ने बता दिया था। उसने स्पष्ट कहा था कि अब तक कन्हैया, तुम व्रज में मुक्त विहार करते रहे हो, पर अब तुम्हारी स्वतंत्रता आश्रम के घेरे में बँध जाएगी।

“क्या मैं उन्मुक्त प्रकृति का प्राणी नहीं रह जाऊँगा?”

“नहीं, आप प्राणी भी रहेंगे और प्रकृति भी आपके समक्ष उन्मुक्त ही रहेगी; पर वृंदावन की कुंजें नहीं रहेंगी। गोप-गोपियों के साथ वह उल्लासपूर्ण वातावरण नहीं रह जाएगा। न रहेगा रास और न बजेगी बाँसुरी।”

“क्या कहा, बाँसुरी भी मेरे साथ नहीं रहेगी?” मैं एकदम घबरा गया—“बाँसुरी के बिना तो मैं एक क्षण भी नहीं रह सकता। ऐसा कुछ नहीं कहा था आचार्य ने। जिस आश्रम में कला का निषेध होगा, जहाँ मेरी बाँसुरी न जा सकेगी, वहाँ मैं नहीं जाऊँगा। बाँसुरी मेरे हृदय की धड़कन से जुड़ी है।”

अर्जुन कुछ बोला नहीं। पर मेरे मन में एक ऐसा बीज पड़ गया था, जिसने मुझे रात भर चैन से सोने नहीं दिया। मेरी जिज्ञासा का उबाल इतना तीव्र था कि मैं सोचता रह गया कि कैसे सवेरा हो और कैसे मैं आचार्य सांदीपनि से मिलूँ।

ब्राह्म मुहूर्त समाप्त होते ही मैं राजभवन के अतिथिगृह की ओर लपका। आचार्य उद्यान में ही टहलते दिखाई पड़ गए। वे अपने शिष्यों से आज के होनेवाले कर्मकांड के संबंध में चर्चा कर रहे थे।

मुझे देखते ही उन्हें आश्चर्य हुआ—“क्यों? क्या कोई विशेष बात है?”

“जी हाँ।” मेरी जिह्वा और सिर दोनों हिले।

फिर मुझे गंभीर रूप से मौन देखकर अपने शिष्यों को छोड़कर रसाल के वृक्ष के नीचे चले आए।

“कहो, क्या बात है?”

अब मैं अपनी बात कैसे कहूँ, बड़े असमंजस में पड़ा। पर किसी प्रकार मैंने सीधे-सीधे पूछ दिया—“क्या मैं आश्रम में वंशी बजा सकता हूँ?”

“यह तुम्हारी इच्छा पर निर्भर है।” उन्होंने हँसते हुए कहा। उन्हें लगा कि मैंने इतनी मामूली सी बात पूछने के लिए इतनी गंभीरता क्यों दिखाई?”

“मैंने सुना है कि आश्रम में वंशी का निषेध है।”

इस बार उन्हें फिर हँसी आ गई—“यह किसने कहा तुमसे?”

मैंने अर्जुन का नाम नहीं लिया।

“जिसने भी कहा है, उसे आश्रम के जीवन का अनुभव नहीं है।” आचार्यजी बोले, “आश्रम का सही उद्देश्य

जीने की कला सिखाना है। कला मन का संस्कार करती है। कलाविहीन मनुष्य मनुष्य नहीं होता। इसीलिए कला हमारे आश्रम में पहले प्रवेश करती है और मनुष्य बाद में।” इतना कहकर वे हँसने लगे।

आशंका की अग्नि भय और उदासी का धुआँ उगलती है। उसके बुझते ही मेरी व्यग्रता समाप्त हो गई थी। मैं वहाँ से चलने को था। आचार्यजी ने अपने एक शिष्य से परिचय कराते हुए कहा, “देखो, यह सामगान बड़ा सुंदर गाता है। हमारे आश्रम का अध्याय इसीके गान से आरंभ होता है। यह प्रभासतीर्थ का रहनेवाला है।”

सामगान का नाम लेते ही मुझे आचार्य श्रुतिकेतु की स्मृति हो आई। ब्रज के सभी लोग मिले, पर वे दिखाई नहीं पड़े। ऐसा तो नहीं कि उन्हें निमंत्रण ही न गया हो। मेरा मन एक विचित्र उलझन में पड़ गया।

“क्या सोचने लगे?” आचार्यजी बोले।

“कुछ नहीं।” मेरे मुख से बड़े सहजभाव से निकल गया।

“देखो, आचार्य से कुछ छिपाना नहीं चाहिए, अन्यथा विद्या फलवती नहीं होती।” सांदीपनि बोले, “और यह भी समझो कि आचार्य में केवल तुम्हें ही नहीं, तुम्हारे अदृश्य मन को भी पढ़ने की क्षमता होती है।”

मुझे लगा कि मैंने भूल की। मैंने आचार्य श्रुतिकेतुवाली बातें स्पष्ट बता दीं। वे हँसने लगे।

“मैं समझता हूँ, इससे तुम्हारी खूब पटेगी। तुम दोनों कलाओं में रुचि जो रखते हो।” उन्होंने उस शिष्य की ओर पुनः संकेत करते हुए कहा।

वह शिष्य भी मुझे कुछ विलक्षण लगा। उसकी मुसकराती आँखें मुझे अनवरत देख रही थीं; जैसे उसकी-मेरी पुरानी पहचान हो। पर मैं उसे पहचान नहीं पा रहा था।

गौरवर्ण, कृशकाय, साधना और तपस्या का मूर्त रूप।

“आपका शुभ नाम?”

“सुदामा।”

अरे, नाम तो श्रीदाम जैसा ही है, पर उसके व्यक्तित्व से बिल्कुल भिन्न।

“पूरा नाम जानना चाहते हो?” आचार्यजी हँसने लगे—“सुदामा पांडे। इसके पिताजी मेरे गुरुभाई हैं।”

उस दिन बस इतना ही परिचय हुआ। मैं भी चला आया और आचार्यजी आज की व्यवस्था में लग गए।

मेरे मन में आचार्य श्रुतिकेतु के संबंध में जिज्ञासा बनी ही थी। मैंने पिता नंद को ढूँढ़ना शुरू किया। वे चाचा के पास नहीं थे। वसुदेवजी के पास भी नहीं, उद्यान में भी नहीं। कई लोगों से पूछा, पर किसीने कुछ नहीं बताया। अंत में प्रद्योत से पता चला कि वे नानाजी के पास हैं।

अब मैं नानाजी के कक्ष की ओर बढ़ा। आज प्रासाद एकदम बदला हुआ दिखाई दे रहा था। सदा भय और आशंका में डूबा हुआ उसका वातावरण आज विचित्र ढंग से चहक रहा था। अंतःपुर से गुजरते हुए रुक्मिणी फुदकती दिखाई पड़ी।

इस अप्रत्याशित प्रसन्नता ने मुझमें नई जिज्ञासा उत्पन्न की। मैंने रुक्मिणी को बुलाया—“आज बड़ी प्रसन्न दिखाई दे रही हो! इसलिए कि मेरा उपनयन होने वाला है?”

“हूँ, हूँ।” उसने मुसकराते हुए विचित्र ढंग से बात न स्वीकार करने का संकेत किया।

“तब किसलिए?”

“अपना कान मेरे मुँह के पास ले आओ तो बताऊँ।” और उसने अपने दोनों हाथों से मेरा सिर पकड़कर मेरे कान में धीरे से कहा, “जरासंध नहीं आ रहा है।”

“यह सूचना किसने तुम्हें दी?”

“इन दीवारों ने।” उसने अंतःपुर की प्राचीरों की ओर संकेत किया और फिर फुदकती हुई निकल गई।

जरासंध के न आने की खुशी तो मुझे भी थी। एक बला टली। पर यह सब कैसे हो गया? अपनी पुत्रियों के विधवा होने के बाद वह सांत्वना देने भी न आए? अपने पुत्र के मारे जाने से भी वह विचलित नहीं हुआ? अवश्य इसमें कोई रहस्य है।

नाना के कक्ष के बाहर पहुँचते ही भीतर के ठहाके स्पष्ट सुनाई देने लगे।

“मैं समझता हूँ कि नारद की भविष्यवाणी का समाचार मागधी सैनिकों ने पहुँचते ही उसे दिया होगा। वह डर गया होगा।” यह आवाज गर्गाचार्य की थी।

“जरासंध को किसी प्रकार का डर नहीं रोक सकता। उसका व्यक्तित्व भयमुक्त है।” शायद यह नानाजी कह रहे थे—“जरासंध को रोक पाना किसी चमत्कार का ही परिणाम है—और कन्हैया के लिए नियति ने सदा ऐसा ही किया है।”

जिस समय मैंने कक्ष में प्रवेश किया, मैंने अनुभव किया कि सबका वात्सल्य आदरभाव में बदल चुका है। मैं एक ऐसा चमत्कारी व्यक्तित्व बन चुका हूँ, जिसके लिए कुछ भी असंभव नहीं, असाध्य नहीं।

मैंने पहुँचते ही पूछा, “पिताजी, आचार्य श्रुतिकेतु दिखाई नहीं पड़े। क्या उन्हें निमंत्रण नहीं पहुँचा?” उन्होंने बताया—“निमंत्रण पत्र तो नहीं गया था। इसका उन्होंने माख भी नहीं माना। उनका कहना था कि मेरे जैसे मौन साधक को बहुत कम लोग जानते हैं। तब मैंने उन्हें अपनी ओर से निमंत्रण दिया, फिर भी वे नहीं आए।” “क्यों?”

“उनका कहना था, ‘मैं तो संन्यासी हूँ। रमता योगी और बहता पानी किसी एक स्थान पर स्थिर नहीं रहता। वह किसी घाट का नहीं होता, घाट ही उसका होता है। यह बात दूसरी है कि मैं यहाँ इतने दिनों तक रह गया। यह प्रभु की कृपा ही थी कि उसने मेरी सेवा ली। अब मैं मुक्त हुआ।’ इतना कहने के बाद वे गंभीर रूप से मौन हो गए।”

“क्या वे व्रज से चले गए?”

“हाँ, वत्स, एक दिन उषःकाल में ही वे अपना दंड-कमंडलु लेकर चले गए—और शायद एकतारा भी लेते गए।”

“और उनका सारा सामान, वाद्ययंत्र?”

“वह सब ज्यों-का-त्यों उनके कक्ष में पड़ा रह गया।” नंदजी ने बताया—“मैंने चारों ओर आदमी दौड़ाए, पर कहीं कुछ पता नहीं चला। मेघज बता रहा था कि यमुना में स्नान कर उन्हें नाव पर जाते हुए उसने देखा था।”

श्रुतिकेतु अब मेरे चिंतन से चिपक चुके थे। मैं उनके बारे में सोचता रह गया। नदियों के मूल की तरह उनके मूल का भी कोई पता नहीं। अंत का भी पता नहीं। बहते जल की तरह उनका व्यक्तित्व भी निर्मल, स्वच्छ और पारदर्शी था।

□

नितांत तनावमुक्त वातावरण में मेरे यज्ञोपवीत संस्कार की विधि आरंभ हुई।

आज उद्धव हम सबमें प्रसन्न था। उसके भाग्य से सिकहर टूटा था।

आचार्यजी ने पता नहीं क्या सोचकर आज प्रातः एक शंका प्रस्तुत की—“या तो एक बालक का उपनयन कराया जाएगा या तीन का। मैंने कभी दो बालकों का उपनयन साथ नहीं कराया है।”

लाचार, हम दो के साथ तीसरा उद्धव को लगा लिया गया था।

हम तीनों का शिखा रखकर मुंडन किया गया। यज्ञ की वेदी प्रदीप्त की गई। अग्निहोम आरंभ हुआ। मंडप में चारों ओर बैठे लोग हमें एकटक देखते रहे। उनकी मुद्राएँ प्रसन्न। उनके नेत्र पुलकित। उनका संपूर्ण व्यक्तित्व

हमारे प्रति आशीर्वाद और शुभकामनाओं की वर्षा करता हुआ।

अब हमारे लिए लँगोटी के अतिरिक्त दो ही वस्त्र थे—वासस (अधो भाग के लिए) और उत्तरीय। मेषचर्म का उत्तरीय और पटुका का बना वासस हमें पहनाया गया। जिस कटि में सदा रेशमी पीतांबर सुशोभित होता था, वहाँ पटुका का मोटा और खुरदरा वस्त्र। विचित्र अनुभूति हो रही थी। पहनाए जाते समय एक ऐसा अवसर भी आया, जब भैया की कटि से सरककर वह गिर भी गया। चारों ओर बैठे लोग खिलखिलाकर हँस पड़े।

आचार्यजी को भी हँसी आ गई। उन्होंने कुछ ऊँचे स्वर में कहा, “यह संक्रमण काल है, एक जीवन से दूसरे जीवन के प्रवेश का समय। इससे गड़बड़ियाँ तो होंगी ही।” चारों ओर की खिलखिलाहट एकदम शांत हो गई।

फिर उन्होंने अपने शिष्यों से कहा, “आप लोग उठकर वासस के ऊपर मेखला पहना दीजिए।”

शिष्यों ने अब हमारी कटियों में मूँज के कटिबंध कसकर बाँध दिए, जिससे अधोवस्त्र के गिरने की आशंका समाप्त हुई। फिर हमें दंड थमाया गया और सूत का यज्ञोपवीत पहनाया गया।

अब आचार्यजी ने यज्ञोपवीत की महत्ता बताते हुए कहा, “इसमें बटे और माँजे हुए तीन सूत हैं। तीनों में तीन-तीन सूत को बटा गया है। सब मिलाकर यह नौ तंतु नौ देवताओं के प्रतीक हैं। ये देवता हैं—ओंकार, अग्नि, नाग, सोम, पितर, प्रजापति, वायु, सूर्य एवं सर्वदेव। ये सब तुम्हारी रक्षा करेंगे। इनकी दृष्टि सदा तुम्हारे ऊपर रहेगी। याद रखना, यज्ञोपवीत पहनकर यदि तुम कुछ भी अकरणीय करोगे तो इन देवताओं की कुदृष्टि के भागी होगे।...और यज्ञोपवीत के धारण करने के बाद जो कुछ करणीय करोगे, वह यज्ञ होगा।”

ब्रह्मचर्य के द्वार में प्रविष्ट होते हुए हम तीनों ब्रह्मचारी आचार्य को बड़ी गंभीरता से सुनते रहे।

“अब आप लोग अपने आचार्य का नमन कीजिए।” यह ध्वनि गर्गाचार्य की थी—और हम तीनों बारी-बारी से आचार्य सांदीपनि के चरणों पर गिर पड़े। आचार्यजी ने आशीर्वाद दिया और एक झोली हमारे कंधे पर लटका हमें भिक्षाटन का आदेश दिया।

‘भवती भिक्षां देहि’—कहते हुए हम वेदिका से नीचे उतरे। आचार्य की आज्ञा हुई थी कि सबसे पहले हम अपने माता-पिता से भिक्षा माँगें।

वेदिका से नीचे उतरते ही हम असमंजस में पड़े। भैया का विचार था कि सबसे पहले हमें वसुदेव और देवकी की ओर बढ़ना चाहिए। हमारी दृष्टि उधर गई भी और उनकी ललचाई आँखें हमारी प्रतीक्षा करती भी मालूम पड़ीं; पर मेरा मन उधर जाने को नहीं कर रहा था।

मैंने धीरे से भैया के कान में कहा, “किस माँ की ओर बढ़ूँ, पैदा करनेवाली माँ की ओर या पालनेवाली माँ की ओर?”

“माँ तो पैदा करनेवाली ही होगी।”

“और पालनेवाली?” मैंने पूछा, “यदि उसने पाला न होता तो शायद हम यमराज की सेवा में होते।”

कुछ क्षणों तक हम दोनों खड़े-के-खड़े रह गए। उपस्थित जन समुदाय का गंभीर मौन हमारे असमंजस का अनुमान लगा चुका था।

जब हम एक निष्कर्ष पर पहुँचे और यशोदा की ओर बढ़े, तब सारा जनवर्ग ‘साधु-साधु’ चिल्ला उठा। यशोदा माता की आँखें झलझला आईं।

“मैं तुम्हें क्या दूँ, बेटा? मेरे पास क्या है?” यह उसकी भावना थी। गद्गद हृदय का मात्र भावाकुल उद्गार था। फिर अचानक बोल उठी, “रुको।” और अपनी झोली में से एक चाँदी की मंजूषा निकाली और मेरी झोली में डाल दी।

फिर हम पिता नंद की ओर बढ़े—“भवान् भिक्षां देहि!”

इतना सुनते ही उनकी आँखों में आँसू आ गए। जिन्हें मैं बिना माँगे देने के लिए लालायित रहता था, आज वे ही मुझसे भीख माँग रहे हैं। यों तो वे देने के लिए पहले से ही ले आए थे, फिर भी वे जैसे सोच रहे थे कि क्या दें? उन्होंने अपनी पेटिका से पीतांबर निकाले और हमारी झोलियों में डाल दिए।

हमें यह न सोचने का अवसर था और न आवश्यकता का ही अनुभव हुआ कि अब पीतांबर का क्या होगा? यह चाँदी की मंजूषा क्या होगी? इसी समय माँ यशोदा बोल उठी—“अब तुम सब सीधे माँ देवकी के पास जाओ; किंतु फिर मेरे पास आना।”

हमारी दृष्टियाँ एक साथ प्रश्नवाची हो गईं।

“क्योंकि ब्रजवासियों ने मुझे बहुत सारी चीजें तुम्हें भिक्षा में देने को दी हैं।” यशोदा बोली।

अब मैं सीधे माँ देवकी के पास पहुँचा—“भवती भिक्षां देहि!”

माँ की आँखें भर आईं।

“मैं तुमसे हमेशा दूर रही। दूर से ही देखा। कभी निकट आने की चेष्टा नहीं की—और कभी तुम निकट भी आए तो स्वप्न में। मैं उसी स्वप्न को छाती से लगाकर जीती रही। आज स्वप्न साकार हुआ तो तुम भिक्षा माँगते दिखाई दिए।” इतना कहते हुए उसने अपने आँसुओं के साथ-साथ कदली और श्रीफल भी हम भाइयों की झोलियों में डाल दिए।

अब हम माँ रोहिणी के पास से होते हुए नानाजी के पास पहुँचे। उन्होंने प्रद्योत की ओर देखा और फिर पता नहीं क्या सोचकर अपना मुकुट उतारकर मेरी झोली में डालने लगे।

“तात, इसे तो मैं पहले ही अस्वीकार कर चुका हूँ। अब ब्रह्मचारी के लिए इसकी आवश्यकता क्या!”

वह समझ नहीं पाए कि अब क्या दूँ, तब तक भिक्षोपयोगी वस्तुओं से भरी हुई टोकरी गर्गाचार्य ने लाकर उनके सामने रख दी और महाराज ने खड़े होकर हमारी झोलियों में डाल दिया।

इसके बाद मैं अक्रूर चाचा की ओर से होता हुआ अपनी मामियों के पास पहुँचा। उन्हें जैसे विश्वास ही नहीं था कि मैं भिक्षा माँगने उनके पास भी आऊँगा। मेरे अप्रत्याशित आगमन से वे एकदम हड़बड़ा-सी गईं।

मैंने आवाज लगाई—“भवती भिक्षां देहि!”

अब एक चीख उनके मुख से निकली और सारे मंडप में गूँज गई।

“तुमने तो मेरा सबकुछ ले लिया। अब देने को क्या रहा!” इतना कहते हुए अस्ति ने अपने वलय उतारे और मेरी झोली में डाल दिए। मैंने पीछे देखा, उसकी बहन ने भी अपनी बहन का अनुसरण किया—और भैया की झोली से भी खन्न की आवाज निकली।

मैं समझ नहीं पाया था कि उनकी बाजुओं में वलय कैसे रह गया था? विधवा होते ही उसे उतर जाना चाहिए था; पर जो कुछ भी हो, उन्होंने हमारी झोलियों डालकर यह बता दिया कि हमारी प्रतिहिंसा की नागिन अब भी तुम्हारी झोलियों में जाते हुए झनझना रही है।

धीरे-धीरे हमारी झोलियाँ भरती हुई भारी होती जा रही थीं। नानाजी ने दो-तीन परिचर हमारी सहायता के लिए भेजे।

“इस जीवन में परिचरों की सहायता नहीं ली जाती।” आचार्य सांदीपनि वेदिका पर से ही बोल उठे—“ब्रह्मचारी स्वयं अपना परिचर होता है।”

अब परिचर हटाए जा चुके थे। हम लोग अपनी भरी झोली लेकर वेदिका पर पहुँचे और आचार्य के समक्ष उन्हें उड़ेल दिया। आचार्य हमारी भिक्षा देखकर मुसकराने लगे—“इन स्वर्णाभूषणों का क्या करोगे?”

हम क्या उत्तर देते। मौन आचार्य के श्रीचरणों की ओर देखते रहे।

“झोलियाँ तो तुम लोगों की भर चुकी हैं।” आचार्यजी बोले।

“पर अभी अनेक लोग भिक्षा देने के लिए आतुर हैं।” उद्धव ने अपनी प्रगल्भता दिखाई।

“यह मैं भी अनुभव कर रहा हूँ।” आचार्यजी बोले, “पर जानते हो, वत्स! आवश्यकता से अधिक एकत्र की गई भिक्षा लोभ को जन्म देती है—और लोभ की आग आश्रम की पवित्रता को भस्म कर देती है।”

“तो अब आपकी क्या आज्ञा है, गुरुदेव?” बलदाऊ भैया बोले।

मुझे लगा कि आचार्य अब अवश्य ही भिक्षा माँगने से मना कर देंगे। मुझे यशोदा का आदेश याद आया—‘और लोगों से भिक्षा प्राप्त करने के बाद मेरे पास अवश्य आना, तुम्हारे लिए ब्रजवासियों ने बहुत सी चीजें भेजी हैं।’

मेरे सामने हर ब्रजवासी की आकृति उभरने लगी—मानो वह मुझसे पूछ रही हो, क्या तुम मेरी भिक्षा स्वीकार नहीं करोगे? मैं उनसे क्या कहता! निरीह-सा चुपचाप उन्हें देखता रहा। तब तक आचार्य की आवाज सुनाई पड़ी—“यदि आज सभी भिक्षा देने के लिए आतुर हैं तो तुम सबकी भिक्षा लो। बाद में मैं अपना निर्णय दूँगा।”

आचार्य की आज्ञा सुनते ही मैं वेदिका से नीचे उतरने के लिए लपका। मेरे पीछे भैया और उद्धव भी थे। वे लोग भिक्षा के लिए दूसरी ओर गए और मैं सीधे माँ यशोदा के पास पहुँचा। वह एक बार फिर खिल उठी।

यशोदा ने अपनी परिचारिका से एक बड़ी बंद झोली माँगवाई। उसका मुख खोला और फिर मुसकराते हुए मुझसे कहा, “तुम अपनी झोली आगे करो।”

मैंने वैसा ही किया।

सबसे पहले यशोदा ने अपनी झोली से एक आकर्षक वंशी निकाली—“यह राधा ने तुम्हें भिक्षा में दी है।” राधा की आकृति एकदम मेरे सामने आ गई। मुझे लगा कि रासलीला में मेरे अधरों पर वंशी रखनेवाली राधा आज फिर मेरे ओठों पर वंशी रख रही है।

“और यह तुम्हें विशाखा ने दी है।” इतना कहते हुए माता यशोदा ने एक मोर मुकुट मेरी झोली में डाल दिया। फिर उसने गुंजों की माला दी, जिसे ललिता ने स्वयं अपने हाथ से बनाकर भेजा था।

मेरी रुचि के अनुसार ब्रजबालाओं ने और सारी चीजें भेजी थीं। उनको इसका भान भी नहीं था कि अब मैं इस जीवन से छूटकर दूसरे जीवन में जा रहा हूँ। हर वस्तु के साथ उनका इतना लगाव और इतनी ममता थी कि मैं द्रवित होता जा रहा था। उस समय तो मैं अपने आँसुओं को सँभाल नहीं पाया, जब माँ यशोदा ने कहा, “मेघज आजकल बहुत बीमार है। वह स्वयं आना चाहता था, पर वह आ नहीं पाया। उसने अपने हाथ से बुनी काली कमली अपने कन्हैया के लिए भेजी है।”

इतना कहते हुए उसने अपने पीछे से एक बालक को बुलाया और कहा, “दे दो कमली अपने कृष्ण कन्हैया को।”

उसने कमली मुझे थमाई और मेरे पैरों पर गिर पड़ा। मैंने कभी ऐसे दाता को नहीं देखा था, जो भिखारी के चरणों पर इस प्रकार गिरा हो।

माँ ने ही बताया कि यह मेघज का सबसे छोटा पुत्र है।

मैंने उसे उठाकर सीने से लगाया और आगे बढ़ा।

मैं फिर महिलाओं की ओर चला। मैंने देखा कि मालिनी एकटक मुझे कब से निहार रही है। उसके पास पहुँचते ही वह फफककर रो पड़ी। मैं कुछ बोला नहीं; पर मेरा मौन जैसे उससे पूछ रहा हो, ‘आखिर तुम इतनी दुःखी क्यों हो रही हो?’

“जीवन-सागर की उताल तरंगों के बीच मैं श्लथ हो गई थी। डूबना चाहती थी। तुम्हारी ही कृपा से मुझे नई शक्ति मिली। मैं तैरते हुए आगे बढ़ी। जिस चट्टान का मुझे सहारा मिला, वह स्वयं मुझे छोड़कर जा रही है।” इतना कहते हुए सुगंध से भरा एक पात्र उसने मेरी झोली में डाल दिया।

मैंने अनुभव किया कि वस्तुओं से अधिक तो मेरी झोली में लोगों के आँसू हैं। ये आँसू पीड़ा के नहीं, उनकी ममता के प्रतीक हैं। और यही मेरे जीवन का संबल है।

धीरे-धीरे भिक्षा माँगने का यह क्रम समाप्त हुआ। हम लोगों ने लाकर वेदिका पर वस्तुओं के अंबार लगा दिए। अन्य ब्रह्मचारी बड़े विस्मय से देख रहे थे—जैसे उन्होंने कल्पना नहीं की थी कि भिक्षा में इतनी और इतनी तरह की वस्तुएँ मिलेंगी; पर आचार्यजी वे सब देखकर मुसकरा रहे थे। उस मुसकराहट में निर्लोभ उपेक्षा का भाव था।

“अब आप लोग इन वस्तुओं में से खाद्य पदार्थों को अलग कीजिए।” आचार्य ने अन्य ब्रह्मचारियों से कहा।

सब काम में लग भी गए। हम चुपचाप तमाशा देखते रह गए।

“तुम लोग क्यों खड़े हो? तुम लोग भी हाथ बँटाओ। काम जल्दी हो जाएगा।” उन्होंने हमें विशेष रूप से संबोधित करते हुए कहा, “आश्रम में लाई हुई भिक्षा किसी एक की नहीं होती, वह सभी शिष्यों की होती है।”

देखते-देखते ही भिक्षा में मिले सभी सामानों की छँटनी कर दी गई। फिर आचार्यजी ने मेषचर्म बिछाकर अपने अन्य शिष्यों को पंक्ति में बैठने को कहा। सामने यज्ञकुंड की अग्नि प्रज्वलित थी।

आचार्यजी ने खड़े होकर जन-समूह को संबोधित करते हुए कहा, “अत्र भवान् उग्रसेनजी, सम्मान्य अतिथियो, मथुरावासियो एवं प्रिय शिष्यो! अग्नि को साक्षी देकर आज मैं इन तीनों बालकों को अपना शिष्य स्वीकार करता हूँ और अपना यह गौरव समझता हूँ कि अपने शिष्यों के सहित मथुरा दर्शन के लिए अनाहूत चले आनेवाले इस व्यक्ति को महाराज ने इस योग्य समझा कि मैं उनके दौहित्रों का आचार्यत्व धारण कर सकूँ। मैं यह बात एक विशेष संदर्भ में कह रहा हूँ। आज युग बदल गया है। शिक्षा और शिक्षक स्वर्ण-खंडों पर खरीदे जा सकते हैं। आचार्यों को महलों में रखकर राजकुमारों के लिए शिक्षा की नई पद्धति चलाई जा सकती है। महाराज उग्रसेनजी भी वैसी व्यवस्था कर सकते हैं जैसी हस्तिनापुर में धृतराष्ट्र ने की है। कृप और द्रोण जैसे आचार्यों को आप भी अपने यहाँ बँधे हुए वेतन वृत्ति पर प्रासाद में रखकर इन कुमारों को शिक्षा दिला सकते थे, पर आपने ऐसा नहीं किया; जबकि इन कुमारों को अपने से दूर करना आपके लिए कितना कष्टप्रद है, इसे आप ही जान सकते हैं।

“स्वयं वृद्ध हैं। जीवन के गौरवशाली वर्षों को कारा की प्राचीरें निगल चुकी हैं। पुत्र स्वर्गगामी हो चुका है। जामाता जीवन से विरक्त है। राजा और प्रजा का संबंध वह नहीं रह गया है, जो रहना चाहिए। ऐसे में बलराम, कन्हैया और उद्धव जैसे वीर बाँकुरों की अतीव आवश्यकता है। फिर भी वे उन्हें आश्रम में भेज रहे हैं; क्योंकि वे जानते हैं कि आश्रम के बिना शिक्षा प्राण के बिना शरीर की तरह व्यर्थ है। सुगंध के बिना पुष्प की तरह निरर्थक है।

“सही शिक्षा आरण्यक जीवन में ही संभव है; क्योंकि उसमें भोग नहीं है, विलास नहीं है—संघर्ष है, कठिनाई है, विपत्ति और अभाव के सागर में डूबकर जीवन-मोती निकालने की क्षमता देने का सामर्थ्य है। प्रकृति की उन्मुक्त गोद में ज्ञान की ज्योति जलाई जा सकती है, वह राजभवनों के विलास में संभव नहीं। इसीलिए हमारे सारे आर्षग्रंथ आरण्यक रहे हैं और इनके रचयिता अरण्यवासी।

“दूसरी ओर हम आपका ध्यान भिक्षा में मिली वस्तुओं की ओर दिलाना चाहते हैं। इन स्वर्ण, रजत और रत्नों के आभूषणों की न तो इन ब्रह्मचारियों को आवश्यकता है और न मुझे ही।”

“हो सकता है, आचार्यपत्नी को इसकी आवश्यकता पड़े।”

मंडप में उपस्थित भीड़ में से आई यह आवाज आचार्यजी को जैसे विचलित-सी कर गई। उन्होंने चारों ओर

दृष्टि दौड़ाई, पर कहीं कोई दिखाई नहीं दिया।

फिर उन्होंने मुसकराते हुए बड़ी गंभीरता से कहा, “आपमें ऐसी शंका उठनी स्वाभाविक ही है; क्योंकि स्वर्ण की ओर नारी का आकर्षण पराग कोष की ओर भौरे के आकर्षण जैसा ही है। किंतु आपको समझना चाहिए कि आचार्यपत्नी भी आचार्य की अर्धांगिनी ही है। उसके रक्त में भी वही संस्कृति प्रवाहित है, जो मुझमें है और आश्रम की संस्कृति के मूल में अपरिग्रह है। आर्थिक दृष्टि से अपरिग्रह ही हमारे जीवन का मूल मंत्र है। इसीसे स्वर्ण की चकाचौंध हमारे पथ में नहीं आती और जब आती है तब हमारा आचार्यत्व भी द्रोण और कृप की तरह क्रीतदास हो जाता है।”

इसके बाद उन्होंने कुछ और कहा, जो मुझे ठीक याद नहीं है। अंत में उन्होंने हम तीनों को संबोधित करते हुए कहा, “देखो, भिक्षाटन के संदर्भ में एक बात मैं अपने शिष्यों को आरंभ से ही समझा देता हूँ कि वे उतनी ही भिक्षा ग्रहण करें, जितनी उन्हें आवश्यकता है। समाज का कर्तव्य है कि वह अपने ब्रह्मचारियों को अधिक-से-अधिक दे और ब्रह्मचारियों का कर्तव्य है कि वे कम-से-कम लें। यदि उन्हें कभी अधिक मिल भी जाए, जैसाकि आज मिला है, तो उनमें से आवश्यकता भर रखकर उन्हें समाज के उन लोगों में बाँट दें, जिन्हें उनकी आवश्यकता हो।”

इसी संबंध में उन्होंने ‘ईशावास्योपनिषद्’ का एक श्लोक सुनाया और कहा—“तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा—अर्थात् जीवन का भोग त्याग के साथ करो। यह मात्र मेरा उपदेश ब्रह्मचारियों को नहीं है वरन् यह उपनिषद् वाक्य आप सबके लिए भी है।”

फिर उन्होंने हम ब्रह्मचारियों से कहा, “अब आप लोग उठिए और भिक्षा में मिली इन वस्तुओं में से जो सबसे आवश्यक वस्तु आप लोगों को प्रतीत हो, उसे ले लीजिए।”

मैं तो मौके की तलाश में था। अपने मित्रों से पहले ही मैं धड़ से उठा और राधा की भेजी वंशी की ओर लपका; क्योंकि किसी भी स्थिति में मैं वंशी के बिना रह नहीं सकता था। यों मेरी वंशी तो मेरे पास थी ही, फिर भी राधा की वंशी में छोड़ नहीं सकता था। उसमें मेरे प्रति राधा का प्रेम था, उसकी अनेक मनोरम यादें थीं। फिर मैंने मेघज की भेजी हुई कमली उठाई; क्योंकि मुझे बताया गया था कि मृग और मेषचर्मों के प्रयोग के बाद मैं कंबल का प्रयोग कर सकता हूँ, वह किसी भी स्थिति में वर्जित नहीं है।

फिर मेघज की कमली केवल कंबल नहीं है। वह मेरे ग्वालबालों के साथ गायें चराने का प्रतीक है। मेरी ‘कमली’ और ‘लकुटी’ ही राजवंश को जनता से जोड़ती है।

फिर मेरी दृष्टि माता यशोदा की दी हुई रजत मंजूषा पर पड़ी। इस मंजूषा की तो मुझे आवश्यकता नहीं, पर इसमें है क्या, इसे तो देखना चाहिए। मैंने मंजूषा उठाई। उसे खोला। वह सद्यः नवनीत से भरी थी। मैं कैसे कहूँ कि उसे देखते ही मेरे मुँह में पानी भर आया। मेरी रसना में नवनीत के प्रति जन्मजात दुर्बलता थी। मैंने उसे आचार्यजी को दिखाया।

“यह तुम्हारी माँ के स्नेह का प्रतीक है।” सांदीपनि बोले, “इसे चाहो तो तुम ग्रहण कर सकते हो; पर यह तो मृत्तिकापात्र में होना चाहिए था।”

तात्पर्य स्पष्ट था। मैंने मंजूषा छोड़ दी और नवनीत अन्य ब्रह्मचारियों में बाँटकर खाने लगा। उसी वेदिका पर आपसी छीना-झपटी भी आरंभ हुई। लोग देखकर हँसने लगे।

नए जीवन के द्वार पर भी मैं एक बार पहले जैसा दिखाई पड़ने लगा।

□

मामाजी की मृत्यु की आज चौबीसवीं रात थी।

हम आचार्यजी को पूर्णरूप से समर्पित किए जा चुके थे। हमें कल प्रातः ही मथुरा छोड़ना था। उपनयन के समय भिक्षा माँगते हुए मुझे कुछ भूल हो गई थी। मैं अक्रूर चाचा की पत्नी चाची गुणवंती की ओर विशेष ध्यान न दे सका था। यही स्थिति अन्यो के संदर्भ में भी थी। अन्यो की प्रतिक्रिया तो नहीं मिली, पर गुणवंती चाची की प्रतिक्रिया उनके पुत्र उपदेव से प्राप्त हो गई थी। उसने लगभग मुझसे बोलना बंद कर दिया था।

मैं चुपचाप उस रात अक्रूर चाचा के घर गया। वहीं पर मेरे दो पिता तथा अन्य लोग भी थे। मेषचर्म लपेटे हुए मुझे ब्रह्मचारी के वेश में देखकर उन लोगों ने कहा, “अब तुम्हें घर का मोह छोड़ देना चाहिए।”

“मैं तो छोड़ ही चुका हूँ, पर घर मुझे अभी छोड़ नहीं पा रहा है।” मैं कहता हुआ सीधे चाची के पास चला गया और उनके चरणों पर गिरते हुए बोला, “क्षमा करो, माँ।”

“किस बात के लिए?” वह सचमुच चकित थी। उसीकी बगल में उपदेव खड़ा था।

“मैंने भिक्षाटन के समय तुम्हारी उपेक्षा की। तुमसे याचना नहीं की।”

“तू याचना कर चाहे न कर, मैं तो तुझे भिक्षा दे चुकी हूँ।” वह मुसकराई और मुझे छाती से लगा लिया। बोली, “मैं तेरी मनःस्थिति समझ रही थी। जब तू आगे बढ़ गया तब मैंने तेरी भिक्षा भी बलराम की झोली में डाल दी। आखिर तू इस संबंध में इतना संवेदनशील कैसे हो गया?”

अब मैंने उपदेव की ओर देखा और उपदेव ने मेरी ओर। नयनों का यह संभाषण हमारे मौन से प्रखर था।

मैंने उसके हाथ पकड़े और उससे धीरे से कहा, “आप मेरे साथ जरा चलिए।”

वह चुपचाप चल पड़ा।

“मैं छंदक से भी क्षमायाचना करना चाहता हूँ।” मैंने उससे कहा।

“पर वह मिलेगा कहाँ?” उपदेव बोला, “अदृश्य देवों की तरह अवसरों पर तो वह उपस्थित हो जाता है, पर आवश्यकता पर उसे खोज पाना बड़ा कठिन है।”

मैं सोच में पड़ गया।

“अभी संध्या समय मैंने उसे भौम और बाण से बातें करते देखा था।” उपदेव बोला।

“तब तो हो सकता है, वह उन्हींके यहाँ हो।” इतना कहते हुए मैं सीधे प्रासाद के अतिथिगृह की ओर बढ़ा। मार्ग में जिस किसीने भी मुझे उस रूप में देखा, सबका आश्चर्य प्रणति होता रहा।

मेरा अनुमान सही था। बाण के कक्ष के निकट पहुँचते-पहुँचते मुझे छंदक की आवाज सुनाई पड़ने लगी। स्पष्ट लगा कि भौम भी वहीं है।

“अब आप ही लोग मथुरा के कर्णधार हैं।” छंदक कह रहा था—“महाराज को आपका बड़ा भरोसा है। अच्छा था या बुरा, पर कंस था तो उनका पुत्र ही, वह मारा गया। अपने नातियों को भी उन्होंने आचार्य सांदीपनि को सौंप दिया।” इसके बाद छंदक ने विस्तार से वर्तमान राजनीति की चर्चा छोड़ी और कहा, “जरासंध का नाराज होना तो स्वाभाविक है, पर इधर शिशुपाल भी नहीं आया। उसकी माँ श्रुतश्रवा भी उसके न आने का कोई स्पष्ट कारण बता नहीं पाई। निश्चित ही आप लोगों की तरह वह भी कंस का मित्र था। हो सकता है, उसकी क्षुब्धता ने ही उसे रोक लिया हो।”

“क्षुब्ध तो हम लोग भी हैं।” भौम बोला।

“पर आप लोगों ने परिस्थिति का जितनी निकटता से अध्ययन किया है, शिशुपाल को वैसा अध्ययन नहीं है। अब सबकुछ तो सँभालना आपको ही है।”

परिस्थिति की अनुकूलता का अनुभव होते ही मैंने बंद द्वार को धीरे से खोला, “क्या मैं भीतर आ सकता हूँ?”

मैंने पूछा।

मेरी अप्रत्याशित उपस्थिति से वे एक बार चौंके और 'आइए-आइए' कहते हुए उन्होंने मेरा स्वागत किया। मुझे देखते ही छंदक उठकर खड़ा हो गया।

“इस प्रासाद के अतिथिगृह में ब्रह्मचारियों का क्या काम?” बाण ने व्यंग्य करते हुए कहा।

“और वह भी संध्या के बाद!” भौम हँसते हुए बोला।

“भाई, कल प्रातः ही हम लोग अपने आचार्य के साथ प्रस्थान करेंगे।”

मैं अभी-अभी अपनी बात पूरी कर ही पाया था कि भौम बोल पड़ा—“हम लोग! इसका तात्पर्य है कि उपदेव भी आप लोगों के साथ जा रहा है?”

“जी नहीं।” मैंने हँसते हुए कहा, “यह तो मात्र यहीं तक आया है।” फिर मैंने अचानक गंभीरता ओढ़ ली—“उपनयन के समय भिक्षा के लिए मैंने आपको बहुत खोजा, पर आप कहीं दिखाई नहीं पड़े।”

“महाराज ने हमें सैनिकों के साथ नगर की सुरक्षा में लगा रखा था।” बाण बोला।

“ओह, इसीलिए हम न आपसे आशीर्वाद पा सके और न भिक्षा ही।” मैंने कहा।

“पर आशीर्वाद तो आप सदैव पाते रहेंगे। रह गई भिक्षा की बात, वह देने की हममें सामर्थ्य कहाँ!” भौम बोला।

“ब्रह्मचारी को भीख और दूसरों को सीख तो हर व्यक्ति दे सकता है।” मैंने मुसकराते हुए कहा और लोग भी हँस पड़े।

फिर क्षण भर के लिए प्रसन्न शांति छा गई।

“आप भिक्षा में एक वचन दे सकते हैं!” मैंने कहा।

“क्या?”

“नानाजी की सुरक्षा का वचन।”

“वह तो मैं तुम्हारे नानाजी को ही दे चुका हूँ।”

“तब समझिए, मुझे भी मिल गया।” इतना कहते हुए मैं लौट पड़ा और छंदक को संकेत से अपने साथ चलने को कहा। कुछ दूर आगे जाकर मैंने पीछे की ओर देखा। अँधेरा अब घना हो चला था। उस अँधेरे में एक बढ़ता हुआ धब्बा अब मेरे पीछे चला आ रहा था।

“आपसे भी कल मुझे भिक्षा नहीं मिली।” मैंने छंदक से कहा।

“अच्छा ही हुआ।” छंदक हँसा—“यदि आप मेरे पास आते तो मैं आपकी झोली में चिनगारियाँ ही डालता—और मेरी डाली हुई चिनगारियाँ एक ब्रह्मचारी के लिए विष ही होतीं।”

“क्या अब भी आपके पास चिनगारियाँ बच गई हैं?” मैंने उसके साथ चलते हुए ही पूछा, “आपने इतनी चिनगारियाँ बोई और उसकी फसल भी उगी। उसमें जिसे भस्म होना था, वह भस्म भी हो गया। फिर भी अभी आपने चिनगारियाँ सँजो रखी हैं।”

“अभी इनकी बड़ी आवश्यकता है, कन्हैया!” वह बड़े रहस्यमय ढंग से मुसकराया।

□

रात्रि का प्रथम प्रहर बीत चुका था। आचार्यजी संध्या-पूजन कर मृगछाला पर पड़ते ही सो गए थे। प्रासाद के अतिथिकक्ष के बाहर साँय-साँय हवा बह रही थी। सारी सुख-सुविधा होते हुए भी आचार्यजी ने हम लोगों को मृगछाला पर लेटने का आदेश दिया था।

जीवन की कठोरता की इतनी निकट से प्रथम अनुभूति थी। मैं जीवन में पहली बार मृगछाला पर सो रहा था। मुझे

नींद नहीं आ रही थी। मैं समझता हूँ, उद्धव और बलराम भैया की भी यही स्थिति थी; पर वे आँखें बंद किए पड़े थे। दूर लेटे हुए आचार्य की नाक बोल रही थी।

“यदि तुम्हें नींद नहीं आ रही है तो तुम मृगछाला पर अपना पीतांबर बिछा लो।” अनुविंद ने कहा।

मैंने देखा, वह अपनी मृगछाला पर रेशमी वस्त्र बिछा रहा था।

“इससे आचार्य की आज्ञा का उल्लंघन होगा तो?” मैं बोला।

“कौन देखने आता है कि उल्लंघन हुआ है या नहीं!” अनुविंद ने कहा, “ब्राह्म मुहूर्त के पहले ही आचार्य के उठने के पूर्व मैं इसे हटा दूँगा। तुम भी ऐसा ही करना। कम-से-कम एक नींद तो ले लोगे।”

पर मैंने ऐसा नहीं किया। शरीर ढीला करके मैं शवासन में हो गया। अनुविंद को कुछ बुरा लगा। उसने अनुभव किया कि मैंने उसकी अवहेलना की।

“तुम्हें नींद आ सकती है। चेष्टा करो। जीवन भर तो ग्वालों के साथ रहे। मेरी तरह राजभवन में रहे होते तो कभी न सो पाते।”

“पर मैं आचार्य की आज्ञा का उल्लंघन नहीं कर सकता।” मैंने कहा।

“यह कहो कि तुम्हारे राजसी संस्कार नहीं हैं।” इस बार अनुविंद का अहं बोला था—“अन्यथा इस समय कौन देख रहा है कि आचार्य की आज्ञा का उल्लंघन कर रहे हो या नहीं!”

“चाहे कोई देखे या न देखे, मैं स्वयं देख रहा हूँ।” मैंने कहा।

अनुविंद ने एक जलती हुई दृष्टि मेरी ओर डाली। उस अंधकार में भी मुझे उसकी दृष्टि की चुभन का अनुभव हुआ। फिर वह मुँह फेरकर सो गया।

कुछ देर बाद मुझे नींद आ गई। विचित्र सपनों ने आ घेरा। मैंने देखा, कर्मा मालिनी को लेकर मेरे पास आया है।

‘यह कब से रो रही है! इसकी आँखें थमना जानती ही नहीं। अब तुम्हीं बताओ, मैं क्या करूँ?’

मैं चुपचाप मालिनी को देख रहा हूँ। उसकी आँखों से यमुना बह रही है—‘राधा की तो वंशी तुम लेते जा रहे हो। अब मेरा क्या रह गया है तुम्हारे पास?’

‘तुम्हारी याद।’ मेरे मुँह से निकल पड़ा—‘वह कभी मुझसे अलग नहीं हो सकती।’

‘नहीं-नहीं, कभी मत करना।’ मालिनी की वर्जना बड़ी तीखी थी—‘मैं नहीं चाहती कि मेरे कारण तुम्हारे ब्रह्मचर्य में किसी प्रकार की बाधा पड़े।’

‘तब तुम यहाँ क्यों चली आई?’

‘केवल तुमसे यह कहने कि तुमने अपना पिछला जीवन तो छोड़ दिया है, पर राधा को नहीं छोड़ सके।’

‘यह तुम कैसे कह सकती हो?’

‘क्योंकि तुम भिक्षा में भेजी उसकी वंशी को नहीं छोड़ सके। तुमने उसे सबसे पहले उठाया।’

‘यह मेरा वंशी के प्रति लगाव था, राधा के प्रति नहीं; क्योंकि वंशी मेरे जीवन में राधा के आने के बहुत पहले आ चुकी थी। फिर भी मैंने ऐसा आचार्य की अनुमति लेकर किया था।’

मालिनी कुछ समय तक चुप रही। लगा जैसे वह अपना संतुलन खो रही हो; क्योंकि उसने जो कुछ कहा, उसका कोई पूर्वापर संबंध नहीं था। वह बोली, ‘क्या तुम मेरे प्रति अनुमति नहीं ले सकते?’

‘कुछ करो, कन्हैया।’ यह आवाज कर्मा की थी।

‘तुम्हारे लिए तो अनुमति मैं स्वयं दे सकता हूँ।’ अब मैं बोला।

उसकी मुद्रा प्रश्नवाची हो गई।

‘तुम अब अंगारक की प्रार्थना स्वीकार कर लो।’ मैंने कहा।

‘उसकी प्रार्थना या अत्याचार?’

‘उसका अत्याचार इसलिए है कि उसकी प्रार्थना व्यर्थ जा रही थी।’ इसी समय मुझे लगा कि कर्मा के पीछे से प्रभास चला आ रहा है। उसे देखते ही मैं मालिनी से बोल पड़ा—‘मैं अपनी अमानत तुम्हारे पास छोड़े जा रहा हूँ। इसे तुम मेरा ही प्रतिरूप समझना।’

अचानक मेरी आँखें खुलीं। कहीं कोई कुछ नहीं था। लगता है, मैं अच्छी तरह सोया भी नहीं था। मेरा अवचेतन ही यह सबकुछ कर रहा था। बात यह थी कि मैं एक ऐसे संसार को छोड़ रहा था, जिससे मेरा बड़ा लगाव था—और जिसको न छोड़ने की न तो मैंने कभी कल्पना की थी और न मेरी मानसिकता ही बनी थी। परिस्थिति ने या नियति ने मुझे भरे-पूरे राजसी परिवार से निकालकर जंगल में फेंक दिया था।

हममें से सबसे पहले आचार्यजी की नींद खुली। उन्होंने धरती की वंदना की—

समुद्र वसने देवि पर्वतस्तन मंडले

विष्णुपत्ति नमस्तुभ्यं पादस्पर्श क्षमस्व मे।

और फिर अपने चरण भू पर रखे। मैं सबकुछ देख रहा था। क्योंकि मुझे सचमुच नींद नहीं आई थी—और यदि आई भी रही होगी तो वह श्वाननिद्रा से अधिक नहीं रही होगी।

इसके बाद आचार्यजी हर शिष्य पर दृष्टि डालते हुए उसकी ओर से गुजरे। निकट आते ही मैंने उठकर उनके चरण छुए। उन्होंने आशीर्वाद देते हुए कहा, “लगता है, आज तुम्हें नींद नहीं आई।”

“जी हाँ, स्थान बदलने का कुछ तो प्रभाव पड़ेगा ही।”

“तुमने स्थान बदला है या जीवन?” इतना कहने के बाद आचार्यजी ने मेरी बगल में सो रहे अनुविंद की ओर संकेत करते हुए कहा, “देखो, यह स्थान बदलने के बाद भी जीवन नहीं बदल सका। मृगचर्म पर इसे रेशमी वस्त्र बिछाने की आवश्यकता पड़ी। यदि यहाँ भी यह आवश्यकता बनी है तो इसे इस जीवन से क्या लाभ! इसे तो राजभवन में ही रहना चाहिए।” इसके बाद उन्होंने पूछा, “विंद कहाँ है?”

उन्हींके साथ मैंने भी चारों ओर दृष्टि दौड़ाई। वह कहीं दिखाई नहीं दिया।

“लगता है, वह कहीं और सो रहा है।” आचार्यजी ने कहा।

मेरी और आचार्यजी की बातचीत में शायद अनुविंद की आँखें खुल गईं। वह हड़बड़ाकर एकदम उठ बैठा। उसने आचार्य के चरण छुए और फिर मृगछाला पर बिछाए गए रेशमी वस्त्र को उठाकर लपेटने लगा।

“यह क्या कर रहे हो?” आचार्य ने पूछा।

वह क्या उत्तर देता। एक अपराधी की तरह आचार्य की ओर क्षमायाचना की दृष्टि से देखता रहा।

“तुम इतने घबराए हुए क्यों हो?” आचार्य ने पुनः उससे कहा, “सत्य कहते क्यों नहीं कि मृगचर्म तुम्हें गड़ रहा था!”

वह अब भी चुप था।

“क्यों, बात यही है न?” आचार्य पुनः बोले।

इस बार उसने स्वीकृति में सिर हिलाया।

“तब तुम इसे क्यों हटा रहे हो? जब मृगचर्म तुम्हें गड़ रहा है तब उसे बिछा रहने दो। प्रश्न तन से हटाने का नहीं है, प्रश्न मन से हटाने का है। जिस क्षण तुम इसे मन से हटा दोगे, इसका गड़ना बंद हो जाएगा।”

अनुविंद अब भी चुप था। उसने भी चारों ओर दृष्टि दौड़ाई। पर विंद उसे भी कहीं दिखाई नहीं दिया।

“यदि उसे कहीं जाना था तो नियमानुसार मुझसे अनुमति लेनी चाहिए थी।”

फिर उनकी गंभीर मुद्रा से ऐसा लगा जैसे वे आश्रम के ध्वस्त होते अनुशासन से खिन्न हों।

“पर विंद तो कभी ऐसा था नहीं। ऐसा न हो कि कहीं कोई बात हो गई हो।” आशंकित चित्त की व्यग्रता उनके चिंतनशील व्यक्तित्व पर उभर आई।

इसके बाद उन्होंने शंख से विशेष ध्वनि की। ऐसी ध्वनि विद्यार्थियों से उठने और नित्यकर्म से मुक्त होने का आदेश होती थी।

इसके बाद आरंभ होती थी सामदेव की प्रार्थना। जिसकी अगुआई सुदामा का मृदु एवं सुसंस्कृत स्वर करता था। आचार्य की आज्ञा हुई और सुदामा ने गायन आरंभ किया। प्रत्येक ऋचा का वह सस्वर पाठ करता था। उसका अभ्यास इतनी उच्च कोटि का था जैसे वह हजारों बार की दुहराई हुई प्रार्थना को स्वयं दुहरा रहा हो।

“यदि आप अनुमति दें तो इस प्रार्थना के स्वर में मैं अपनी वंशी का स्वर भी मिलाऊँ?” मैंने आचार्य के निकट जाकर अनुमति माँगी।

“तो क्या तुम इन ऋचाओं को सामवेद के स्वीकृत स्वर-संधान के साथ अपनी वंशी से निकाल सकते हो?” उन्हें क्या मालूम था कि श्रुतिकेतु जैसे आचार्य ने मुझे इस विद्या में पारंगत किया है।

मैंने केवल मुसकराते हुए उनके कथन की स्वीकृति में सिर हिलाया और मुझे अनुमति मिल गई।

अब सुदामा के कंठ के साथ मेरी वंशी के सुर भी लगे। अद्भुत स्वर संगम हुआ। सब मंत्रमुग्ध हो गए। सबकी तन्मयता विचित्र थी। उनमें से किसीने भी कभी ऐसी स्थिति की कल्पना नहीं की थी।

मैं बड़ी तल्लीनता से बजा रहा था। वंशी के सुर में मैं था और मेरे रग-रग में उस सुर की मूर्च्छना। ज्यों ही सुदामा का गायन बंद हुआ, मेरा भी वादन रुका और हमपर भी पड़ा सुर का तन्वा अचानक अदृश्य हो गया। हम स्वर्ग से धरती पर चले आए।

आचार्यजी ने मेरे वादन की बड़ी प्रशंसा की।

“तुमने सामवेद की ऋचाओं का संगीत स्वतः तो सीखा न होगा!” वे बोल पड़े।

अब मैंने श्रुतिकेतु की चर्चा की—“मुझमें वंशीवादन की प्रकृति तो स्वाभाविक थी, किंतु उसमें शास्त्रीयता तो आचार्य ने ही प्रदान की।”

वे श्रुतिकेतु का नाम सुनते ही स्तब्ध रह गए।

“तुम्हें उन्होंने शिक्षा दी!” आचार्य का आश्चर्य मुखरित हुआ—“अद्भुत हैं वे! उनका तो विश्वास था कि अब संगीत शिक्षा की पात्रता ही इस देश में नहीं रही। उन्होंने तुम्हें स्वीकार किया, तुम्हारा सौभाग्य है, कन्हैया। या उनका सौभाग्य है कि तुम उन्हें मिले अथवा सामगान का सौभाग्य है कि उसे पात्रता मिली। मैंने सुना है कि शिक्षा की पात्रता के अभाव में उन्होंने अपना आश्रम तोड़ दिया। उन्होंने स्पष्ट कहा कि अब समाज से सामगान की ग्राह्यता जाती रही। इसके लिए उपयुक्त शिष्य नहीं मिलते। यह विद्या लुप्त होने की ओर अग्रसर है। जिसकी इस वितृष्णा ने आश्रम जीवन को छोड़कर संन्यास ग्रहण कर लिया। उस आचार्य ने तुम्हें शिक्षा दी, तुम धन्य हो, कन्हैया!”

“पर सुदामा का गायन भी कुछ कम महत्त्व का नहीं है।” मैंने कुछ संकोच का अनुभव करते हुए कहा।

“सुदामा के गायन और तुम्हारे वादन में साधना के स्तर पर बड़ा अंतर है। यद्यपि दोनों संगीत एक ही परंपरा के हैं। तुमने गुरु से दीक्षित होकर व्यवस्थित रूप से उसकी शिक्षा ग्रहण की है। सुदामा ने उसे केवल अनुकरण से सीखा है। अनुकरण की विद्या साधना की विद्या के बहुत पीछे होती है—और साथ ही अपूर्ण भी।” इसी क्रम में

आचार्यजी ने संक्षेप में बताया—“पूर्ण शिक्षा इन चार उपक्रमों से गुजरती है—दीक्षा, संग्रह, सिद्धि और प्रयोग। पात्रता की पूरी परीक्षा लेने के बाद गुरु शिष्य को प्रथम दीक्षा देता है। दीक्षा आश्रम प्रवेश का मुख्य द्वार है। इसके बाद संग्रह का क्रम आरंभ होता है। इस क्रम में पाठ्यक्रमों की आवृत्ति कराई जाती है। शिक्षा का यह अंश अनुकरणप्रधान होता है। पूर्व जानकारीयों का ग्रहण ही संग्रह का मुख्य उद्देश्य है। फिर संग्रह की हुई शिक्षा में शिक्षार्थी अभ्यास से सिद्धि प्राप्त करता है। यह सिद्धि साधनामूलक होती है और साधना की गहनता के आधार पर सिद्धि की सफलता निर्भर करती है।...और फिर, प्रयोग शिक्षा का अंतिम पाद है। प्रयोग तपस्यामूलक है। अब तक की सिद्धि को ब्रह्मचारी अपने अनुभव और तपस्या के द्वारा प्रयोग करके पाई हुई शिक्षा को अपनी ओर से कुछ और देता है। सिद्धि और प्रयोग की अवस्था शोधमूलक है; जबकि संग्रह मात्र अनुकरणमूलक। यह ज्ञान के उत्कर्ष की ओर इंगित करती है; जबकि सिद्धि और प्रयोग निष्कर्ष की ओर।”

इतना कहने के बाद आचार्य सांदीपनि ने सुदामा की ओर मुसकराते हुए देखा और बोले, “बेचारे को तो सामवेद की दीक्षा भी नहीं मिली। संग्रह तक तो पहुँचना दूर रहा। इसने तो सामगान का मात्र धूम ग्रहण किया है। इसके पास व्यवस्थित कुछ नहीं है।...और यह कुछ ही ऋचाओं के स्वर-संधान को जानता है। तुम्हारे वादन से तो ऐसा लगता है कि सामवेद का कहीं से भी गायन किया जाए, तुम संगत करने में पारंगत हो।”

यह चर्चा गंभीर होते हुए भी अधिक देर तक नहीं चली। ब्राह्म मुहूर्त के अग्निहोत्र के लिए हम सभी चल पड़े। तब तक विंद आता हुआ दिखाई दिया। आचार्य ने तुरंत उसे अपने पास बुलाया।

“रात्रि को तुम कहाँ थे? तुम्हारी अनुपस्थिति का कारण तुम्हारा भाई बता नहीं सका।” आचार्य की वाणी में इतनी रुक्षता थी कि विंद पहले तो सकते में आ गया। उसे क्या पता था कि मेरे ही पिता के अनुदान से चलनेवाले आश्रम के आचार्य का स्वर मेरे प्रति कभी इतना तीखा हो सकता है।

“मेरे भाई को मालूम नहीं था।” विंद बोला।

उसकी ध्वनि में अब भी अहं की तिक्तता थी। उसके व्यक्तित्व में भी उस युग के राजकुमारों की सामान्य कमजोरियाँ स्पष्ट दिखाई पड़ीं।

“आश्चर्य है, तुम्हारे जाने का आभास तुम्हारे भाई को भी नहीं लगा।”

“वह सो गया था।”

“और मैं भी सो गया था?”

“जी हाँ।”

“फिर तुम क्यों गए यहाँ से?”

इस प्रश्न के उत्तर में विंद ने ऐसे घूरकर आचार्य को देखा जैसे वह कहना चाह रहा हो कि इससे आपसे मतलब? फिर भी उसने अपने पर काफी नियंत्रण किया। बोला, “महाराज भीष्मक के पुत्र रुक्मी ने चर भेजकर बुलाया था।”

“आश्चर्य था कि तुम चर की प्रतीक्षा में जागते रह गए थे।”

इस बार फिर विंद चुप रह गया।

“और यदि चर आया ही था तो तुम्हें मेरी अनुमति के बिना जाना नहीं चाहिए था।”

“पर आप सो रहे थे। मैं आपके पास आया था। मैंने देखा, आपकी नाक बोल रही थी, तब मैं चुपचाप चला गया। सोचा, कोई आवश्यक बात होगी। सुनकर चला आऊँगा। पर उन्होंने कहा, आखिर वहाँ जाकर सोना ही है, तो यहीं सो जाओ।”

“और तुम सो गए!” आचार्य की आवाज अब भी रुक्ष थी—“इतना अच्छी तरह समझ लो, विंद, कि आश्रम की परिधि में राजाज्ञाओं का प्रवेश नहीं होता। वहाँ केवल एक ही आदेश चलता है, वह भी केवल आचार्य का।”

“पर यहाँ आश्रम है कहाँ?” विंद ने विवाद आरंभ किया।

आचार्य से विवाद! अन्य शिष्यों ने दाँतों तले अँगुली दबाई।

“यहाँ तो हम महाराज उग्रसेन के अतिथि हैं।” विंद पुनः बोला।

“अतिथि होने से क्या हुआ? हो तो अपने आचार्य के अनुशासन में। जहाँ आचार्य का अनुशासन है वहीं आश्रम है। आश्रम के लिए आरण्यक वातावरण तो उसका बाह्य परिवेश है, उसकी आत्मा नहीं।” इतना कहकर वे एकदम आगे बढ़ गए। उनके वेग में आक्रोश की झलक थी। फिर वे अचानक रुककर विंद को संबोधित करते हुए बोले, “देखो, अनुशासन के संबंध में मुझे किसी प्रकार का विवाद प्रिय नहीं।”

□

हम सब अग्निहोत्र से निवृत्त हो चुके थे। महाराज की ओर से हमारे लिए तरह-तरह के पकवान जलपान के लिए आए; पर आचार्य का आदेश था कि दूध, दही, नवनीत और फलों के अतिरिक्त हम कुछ न ग्रहण करें।

इस संदर्भ में उन्होंने स्पष्ट कहा, “राजसी भोजन करके विद्यार्जन नहीं किया जा सकता; क्योंकि तुम जैसा भोजन करोगे, तुम्हारी बुद्धि वैसी ही बनेगी। ब्रह्मचारी को तो सात्त्विक भोजन ही करना चाहिए।”

अन्य शिष्यों की तरह हमने भी आचार्य की आज्ञा का शुद्ध मन से पालन किया। पर जैसे सद्यः गरम-गरम पकवानों को देखकर विंद और अनुविंद के मुँह में पानी भर आना स्वाभाविक था। इतने दिनों तक आश्रमी जीवन जीने के लिए बाध्य होने पर भी उनकी राजसी रुचि गई नहीं थी। जाती कैसे? इस जीवन को उन्होंने ग्रहण तो नहीं किया था। यह तो उनपर बोझ की तरह से लद गया था।

“आखिर तुम ठहरे ग्वाले ही न!” मुझे मुक्तभाव से नवनीत ग्रहण करते देखकर विंद ने अपना पुराना व्यंग्य बाण पुनः मारा।

“वह भी वृंदावन के जंगलों के निवासी!” यह व्यंग्य अनुविंद का था।

मैं तो सुनकर चुप रह गया; पर मैंने देखा कि भैया का चेहरा लाल होने लगा है। वे स्वभावतः बड़ी जल्दी आवेश में आ जाते थे। मैंने उन्हें इस समय शांत करना ही उचित समझा। उनके पास जाकर मैं धीरे से बोला, “आप इनकी बातों पर ध्यान मत दीजिएगा, ये अपने राजसी अहं में डूबे हैं।”

“पर मुझे व्यंग्य सुनने का अभ्यास नहीं है।” भैया की आवाज कुछ तेज हुई।

निश्चित ही वह विंद के कानों से टकराई और वह बोल पड़ा—“पर मुझे तो व्यंग्य करने का अच्छा अभ्यास है।”

“आप अवश्य व्यंग्य कीजिए।” मैंने बड़े सहजभाव से मुसकराते हुए कहा, “यदि हममें व्यंग्य सुनने का अभ्यास न भी हो, तो भी हम यहाँ डाल लेंगे।”

मेरे इतना कहने का प्रभाव निश्चित ही उन दोनों पर पड़ा। वे चुपचाप एक-दूसरे का मुँह देखने लगे।

“उन पकवानों को देखकर तुम्हें खाने की इच्छा नहीं होती?” विंद बोला।

“जब हम पकवान का स्वाद ही नहीं जानते तब इच्छा कहाँ से होगी?” भैया अचानक बोल पड़े—“हम तो ठहरे जंगली ग्वाले!” यह उन्हींका बाण उन्हीं पर मारा गया था। तिलमिलाहट भी हुई होगी; पर वे मौन रह गए।

किंतु एक बड़ी विचित्र बात हुई। लगता है, पकवान को लेकर हमारे बीच उठे विवाद का आभास आचार्य को लग गया। उन्होंने तुरंत विंद और अनुविंद को संबोधित करते हुए कहा, “तुम दोनों भाई मेरी पूर्व आज्ञा से मुक्त हो, तुम पकवान आदि कुछ भी ग्रहण कर सकते हो।”

आचार्य के इस कथन पर सभी चकित रह गए। एक ही परिस्थिति में अपने शिष्यों के लिए दो तरह की आज्ञाएँ कैसी? पर किसीने यह प्रश्न उठाया नहीं। यह शंका हमारी आकृतियों पर लिख अवश्य गई।

“हमारा कार्य आपकी इच्छाओं का दमन करना नहीं है।” आचार्य ने कुछ ऊँचे स्वर में कहा, क्योंकि वे हम सबसे कह रहे थे—“वरन् उसका परिष्कार करना है, उसका मार्जन करना है। दमन करने से इच्छाएँ द्विगुणित वेग से उभरती हैं। इसलिए अच्छा है कि उनकी प्रखरता को निकल जाने दिया जाए।”

उन्होंने पुनः उन राजकुमारों को संबोधित करते हुए कहा, “यदि आपकी इच्छा पकवान ग्रहण करने की है तो आप करें।”

पर उन्होंने पकवान ग्रहण नहीं किया। सत्य तो यह है कि हममें से कोई उधर गया ही नहीं।

इस घटना से आरंभ में ही हमें पता चल गया कि राजकुमारों से आचार्य के संबंध अच्छे नहीं हैं। दोनों ओर से अहं का टकराव है। ऐसी स्थिति में ब्रह्मचारी का अपने आचार्य के प्रति समर्पण कैसे संभव है?...और बिना इस समर्पण के शिष्यत्व कैसा?

विंद का संबंध रुक्मी से होने से मुझसे अधिक भैया चिंतित थे। उनका सोचना था कि हम अब तक का सारा तनाव छोड़कर तो इस जीवन में प्रविष्ट हुए; पर इस दुष्ट विंद के माध्यम से यहाँ भी उस तनाव का अंकुर लगा दिया गया।

निश्चित था, विंद और अनुविंद से हम लोगों की पटनेवाली नहीं थी; पर संतोष इतना ही था कि उन दोनों की आचार्य से भी नहीं पटती थी।

एक घड़ी दिन चढ़ते-चढ़ते हमारे प्रस्थान का मुहूर्त था। हम लोग मथुरा से चल पड़े। महाराज के साथ पूरा अमात्य मंडल हमें यमुनातट तक पहुँचाने आया। अक्रूर चाचा, उनका परिवार, मेरे माता-पिता, ब्रज से आए लोग—सभी हमारे साथ चले। ज्यों-ज्यों समाचार फैलता गया, लोगों की भीड़ बढ़ती गई। यहाँ तक कि यमुना के किनारे आते-आते पूरा जन-समुद्र उमड़ पड़ा। मुझे ठीक याद है, इतनी भीड़ तो मामाजी की अंत्येष्टि में भी नहीं हुई थी।

रुक्मी था, बाण था, भौम था; अन्य ऐसे लोग भी थे, जो मेरे पक्ष में नहीं थे। पर रनिवास की कुछ ही दासियाँ दिखाई दे रही थीं। मेरी दृष्टि उधर ही थी और मैं अपनी मामियों को खोज रहा था। उनका कहीं पता नहीं था। शायद वे आई भी नहीं थीं। तब उनकी दासियों के आने की बात सोचना ही व्यर्थ था।

लोग मेरा चरण छूना चाहते थे, पर मैं उनके लिए सुलभ नहीं था। मैं आचार्य के अन्य शिष्यों के मध्य चला गया था। लोगों का अभिवादन वहीं से हाथ हिलाकर स्वीकार कर रहा था। केवल मेरे निकट संबंधी मुझ तक चले आए थे। देवकी, वसुदेव, यशोदा, नंद और नाना उग्रसेन आदि सभी ने मेरा सिर सँघकर बिदाई दी। सैनिकों की घेराबंदी के बावजूद कुछ लोग दौड़कर मुझ तक आ गए थे। उनमें मालिनी और कर्मा भी थे।

निकट आते ही मालिनी ने छिपाकर लाई गंधों से भरी एक छोटी से संपुटिका निकाली और मेरी ओर बढ़ाई। अब इसे लेकर मैं क्या करूँगा? इच्छा होते हुए भी मैं उसे स्वीकार कर नहीं सका। मैंने आचार्य की ओर संकेत किया। वह सहमते हुए उनकी ओर गई और संपुटिका को धीरे से आचार्य की ओर बढ़ा दिया।

“यह क्या है?” आचार्य ने पूछा।

“मेरी ओर से एक तुच्छ भेंट।” वह बोली और फिर कर्मा ने अनवरत बोलकर सारा संदर्भ समझाते हुए उस भेंट का रहस्योद्घाटन किया।

“अच्छा, तो तुम इसे कन्हैया को देने के लिए लाई हो। जाओ, उसे दे दो।” आचार्यजी ने कहा।

अब वह क्रॉच शिशु की तरह फुदकती हुई मुझ तक आई और मुझे थमाकर उड़ गई।

हमने नावों पर सवार हो मथुरा को छोड़ा। हमारे जय-जयकार आकाश में गूँजते रहे। पालों का पंख खोलकर नावें लहरों पर उड़ चलीं। हम एक जीवन छोड़ रहे थे, दूसरे में प्रवेश कर रहे थे। फिर भी मैंने अनुभव किया कि छोड़नेवाले जीवन की गंध तो अब भी हमारे पास सुरक्षित है।



दस

कुछ दूर आगे जाने पर आचार्यजी ने नावें छोड़ दीं। अब हमें पैदल ही यात्रा आरंभ करनी थी। इसके लिए आचार्यजी ने पाँच-पाँच ब्रह्मचारियों की टोलियाँ बना दीं। तीन तो हम थे ही, हमने अपनी टोली में सुदामा और मारुति को भी मिला लिया। इस कार्य में हमने बड़ी शीघ्रता दिखाई। आचार्य ने इसके लिए मुसकराते हुए हमें अनुमति भी दे दी।

हम नगरीय वातावरण से एकदम दूर थे। मार्ग में छोटे-छोटे ग्राम अवश्य पड़ते थे। हम मध्याह्न और रात्रि बहुधा ऐसे ग्रामों में ही बिताते थे। ग्रामवासी अपनी श्रद्धा और सामर्थ्य के अनुसार हमारी आवभगत करते थे।

राजपरिवारों में भले ही इस युग में आचार्यों का सम्मान स्खलित हुआ हो, पर जनता में अब भी उनका सम्मान था। हमारे आचार्य जिस ग्राम से निकल जाते थे, उनकी पदरज लेने के लिए पूरा गाँव जैसे लालायित हो उठता था। लोग यथाशक्ति हमारे ठहरने और भोजन की व्यवस्था करते थे। ग्रामों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र—चारों वर्णों के लोग मिलते थे। पर हममें एक ही वर्ण था—और वह था ब्रह्मचर्य। यों भी उस युग में वैश्य और शूद्र का आश्रम में प्रवेश वर्जित था। पर हम भिक्षा सबसे लेते थे, क्योंकि हमारी शिक्षा राजाश्रित नहीं थी वरन् समाजाश्रित थी। और आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि समाज हमें देने में गौरव का अनुभव करता था।

इस संबंध में मार्ग की एक घटना का वर्णन पर्याप्त होगा।

बहुधा हम किसी नदी के किनारे के गाँव में ही रात बिताने के लिए ठहरते थे। जल की सुविधा हमारी प्रथम वरीयता थी। ब्राह्म मुहूर्त से ही हमारी दिनचर्या आरंभ हो जाती थी। जैसाकि आप जानते हैं कि हमारा दिन सामगान से ही आरंभ होता और उसके मुख्य दो पात्र होते—मैं और सुदामा। हमारी वंशी की धुन की मोहकता आसपास के गाँवों पर विचित्र प्रभाव करती। लोग सुर में बँधे हुए चले आते। ऐसा ही एक वनवासी कोलकुमार भी चला आया। वह मंत्रमुग्ध-सा हमें देखता रहा।

जब गायन बंद हुआ, वह हमारे पास आया। उसकी भाषा हमारी समझ के परे थी। फिर भी मैंने उसके कुछ संकेतों से और कुछ भंगिमाओं से यह समझ लिया कि यह मेरे वंशीवादन के संबंध में कह रहा है। शायद उसका आशय था कि आप मुझे वंशी बजाना सिखा देंगे?

मैंने मुसकराते हुए आचार्य की ओर संकेत किया।

वह दौड़ा हुआ उनके पास गया और आचार्य के चरणों पर गिर पड़ा। आचार्य ने समझा कि यह आश्रम में प्रवेश का इच्छुक है। उन्होंने स्पष्ट कहा, “आश्रम का जीवन तुम्हारे जैसे वनवासियों के लिए वर्जित है।”

वह कुछ समझ नहीं पाया। तब मारुति ने उसका आशय आचार्य से स्पष्ट किया कि यह कन्हैया से वंशीवादन सीखना चाहता है।

“यदि ऐसा है तो तुम कन्हैया के पास जाओ। वही तुम्हारा गुरु होगा। पर जानते हो, विद्या की याचना करने के लिए गुरु के पास खाली हाथ नहीं जाना चाहिए।”

इतना सुनना था कि वह कोलकुमार वहाँ से एकदम भाग खड़ा हुआ।

हम लोगों ने इसके बाद यज्ञहोत्र किए और फिर हमें भिक्षा माँगकर लाने का आदेश हुआ। हम अपनी-अपनी टोली में भिक्षाटन के लिए निकल पड़े। कुछ दूर निकल जाने के बाद हमारी टोली राजपथ की ओर बढ़ गई। हमें दूर से ही धूल उड़ती दिखाई दी। निश्चित ही कोई रथ बड़ी तेजी से दौड़ता हुआ चला आ रहा है। हम मार्ग के किनारे

खड़े हो गए।

अरे, यह रुक्मी का रथ था। इसपर रुक्मिणी बैठी थी। लगता है, वह अचानक हमें पहचान न पाई। इसका भी कारण था। कहाँ उसकी दृष्टि में मेरे घुँघराले बाल छाए रहे होंगे, कहाँ अब मुंडित शीश। कहाँ पीतांबर और कहाँ अब वल्कल वसन तथा काँधे पर कंबल। एक दृष्टि में पहचानना तो कठिन था ही।

फिर भी रथ कुछ आगे जाकर रुक गया। हम लोग अपनी सहज चाल से चले जा रहे थे। रथ लौटता हुआ दिखाई दिया। लगता है, लोगों ने हमें बाद में पहचाना।

बात ऐसी नहीं थी। किसी भिक्षार्थी ब्रह्मचारी को देखकर उसे कुछ दिए बिना आगे बढ़ जाना सामाजिक अपराध था। इसी अपराधबोध ने रथ को लौटाने के लिए विवश किया था।

रथ हमारे सामने आकर रुक गया।

“आप लोग भिक्षाटन के लिए शायद निकले हैं?” रुक्मी अब भी हमें पहचान नहीं रहा था।

“जी हाँ।” मैंने संक्षिप्त सा उत्तर दिया और फिर चिर परिचित मुसकराहट मेरे अधरों से छूट चली। शायद अब उसकी दृष्टि ने मुझे टटोलना शुरू किया और मेरी कमर में बँधी वंशी से वह टकरा भी गई।

“तो तुम कन्हैया हो!” वह अचानक बोल उठा और मुझे हँसी आ गई। अब मेरी खिलखिलाहट रुक्मिणी से भी टकराई। वह एकदम रथ से कूद पड़ी।

“अरे, कन्हैया, तुम! यदि हँसे न होते तो शायद मैं तुम्हें पहचान न पाती। तुम्हारा तो वेश ही बदल गया है।”

“वेश ही नहीं, जीवन भी बदल गया है।” सुदामा बोला।

“जीवन बदलने के बाद भी हँसी नहीं बदली।” रुक्मिणी बोली, “मनुष्य कितना ही बदल जाए, पर उसका रोदन नहीं बदलता, उसकी हँसी नहीं बदलती, उसकी प्रकृति नहीं बदलती। यही उसके जीवन की अपरिवर्तित शाश्वत श्रृंखला है, जो उसके अतीत से भविष्य को जोड़ती है।”

“तुमने जितनी बदलनेवाली वस्तुएँ गिनाई हैं, उनमें मेरी वंशी भी एक है।” इतना कहकर मैंने बगल से वंशी निकाली और उसे मुसकराते हुए अधरों तक ले गया।

“तुम्हारी हँसी सुनने के बाद मेरी दृष्टि ने जब तुम्हें टटोला, तब तुम्हारी इस वंशी ने ही तुम्हारे व्यक्तित्व को सत्यापित किया।”

“मैं समझता हूँ कि वंशी मेरा पर्याय हो चुकी है।”

“वह भी राधा की दी गई वंशी!” रुक्मिणी बोली और मुसकराई। बड़ी कुटिलता थी उस मुसकराहट में।

इसके बाद उसने अपनी छोटी सी झोली से निकालकर कुछ स्वर्णमुद्राएँ मेरे कमंडलु में डाल दीं। मेरी दृष्टि उधर जानी स्वाभाविक थी।

“क्या देखते हो?” रुक्मिणी ने बड़ी गंभीरता से देखा।

“मैंने इन्हें इसलिए दिया है कि इनके द्वारा तुम आश्रम के लिए जो भी उपयोगी वस्तु हो, उसे क्रय कर सकते हो।” इतना कहने के बाद वह रुकी। फिर बोली—“तुम्हें अपने कमंडलु में कुछ और नहीं दिखाई दिया?”

मेरी दृष्टि फिर कमंडलु की ओर गई और फिर मैं बड़ी रहस्यात्मक दृष्टि से रुक्मिणी की आँखों में झाँकने लगा; मानो उससे कह रहा हूँ—‘और कुछ भी तो नहीं है।’

‘शायद तुमने ध्यान से नहीं देखा, अन्यथा मैं स्वयं दिखाई देती।’ उसकी आँखों की मौन भाषा और मुखर हुई। इस क्रम में वह धीरे-धीरे मेरे कानों के पास आ चुकी थी। उसने धीरे से कहा, “कुछ भी देने के पहले मैं स्वयं को ही तुम्हें दे चुकी हूँ। देखती हूँ, तुम कब मुझे स्वीकार करते हो!” यह सारा वार्तालाप निःशब्द था। केवल शब्दायित

इतना ही हुआ—“प्रतीक्षा तो करूँगी ही।” और फिर भाषा यह कहते हुए मूक हो गई कि ‘देखूँ, यह समर्पण कब स्वीकार करते हो!’

इसके बाद वह चुपचाप रथ पर चली गई। रुक्मी पहले से ही बैठा उसे घूर रहा था। वस्तुतः वह रथ से उतरा ही नहीं।

रथ के चल पड़ने के बाद भैया ने कहा, “लगता है, वह अभी मेरी मार भूला नहीं है।”

“अपमान के धब्बे को सद्ग्रहण के हाथ भी नहीं पोंछ पाते, भैया। उसे तो समय की जमती हुई धूल ही धुँधला कर सकती है।” मैंने कहा। मेरे समर्थन में उद्धव ने भी कुछ कहा था, जो मुझे याद नहीं है।

“मैं जितने दिन मथुरा में रहा हूँ, इसकी गतिविधि बड़ी रहस्यात्मक थी।” मारुति बोला, “विदर्भ में भी लोग अच्छी दृष्टि से नहीं देखते।”

“क्यों? क्या तुम इसे पहचानते हो?” मैंने पूछा।

“क्यों नहीं! मैं तो वहीं का रहनेवाला हूँ। मेरे पिताजी महाराज भीष्मक के राजपुरोहित हैं। उन्होंने इसकी जन्मकुंडली देखकर महाराज से स्पष्ट कहा था कि ‘यह लड़का आपके लिए कुल कलंक ही सिद्ध होगा। अभी तो नहीं, लेकिन छब्बीस वर्ष की अवस्था के बाद इसके नीच के शुक्र की महादशा आरंभ होगी। शुक्र भी मंगल के नक्षत्र भाग में स्थित है। तब देखिएगा, यह कैसे-कैसे दुष्कर्म करता है।”

“तो क्या तुम्हारे पिता की भविष्यवाणी इसे मालूम है?” भैया ने पूछा।

“यद्यपि महाराज ने इसे बताया नहीं था, फिर भी इसे मालूम हो गई थी।” मारुति ने कहा, “क्योंकि एक दिन यह घर आया था। ‘आपने क्या उलटा-सीधा मेरे बारे में महाराज से कहा है?’ इसने पिताजी से पूछा था।

“‘मैंने तो वही कहा है, जो तुम्हारे ग्रहों ने मुझसे कहा था। मैं तो मात्र ग्रहों की भाषा बोलता हूँ।’ पिताजी ने कहा।

“‘मैं भी यदि आपके ग्रहों की भाषा बोलने लगूँगा तो आपका यहाँ रहना कठिन हो जाएगा।’ यह पिताजी से बोला।”

“इसका तात्पर्य है कि इसने तुम्हारे पिताजी को धमकाया। तब उन्होंने क्या कहा?”

“कहते क्या! चुपचाप इसे सुनते रहे। मेरा वश चलता तो मैं उसी समय बोल पड़ता—अच्छी बात है। अभी तो आप जाइए, वह समय आएगा तो देख लूँगा।”

“अच्छा, तो इसने तुम्हारे सामने धमकाया था! तब तो तुम्हें भी अच्छी तरह पहचानता होगा?”

“अच्छी तरह पहचानता है। इसीलिए तो वह रथ पर से ही मुझे तरेरता रहा।” मारुति ने कहा।

एक बात तो स्पष्ट थी कि जो नई पीढ़ी आ रही थी, वह जहाँ एक ओर परंपरा से टूटी हुई थी, वहीं दूसरी ओर वह कुछ जैसे मूल्यों से जुड़ी थी, जो सकारात्मक की अपेक्षा नकारात्मक अधिक थे। इसीसे व्यवस्था से अधिक अव्यवस्था में वे विश्वास करते थे। इसका परिणाम था कि आसपास के सारे राज्य अव्यवस्थित हो चुके थे।

□

इधर भिक्षाटन करके मैं नदी के किनारे-किनारे आ ही रहा था कि सामने से वह कोल किशोर आता दिखाई दिया। बड़ा प्रसन्न था। एक निश्चल मुसकान उसके अधरों से छलक रही थी।

मैं आचार्यजी के पास खड़ा ही था, जब वह अपनी बंसी हिलाता हुआ आया और मेरे सामने झोली उड़ेरल दी। सद्यः मारी गई मछलियों का दूहा लग गया। उनमें से कुछ मछलियों के प्राण अब भी शेष थे। वे बेतरह छटपटा रही थीं।

“यह किसलिए?” मैंने आचार्यजी की ओर देखा।

आचार्यजी ने उससे पूछ ही लिया, “यह सब किसलिए लाए हो?”

“आप ही ने तो कहा था कि विद्या सीखने किसीके पास खाली हाथ नहीं जाना चाहिए!” उसने अपनी भाषा में कुछ विचित्र ढंग से कहा।

आचार्यजी को हँसी आ गई। परिहास में कही हुई बात को वह इतनी गंभीरता से लेगा, उन्हें विश्वास नहीं था। फिर भी वे हँसते हुए बोले, “आश्रम में कोई मांसाहारी नहीं है। इन मछलियों का इनके लिए क्या उपयोग?”

उस कोल किशोर की सारी प्रसन्नता कर्पूर की तरह उड़ गई। अब वह क्या करे? उसने अपने हाथ में पड़ी बंसी की ओर देखा। विचित्र योग था। उसके हाथ में भी बंसी और मेरे हाथ में भी वंशी। उसे लगा कि उसकी बंसी का प्रयत्न व्यर्थ गया। यद्यपि उसकी बंसी भी फँसाने का काम करती थी और मेरी भी। उसकी बंसी मछलियाँ फँसाती थी और मेरी वंशी संवेदनशील मन को फँसाती थी।

मैं ऐसा कुछ सोच ही रहा था कि वह मछलियों का ढेर वहीं छोड़कर अपनी बंसी हवा में घुमाता हुआ जंगल में भागा—किसीसे बिना कुछ कहे-सुने। आचार्य से अनुमति लेने की उसने औपचारिकता भी नहीं निभाई।

मछलियाँ सामने पड़ी थीं। अब क्या होगा इनका? निश्चित ही वह लौटकर अवश्य आएगा और हुआ भी यही। हम मुश्किल से घड़ी भर वहीं बैठे रहे और वह जंगल से निकला चला आता दिखाई दिया। स्पष्ट लगा कि जंगल उसे निगल गया था, पर उसकी छटपटाहट को वह पचा नहीं पाया। साफ दिखाई दिया कि जंगल उसे उगल रहा है। इस बार उसके सिर पर बाँस की एक बड़ी टोकरी थी और वह जंगल से सद्यः तोड़े हुए फलों से भरी थी। उसने आते ही टोकरी उतारकर आचार्य के चरणों के निकट रख दी और मुसकराने लगा। उसकी इस प्रगल्भ मुसकराहट में वंशी के प्रति एक अद्भुत याचना थी।

“पर मैं तो तुम्हारा आचार्य नहीं। तुम्हारा आचार्य तो वही है।” आचार्यजी ने मेरी ओर संकेत किया।

अब वह मेरे पास आया और वैसे ही मुसकराने लगा। वस्तुतः हम लोग उसकी भाषा समझ नहीं पाते थे। वह बहुत कम बोल रहा था और अधिक मुसकराते हुए अपनी बात समझाने की कोशिश कर रहा था।

हमने जो समझा, उसका सारांश था कि उसे एक ऐसी वंशी चाहिए। कुछ आप उसे बजाने का तरीका बता दीजिए और कुछ वह स्वयं अभ्यास करके सीख जाएगा।

इतना कहने में वह इतनी बार और इतने ढंग से मुसकराया कि सबका ब्योरा देना मेरे वश की बात नहीं।

मेरे पास तो दो वंशी हैं ही। एक मेरी अपनी और दूसरी राधिका द्वारा भिक्षा में दी गई। मैं अपनी वंशी रखकर दूसरी उसे क्यों न दे दूँ? यह जीवन भर मुझे याद करेगा। मेरा हाथ उस वंशी की ओर गया भी। फिर अचानक लगा, मेरी हथेली किसीने दबा दी—इस समय भावना में तो बहे जा रहे हो, पर क्या तुम इस वंशी को देकर सुख से रह सकोगे? यह राधा की दी हुई वंशी है। तुम्हीं तो कहा करते हो कि मैं राधा के बिना आधा हो जाता हूँ। क्या तुम इस वंशी के बिना पूरे रह सकते हो?

आप विश्वास करें, मेरा वंशी की ओर गया हुआ हाथ चुपचाप लौट आया। अब विचित्र स्थिति थी। एक ओर मेरी असमर्थता थी और दूसरी ओर वंशीवादन की अपरिचित ललक भरी उसकी अद्भुत मुसकान।

मैंने बार-बार आचार्यजी की ओर देखा कि वे उसे किसी प्रकार समझा-बुझाकर हटा दें; पर लगा कि उनका आचार्यत्व उसकी बाल-चपल सहज मुसकराहट के समक्ष किंकर्तव्यविमूढ़ हो गया है।

अंत में मैंने ही उसे बताया—“यह बाँस से बनाई जाती है। तुम कहीं से इतना पतला और सुडौल बाँस ले आओ तो मैं वंशी बनाने की चेष्टा करूँ।”

इतना सुनना था कि उसकी बाँछें खिल गईं। उसने बड़े विस्तार से बताया कि उसका घर पास ही है। बस नदी के

किनारे के उस पार। आप लोग वहीं चलें। आज वहीं विश्राम करें।

आचार्यजी ने अभी स्वीकृति नहीं दी थी कि उसने दौड़कर फलों की टोकरी उठाई और हम लोगों के आगे-आगे रास्ता दिखाता हुआ अपने घर की ओर चला।

प्रकृति की गोद में पले इस कोल किशोर की सहजता बड़ी ही स्वाभाविक थी। उसने बरबस हम सबको मोह लिया। किसी भी मगवासी के यहाँ डेरा डालना हमारे सिद्धांत के विरुद्ध था। फिर भी हम लोग उसकी पर्णकुटी की ओर चले।

उसकी पर्णकुटी के चारों ओर झाड़ और झंखाड़ों से घिरा हुआ एक छोटा सा बगीचा था। पीछे की ओर कुछ गायें बँधी थीं। वह अपने बगीचे के बाँस के टुट्टे फाटक के समीप आकर रुक गया। उसने सिर पर से फलों की टोकरी उतारी और उसे जमीन पर रखकर हम लोगों की ओर देखकर फिर मुसकराने लगा।

उस मुसकराहट ने समझा दिया कि यही मेरा घर है। वह दौड़कर भीतर गया। अपने बूढ़े माँ-बाप को भी बुला लाया। दोनों हम सबको देखकर चकित-से रह गए। कुछ समय तक तो वह दोनों समझ ही न पाए कि क्या करें, फिर अचानक आचार्यजी के चरणों पर गिर पड़े।

इधर किशोर सारे गाँव के लोगों को बुला लाया। कोई दूध, कोई दही की मटकी और कोई छाछ लेकर हमारी सेवा में आए। कार्यक्रम न होते हुए भी आज का दिन आचार्यजी ने वहीं बिताने का निश्चय किया।

बरगद की छाँह में बनी एक बड़ी वेदिका पर बैठते हुए आचार्यजी ने कहा, “मुझे आज मालूम हुआ है।”

“क्या?” हम सबकी मुद्रा प्रश्नवाची हो गई।

“यही कि राम के चौदह वर्ष के वनवास में तेरह वर्षों तक कोई कष्ट क्यों नहीं हुआ!”

इसके बाद उन सबों ने मोरपंख नृत्य प्रस्तुत किया। सबने अपने बालों में मोरपंखी खोंस रखी थी। मुझे तो अच्छा लग ही रहा था, आचार्यजी बड़े प्रसन्न थे। नृत्य के सम पर तालियाँ देते जा रहे थे। बलराम और उनसे अधिक उद्धव मेरी ओर देखकर बराबर रहस्यमयी नटखट मुसकराहट बिखरे जा रहे थे। उनकी मुसकराहटें स्पष्ट कह रही थीं कि अब तक तुम खुद को मोर मुकुटधारी समझते थे, पर यहाँ तो सभी मोर मुकुटधारी हैं।

वह वनवासी था ही। बाँस की टोकरी आदि बनाने की कला उसे पैतृक दाय के रूप में मिली थी। उसने बाँस को छील-छालकर जैसा मैंने बताया, बना दिया। लगभग वंशी बन गई थी। पहली बार जब उसने फूँक मारी और स्वर निकला, वह गद्गद हो उठा। प्रकृति के उन्मुक्त प्रांगण में वह पक्षियों की तरह चहकने लगा।

उसके उस प्रकृति नृत्य पर मेरी वंशी अचानक बज उठी। वह स्तब्ध हो उठा—मेरे सुर संगम पर, वंशी के रंघ्र पर नाचती मेरी अँगुलियों पर। अंत में वह अपनी वंशी लेकर पुनः मेरे पास आया और अपनी वंशी दिखाकर उसमें रंघ्र बनाने का आग्रह करने लगा।

मैंने अपनी वंशी के अनुसार उसकी वंशी में चिह्न लगाए और उससे उन चिह्नों को रंघ्र में परिवर्तित करने के लिए कहा। उसने क्षण भर में छिद्र बना दिए और उसपर अँगुलियाँ रखते हुए वह बजाने लगा।

“सुनो, मेरे पास आओ।” आचार्यजी ने उसे बुलाया। उनकी आवाज सामान्य से कुछ हटी हुई गंभीर थी। सारे वनवासी सकते में आ गए।

उसके पास आते ही आचार्य सांदीपनि ने कहा, “तुमने विद्या प्राप्त की है। जानते हो, तुम्हें इसके लिए क्या करना चाहिए?” उसने आचार्य की बात पूरी नहीं समझी; पर उसीके एक वृद्ध परिजन ने उसे समझाया।

अब वह अत्यंत प्रसन्न हो अँगूठा दिखाते हुए मेरे सामने चला आया।

“यह कैसा दुर्विनय है!” मेरी त्योरियाँ चढ़ी ही थीं।

वह किशोर वंशी बजाते समय अब भी मुझे अँगूठा दिखा रहा था। आचार्यजी को भी उसका कृत्य अच्छा नहीं लगा।

परिस्थिति बिगड़ने के पहले ही उस वृद्ध परिजन ने सँभाला—“श्रीमान, यह आपको चिढ़ा नहीं रहा है और न यह उसका दुर्विनय है।”

इसके बाद उसने जो कुछ विस्तार से बताया, उससे हम सब चकित रह गए।

उसका कहना था, “अभी कुछ ही दिनों की बात है कि हस्तिनापुर के आचार्य ने अपने वनवासी शिष्य से गुरुदक्षिणा में अँगूठा कटवा लिया है। यह सूचना दावाग्नि की तरह पूरे वन प्रदेश में फैल गई है। तब से हम भोलेभाले वनवासियों के सामने जब भी गुरुदक्षिणा का प्रश्न आता है, तब हम यही समझते हैं कि हमें अपने दाहिने हाथ का अँगूठा कटना पड़ेगा। इसीलिए यह दाहिना अँगूठा आपको प्रसन्नतापूर्वक दिखा रहा है।”

आप विश्वास करें, इस संदर्भ से उस समय हम सब अछूते थे। आचार्यजी तो थोड़ा आवेश में आ गए—“किस शिक्षा की गुरुदक्षिणा में आचार्य ने शिष्य से उसके दाहिने हाथ का अँगूठा ही माँग लिया?”

“शर-संधान की शिक्षा के लिए।” वह वृद्ध वनवासी बोला।

आचार्यजी की तयोरियाँ चढ़ गई—“बड़ा नीच होगा वह आचार्य! जब दाहिना अँगूठा ही उसने कटवा लिया होगा तब विद्यार्थी बाण कैसे चलाएगा? निश्चित ही ऐसी गुरुदक्षिणा आचार्य की ईर्ष्या का परिणाम है। जहाँ का आचार्य अपने शिष्य से ईर्ष्यालु हो जाता है, उसकी विद्या फलवती नहीं होती। साथ ही, आचार्यों की यह मनोवृत्ति हमारी शिक्षा के घोर पतन का भी सूचक है।” इतना कहने के बाद आचार्यजी ने उन वनवासियों से पूछा, “कौन है वह नीच आचार्य?”

सब एक-दूसरे का मुँह देखते रह गए। शायद उन्हें आचार्य का नाम ज्ञात नहीं था या वे बताना नहीं चाहते थे।

“मेरा विश्वास है कि तुम्हारे आचार्य तुमसे अँगूठा नहीं माँगे।” आचार्य ने कहा और वंशी बजाते हुए उस वनवासी किशोर ने अपना अँगूठा हटा लिया तथा मुसकराने लगा।

अब वह मेरे पास आकर खड़ा हो गया—मानो प्रतीक्षा कर रहा हो कि मैं उससे कुछ माँगूँ।

“मैं गुरुदक्षिणा माँगने का अधिकारी नहीं हूँ।” मैंने कहा।

“पर इसके गुरु तो तुम्हीं हो।” आचार्यजी बोले।

मैंने भी अनुभव किया कि यह मेरा पहला शिष्य है। अब तक वह मेरे चरणों पर गिर पड़ा था।

“मैंने अभी तुम्हें विद्या दी है, पर उसमें पारंगत नहीं किया है—और जब तक कोई पारंगत नहीं करता, वह गुरुदक्षिणा का अधिकारी नहीं होता। तुम्हारा प्रणम्य भाव ही मेरे लिए सबकुछ है।”

वह मुसकराता रहा। आचार्यजी आश्चर्यचकित मुझको देखते रह गए। इतनी गंभीरता से मैं सोच पाऊँगा, इसका उन्हें भान नहीं था। मेरा देवत्व पहली बार उनकी समझ के करीब पहुँचा था। वे प्रसन्न थे। उन्होंने हँसते हुए कहा, “मैं भी कितना भाग्यशाली हूँ कि अपनी शिष्य परंपरा की तीसरी पीढ़ी देख रहा हूँ!”

□

हमारी यात्रा चलती रही। हम चर्मणवती (चंबल) के बीहड़ों में आगे बढ़ते रहे। घने वनों से घिरा यह प्रदेश हमारी यात्रा के लिए अद्भुत था। इन सुनसान बीहड़ों को देखकर लुका-छिपी खेलता हुआ नादान बचपन मुझे याद आ रहा था। जीवन के अनेक और अद्भुत अनुभवों से भरी यह डेढ़ महीने की पदयात्रा हमारे लिए बड़ी ज्ञानवर्द्धक थी। हमने पहली बार जाना था कि मथुरा और वृंदावन के बाहर भी कोई संसार है। पूरे जीव-जंतुओं से भरा, प्रकृति के वैभव से युक्त, एकदम हरा-भरा। प्राणियों की सहजता एवं आत्मीयता से भरा यह संसार मुझसे अधिक मेरे भाइयों

के लिए कुतूहलपूर्ण एवं आह्लाददायक था। वह मार्ग में शिकार का भी आनंद ले लेते थे।

कार्यक्रम के अनुसार, प्रातः नित्यकर्म और हवनादि के बाद स्वाध्याय होता था। फिर जो भी उपलब्ध होता, हम भोजन करते और इसके बाद लगभग दो घड़ी का विश्राम का अंतराल। बलराम भैया इसी अंतराल में निकल जाया करते थे—एकदम चुपके से, मुझसे भी आँखें चुराकर। उद्धव अवश्य उनकी गतिविधि का पीछा करता था।

आज भी वह उनके साथ था और भैया का सामना पड़ गया एक बाघ से। दहाड़ता हुआ सिंह और मात्र हल लिये बलराम। फिर भी उन्होंने उसे मार गिराया—और उसकी अंतिम साँस तक बलराम उसपर प्रहार करते रहे।

किंतु जब उसके प्राण-पखेरू उड़ चुके थे, केवल रक्तरंजित पिंजड़ा रह गया था, तब उन दोनों ने विचार किया कि उस विशाल बाघ के शव को गुरु के समीप ले चला जाए। वे इसे देखकर प्रसन्न होंगे।

अब समस्या थी कि इतने बड़े बाघ के शव को उठाया कैसे जाए। उद्धव ने बताया कि मेरे लिए तो उसकी एक टाँग पकड़कर खींचना भी कठिन था। हम लोगों ने पहले चारों ओर घूमकर किसी वनवासी की तलाश की; किंतु उस सुनसान में मनुष्य कहाँ। अब हम क्या करते?

निश्चय हुआ कि इसे आचार्य के निकट ले चलना तो असंभव है, क्यों नहीं हम इसका चर्म ही निकालकर आचार्य को समर्पित करें!

अब वे दोनों उसका चर्म ही उधेड़ने की चेष्टा करने लगे। उन्होंने कभी मरे हुए पशु का चर्म खींचा हो तब तो। अरे, कभी किसी श्वपच (चांडाल) को मृत पशु का चर्म उतारते देखा भी नहीं था। फिर भी उन लोगों ने अपनी बुद्धि लगाई। उसे किसी तरह घसीटकर निकट के एक जलाशय के पास ले आए। वहाँ पहले उसका पेट चीरा गया। भीतर की सारी लादी-पोती निकालकर जलाशय में बहाई गई; पर चर्म अस्थिपंजर को छोड़ने का नाम ही नहीं लेता था।

आज जब मैं उस घटना को याद करता हूँ तो भैया पर हँसी आती है। अरे, मृत पशु का चर्म उतारने के लिए एक प्रक्रिया से गुजरना होता है। भैया को उस समय इतना भी ज्ञान नहीं था।

उद्धव ने बताया था कि अंत में प्रयत्न करते-करते संध्या हो गई। दिनमान ने वृक्षों के शिखरों पर सोने का पानी चढ़ाना आरंभ कर दिया; पर अभी कुछ भी हाथ नहीं लगा। धीरे-धीरे अँधेरा घिरने लगा। अब उनकी घबराहट और बढ़ी।

“हम लोगों की खोज हो रही होगी। आचार्यजी से क्या कहा जाएगा?” भैया उद्धव से बोले।

“हाँ, अब अँधेरा हो चला है। हमें मार्ग ढूँढ़ने में भी कठिनाई हो सकती है।” उद्धव ने दूसरी ही आशंका उपस्थित की।

इतना सुनना था कि भैया और भी घबरा गए।

“यदि अंधकार में दिग्भ्रम हो गया तो हम रात भर यहीं भटकते रह जाएँगे।” इतना कहते ही उन्होंने बाघ को वहीं छोड़ा और एकदम लौट पड़े।

इधर आचार्य की चिंता भी चर्म बिंदु पर थी। संध्या वंदन के पहले उन्होंने कई बार कहा, “आखिर वे दोनों चले कहाँ गए?” मुझे निकट बुलाकर व्यक्तिगत रूप से जानना चाहा—“जाते समय तुमसे उन दोनों ने कुछ कहा नहीं था?”

“मैं तो सो रहा था। मध्याह्न भोजन के बाद ही मुझे नींद आ गई थी।”

अब आचार्य और चिंतित हुए।

“प्रतिदिन वे दोनों भोजन के बाद चले जाते थे?” उनका दूसरा प्रश्न था।

“लगभग प्रतिदिन ही।”

“तब तुमने मुझे सूचना क्यों नहीं दी?”

“मुझे क्या मालूम! मैं तो समझता था कि आपसे अनुमति लेकर जाते होंगे।” मैंने कहा और यह भी बताया कि भैया की प्रकृति आरंभ से ही आखेटप्रिय रही है।

आचार्यजी चुप हो गए। आँखें बंद कर कुछ सोचते रहे या हमारे भाइयों की मंगल कामना करते रहे। फिर धीरे से बोले, “इसीलिए तो मैं राजपरिवारों के छात्रों को आश्रम में प्रवेश देने से हिचकता हूँ। उनका पारिवारिक अहं आश्रम का अनुशासन तोड़ने में जरा भी संकोच नहीं करता।”

इसके बाद ही आज का संध्या वंदन आरंभ हो गया। आज न सुदामा के कंठ में वह तेजी थी और न मेरी वंशी के स्वर में वह ऊष्मा। इसके बाद किसी तरह संध्या पूजन और अग्निहोत्र संपन्न हुआ।

शीघ्र ही आचार्यजी ने अपने आतिथेय वनवासी को बुलाया। अब लगभग शांति हो चली थी। आचार्यजी ने सारी बातें उन्हें बताईं। उत्तर में उन्होंने जो कुछ कहा, हमारी चिंता और बढ़ी। उन्होंने बताया कि यह पूरा प्रदेश हिंस्रपशुओं का है। यहाँ तो हम लोग भी रात को नहीं निकलते।

“यदि गया हुआ व्यक्ति घर नहीं लौटता तो आप उसकी खोज का प्रबंध भी नहीं करते?” आचार्यजी ने पूछा।

“करते हैं।” इतना कहते ही वह एकदम भागा और थोड़ी देर बाद अपने गिरोह के सरदार को बुला लाया। इस बीच अनेक मशालें जल गईं और पणवानक (नगाड़ा) पीटे जाने लगे। उसने बताया कि हमारे यहाँ जब रात्रि होने तक कोई नहीं लौटता, तब ऐसा ही करते हैं। परंपरा यह थी कि पणवानक की आवाज जिसे सुनाई पड़ती, वह भी पणवानक पीटना आरंभ कर देता था। देखते-देखते सारा जंगल नगाड़े की आवाज से भर जाता है। इससे दूर तक लोग समझ लेते हैं कि कोई मार्ग भूल गया है। लोग मशालें लेकर आसपास निकल जाते। इससे दो लाभ होते—एक तो पणवानक की तेज आवाजों एवं मशालों से जानवर भी भाग जाते और दूसरे, भूले हुए लोग भी खोज लिये जाते। यह बात चल ही रही थी कि दोनों व्यक्ति लौट आए। आते ही उन्होंने आचार्यजी के चरणों पर गिरकर क्षमा माँगी। आचार्यजी कुछ बोले तो नहीं, पर उन्हें देखने से स्पष्ट लगा कि तनावमुक्त हो चुके हैं। पर आकृति की और बढ़ी लालिमा ने स्पष्ट सूचना दी कि भय और आशंका का स्थान क्रोध ने ले लिया है।

“आप लोग कहाँ थे?” आचार्य का स्वर एकदम भभक उठा—“देखो, असत्य भाषण मत करना; क्योंकि तुम लोगों ने अभी तक गुरु की कृपा और क्षमा ही देखी है, उनका क्रोध नहीं देखा है।” सचमुच उस समय आचार्यजी एकदम दुर्वासा लग रहे थे। जरा भी गड़बड़ हुआ, वहीं उन्होंने कमंडलु से जल हाथ में लिया और शाप दिया।

भैया को कभी मैंने इतना घबराया हुआ नहीं देखा था। उन्होंने एक-एक बात विस्तार से बता दी। और जब बाघंबर उतारने की मूर्खतापूर्ण प्रयत्न का उन्होंने वर्णन करना आरंभ किया तब आचार्यजी की गंभीरता गई तो नहीं, पर ऐसा कुछ लगा कि उसी गंभीरता के नीचे से मुसकराहट की एक रेखा अवश्य रेंग गई।

“तुमने कई अपराध एक साथ किए।” आचार्यजी बोले।

बलराम भैया और उद्धव चुपचाप सुनते रहे।

“तुम दोनों ने बिना मेरी आज्ञा के आश्रम छोड़ा है।” आचार्यजी बोले, “मैं कई बार स्पष्ट उल्लेख कर चुका हूँ कि आश्रम का अर्थ घिरा हुआ वह भूखंड मात्र नहीं है, जिसपर किसी आचार्य का आधिपत्य होता है और जहाँ शिक्षा दी जाती है। आश्रम उस समस्त भूमिखंड को कहते हैं, जहाँ आचार्य और ब्रह्मचारी समवेत होते हैं और जैसे हर स्थल पर आश्रम की आचार संहिता का पालन किया जाना चाहिए।”

“इस आचार संहिता का हमें ज्ञान नहीं था।” भैया फिर गिड़गिड़ाए।

“कोई भी नियम अनभिज्ञता की लाचारी स्वीकार नहीं करता।” आचार्यजी की आवाज पुनः कड़की।

“आप हमारी परिस्थिति पर तो विचार करें।” भैया का विनयावनत स्वर पुनः लड़खड़ाया—“जन्म से ही हम मुक्त पक्षी की भाँति विचरण करते रहे। आश्रम संस्कृति की गंध तक हमें नहीं मिली थी। ऐसे व्यक्ति से आप क्या आशा कर सकते हैं?”

आचार्यजी इस बार मौन थे और वे एकटक उन दोनों को देखते रह गए।

“यह तो सर्वविदित है कि आश्रमवासियों के लिए आखेट वर्जित है। जीव-हत्या अपराध है।”

भैया तो चुप रहे, पर उद्धव बोला, “यदि कोई हिंस्र पशु हमपर आक्रमण करे तो हम आत्मरक्षार्थ भी उसे नहीं मार सकते?”

“आत्मरक्षार्थ तो हम कुछ भी कर सकते हैं।” आचार्यजी बोले, “किंतु यही अधिकार उस पशु को भी तो है।”

“आपकी बात कुछ मेरी समझ में नहीं आई, अत्र भवान्।”

“बात एकदम स्पष्ट है। जब तुम्हें अपनी रक्षा के लिए किसी पशु को मारने का अधिकार है तो उस पशु को भी अपनी रक्षा के लिए तुम्हें मारने का अधिकार है।” आचार्य ने थोड़े विस्तार से समझाया—“कोई पशु तब तक तुमपर आक्रमण नहीं करेगा जब तक तुमसे खतरे का उसे विश्वास न हो जाए। मुझे ही देखो, व्याघ्र और सिंह दोनों बहुधा मेरी बगल में सोए रहते हैं। उनका दंत लगना तो दूर, अनजान में मुझे नख भी नहीं लगता। क्योंकि वे जानते हैं कि मुझसे उन्हें किसी प्रकार की हानि नहीं है। बहुधा मेरे आश्रम में ये पशु आते रहते हैं। हमारी पर्णकुटियों में विषधर भी रहते हैं; पर कभी उन्होंने आघात नहीं किया, क्योंकि पशुओं की छठी इंद्रिय अधिक प्रबल होती है। वे बड़ी आसानी से अपना शत्रु-मित्र पहचान जाते हैं।”

“फिर मनुष्य में यह बात क्यों नहीं होती?” हममें से किसीने पूछा।

अब आचार्य का वक्तव्य उन दो शिष्यों तक ही सीमित नहीं रहा। हमारे अतिरिक्त वनवासियों का एक गिरोह भी उन्हें बड़ी गंभीरता से सुन रहा था।

“क्योंकि मनुष्य ने अपनी बुद्धि का विकास अधिक किया और उसीका भरोसा भी किया। वह हर कार्य के मूल में कार्य और कारण की खोज करने लगा। अपने सीमित सामर्थ्य से वह असीमित को नापने लगा, जिसका परिणाम यह हुआ कि प्रकृति से उसकी सहजता जाती रही। इससे बौद्धिक क्षेत्र में वह आगे होकर भी कई क्षेत्रों में वह पशु से पिछड़ गया। आज पशु गंध से जो भी जान लेते हैं, हम उसे बुद्धि से भी नहीं जान पाते।”

चिंतन क्रोध का शत्रु है। ज्यों-ज्यों आचार्य का चिंतन बढ़ता गया, क्रोध भागता गया। उन्होंने भैया और उद्धव को क्षमा कर दिया। साथ ही उन्होंने अपने एक पटु शिष्य मालव को निर्देश दिया कि उन्हें आश्रम के नियम और व्यवस्था अच्छी तरह समझा दे।

□

आश्रम के जीवन को हम पूरी तरह आत्मसात् कर नहीं पा रहे थे। एक तो हमारी अवस्था अधिक हो चुकी थी। वह बचपन हमारे हाथ से खिसक चुका था, जिसका लचीलापन हर परिस्थिति के अनुसार स्वयं को ढाल लेता है। मेरे लिए तो उतनी परेशानी नहीं थी, पर भैया अधिक परेशान थे। उनका सामंती अहं बहुधा उनके आड़े आ जाता था। ग्वालबालों के बीच अधिक रहने के कारण शायद मुझमें ऐसी सामंती वृत्ति का निर्माण नहीं हुआ था। इसलिए मैं उतना परेशान नहीं था। दूसरे मल्लविद्या और शस्त्र शिक्षा के अतिरिक्त शास्त्र शिक्षा में भैया की रुचि भी अधिक नहीं थी।

हम लोगों को कुछ दिन अवंती के आश्रम में रहकर प्रभासतीर्थ की ओर जाना था। यह सभी को मालूम है कि

आचार्यजी अपने छात्रों को लेकर दो यात्राएँ अवश्य करते थे—एक कुरुक्षेत्र में वेदव्यास के आश्रम की और दूसरे प्रभासक्षेत्र की। कुरुक्षेत्र की यात्रा से लौटते समय वे मथुरा में पधारे थे, अब प्रभासक्षेत्र की बारी थी।

एक रात, कदाचित् भैया को नींद नहीं आई थी। वे अर्धरात्रि तक करवटें बदलते रहे। फिर उन्होंने धीरे से मुझे जगाया। हम लोग पर्णकुटी से बाहर आए। मध्य आकाश से फाल्गुन की चतुर्दशी का चंद्रमा अपनी ज्योतिरित हँसी हमपर उड़ले जा रहा था। इस ज्योत्स्ना ने हमारी स्मृति को झकझोरने के साथ-साथ हमारे स्नायुओं में एक उत्तेजना जगाई। हमें याद आया कि हम श्रीपंचमी से ही ऐसी ज्योत्स्ना में रास रचाते रहे हैं। फिर क्या था, राधा की अनेक भंगिमाएँ मेरे मस्तिष्क में उभरने लगीं। मेरा मन रास-रंग में डूबने लगा।

“सो रहे हो क्या?” भैया ने मेरा कंधा हिलाया।

“नहीं।” मैंने स्वयं को झटककर स्मृतियों को झाड़ने की असफल चेष्टा की।

भैया ने फिर पूछा, “यदि मैं आश्रम छोड़ दूँ तो क्या होगा?”

भैया के इस प्रश्न पर मैं अवाक् रह गया। आखिर इतनी रात्रि को इनके मन में यह विचार आया कैसे? स्पष्ट लगा कि इनपर यह जीवन बड़ा बोझिल पड़ रहा है। ये इस परिस्थिति से ऊब चुके हैं।

मेरे पूछने पर उन्होंने स्पष्ट कहा, “इस अनुशासन में मुझे कुछ घुटन का अनुभव हो रहा है। जीवन का बहता जल लगता है, एक सरोवर में बाँध दिया गया है—और वह सड़ने लगा है। उसमें दुर्गंध पैदा हो गई है।”

“अनुशासन स्वीकार करने में थोड़ी परेशानी तो होती ही है; लेकिन यदि उसे अपना ही मान लिया जाए, अर्थात् अनुशासन को स्वशासन की तरह स्वीकार किया जाए तो कोई कष्ट नहीं।” इतना कहने के बाद मैंने भैया की ओर देखा। उन्हें लगा जैसे मैं उन्हें उपदेश दे रहा हूँ। मैंने शीघ्र ही बात बदल दी—“मैं आपकी मनःस्थिति समझ रहा हूँ। आरंभ के दो-चार दिन तो मेरे लिए भी असह्य हो गए थे।”

“आखिर तुम्हें भी अनुभव हुआ था।” अब भैया ने मुझे भी अपने कष्ट में समभागी अनुभव किया। वे थोड़ा और खुले—“पहले तो आचार्य के शास्त्रज्ञान को मैं आत्मसात् नहीं कर पाता। मुझे याद ही नहीं होता; पर तुम्हारे सामने ऐसी समस्या नहीं। मैंने देखा है कि आचार्य के मुख से निकलते ही तुम्हारी स्मृति उसे सँजो लेती है। तुम्हें कंठस्थ हो जाता है।”

मुझे हँसी आ गई।

“तुम हँसते हो, पर मैं सही कह रहा हूँ।” भैया बोले, “आज शाम ही शायद तुम नित्यकर्म के लिए दूर निकल गए थे। आचार्यजी ने कई छात्रों के सामने मुझसे कहा, ‘एक तुम हो, जिसे शास्त्र स्मरण होता ही नहीं; एक तुम्हारा भाई है, जो एक बार सुन लेने के बाद भूलता ही नहीं।...और तुम आवृत्ति भी नहीं करते।’

“मैंने साफ कह दिया।” भैया बोले, “क्या आवृत्ति करूँ, जब याद ही नहीं होता!”

अब मैंने अनुभव किया कि भैया को चोट कहाँ लगी है। अपने से पराजित होने की पीड़ा दूसरों से पराजित होने से अधिक होती है। यदि आचार्यजी ने भैया को केवल डाँटा होता और उनसे मेरी तुलना न की होती तो कदाचित् उनकी व्यग्रता इस सीमा तक न बढ़ती।

“आप घबराएँ नहीं, मैं आपको आवृत्ति करा दूँगा।” मैंने बड़े सहजभाव से कहा।

“यदि मुझे फिर भी याद न हुआ तो?”

“आप इतने निराश क्यों हैं? अब आपको स्मरण कराने का जिम्मा मेरा।” मैंने कहा, “आश्चर्य है कि आचार्यजी ने आपके शस्त्रज्ञान की ओर ध्यान नहीं दिया।”

“नहीं, ऐसा नहीं है। उन्होंने मेरे शस्त्रज्ञान की प्रशंसा भी की है। मेरे मल्लयुद्ध और गदाज्ञान पर तो वे मुग्ध हैं।”

भैया बोले।

अब लगा कि वे प्रकृतिस्थ हो रहे हैं।

“एक आप ही नहीं हैं, जिन्हें शास्त्र का अभ्यास ठीक से नहीं होता, कई और भी हैं।”

“हाँ, इसे मैं जानता हूँ।”

“तब आप इतने निराश क्यों हैं?”

“घबराता इसलिए हूँ कि जैसा तू याद कर लेता है वैसा मैं याद क्यों नहीं कर पाता!” इतना कहते-कहते वे हँस पड़े। इस ज्योत्स्ना में उनकी हँसी दूध से धुल गई।

“किसी वस्तु को याद रखना सबसे सरल है, यदि इस एक कठिन कार्य को कर सकें तो।” मैंने कहा।

“तू लगा फिर पहेलियाँ बुझाने!” भैया का स्वर फिर तीखा हुआ। मैं तो उन्हें हलका करना चाहता था, पर उनकी घबराहट एक सीमा पार कर गई थी।

अब मैंने सीधे-सीधे कहा, “किसी वस्तु को याद करने का सीधा उपाय है कि उसके सुनने के पहले हर वस्तु को भुला दिया जाए; जैसे किसी पटिया पर लिखने के पहले उसपर का लिखा मिटाना होता है। अगर मिटाइएगा नहीं और लिखने की चेष्टा कीजिएगा, तो सारा प्रयत्न अस्पष्ट रह जाएगा।

“यह सबकुछ भुला पाना तो बड़ा कठिन है।” भैया सोचते हुए आँखें बंद करके बोले।

“पर अभ्यास से हो जाता है।” मैंने अपना अनुभव सुनाया—“मन एकाग्र कीजिए। फिर पाठ सुनिए और अनुभव कीजिए कि वह मन में बैठता चला जा रहा है। इस तरह निश्चित ही पाठ याद हो जाएगा।”

भैया चुप हो गए। अवश्य ही यह क्रिया उन्हें दुरूह लगी।

“यह साधना अवश्य है, पर उतनी कठिन नहीं है जितनी आप सोचते हैं।” मैंने कहा।

“तुमने यह साधना सीखी कहाँ है?” भैया ने जिज्ञासा की।

“आचार्य श्रुतिकेतु से।” मैंने बताया—“अपनी शिक्षा के आरंभ में उन्होंने ऐसी साधना ही कराई थी। घंटों मौन बैठाकर उन्होंने भूलने का अभ्यास कराया था। उनका तो कहना था कि तुम यह भी भूल जाओ कि तुम यहाँ बैठे हो। साधना की चरम परिणति तो यह होगी कि तुम अपने अस्तित्व को ही भूल जाओ।”

“अस्तित्व को ही भूल जाऊँ? बड़ा कठिन है।” भैया बोले।

“यह कठिन ही अभ्यास से सरल हो जाता है।” मैंने कहा और उन्हें लौटा लाते हुए बोला, “आप घबराएँ नहीं। मैं आपको पाठ याद करा दिया करूँगा।”

हम दोनों लौट रहे थे। हमें आभास हुआ कि हमारे पीछे कोई है। आचार्य का प्रिय शिष्य श्वेतकेतु था।

मुझे देखते ही वह विनत हो गया—“आप क्षमा करें।”

“किस बात के लिए?”

“मैं आपको छिपकर सुन रहा था।” उसने बताया—“वस्तुतः जब आप लोग बाहर आए तो मेरी नींद खुल गई थी। मैंने सोचा, क्या बात है कि आप लोग बाहर जा रहे हैं? इसी जिज्ञासावश चला आया।”

“तो इसमें संकोच की क्या बात है? आप इतने परेशान क्यों हैं?”

“परेशान नहीं, प्रसन्न हूँ।” श्वेतकेतु बोला, “चला था तात्कालिक जिज्ञासा के चक्कर में और शांत हुई स्थायी जिज्ञासा।”

बात कुछ समझ में नहीं आई। उसने ही स्पष्ट किया—“आचार्यजी स्वयं मुझसे कह रहे थे कि ‘कन्हैया जैसा ग्राह्य शक्तिवाला शिष्य मैंने कहीं देखा नहीं। जिन शास्त्रों को स्मरण करने में तुम लोगों ने वर्षों लगा दिए, उन्हें

उसने कुछ ही दिनों में याद कर लिया।' आज उसका रहस्य जान पाया हूँ।''

मैंने हँसते हुए श्वेतकेतु को गले लगाया और बोला, “तुम्हारे जैसा जिज्ञासु भी मैंने कम देखा है।”
आकर हम सो गए। दूसरे दिन ब्राह्म मुहूर्त में जब हम उठे तब भी भैया खराटे भर रहे थे। पूरी चहल-पहल हो गई।
लोग नित्यकर्म के लिए जाने लगे। जब भैया अभी भी नहीं उठे तो मैंने उन्हें झकझोरकर जगाया।
“अरे, इतनी देर हो गई।” उठते ही वे बोले, “मैं अपने को भूलने की चेष्टा में लेटा ही था कि अभी तक सोता रह गया।” फिर वे ठहाका मारकर हँसे।

निश्चित रूप से इस समय वे बहुत हलका अनुभव कर रहे थे।

□

आचार्यजी की अस्वस्थता के कारण इस बार प्रभासतीर्थ की यात्रा चातुर्मास के पूर्व संभव न हो सकी। हम लोग अवंती में ही रह गए।

आचार्य सांदीपनि का यह आश्रम बड़ा मनोरम था। अंतरीप की तरह आश्रम की त्रिकोणात्मक भूमि को शिप्रा अपनी गोद में लिये जान पड़ती थी। वर्षा में इस त्रिकोण को नदी निगल जाती थी; किंतु आश्रम का उत्तरी भाग ऊँचा उठते हुए पहाड़ी पर चला जाता था। वर्षा में हम लोग वहीं चले आते थे। नीचे दहाड़ मारती शिप्रा और ऊपर मेघों से आच्छादित पहाड़ी इतनी मनोहर लगती थी कि हमें वृंदावन याद हो आता था। अनेक निर्झर फूट पड़े थे। अनेक सोते जाग उठे थे। पर्वत का पाषाण हृदय भी पिघलकर बहने लगा था। मन होता था कि मैं भी किसी निर्झर के किनारे बैठकर वंशी बजाऊँ।

पर यह ज्येष्ठ मास था। शिप्रा तन्वंगी हो गई थी। हम लोग सायं-प्रातः उसकी गोद में किल्लोल करते थे। हमारे लिए आचार्य की विशेष आज्ञा थी—“आश्रम के जिन ब्रह्मचारियों को तैरना न आता हो, उन्हें तैरना सिखा दो।”

विंद और अनुविंद को हमसे ईर्ष्या थी ही। आचार्य के इस आदेश से वे और भी जल उठे; क्योंकि मेरे आश्रमवासी होने के पूर्व यह कार्य उन्हींको करना होता था।

उन्होंने आचार्य से स्पष्ट पूछा भी—“क्या संतरण का नेतृत्व आपने कन्हैया को सौंप दिया है?”

“हाँ।” आचार्य ने बड़ी दृढ़ता से कहा और बोले, “शायद तुम यह जानना चाहो कि मैंने ऐसा क्यों किया है!” और स्वयं ही उन्होंने उत्तर देते हुए कहा, “क्योंकि वह तुम लोगों में सबसे श्रेष्ठ संतरक है।”

इसके बाद उन्होंने कालीदहवाली घटना को विस्तार से सुना दिया।

सबने दाँतों तले अँगुली दबाई। विंद और अनुविंद तो इस घटना के बाद पानी-पानी हो गए; पर मुझे बड़ा विचित्र लगा। कोई जब मेरे मुख पर मेरी प्रशंसा करता तब मैं एक विशेष प्रकार के संकोच का अनुभव करता—और कभी-कभी तो उस स्थिति से अपने को अलग रखने के लिए मैं वहाँ से हट भी जाता। इस समय भी ऐसा ही हुआ। जब आचार्य विस्तार से कालिय नाग की भयंकरता का बखान कर रहे थे, मैं धीरे से खिसक गया था।

यहाँ एक बात मैं और स्पष्ट कर दूँ कि विंद-अनुविंद यद्यपि अच्छे संतरक नहीं थे, फिर भी उन्हें नेतृत्व इसलिए दिया गया था कि वे वहाँ के राजा के बेटे थे। उनका सारा काम सुदामा करता था। वह श्रेष्ठ संतरक था; क्योंकि उसका बचपन प्रभासतीर्थ में बीता था—और उसे समुद्र में भी तैरने का अभ्यास था।

इस संदर्भ में सुदामा से मेरी और निकटता बढ़ी। मेरी-उसकी निकटता के मूल में उसके गुण तो थे ही, साथ ही उसकी नितांत सहज प्रकृति भी थी। वह बड़े प्रणत भाव से मेरा अपना हो गया। जहाँ भी जाते, हम दोनों साथ जाते। भिक्षाटन के लिए भी मैं भैया या उद्धव को साथ न लेकर उसीको साथ लेता।

यह तो आप जानते ही होंगे कि सुदामा के पिता आचार्य सांदीपनि के गुरुभाई थे। एक परंपरा और थी, जो मेरे

जीवन में ही लगभग टूटने लगी थी कि आचार्य अपने पुत्रों को अपने आश्रम में शिक्षा नहीं देते थे। उन्हें सदा दूसरे आचार्य के आश्रम में भेजते थे। इस विषय में मैंने एक दिन आचार्य सांदीपनि से स्पष्ट पूछा था।

उन्होंने बताया—“अपने आश्रम में कभी भी पुत्र को नहीं रखना चाहिए; क्योंकि वह अपने घर में पुत्र ही रहेगा, शिष्य कभी नहीं होगा।...और मैंने यही भूल की थी।” इतना कहते-कहते उनकी आँखें भर आईं। गला रूँध गया।

मैं अब बात करने की स्थिति में नहीं था। फिर वह मुझे अपने वक्ष से लगाकर रोने लगे। पता नहीं किस समय का घाव फूटकर आँखों से बहने लगा था।

मैंने कभी आचार्य को इस तरह रोते नहीं देखा था। मुझे आश्चर्य था। न मैं कुछ पूछ पाया और न उन्होंने मुझे कुछ बताया। ज्वालामुखी फूटता रहा और लावा आँखों से बहता रहा। उस समय यह जिज्ञासा मन-की-मन में ही रह गई कि पुत्र और शिष्य में क्या अंतर होता है।

फिर एक दूसरे संदर्भ में बिना पूछे ही उन्होंने यह गुत्थी खोल दी—“अनुशासन के स्तर पर गुरु शिष्य के प्रति जिस प्रकार की कठोरता बरत सकता है, पुत्र-प्रेम उस कठोरता में आड़े आ जाता है।...और फिर अपने ही आश्रम में पुत्र आश्रम को आश्रम न समझकर घर समझता है। यह प्रवृत्ति उसके मन में सुविधा के भोग की ललक उत्पन्न करती है।...और ब्रह्मचर्य जीवन के मूल में सुविधा अनुरक्ति नहीं, सुविधा विरक्ति है।”

इस सुविधा विरक्तिवश ही सुदामा इस आश्रम में आया था; पर उसे आत्मीयता यहाँ अपने परिवार से कम नहीं मिली। गुरुपत्नी तो उसे एकदम अपना पुत्र ही मानती थीं। उसकी मित्रता ने मुझे भी माताजी के अत्यधिक निकट पहुँचा दिया था। फिर भी मैं उनके स्नेह को प्राप्त करने में सदा सुदामा से पीछे ही था।

इस संबंध में एक घटना का उल्लेख करने का मोह मैं संवरण नहीं कर पा रहा हूँ।

आश्विन बीत चला था। मुझे ठीक याद है, उस साल आश्विन में ही पुरुषोत्तम मास लगा था। खंजन के पंखों पर सवार शीत का पहला झोंका आ चुका था।

एक दिन प्रातः अग्निहोत्र के बाद माताजी ने सुदामा को बुलाया। मैं भी उसके साथ हो लिया। माताजी ने कहा, “आज जलाने के लिए लकड़ियाँ नहीं हैं।”

सुदामा झट कुल्हाड़ी और रस्सी खोज लाया और लकड़ियाँ लाने के लिए तैयार हो गया।

“किसी और को साथ ले लो।” माताजी बोलीं।

“कृष्ण तो है ही।” सुदामा ने कहा।

अब माताजी ने मेरी ओर देखा और बड़े संकोच के साथ धीरे से कहा, “तुम लकड़ियाँ लेने जाओगे?”

“तो क्या हुआ? आपको कोई संदेह है?” मैं बोला।

“नहीं। मैंने यों ही कहा था।” वह बोलीं तो यही, पर उनकी आँखें कह रही थीं कि तुम कुलीन घराने के हो, बोझ उठा सकोगे?

मैंने हँसते हुए कहा, “आप विश्वास कीजिए। मैं सुदामा से अधिक उठा ला सकता हूँ।” मैंने इस तरह अपने दोनों बाजुओं को हवा में तौला कि माताजी के साथ ही सुदामा भी हँस पड़ा।

मुझे भी उसके साथ जाने की अनुमति मिल गई; पर एक वर्जना के साथ— “देखो, हरे पेड़ मत काटना।”

हम लोग चलने को थे कि सुदामा को माताजी ने इशारे से बुलाया। वह जब उनके पास गया तो वे उसे चुपचाप भीतर लेकर चली गईं।

थोड़ी देर बाद वह जब भीतर से निकला तब मैंने दूर से ही देखा कि वह एक पोटली में बँधा कुछ लिये है और उसे अपनी कमर में खोंस रहा है।

पास आते ही मैंने पूछा, “माताजी से क्या ले आए, मित्र?”

“यों ही सावधान करने के लिए बुलाया था।”

“किसलिए सावधान किया?”

“यही कि वन्य पशुओं से छेड़खानी मत करना।” उसने कुछ झेंपते हुए कहा।

मैं समझ गया कि सुदामा मुझसे कुछ छिपा रहा है। फिर भी मैंने उससे खोदकर पूछने की चेष्टा नहीं की। हम दोनों एक-दूसरे के गले में हाथ डाले चल पड़े।

“जानते हो, माताजी तुम्हारे संबंध में संदेह क्यों कर रही थीं?”

“नहीं।”

“इसलिए कि विंद और अनुविंद से आश्रम में कोई कार्य नहीं लिया जाता।”

“क्यों?”

“क्योंकि वे कुलीन हैं। राजा के बेटे हैं।” सुदामा बताने लगा, “एक बार ऐसे ही किसी कार्य के लिए आचार्यजी ने उनसे कहा था। उन लोगों ने स्पष्ट कहा कि हम लोग यहाँ विद्याध्ययन करने आए हैं, आश्रम की सेवा करने नहीं। तब से उनसे किसी कार्य के लिए नहीं कहा जाता। माताजी तुम्हारे संबंध में भी कुछ ऐसा ही सोच रही थीं।”

“पर मैंने तो सुना है कि राजत्व और कुलीनता—सबकुछ आश्रम के प्रवेशद्वार पर ही छूट जाता है।” मैंने कहा, “यदि यहाँ पर भी राजा और रंक हैं, कुलीन और सामान्य का अंतर है, तो फिर आश्रम जीवन कैसा?”

पर आप विश्वास करें, उस समय यह अंतर आश्रम में प्रवेश कर चुका था। आश्रम जीवन की प्राचीन गरिमा में बड़ी क्षिप्रता से गिरावट आ रही थी।

हम दोनों चले जा रहे थे, पर कहीं सूखा वृक्ष दिखाई नहीं पड़ रहा था। वर्षा का पानी पोंछकर प्रकृति हरियाली में झूम रही थी। जो वृक्ष सूखे भी थे, उनमें भी कोंपलें फूट आई थीं।

विचित्र स्थिति थी।

“हरित वृक्ष को काटकर भी लकड़ियाँ सुखाई जा सकती हैं।” सुदामा झुँझलाया।

“सूखे पेड़ की लकड़ियाँ शायद माताजी ने इसलिए माँगी हैं कि वे जलने में आसान होती हैं।”

“नहीं, यह बात नहीं है।”

“तब कौन सी बात है?”

“हरित वृक्ष में जीव होता है। उसे काटना जीव-हत्या करना है।” मैंने कहा, सुदामा मुझे आश्चर्य से सुनता रहा—“हमारी ही तरह ये वृक्ष भी बाल होते हैं, युवा होते हैं, वृद्ध होते हैं तथा हमारी तरह ही ये जीते और मरते हैं। हमारी ही तरह इन्हें भोजन, प्रकाश और जल की आवश्यकता होती है। हमारी ही तरह इनमें आत्मा है।”

“हमारी ही तरह इनमें आत्मा है!” सुदामा मेरे कथन पर चकित था—“यह क्या कह रहे हो, कृष्ण?”

“ठीक कह रहा हूँ, मित्र। सामने जो अश्वत्थ हरहरा रहा है, उसमें भी वही आत्मा है जो मुझमें है, या मैं ही यह अश्वत्थ हूँ।” कितनी सहजता से मेरे मुख से जीवन दर्शन निकल गया था। सुदामा उस समय तो आश्चर्यचकित था ही। स्वयं मैं आज जब सोचता हूँ तो आश्चर्यचकित होता हूँ।

बहुत दिनों बाद मैंने ‘गीता’ में अर्जुन से कहा था—‘अश्वत्थः सर्ववृक्षानाम्’। वस्तुतः ‘गीता’ मेरे जीवन अनुभव के साथ ही जनमी थी। ‘गीता’ में मैंने जो कुछ कहा था, वह समय-समय पर विविध संदर्भों में भोगता गया था। युद्धक्षेत्र में इसे संयोग ही कहूँगा कि अर्जुन के समक्ष कहे गए शब्द संसार के लिए भले ही नए रहे हों, पर मेरे लिए नए नहीं थे।

“सब जीवधारी हैं तो कुल्हाड़ी किसपर चलाऊँ?” सुदामा बोला, “अब तो हमें कोई मरा हुआ वृक्ष खोजना ही पड़ेगा।”

हम चलते रहे, लगातार चलते रहे—एक पहाड़ी से दूसरी पहाड़ी पर।

कहीं मृत वृक्ष दिखाई नहीं दिया। लाचार हम एक निर्झर के किनारे थककर बैठ गए। इस निर्झर के शीतल एवं स्वच्छ पारदर्शी जल से मैंने प्यास बुझाई और उसी विशाल शिलाखंड पर लेटकर वंशी बजाने लगा। सुदामा तो बहुत जल्दी सो गया, पर मेरी आँखें कब मुँदीं, पता नहीं।

मैंने इतनी तन्मयता से वंशी बजाई थी कि यदि कहीं आसपास आदमी होता तो अवश्य चला आता; पर चिड़ियों की चहचहाहट के अतिरिक्त किसी जंगली जीव की वहाँ जैसे उपस्थिति ही नहीं थी।

हमारी भी नींद उस समय खुली जब आकाश में मेघ दुंदुभी बजाने लगे थे।

इसे भी संयोग कहूँ या कुयोग कि जब वर्षा की जरा भी आशंका नहीं थी, प्रकृति ने अच्छी तरह आकाश से बादल पोंछ लिये थे, नभ साफ तवे-सा चमचमा रहा था, तब पता नहीं कहाँ से ऐसे सघन घन छा गए।

चारों ओर अँधेरा घिर आया। समय का ज्ञान खो गया। सुदामा तो एकदम घबरा गया—“हे भगवान्, अब क्या होगा!”

मैंने उसे ढाढ़स बँधाया—“घबराओ नहीं। पास की किसी गुफा में चलो। ये बरसनेवाले मेघ हैं और हम बुरी तरह भीग जाएँगे।”

पर पास में कोई गुफा नहीं थी। दो-तीन व्यक्तियों के खड़े होने योग्य चट्टान से बना हुआ एक आड़ अवश्य था। हम उसीमें खड़े हो गए।

अब स्पष्ट लगा कि संध्या भी दुलक रही है। वर्षा तेज होती जा रही थी। लगता था, आसमान फट पड़ेगा। हवा भी पागलों की तरह काटने को दौड़ती हुई वर्षा के ऐसे तेज झोंकों के साथ कि हम उस आड़ में भी भीगकर सराबोर। झड़ी ऐसी लगी कि थमने का नाम नहीं। देखते-देखते सामने के झरने का हाहाकार भी दूना हो गया। अँधेरा और गाढ़ा होने लगा।

मेरे सामने तो लगभग वही दृश्य था, जब व्रज पर इंद्र कुपित हुए थे। अंतर केवल इतना था कि उस समय वर्षा के हाहाकार में व्रजवासियों का हाहाकार भी सम्मिलित था; पर इस हाहाकार में मेरे मित्र का भयकंपित मौन मेरी बगल में थरथरा रहा था।

“अब क्या होगा, कन्हैया?” सुदामा ने पूछा।

“होगा क्या! जो जलेगा वह बुझेगा ही; जो बरसेगा वह थमेगा ही।”

“लेकिन कब थमेगा?”

“जब अपनी शक्ति भर बरस लेगा।”

“तब तो रात भी हो सकती है!”

“और अगला सवेरा भी।” मैंने इतने सहजभाव से कहा कि उसका आश्चर्य झुँझलाया।

“तुम्हें भय नहीं लग रहा है, कन्हैया?”

“प्रकृति का यह रूप मेरे लिए भयप्रद क्या होगा! इससे कहीं अधिक भयानकता में तो मेरा जन्म हुआ था।” इतना कहने के साथ-साथ ही मैं हँसने लगा।

समय बढ़ता गया। वर्षा थमने को कौन कहे, तेज होती गई। अँधेरा इतना गाढ़ा हो गया कि हाथ को हाथ नहीं सूझता था।

“अब क्या होगा?” सुदामा पुनः बोला।

“होगा क्या! अब इसी शिलाखंड पर चुपचाप बैठे रहो।”

“आचार्यजी क्या सोच रहे होंगे?”

“कुछ भी सोचें। हम अपने मन से तो यहाँ आए नहीं हैं।” मैंने कहा, “हमें तो माताजी ने भेजा है—और एक निश्चित वर्जना के साथ भेजा है। इसमें हमारा क्या अपराध!”

वह चुप रह गया। मैंने बिजली की चमक में देखा, व्यग्रता और भय से उसकी आकृति पीली पड़ चुकी थी। मैंने उसकी मुद्रा बदलने के लिए कहा, “इस तरह चुपचाप बैठने से क्या लाभ?”

“तो क्या चाहते हो, बैठकर रोऊँ!” वह झुँझलाया।

“नहीं, गाओ। कैसी मनोरम वर्षा है! सामगान करो। वरुण की आराधनावाली ऋचाएँ गाओ। मैं वंशी बजाता हूँ।” सचमुच मैंने वंशी बजानी आरंभ भी कर दी।

“तुम भी बड़े विचित्र हो! चाहते हो कि मृत्यु के प्रकोष्ठ में भी बैठकर मैं गाऊँ।”

“यही तो जीने की कला है।” मैंने अपना अनुभव सुनाते हुए कहा, “मालूम है, कालिय नाग के फन पर भी मैंने नृत्य किया था। वंशी बजाई थी। अपना जीवन तो हमें जीना है। चाहे हम हँसकर जीएँ या रोकर। जीने की कला हमें हर परिस्थिति में आनंद के साथ जीने का निर्देश देती है।” मैंने उसकी भयाक्रांत मानसिकता को एकदम झकझोरते हुए कहा, “यदि हम आश्रम में होते तो ऐसी बारिश में क्या करते—निश्चित रूप में आनंद लेते; तो वही आनंद हम यहाँ क्यों नहीं लेते! केवल इसलिए कि यह अँधेरा हमें निगल जाएगा? अरे, यह हमारे स्वर के साथ थिरक भी सकता है। हमारे संगीत के साथ यह पूरी प्रकृति संगीतमय हो जाएगी।”

“और यदि कोई वन्य पशु आ गया तो?”

“पागल हुए हो! इस अंधकार और वर्षा में हम-तुम तो निकलने का साहस नहीं जुटा पा रहे हैं, वन्य पशु क्या निकलेगा! जो जहाँ होगा वहीं पड़ा रहेगा।”

अब सुदामा की जान में जान आई। बहुत कहने पर उसने गाना आरंभ किया। पर कितनी देर तक गाते, घड़ी-डेढ़ घड़ी। फिर बातों में उलझ गए।

“मेरे जीवन का तो यह पहला अनुभव है।” उसने कहा।

“पर मेरे लिए तो ये सारे अनुभव बासी पड़ चुके हैं।” मैंने कहा, “हाँ, मुझे भूख अवश्य लग रही है। कुछ रखे हो तो निकालो।”

“मेरे पास क्या है!”

“क्यों, तुम्हें चलते समय माताजी ने कुछ दिया नहीं था?”

“नहीं तो।” सुदामा साफ झूठ बोल गया।

पर उसका झूठ अधिक देर तक सुरक्षित नहीं रह सका। मुझे शीघ्र ही लगा कि वह छिपाकर कुछ खा रहा है।

“क्या खा रहे हो?”

“कुछ तो नहीं।”

“तब तुम्हारे दाँत क्यों बोल रहे हैं?”

“सर्दी से दाँत किटकिटा रहे हैं। हवा जो तेज बह रही है।” झूठ को झूठ की आवश्यकता हमेशा बनी रहती है और इस आवश्यकता की पूर्ति सुदामा करता जा रहा था। यद्यपि मैं देख रहा था कि वह चने खा रहा है; फिर भी मैंने उस झूठ को नंगा होने नहीं दिया।

जागते-सोते किसी तरह रात बीती। ब्राह्म मुहूर्त आते-आते बादल छँटने लगे थे। वर्षा बंद हो गई थी। आकाश में चतुर्दशी का चंद्रमा हमपर आई अप्रत्याशित विपदा पर हँस रहा था। हवा अब भी तेज और ठंडी थी। हमारे कपड़े अब भी भीगे हुए थे। सुदामा कुछ अधिक ही थरथरा रहा था।

मैं पहले से ही शिलाखंड की छाया से बाहर निकल आया था। मैंने सुदामा को पुकारा—“बाहर आओ! देखो, प्रकृति हमपर कितनी कृपालु है!”

“कृपालु है! इस परिस्थिति में भी तुम व्यंग्य करने से नहीं चूकते।” सुदामा बाहर आते हुए बोला।

“मैंने व्यंग्य नहीं, सत्य कहा है। वह देखो।” मैंने अंधड़ में टूटकर बह आए उन पेड़ों की ओर संकेत किया, जो झरने के किनारे लगे थे। “अब जितनी लकड़ियाँ चाहें, हम ले चल सकते हैं।”

सुदामा के चेहरे पर पहली बार मुसकराहट उभरी—“यहाँ से ले चलने की क्या आवश्यकता! रास्ते में बहुत सारे वृक्ष उखड़े होंगे।”

“हाँ, यह तुमने समझदारी की बात की।” मैंने कहा और वहाँ से हम दोनों चल पड़े।

आश्रम तक आते-आते सूर्योदय हो गया था। लकड़ियों के बड़े-बड़े कुंदे सिर पर लिये हुए हम दोनों आश्रम में प्रविष्ट हुए। हमने देखा, आश्रम का विराट् पीपल धराशायी हो गया है।

हमें दूर से ही दिखाई दिया था कि आचार्यजी अपने शिष्यों के साथ पहाड़ी की ऊँचाई पर चढ़कर चारों ओर दृष्टि दौड़ा रहे हैं। उनकी व्यग्रता शायद हमें खोज रही थी। हमारे आते ही सबके सब दौड़े हुए चले आए।

“तुम लोगों ने बड़ा कष्ट उठाया।” आचार्यजी ने मेरे गीले वस्त्रों पर हाथ रखते हुए कहा, “वस्त्र बदलो और जलपान करो।”

“हाँ, मुझे भूख बहुत तेज लगी है।” मैंने कहा।

“सुदामा भी भूखा होगा।” आचार्यजी बोले।

“यह तो वही जाने या माताजी जानें।” मैंने ऐसे ढंग से कहा कि आचार्यपत्नी के सिर पर सहस्रों घड़े पानी पड़ गया। सुदामा और वे एक-दूसरे को देखते रह गए।

□

ग्यारह

यद्यपि मैंने कभी भी उस रात्रि की चर्चा नहीं की, फिर भी सुदामा मुझसे झेंपता रहा। उसे ऐसा कुछ लग रहा था कि उस रात छिपाकर खाने का आभास मुझे लग गया है; क्योंकि एक रात पता नहीं किस मुद्रा में मैं माताजी (आचार्यपत्नी) से बोला, “शास्त्रों में ऐसा कहा है कि शिष्य को आचार्य या आचार्यपत्नी से कपट नहीं करना चाहिए। यह घोर पाप है। इसका प्रायश्चित्त भी कठिन है; तो यदि आचार्यपत्नी किसी शिष्य से कपट करे, तब क्या वह पाप नहीं है?”

उस समय और शिष्य भी वहाँ थे। उन्होंने संदर्भ नहीं समझा। संदर्भहीन चर्चा अनजान वृक्ष से टूटे उड़ते हुए पत्ते की तरह है, जिसका मूल हम नहीं जानते, केवल आँधी में उसे उड़ता हुआ देख भर लेते हैं। उन शिष्यों ने भी हमारी बातों का मूल नहीं जाना, केवल चुपचाप उड़ता हुआ पत्ता देखते रहे। पर माताजी ने उस पत्ते के वृक्ष को पहचान लिया था। वह लज्जित हुई; पर कुछ बोल नहीं पाई। उस दिन से जब भी मैं किसी कार्य के लिए उनके पास जाता, उनकी दृष्टि नीची ही रहती। सुदामा को छिपाकर दिए हुए चने उन्हें मेरी आकृति पर छिटके हुए दिखाई देते।

इस स्थिति में मैं स्वयं उनसे कतराने लगा।

एक दिन प्रातः अग्निहोत्र के बाद आचार्यजी ने मुझे अपनी कुटिया में बुलाया और मुझे वक्ष से लगाते हुए कहा, “शिष्य, तुम्हारी शिक्षा पूरी हुई।”

यह मेरे लिए अप्रत्याशित था। मैंने कभी समझा नहीं था कि मुझे इतनी जल्दी यहाँ से छुट्टी मिल जाएगी। मेरा शंकाकुल मन अचानक सोचने लगा, ऐसा तो नहीं कि आचार्य मुझे यहाँ से हटाना चाहते हैं? मैंने कोई भूल तो नहीं की? मुझसे कोई अवज्ञा तो नहीं हुई? पर मैं कुछ बोल नहीं पाया। मेरी बगल में भैया भी मौन ही रहे।

पर आचार्यजी ने मेरे गंभीर मौन को पढ़ लिया। वे वैसी ही गंभीरता से बोले, “मैंने सारी विद्या तुम्हें दे दी। वस्तुतः मेरा दान उतने महत्त्व का नहीं था, जितनी तुम्हारी ग्राह्यता थी। जैसे धरती जल को सोख लेती है वैसे ही तुमने मेरी सारी विद्या सोख ली।”

हम दोनों भाई चुपचाप सुनते रहे।

“मैं तेरे जैसे शिष्य को पाकर धन्य हुआ।” आचार्य बोलते गए—“चौंसठ दिनों में ही तुमने वह सब जान लिया, जिसे प्राप्त करने में औरों का संपूर्ण ब्रह्मचर्य जीवन समाप्त हो जाता है।”

मैं अब भी चुप था। पर भैया से नहीं रहा गया—“ऐसा तो नहीं कि हमें अब भी आपसे कुछ सीखना शेष रह गया हो!”

“यह क्या कह रहे हो तुम?” आचार्यजी की मुद्रा बदली। उन्हें लगा कि जैसे हम उनपर अविश्वास कर रहे हों।

सचमुच भैया बड़े सरल स्वभाव के थे। उन्होंने सुन रखा था कि हस्तिनापुर में आचार्य शिष्यों के साथ भी राजनीति करते हैं। वे किसीको पूरी शिक्षा देते हैं और किसीको अधूरी। यह भी उनकी सहजता ही थी कि उन्होंने सीधे-सीधे बात पूछ ली।

“क्षमा करें, अत्र भवान्!” मैंने स्थिति सँभाली—“भैया ने हस्तिनापुर के आचार्यों के बारे में बहुत कुछ सुन रखा है।”

“जिनकी विद्या स्वर्णखंडों पर खरीद ली गई और सत्ता की दासी हो गई।” मेरी बात समाप्त होने के पूर्व ही

आचार्यजी बोलने लगे—“जिसने स्वतः समर्पित शिष्यत्व से उसका अँगूठा कटवा लिया, ऐसे आचार्य की तुलना तुम मुझसे करते हो! जिसका व्यक्तित्व एक खुली हुई पुस्तक है, जिसका ज्ञान यज्ञ के धूम की तरह पवित्र है और निर्झर के जल की तरह सर्व सुलभ। हाँ, उस निर्झर तक पहुँचने की क्षमता होनी चाहिए।” आचार्यजी का आवेश बढ़ता गया—“तुम मेरी तुलना उन आचार्यों से करते हो! मैंने किसी शिष्य का अँगूठा काटना तो दूर रहा, मैंने कभी भी किसी शिष्य की क्रियमाण शक्ति पर आघात तक नहीं किया। मैंने आश्रम की अस्मिता सिंहासन के हाथ नहीं बेची वरन् उसकी रक्षा में अपने पुत्र तक को गँवाया; पर आचार्यत्व की गरिमा पर आँच आने नहीं दी।”

आचार्यजी का स्वाभिमान जहाँ भभक रहा था, पुत्र का नाम सुनते ही माताजी की आँखें वहीं नम होने लगीं। वह स्वयं को सँभाल नहीं पाई और वहीं काष्ठासन पर ढुलक गई।

और संक्षिप्त मौन उनकी सिसकियाँ पीने लगा।

उसके पूर्व मैं आचार्यजी को भी अपने पुत्र के लिए बिलखते देख चुका था। आज माताजी की करुणार्द्र विह्वलता मुझे बहुत भीतर तक छू गई। मेरी जिज्ञासा ने जोर मारा—वह कौन सा संदर्भ है, जिसका संस्पर्श मात्र घाव को हरा कर देता है, फफोले फूटकर बहने लगते हैं?

मैंने माताजी के चरण छूकर पूछा, “आप इतनी दुःखी क्यों हैं?”

वह मुझे वक्ष से लगाकर फूट-फूटकर रोने लगीं।

बाद में माताजी की सिसकियों के बीच आचार्यजी ने मुझे एक व्यथा कथा सुनाई—“मुझे एक ही पुत्र था, वह भी बड़ी अर्चना और पूजा के बाद हुआ था। हम लोग उस समय भी प्रभासतीर्थ की यात्रा पर थे। तुम्हारी माताजी गर्भवती थीं, इसलिए मैं उन्हें भी साथ ले गया था। मार्ग में ही नौका पर उस बेटे का जन्म हुआ। मुझे लगा जैसे जल देवता ने मुझे आशीर्वाद दिया हो। मैंने उसका नाम भी ‘ऋत’ रखा। मुझे प्रसन्नता थी, चलो पितृऋण से मुक्त हुआ। मुझसे अधिक तुम्हारी माँ प्रसन्न थीं। ऐसा स्वस्थ और सुंदर शिशु उन्होंने पाया था जैसा बड़े भाग्य से होता है।

“प्रभास पहुँचते-पहुँचते वह चार मास का हो गया था। बैठने लगा था। उसकी किलकारियों पर तुम्हारी माँ के स्वप्न तैरने लगे थे। पर ये स्वप्न बहुत जल्दी ही बिखर गए।” इसके बाद आचार्यजी कुछ क्षणों तक रुके, जैसे उनका गला भर आया हो।

“बात यह हुई कि प्रभासक्षेत्र में एक समुद्री दस्यु—दस्यु नहीं वरन् उसे दस्युराज* कहो, आता था। अपने साथियों के साथ आना और अपने आसपास के प्रदेशों को लूटकर चल देना उसका काम था। एक दिन वह आश्रम में आया और मुसकराते दैत्यों की तरह खड़ा हो गया। मैं तो उसे पहचानता नहीं था, पर उस आश्रम के आचार्य सुदामा के पिताजी उसे पहचानते थे। वे उसे देखते ही घबरा गए। उसने मुझसे पूछा, ‘आप अवंती से पधारे हैं?’ मैंने कहा, ‘हाँ।’

“‘वहाँ आपका आश्रम है? आप ही सांदीपनि हैं?’

“इस प्रश्न के उत्तर में भी मैंने स्वीकारात्मक ढंग से सिर हिलाया। ‘तब मैं चाहता हूँ कि आप मेरे राज्य में चलें और मेरे पुत्रों को शिक्षा दें।’

“‘आचार्य किसीके राज्य में नहीं रहता और न किसीका अन्न खाता है।’ मेरा आचार्यत्व भभक उठा—‘आचार्य का राज्य तो उसका आश्रम है।’

“‘तब आप मेरे यहाँ भी अपना आश्रम बना लेना, अपना राज्य स्थापित कर लेना।’ वह अट्टहास करते हुए बोला। बड़ा विद्रूप था उसका अट्टहास। मेरा मन उसमें खोने लगा। मैंने स्वयं को सँभाला—‘आखिर आप कौन

हैं? आपने तो अपना परिचय दिया नहीं।’

“ ‘मेरा परिचय? मैं वैवस्वतपुर का तिमि हूँ।’

“ ‘तब तो तुम म्लेच्छ हो। मेरी विद्या म्लेच्छों के लिए नहीं है।’ मैंने कहा।

“ ‘अच्छी तरह समझ लीजिए—और इसका भी विचार कीजिए कि आप किससे बात कर रहे हैं!’ उसकी ध्वनि थोड़ी टेढ़ी हुई—‘अभी तक प्रभास में मेरी अवज्ञा करने का साहस किसीमें नहीं हुआ है। और आप!’

“ ‘अवज्ञा कर रहे हैं, यही न!’ मेरा अहं बीच में ही बोल उठा—‘तो सुनिए दस्युराज, आश्रम में आचार्य की आज्ञा के अतिरिक्त और किसीकी आज्ञा का प्रवेश नहीं होता।’ इतना सुनना था कि वह लाल हो उठा। बोला, ‘तुम मेरी बात नहीं सुनते हो तो याद रखना, शीघ्र ही तुम्हें इसका फल भोगना पड़ेगा।’

“ इस घटना को बीते एक घड़ी भी नहीं हुई होगी कि वह पुनः अपने एक साथी के साथ आया। हम लोग उद्यान में बैठे थे। सामने ऋत घुटनों के बल ढुलक रहा था। उसने उसे दोनों हाथों से उठाकर जोर से आकाश में उछाला। बालक चिहूँक उठा। उसके प्राण कंठ तक आ गए।

“ फिर वह उसे लेकर चल पड़ा और जाते हुए बोला, ‘तुम हम म्लेच्छों को शिक्षा नहीं दोगे, हम तुम्हारा बालक अर्थात् तुम्हारी आत्मा लिये जा रहे हैं। यह मेरे यहाँ बंदी रहेगा; तब तक, जब तक तुम अपना निर्णय नहीं बदलोगे।’ ”

इतना कहते-कहते आचार्यजी की आकृति पर अमर्ष की छाया आ गई।

“ और आपने निर्णय नहीं बदला! ” मेरे मुख से निकला।

“ क्या करता, आश्रम की अस्मिता को म्लेच्छों के चरणों में डाल देता? आचार्यत्व के भारतीय आदर्श के मस्तक पर कलंक का टीका लगा देता? ”

भैया धीरे से बोले, “कहीं आप हस्तिनापुर में होते...”

भैया पूरी बात कह भी नहीं पाए थे कि मैंने उनका हाथ दबाया और चुप रहने का संकेत किया।

“ यह कितने दिनों की बात है? ”

“ करीब पंद्रह-सोलह वर्ष हो गए होंगे। अब तक तो ऋत तुम्हारे जितना बड़ा हो गया होगा। ”

“ इस बीच आपने उसके दर्शन नहीं किए? ”

“ यथार्थ में तो नहीं, पर कल्पना में अवश्य करता रहा। यह कल्पना तुम्हारी माता को रोने के लिए विवश करती रही। वह बहुत कहती है, क्या जिंदगी ऐसे ही सिसकते हुए निकल जाएगी! ”

इस समय भी माताजी की सिसकन को वातावरण पीता चला जा रहा था।

“ तो हमारे लिए क्या आज्ञा है? ” मैं बोला।

“ आज्ञा! ” इतना कहकर आचार्यजी सोच में पड़ गए।

हम लोग चुपचाप उनके चरणों के पास भूमि पर बैठे रहे।

“ अब तुम्हारी शिक्षा पूरी हुई। तुम जा सकते हो। ” स्पष्ट लगा कि वे कुछ और कहना चाहकर भी कुछ और कह गए।

हम चुप थे; पर हमारी आँखें बराबर उनकी आँखों की ओर लगी रहीं जैसे वे कह रही हों—“कुछ कहिए, हम तैयार हैं।”

आचार्य ने संकोच के साथ पुनः कहना आरंभ किया—“ अब तुम जीवन के मुक्त क्षेत्र में जा सकते हो। ”

मैंने अनुभव किया कि इस बार भी आचार्यजी संकोच में रह गए। मैं ही बोला, “ जिस द्वार से मुझे जाना है, वह तो

अभी खुला नहीं है।”

“किस द्वार की बात कर रहे हो?”

“आपकी गुरुदक्षिणा तो अभी दी ही नहीं।” आचार्य की आकृति से पहली बार मुसकराहट झाँकी—“यदि गुरुदक्षिणा देना ही चाहते हो तो मेरे ऋत को उन म्लेच्छों से छुड़ाकर लाकर दे दो।”

“ठीक है।” हमने आचार्य के चरण छुए, फिर माताजी के—“आप हमें आशीर्वाद दें कि हम आपके आँसू पोंछ सकें।”

माताजी ने हमें छाती से लगा लिया। उनकी सिसकन और भी तेज हो गई। आँसू के भीगे अंचल से उन्होंने मेरा मुँह पोंछा और बिदा दी।

हम चलने को थे ही कि वे बोल उठीं, “जरा रुको।”

थोड़ी देर बाद वह एक पोटली में चने बाँधकर लाई और मुझे देते हुए धीरे से बोलीं, “यदि मुझसे कभी गलती हुई हो तो भूल जाना।”

मेरे अधरों से एक सहज हँसी छूट पड़ी।

□

यों तो मैं प्रभासतीर्थ जा चुका था, पर इस समय उसका हर मार्ग अनचीन्हा और अनजाना लग रहा था; क्योंकि साथ में अब गुरुजी नहीं थे, केवल उनका आशीर्वाद था। हम दोनों भाई थे। साथ में उद्धव और सुदामा भी। उद्धव को तो हम छोड़ना चाहते थे। मेरी इच्छा थी, वह व्रज की ओर चला जाए। बहुत दिनों से गोपांगनाओं का कोई समाचार नहीं मिला था।

“पर मैं वहाँ जाकर क्या करूँगा?” उद्धव ने स्पष्ट कहा, “व्रज में बिना कृष्ण के जाना और न जाना बराबर है; क्योंकि वे कृष्ण के बिना न तो किसीसे बात करना चाहती हैं और न मिलना ही पसंद करती हैं।”

उसके इस कथन में सच्चाई जो कुछ भी हो, पर इतना तो अवश्य सत्य है कि उद्धव ने स्वयं को मेरे प्रति समर्पित कर दिया था। वह एक क्षण के लिए भी मुझसे अलग होना नहीं चाहता था; पर आचार्य ने उसे आज्ञा नहीं दी थी।

“आचार्य ने तुझे आज्ञा नहीं दी है। शायद तेरी शिक्षा पूरी नहीं हुई।” मैंने उससे कहा।

“क्या करूँगा शिक्षा पूरी करके!” उद्धव बोला, “मैं संयोगवश यहाँ चला आया था। आचार्यजी दो का उपनयन कराने के लिए राजी नहीं थे, इसलिए मैं तीसरा उन्हें उपलब्ध हो गया। तुम दोनों की कृपा से मेरा उपनयन हुआ। आश्रम में प्रवेश की दीक्षा मिली। अब मैं उस कृपा की छाया को ही छोड़ दूँ? यह कैसे हो सकता है?”

अब स्थिति विचित्र थी। आचार्यजी से कैसे अनुमति ली जाए? मैंने उद्धव को अपने साथ लिया और चुपचाप उनके सामने जाकर खड़ा हो गया।

हमें कुछ कहना नहीं पड़ा। वे हमें देखकर मुसकराए और बोले, “तुम उद्धव को भी ले जाना चाहते हो न? ले जाओ।” ऐसी स्थिति में उद्धव मेरे साथ आया।

सुदामा तो हमारे साथ चल ही रहा था; पर वह अंत तक चलने के लिए तैयार नहीं था। एक तो आचार्य ने उसे अनुमति नहीं दी थी, दूसरे प्रभास जाना उसके लिए वर्जित था।

जब मैंने उससे इसका कारण पूछा तो उसने स्पष्ट बताया—“आचार्यजी को भय है कि मेरी भी स्थिति पुनर्दत्त जैसी न हो जाए।”

“यह पुनर्दत्त कौन है?”

“अरे, उसी ऋत का दूसरा नाम है।” सुदामा को आश्चर्य था कि मैं इतना भी नहीं जानता। उसने एक दूसरी कथा

सुनाई—“ऋत के जन्म के बाद नामकरण संस्कार के समय एक गहरा विवाद हो गया। ऋत्विजों ने परिस्थिति के अनुसार उसे ‘ऋत’ नाम दिया, पर जन्मांक बनानेवाले ज्योतिषियों ने उसे ‘पुनर्दत्त’ कहा। इसके दो कारण थे। एक तो वह हस्ति नक्षत्र के प्रथम चरण में पैदा हुआ था, इसलिए उसका नाम ‘पू’ या ‘पु’ से होना चाहिए, दूसरे उन्होंने उसके ग्रह-नक्षत्रों के आधार पर बताया था कि एक बार अवश्य यह शिशु आपसे छीन लिया जाएगा या कहीं चला जाएगा। फिर अनेक वर्षों तक इसका कहीं पता नहीं चलेगा। इसके बाद योग ऐसा है कि परिस्थिति आपसे आप ऐसी बनेगी कि यह आपको प्राप्त हो जाएगा। यह नियति द्वारा आपको पुनर्दत्त होगा।”

यह अद्भुत कथा मुझे आश्चर्यजनक लगी। मैंने जिज्ञासावश पूछा, “यह सब तुम्हें बताया किसने?”

“यह कोई छिपी हुई बात तो है नहीं। इसे बहुत से लोग जानते हैं। ज्योतिषी तो बहुधा अपने भविष्यफल की प्रामाणिकता में इसका उदाहरण देते हैं और बड़े विश्वास के साथ कहते हैं कि पुनर्दत्त के संदर्भ में हमारी भविष्यवाणी अर्धसत्य हो चुकी है और आधी सत्य होना शेष है।”

“तो क्या वह भी सत्य होगी?” इस बार भैया बोले।

“ज्योतिषियों के अनुसार तो अवश्य सत्य होगी।”

इससे मुझे बड़ा संतोष हुआ। मैंने सोचा, जो होना है, वह तो पहले से ही निश्चित हो चुका है। हम तो निमित्त मात्र बन रहे हैं। मैंने यही बात बलराम भैया से कही। वे बड़े सहजभाव से बोले, “अब जीवन ही नियति के हाथ में है; देखो, वह कहाँ-कहाँ ले जाती है!”

□

भृगु आश्रम तक पहुँचाकर सुदामा लौट गया।

भृगु आश्रम का प्राकृतिक सौंदर्य अद्भुत है। भृगु ऋषि ने अपनी तपस्या के लिए भी ऐसी स्थली चुनी। सोचता हूँ, इन महान् ऋषियों की हार्दिकता भी प्रकृति की रमणीयता को कितनी गहराई से पहचानती थी। यहाँ श्वेत स्फटिक (संगमरमर) के पहाड़ों की गोद में कल्लोल करती नर्वदा राका ज्योत्स्ना में दुग्ध-धवल हो जाती थी। चारों ओर झरते निर्झर दूध की बौछार करते थे। और, उस रात जब मेरी तरणी श्वेत स्फटिक की घाटी में चंचल तरुणियों की क्षिप्रता लिये बह रही नर्वदा में चली, पूर्णिमा का चंद्रमा आकाश में था। उसकी हँसी हमें क्षीर सागर में सुला रही थी।

हम सभी मस्त थे। मेरी मस्ती ने अनायास वंशी को मेरे अधरों पर रख दिया। और प्रकृति का वह दुग्ध-धवल रूप संगीत के सुर में डूब गया।

हमारी यात्रा चलती रही। कभी नाव से धरती पर और कभी धरती से नाव पर। सरस्वती और कपिला के समुद्र संगम पर बसे इस प्रभासतीर्थ पर प्रकृति की बड़ी कृपा थी। एक ओर सौराष्ट्र का तटीय प्रदेश था, जहाँ आर्यावर्त का सूर्य अस्त होता। इसके आगे भूमि नहीं। यहीं समुद्र का निरंतर हाहाकार सुनता सूर्य का एक विशाल मंदिर था। आर्यों की भी सांस्कृतिक अभिरुचि अद्भुत थी। वह डूबते हुए सूर्य की भी पूजा करते थे।

यह मंदिर एक पहाड़ी पर था। पहाड़ी के उस पार आदिवासियों से भरा विशाल जंगल था, जो वर्ण और प्रकृति में हम आर्यों से भिन्न थे।

प्रभास की जनसंख्या घनी थी। वस्तुतः यह धार्मिक स्थल होने के साथ-साथ व्यावसायिक केंद्र भी था, संपत्ति और समृद्धि से भरा-पूरा। यहाँ साधु और ब्रह्मचारियों से कम श्रेष्ठियों का महत्त्व नहीं था।

इसके पूर्व भी हम प्रभास आश्रम में आ चुके थे। यहाँ के कुछ लोग हमें देखते ही पहचान गए। हमने आश्रम में ठहरना उचित नहीं समझा। यद्यपि वहाँ सुदामा के पूज्य पिताजी से भेंट हो जाती; पर मैंने उनके संबंध में सुन रखा

था कि ज्ञानी तो बहुत हैं, पर युद्धभीरु हैं। और इस समय मैं पंचजन को संघर्ष का निमंत्रण देने निकला था। ऐसी स्थिति में एक ज्ञानी भीरु से मिलना अपने मनोबल पर आघात करना होता।

यद्यपि उद्धव आश्रम में ही चलने के पक्ष में था, किंतु मैंने उससे कुछ और न कहकर बस इतना ही कहा, “एक आश्रम से निकलकर फिर दूसरे आश्रम में चलना उचित नहीं होगा।”

भैया ने भी मेरी बात का समर्थन किया।

फलतः हम उस श्रेष्ठी के पास चले, जिसके उपवन में हमने आचार्य के साथ एक रात बिताई थी। वस्तुतः इसके पूर्व जब हम आचार्य सांदीपनि के साथ आए थे, तब उसने बड़ी श्रद्धापूर्वक सभी शिष्यों को एक दिन भोजन कराया था और रात्रि विश्राम के लिए आश्रय दिया था।

हमें देखते ही वह पहचान गया—“कैसे कृपा की, प्रभो?”

“आपके भोजन का स्वाद हमें खींच लाया।” मैंने हँसते हुए कहा और औरों के साथ वह भी हँसने लगा।

“अहोभाग्य, जो आप पधारे।” उसने कहा। सेवकों को बुलाकर चरणामृत लिया और फिर उपवन में मेरे ठहरने की व्यवस्था की।

मैंने उसे बताया—“अब हम आश्रमवासी नहीं रहे। गृहछाया में भी जीवन बिता सकते हैं।”

“क्यों? आपकी शिक्षा पूरी हो गई क्या?” उसे विश्वास ही नहीं था कि इतने कम समय में मेरी शिक्षा पूरी हो सकती है।

जब मैंने उसे विश्वास दिलाया कि सचमुच मेरी शिक्षा पूरी हो गई है, तब वह एकटक मुझे देखता रह गया; जैसे उसकी दृष्टि हममें कुछ मानवेतर निहार रही हो।

“शिक्षा समाप्त करने के बाद आप मथुरा नहीं गए? अपने माता-पिता से भेंट नहीं की और पर्यटन पर निकल पड़े?”

“हाँ, कुछ ऐसा ही है।” मैंने कहा, “मेरी शिक्षा तो पूरी हो गई, पर अभी समाप्त नहीं हुई। ठीक वैसे ही जैसे मेरा भोजन तो समाप्त हो गया हो, पर हाथ-मुँह का प्रक्षालन बाकी हो।”

“कहते क्यों नहीं कि मैं जूठे मुख से यहाँ आया हूँ।” भैया ने विनोद किया और हम सब हँस पड़े।

पर श्रेष्ठी की जिज्ञासा उस हास्य में समा न सकी। उसे हम अबूझ पहेली-से दिखाई देते रहे।

हमने शीघ्र ही उसकी उलझन को तोड़ते हुए कहा, “हम गुरुदक्षिणा के लिए निकले हैं।”

“तब आपने पहले ही क्यों नहीं कहा?” वह कहना तो चाहता था कि आप इतनी पहेली क्यों बुझा रहे थे, पर वह कह नहीं पाया। वह बड़े सहजभाव से बोला, “तब जो आज्ञा हो, आपकी सेवा में उपस्थित करूँ।”

“आप वही तो नहीं कर सकते।” मैंने अपनी प्रकृति के अनुसार उसे फिर उलझाया।

“आप क्या कह रहे हैं! मेरी सारी संपत्ति आपकी सेवा में अर्पित है। आप जितना चाहें, ले जाएँ। अपने गुरु को दक्षिणा में देकर उन्हें संतुष्ट करें।”

“यही तो हमें नहीं चाहिए।” मैंने कहा, “यदि संपत्ति ही दक्षिणा में माँगी गई होती, तो मैं आपके पास न आकर मथुरा गया होता।”

अब श्रेष्ठी बड़े असमंजस में पड़ा कि आखिर ये लोग चाहते क्या हैं?

“फिर मैं क्या सेवा करूँ?”

“आपकी सेवा की नहीं, मुझे आपकी सहायता की आवश्यकता है।” अब मैंने उन्हें समझाया—“मैं एक अभियान पर निकला हूँ, पुनर्दत्त की प्राप्ति का अभियान।”

पुनर्दत्त का नाम सुनते ही श्रेष्ठी के होश उड़ गए। उसे धरती खिसकती जान पड़ी। भयग्रस्त होते हुए बोला, “तब तो आपका यह अभियान मृत्यु के मुख की ओर जाता है।”

मैं जोर से हँस पड़ा। मेरे हास्य के झंझावात को भय के सूखे वृक्ष को जड़ से उखाड़ देना चाहिए था, पर उसे उतनी सफलता नहीं मिली। श्रेष्ठी का भय मात्र कंपित होकर रह गया। मैं उसे बड़ी सहजता से नष्ट करते हुए बोला, “देखिए, आपने एक बात तो बता दी न!”

“क्या?”

“यही कि पुनर्दत्त की प्राप्ति का मार्ग यमलोक जाता है।” मैंने उसके भय पर अंतिम प्रहार करते हुए कहा, “जब मैं कालिय नाग को नाथने जा रहा था, तब भी लोग इसी प्रकार की बातें कर रहे थे।”

अब उसने मुझे कुछ विशेष दृष्टि से देखा। शायद उसकी आँखों ने मुझमें देवत्व की खोज आरंभ की।

“आप मुझे इतनी रहस्यात्मक दृष्टि से क्यों देख रहे हैं? लगता है, आपको उस यमपुरी का मार्ग मालूम है।”

“बहुत दिन हुए, पंचजन पुनर्दत्त को उठा ले गया है।” श्रेष्ठी बोला, “वह राक्षसराज है, विदेशी है, जलदस्यु है, लुटेरा है।” फिर भय की छाया श्रेष्ठी की आँखों में उतरने लगी—“अब वह सौराष्ट्र के किनारे कुशस्थली के निकट ही अपना नया राज्य भी बसा रहा है।”

“नया राज्य बसा रहा है!” यह सूचना नहीं थी। आश्चर्यान्वित होना स्वाभाविक था।

“लगता तो यही है।”

“तुम तो कह रहे हो कि वह राक्षसराज है, तो उसका राज्य तो कहीं होगा ही?”

“है न, वैवस्वतपुर में।”

“तब वह यहाँ राज्य क्यों बसा रहा है?”

“यह तो वही जाने। उसकी मंशा को कोई बता नहीं सकता; पर इतना सत्य है कि वह जलयानों में भर-भरकर वैवस्वतपुर से लोगों को लाकर कुशस्थली के जंगल में छोड़ रहा है।”

“तब तो यही उचित होगा कि हम लोग कुशस्थली चलकर वहाँ के लोगों के बीच रहें। पंचजन का पता मिलेगा। राजा का कोई व्यक्ति वहाँ जरूर होगा।”

“आप वहाँ जाकर करेंगे क्या?”

“क्यों?”

“वह न आपकी भाषा समझेंगे और न आप उनकी।”

मैंने कटि से वंशी निकालते हुए कहा, “इसे देखते हो, जहाँ भाषा का संकट होता है, मैं इसका सहारा लेता हूँ। इसकी भाषा अंतरराष्ट्रीय भाषा है। संगीत का स्वर सबकी समझ को पकड़ लेता है।”

श्रेष्ठी चुप हो कुछ सोचता रहा।

“यदि पंचजन के किसी व्यक्ति से आपको मिलना है तो उसकी व्यवस्था यहाँ भी हो सकती है।”

“वह कैसे?”

“हर मास उसका कोई-न-कोई व्यक्ति यहाँ चौथ वसूलने आता है।” श्रेष्ठी ने कहा और मेरे कान खड़े हो गए।

“वह तुम लोगों से ‘कर’ भी ले जाता है! तब तो उसका राज्य यहाँ हो ही गया। तुम सब उसकी प्रजा हो गए। प्रजा ही नहीं बल्कि पराधीन प्रजा।”

“जो भी आप समझें!”

“क्या कभी आपके मन में घृणा नहीं होती? विक्षोभ नहीं होता? क्या कभी आप यह नहीं सोचते कि वह आपसे

किसलिए धन ले जाता है? क्या यह अत्याचार नहीं है?”

“अत्याचार तो है, पर हम वणिक कर क्या सकते हैं?”

“आप बहुत कुछ कर सकते हैं।” भैया बोले।

मैंने भी उनके स्वर में स्वर मिलाया—“क्या आप जानते हैं कि अत्याचार सहन करना पराधीन होने की पहली और आखिरी शर्त है?”

“इसे जानकर भी मैं क्या कर सकता हूँ?” श्रेष्ठी की झुर्रियों में उसकी लाचारी थी—“आखिर इतने बड़े आचार्य का पुत्र वह उठा ले गया, कोई क्या कर सका उसका?...और इस घटना को हुए भी आज लगभग पंद्रह वर्ष हो गए। आप लोगों के सिवा किसीने भी उसे छुड़ाने की कल्पना तक नहीं की।”

श्रेष्ठी ही नहीं, पूरा प्रभास नगर पंचजन से थरथराता था और लगभग स्वयं को पराधीन समझता था। कारण भी स्पष्ट था।

“उसके पास युद्धपोत हैं। आधुनिक आयुध से सज्जित एक शक्तिशाली सेना है। जब चाहता है, स्वच्छंद, निर्द्वंद्व लूटपाट करके बेरोक-टोक चला जाता है।”

“केवल इसलिए कि आप लोग उसे जाने देते हैं।” मैंने कहा।

“तो हम क्या करें? उससे युद्ध करें?” श्रेष्ठी बोला, “युद्ध करना हमारा काम नहीं है। युद्ध तो क्षत्रियों को करना चाहिए और वे उसका नाम सुनकर काँपते हैं।”

“तब तुम्हारा कोई कर्तव्य नहीं?”

“हमारा कर्तव्य केवल वाणिज्य तक सीमित है।” श्रेष्ठी ने कहा, “व्यापार करना और उसके लाभांश का एक भाग ‘कर’ के रूप में देने तक ही हमारे कर्तव्य की इतिश्री है। इससे मेरी स्थिति में भी फर्क नहीं पड़ता। आज वह ‘कर’ ले जाता है, कल यहाँ का कोई और शासक होगा, वह ‘कर’ ले जाएगा।”

हमने अनुभव किया कि प्रभास के लोगों ने परिस्थितियों से समझौता कर लिया है। वे पराधीनता भोगने लगे हैं। इस मानसिकता से उन्हें मुक्त करना बड़ा कठिन है। उन्हें विश्वास दिलाना बड़ा कठिन है कि पंचजन को परास्त भी किया जा सकता है।

मैंने यों ही किसी संदर्भ में श्रेष्ठी से कहा, “आप जानते हैं, चींटी कितनी छोटी होती है; पर वह युक्ति से हाथी को भी परास्त कर देती है।”

“इस दिशा में मैंने कभी सोचा नहीं।” श्रेष्ठी ऐसे झटके से बोला जैसे वह इस संदर्भ में बिल्कुल कुछ सोचना ही नहीं चाहता।

“आप पंचजन के आदमियों से हमारा परिचय तो करा सकते हैं?”

“अवश्य।”

और उस दिन का अध्याय यहीं समाप्त हुआ।



इसके लगभग दो-तीन दिनों बाद जब हम प्रातः भ्रमण के लिए पहाड़ी पर गए थे तब हमें उस ऊँचाई से दूरी पर जलयान आते दिखाई पड़े। सागर के लहराते नीले जल और नीलवर्णी आकाश से मिले नील क्षितिज पर कुछ श्वेत-श्याम धब्बे की तरह उभरते ये जलयान गिने नहीं जा सकते थे। इनकी संख्या जो भी हो, ये अवश्य ही पंचजन के जलयान हैं, इसे हम सबने समझ लिया।

“पहले ये सूर्य मंदिर की ओर समुद्र में अपना लंगर डालेंगे।” भैया ने कहा।

“क्यों?”

“क्योंकि ये सूर्योपासक हैं।” इनके सूर्योपासक होने की बात भैया ने कहीं से सुन रखी थी।

तभी हम लोगों ने देखा कि पहाड़ी के उस पार बसे काले और नाटे कद के विदेशियों की बस्ती में कोलाहल मच गया था। वे सब अपने-अपने हाथों में कोई-न-कोई बड़ा या छोटा पात्र अथवा वस्त्र लिये सूर्य मंदिर की ओर दौड़े चले जा रहे थे। स्पष्ट था कि उन जलयानों पर कुछ सामान इनमें बाँटने के लिए लाया जा रहा है।

“हमें भी उधर ही चलना चाहिए।” उद्धव बोला।

“किसलिए? जलती अग्नि में स्वाहा होने के लिए?” मैंने कहा, “देखते नहीं हो, यहाँ का कोई भी व्यक्ति सूर्य मंदिर की ओर नहीं जा रहा है, वरन् जो वहाँ हैं वे भी धीरे-धीरे खिसक रहे हैं।”

हम लोग कुछ क्षणों तक मौन तमाशा देखते रहे। विदेशियों, आदिवासियों की भीड़ वहाँ जमने लगी। प्रभास के मूल निवासी अपने घरों में दुबकने लगे। एक प्रकार के आतंक की विकराल छाया से पूरा प्रभास घिर गया।

हमने अपने आवास पर ही लौटना उचित समझा। उद्धव ने फिर विरोध किया—“वहाँ चलकर क्या करोगे?”

“वहाँ उद्यान में बैठकर चुपचाप देखेंगे कि इस कोलाहल का धुआँ कहाँ तक जाता है!” मैंने कहा। निश्चित है, मेरे कथन का पूर्ण आशय वह समझ नहीं पाया होगा। फिर भी उद्धव कुछ नहीं बोला और चुपचाप मेरे साथ चला आया।

सूर्य मंदिर का कोलाहल और ठीक इसके विपरीत प्रभास के मूल निवासियों का भयग्रस्त सन्नाटा। एक ओर आह्लाद एवं उन्मुक्त प्रसन्नता और दूसरी ओर मौन विवश आक्रोश। एक ओर सुखद सम्मिलन और दूसरी ओर अपने ही कोटर में घुसकर छिप जानेवाली कछुए जैसी लाचारी।

प्रभास के इस परिवर्तित परिवेश ने हमें कुछ सोचने के लिए विवश किया। आखिर इन विदेशियों से यहाँ के लोग इतने आतंकित क्यों हैं? आतंक के नीचे एक दुर्बल आक्रोश हमेशा सुलगता है। उसको हवा दी जा सकती है। यदि उसे अच्छी तरह भभका दिया जाए तो आतंक जलकर राख भी हो सकता है; पर अभी ऐसी स्थिति नहीं है।

हम लोग जब लौटकर उद्यान में आए तब हमने अनुभव किया कि हमारे आने के पहले ही यहाँ भी हमारे आतंक की थरथराहट आ चुकी है। पिछले दिनों की भाँति आज यहाँ मेरा स्वागत करनेवाला कोई नहीं था। किसीने जलपान के लिए भी नहीं पूछा। कुछ देर तक हम उद्यान की पुष्करिणी के चारों ओर टहलते ही रह गए और फिर वहीं एक शिला पर बैठकर कमलों से मधुपों की छेड़खानी देखते रहे। पर मन तो इस नई परिस्थिति में उलझा था। इसीसे हम तीनों में से किसीने किसीसे कोई बात नहीं की।

थोड़ी देर बाद पश्चिम की ओर से माली आता दिखाई दिया। मैंने संकेत से उसे अपने पास बुलाया।

“क्या बात है, आज बड़ा सन्नाटा दिखाई दे रहा है?” मैंने सबकुछ जानकर उससे पूछा।

“आपको मालूम नहीं है? पंचजन के जलयान आ चुके हैं।” इतना कहते-कहते उसकी मुद्रा और भी भयातुर हो गई।

“आने दो, इससे क्या! अरे जब जलधि है तब जलयान तो आते-जाते रहेंगे।” मैंने इस तरह से कहा जैसे मैं कुछ जानता ही न हूँ।

“लगता है, आपको कुछ मालूम नहीं है।” माली बोला, “इस जलयान में पंचजन के सैनिक होंगे, जो आते ही लूटमार मचा देंगे। तब हर व्यक्ति की सुरक्षा खतरे में पड़ जाएगी। औरतें और बच्चों तक को वे उठा ले जाते हैं। बूढ़ी औरतों के आभूषण तक वे उतरवा लेते हैं। व्यापारी काँपते हुए चौथ लेकर उनकी सेवा में उपस्थित होते हैं।”

“और यदि उपस्थित न हुए तो?” मैंने बीच में उसे टोका।

“तब समझिए, कुशल नहीं है।”

“सब लोग मिलकर उनका सामना क्यों नहीं करते?”

वह हँसा, मानो मेरे अज्ञान की हँसी उड़ा रहा हो।

“हम सब मिलकर भी क्या कर सकते हैं! उनकी एक फूँक से उड़ जाएँगे।” उसने कहा।

हमने अनुभव किया कि ये पराजित तो हैं ही, साथ ही इन्होंने विजय का विश्वास भी खो दिया है। यह स्थिति बड़ी भयावह होती है। इस विश्वास के टूट जाने के बाद किसी भी पराधीन जाति का स्वाधीन होना तो दूर, उसे स्वाधीनताबोध भी नहीं रह जाता।

“इस समय तुम्हारे स्वामी कहाँ हैं?” मैंने कुछ हटकर उससे प्रश्न किया।

“मुझे तो दिखाई नहीं दिए। हो सकता है, चौथ के जुगाड़ में लगे हों।”

“यदि वे चौथ न दें तो क्या होगा?”

“इसे तो वे ही बता सकते हैं।” इतना कहकर माली चला गया।

इसके बाद हम लोग किसी तरह श्रेष्ठी से मिले। वह पसीने-पसीने था।

“इतने घबराए हुए क्यों हैं?” मैंने पूछा।

वह कुछ नहीं बोला, केवल अपनी स्वर्णमुद्राएँ गिनता रहा।

“मेरे योग्य कोई सेवा हो तो आप निस्संकोच कहें।” मैंने पुनः कहा।

“क्या कहूँ! मुझे कुछ स्वर्णमुद्राएँ चाहिए।” निश्चित है, वह आपे में नहीं था, नहीं तो इस तरह झुँझलाता नहीं।

“और यदि स्वर्णमुद्राओं की आप व्यवस्था नहीं कर सके तो?”

“तो हमें प्रतिभू (जमानतदार) की व्यवस्था करनी पड़ेगी।”

“इसमें क्या चिंता है, हम तो हैं ही!” मैंने इतने सहजभाव से कहा कि वह मुझे देखता रह गया।

“आप प्रतिभू होंगे!”

“क्यों, हममें क्या कोई कमी है?”

“नहीं, यह बात नहीं है।” उसने अपनी व्यग्रता पर नियंत्रण करते हुए कहा, “वह प्रतिभू पड़नेवाले व्यक्ति को अपने साथ ले जाते हैं।”

“तो हम तीनों चले जाएँगे।” मैं तो यही चाहता रहा।

श्रेष्ठी की समस्या तो हल हुई, पर वह बड़े संकोच में था। उसने हमें सांत्वना देते हुए कहा, “मुद्रा चुका देने के बाद वह आपको लौटा देंगे।”

मैं हँस पड़ा। मुझे तो कहना चाहिए था कि मैं अपना काम पूरा किए बिना नहीं लौटूँगा, पर मैं कुछ बोला नहीं। श्रेष्ठी आश्वस्त हुआ। उसकी व्यग्रता कुछ कम हुई। अब उसे होश आया कि हम लोगों को आज सवेरे का जलपान भी नहीं मिला है।

“आप क्षमा कीजिएगा। मैं अपनी समस्या में ही उलझा रहा।”

“आप ही नहीं, आज संसार ही अपनी समस्या में उलझा है। आपकी अपनी समस्या है और मेरी अपनी।” मैंने कहा।

मैं नहीं जानता कि वह मुझे समझ पाया या नहीं। अब तक वह स्वयं उठकर जलपान की व्यवस्था के लिए चला गया था।

दोपहर तक नगर में कोलाहल फैल चुका था। पंचजन के सैनिकों की पदचाप हम लोगों को प्रभास की शांति

भंग करती सुनाई पड़ रही थी। हम तीनों वहाँ बैठे अपनी भावी योजना पर विचार कर रहे थे। हमारा आतिथेय अपने नए अतिथियों के स्वागत में लगा था। उसके सारे परिचर उसीमें व्यस्त थे।

आज हमारे भोजन में भी देर हुई। पता चला कि भोजनालय में आज तरह-तरह के पकवान बनाए जा रहे हैं। भैया को आश्चर्य भी था और दुःख भी।

“हम लोग जब यहाँ आए थे तो श्रेष्ठी ने कोई तैयारी नहीं की थी। हमारा महत्त्व इनकी दृष्टि में इन लुटेरों से कम था।” वस्तुतः भैया अपने अहं से परेशान थे। जहाँ उसपर चोट पड़ती, वे तिलमिला उठते।

“क्योंकि हमारे आने पर इनपर कोई संकट नहीं था। यह व्यक्ति का नहीं, संकट का स्वागत कर रहे हैं। वस्तुतः इनकी तैयारी भय और आतंक के अभिवादन के लिए है।” मैंने कहा।

“पादाक्रांत और दबे हुए लोगों से आप आशा ही क्या कर सकते हैं!” उद्धव पहली बार बोला।

थोड़ी देर बाद पता चला कि पंचजन के लोग पधार चुके हैं। श्रेष्ठी का सारा आवास थरथराने लगा। हमें आशा थी कि उन लोगों से हमारा परिचय कराया जाएगा; पर ऐसा कुछ नहीं हुआ। हम अकेले उद्यान के प्रकोष्ठ में पड़े रहे। हमारे भोजन का समय भी बीत चला था। हम लोगों के लिए यह कोई बड़ी बात नहीं थी; पर भैया के लिए भूख सँभालना थोड़ा कठिन पड़ता था। वे खुद उठे और किसी परिचर की खोज आरंभ की। अंत में वह माली ही मिला।

उन्होंने उससे पूछा, “तुम्हारे स्वामी कहाँ हैं?”

“वह अतिथियों के सत्कार में लगे हैं।”

“उनके पास जाकर हमारा उल्लेख करके पूछो कि आज हमें जाना है या नहीं।” भैया ने कहा।

“पर उनसे मिलना इस समय बड़ा कठिन है।” माली बोला।

“कठिन हो या सरल, तुम्हें तो उनसे मिलना ही होगा; क्योंकि हमें भी एक कठिन काम के लिए तैयार होना है— और वह काम तुम्हारे स्वामी का ही है।”

अब वह तुरंत चल पड़ा। हमारी ओषधि काम कर गई। थोड़ी देर बाद ही हमारे लिए भोजन रजत थालियों में वहीं सजकर आ गया।

हमने अनुभव किया कि कई दृष्टियों से हमारे भोजन में नवीनता है। भोजन तो अन्य दिनों की अपेक्षा समृद्ध है, नए-नए पकवान बनाए गए थे; पर थालियाँ स्वर्ण के स्थान पर रजत की थीं। लगता है, नए अतिथियों के लिए स्वर्णथालियों का उपयोग कर लिया गया होगा। दूसरी बात थी कि रोज हम भोजनालय में भोजन करने के लिए बुलाए जाते थे। आतिथेय स्वयं हमारे साथ बैठकर भोजन करता था; पर आज हमारा भोजन उद्यान में ही भेज दिया गया था। लगता है, श्रेष्ठी रहस्यमय दृष्टि से पंचजन के आदमियों के सामने अचानक ही हमें प्रस्तुत करना चाहता था; क्योंकि उसे हमारी वास्तविकता से डर था। वह हमारे बनते काम बिगाड़ सकती थी।

हुआ भी ऐसा ही। थोड़ी देर बाद मैं बुलाया गया। श्रेष्ठी के सामने एक हृष्ट-पुष्ट अधिकारी अपनी सैनिक वेशभूषा में आयुध से युक्त बैठा था।

मुझे देखते ही श्रेष्ठी ने कहा, “ये हैं हमारे प्रतिभू।”

वह एकदम हमें देखता रह गया। मेरे सिर पर मोर मुकुट और मेरी वंशी से भी आकर्षक किसी प्रकार के भय और आतंक को चुनौती देती मेरी मुसकराहट थी। श्रेष्ठी को भी ऐसा लगा जैसे मेरा व्यक्तित्व उसपर चमत्कार की तरह छा रहा है।

“ये हैं कौन?” उसने अचानक प्रश्न किया।

बस इसी एक प्रश्न से श्रेष्ठी गड़बड़ा गया। वह हड़बड़ाते हुए बोला, “ये हमारे अतिथि हैं।”

“तुम अतिथि को प्रतिभू के रूप में उपस्थित कर रहे हो!” उसने चकित होते हुए कहा। उसके बोलने के ढंग से लगा कि वह यहाँ की भाषा बोलने में अभ्यस्त नहीं है। फिर भी वह आवेश में बोलता जा रहा था—“अतिथि को तुम लोग देवता मानते हो न! अपने देवता को ही तुम लोग प्रतिभू के रूप में देना चाहते हो?”

“जी नहीं, ये हमें नहीं देना चाहते थे।” अब मैंने बातचीत की बागडोर सँभाली—“हमने ही इनसे आग्रह किया। आप ही बताइए, कहीं देवताओं का आग्रह टाला जा सकता है?”

मेरी बात सुनकर वह चुप हो गया। फिर मुझे बड़े ध्यान से देखता रहा। बोला, “लगता है, आप किसी संभ्रांत कुल के हैं।”

मैं उसका क्या उत्तर देता। मात्र मुसकराकर रह गया।

“आप क्या हमारे साथ चलकर बंदियों का जीवन बिता सकेंगे?”

“क्यों नहीं!” मैंने हँसते हुए कहा, “अरे भाई, बंदीगृह तो मेरी जन्मस्थली है।”

“तुम बंदीगृह में जनमे हो? तुम्हें देखने से विश्वास तो नहीं होता।”

अनेक सत्य ऐसे भी हैं, जो मनुष्य की सहज बुद्धि को अविश्वस्त ही लगते हैं।...और जब मैंने यह कहा कि जब मैं पैदा हुआ तब मेरे माता-पिता दोनों बंदीगृह में थे, तब वह फिर आश्चर्य में पड़ा कि फिर वे मुक्त कैसे हुए?

“जब उस राजा का विनाश हुआ।” मेरे इस कथन का निष्कर्ष उसने यह निकाला कि मैं किसी राजवंश का नहीं हूँ। यदि मैं किसी राजवंश का होता तो जन्म के समय मेरे माता-पिता किसी बंदीगृह में क्यों रहते?

फिर भी वह सोचता रहा। कुछ समय तक सोचता रहा। फिर धीरे से बोला, “मैं प्रतिभू के रूप में तुम्हें स्वीकार करता हूँ।”

“धन्यवाद।” मैंने आभार व्यक्त किया—“पर मुझे ही क्यों? मेरा आग्रह है कि मेरे भाई और मेरे मित्र को भी मेरे साथ ही स्वीकार किया जाए।”

“ऐसा क्यों?”

“हम तीनों मित्र हैं। हमेशा साथ रहे हैं और हमेशा साथ रहना चाहते हैं।”

“पर श्रेष्ठी पर इतना बकाया नहीं कि उससे तीन प्रतिभू लिये जाएँ।” वह बोला, “दूसरे हमारे जलयान पर स्थान भी नहीं है। और तीसरी बात यह है कि हो सकता है, हमारे जलयान का अधिकारी तुममें से किसीको भी स्वीकार न करे।”

“ऐसा क्यों?”

“उसकी दृष्टि बड़ी प्रखर है। उसे जब किसीके बारे में अच्छी तरह विश्वास हो जाता है कि वह गुप्तचर नहीं है, तभी उसे स्वीकार करता है।”

“ओ, गुप्तचर!” इतना कहकर मैं जोर से हँसा—“मैं गुप्त चर नहीं, चर और स्पष्टतः चर हूँ।”

वह सैनिक अधिकारी मुसकराया। उसकी मुसकराहट कह रही थी—“हर गुप्तचर अपने को चर ही कहता है।”

इसके बाद हम सैनिकों को सौंप दिए गए।

अन्य प्रतिभुओं की तरह उन्होंने हमें भी हथकड़ी पहनाना चाहा। मैंने प्रतिवाद करते हुए कहा, “यह किसलिए?”

“जिससे तुम भाग न सको।” उन सैनिकों में से एक बोला।

“जब हम स्वयं अपनी इच्छा से चल रहे हैं, तब भागने का प्रश्न कहाँ उठता है?”

“पर हमारा नियम है कि हम बिना हथकड़ी लगाए ले नहीं जाते। कौन व्यर्थ का जोखिम उठाए!”

“हमारा भी नियम है कि हम कभी हथकड़ी नहीं पहनते।” मेरी आवाज थोड़ी तेज हुई। इस प्रकार अत्यंत निर्भीकता से बोलते देखकर उन्हें भी बड़ा आश्चर्य हुआ। मैंने उसे ओषधि की एक मात्रा और दी—“यदि हथकड़ी ही लगानी है तो पंचजन को बुलाओ, वे लगावें हथकड़ी। मैंने तो सोचा था कि इसी बहाने पंचजन के दर्शन करूँगा। वे बड़े गुणग्राही हैं।”

पंचजन का नाम सुनते ही सैनिक एकदम सकते में आ गए। इसी बीच वह सैनिक अधिकारी आ गया, जिसने मुझे प्रतिभू स्वीकार किया था। उसने संकेत किया और सैनिक चुपचाप हथकड़ियाँ समेटकर मेरे पीछे हो लिये।

□

जलयान पर पहुँचते ही हमें पंचजन के सेनानायक घोरक के समक्ष उपस्थित किया गया और उसे बताया गया कि हमें श्रेष्ठी कुलक के प्रतिभू के रूप में लाया गया है।

घोरक सचमुच घोरक था। उसके खुले और अस्त-व्यस्त प्रलयकारी मेघों की तरह बाल भय की वर्षा कर रहे थे। घनी काली भौंहों के बीच दो बड़ी-बड़ी ऊपर से जड़ी मालूम पड़ती आँखें भाप उगलती आतंक के दो खौलते विशाल कुंडों जैसी लग रही थीं। आकृति पर दाढ़ी-मूँछों के अरण्य से ढकी झुर्रियों के विवरों से क्रूर विचारों के विषधर फुफकार रहे थे।

जब हमें उसके समक्ष खड़ा किया गया तब भी मैं गंभीर न रहकर मुसकराता रहा, केवल इसलिए कि उसे आभास हो कि उसके व्यक्तित्व का मुझपर कोई प्रभाव नहीं है।

वह एकदम हमें देखता ही रहा। फिर पूछा, “तुम कौन हो?”

“मैं श्रेष्ठी कुलक का प्रतिभू हूँ।”

“यह तो मैं भी जानता हूँ।” उसने कहा, “मैं जानना चाहता हूँ कि वास्तव में तुम कौन हो?”

“मैं कुलक का अतिथि और वास्तव में आपका बंदी हूँ।”

“तुम्हारा दूसरा परिचय क्या है?” इस बार उसकी आवाज थोड़ी कड़की।

“बंदीगृह में एक बंदी का बंदी के सिवा कोई दूसरा परिचय नहीं होता।”

“तो तुम बंदीगृह की यातना भोगने आए हो?”

“यदि प्रतिभू को यातना ही दी जाती हो तो मैं उसे भी भोग सकता हूँ।” मैंने कहा; क्योंकि मैं जानता था कि प्रतिभू पर केवल दृष्टि रखी जाती है। जब अभीष्ट मुद्राएँ प्राप्त हो जाती हैं, तब उसे मुक्त कर दिया जाता है। न प्राप्त होने पर प्रतिभू को दास बना लेने और यातना भी देने का विधान था; पर प्रतिभू को यातना देना दंड की पराकाष्ठा थी।

वस्तुतः वे राक्षस थे। उनके यहाँ बहुत से अपवाद भी रहे होंगे। ध्यातव्य है कि ‘राक्षस’ हम उन्हें कहते थे, जो हमारी आर्यभाषा नहीं जानते थे। उनके जीवन का सांस्कृतिक परिवेश भी हमसे काफी भिन्न था।

अन्य लोग मेरे इस उत्तर से चकित थे। उन्हें विश्वास था कि घोरक की कुदृष्टि का मैं अवश्य भाजन बनूँगा; पर ऐसा हुआ नहीं। मेरी वेशभूषा और मेरे बात करने के ढंग से भी उसके मन में मेरे संभ्रांत होने की धारणा बैठ गई।

“किंतु बंदियों जैसे तो तुम नहीं हो।...और हमारे यहाँ किसी भी बंदी को आयुध रखने की अनुमति नहीं है।” उसका संकेत भैया के कंधे पर हल की ओर था।

“यह युद्ध आयुध नहीं वरन् कर्म आयुध है।” मैंने भैया के हल के लिए कहा और विस्तार से बताया—“हल से हमारे देश में भूमि जोती जाती है। अकाल पड़ने पर राजा को भी कृषक की तरह हल चलाना पड़ता है।” इस संदर्भ में मैंने महाराज जनक के हल चलाने की कथा सुनाई तथा कहा, “और फिर मेरे बड़े भाई मूलतः किसान हैं। वे इस कर्म आयुध को सदा अपने साथ रखते हैं।”

घोरक शांत रह गया। यह तो कहिए कि उसकी दृष्टि मेरे चक्र की ओर नहीं गई—या गई हो, वह समझ ही न पाया हो।

उसने हमें प्रतिभू की श्रेणी में रख लेने की अनुमति दे दी।
सैनिक हमें ले चले। हमारे लिए जलयान में चालक की बगल का कक्ष निश्चित किया गया। किंतु नियमानुसार फिर वही आफत आई—पैरों में बेड़ियाँ पहनने की।

“हम हथकड़ी और बेड़ी से मुक्त हैं।” मैंने कहा।

“किसने मुक्त किया?”

मैंने उसे उस सैनिक अधिकारी की हुलिया बताई, जो मुझे श्रेष्ठी के यहाँ मिला था। मैं उसका नाम नहीं जानता था। फिर भी मेरा काम बन गया।

मैंने देखा, ऐसे प्रभास से कुछ लोग बंदी बनाकर लाए गए थे, जो हमें पहचानते थे। मैंने सबको अनजान बने रहने का संकेत किया। वे सबके सब मेरी बात मान गए; क्योंकि उन्हें हमें देखकर बड़ा ढाढ़स हो रहा था।

अब जलयान काफी दूर चला आया था। धरती कब की क्षितिज में डूब चुकी थी। संध्या के अस्त होते ही सूर्य ने पूरे सागर में रक्त घोल दिया था। जीवन का यह अनुभव भी एक दृष्टि से सुखद और मोहक था; क्योंकि यह मेरे जीवन की पहली समुद्री यात्रा थी।

मैंने उद्धव से धीरे से कहा, “जरा पता लगाओ कि आर्य जाति के कितने लोग इस समय यान में हैं!”

उद्धव का यह काम आसान नहीं था; क्योंकि सात जलयान साथ चल रहे सहस्र थे। ज्ञात हुआ कि पाँचवें और सातवें में आर्य बंदी अधिक हैं। सबकी संख्या अर्ध सहस्र के पास होगी।

मेरी थोड़ी हिम्मत बढ़ी। चलो, हम अकेले नहीं हैं। हमारे साथ पाँच सौ लोग हैं।

संध्या डूब जाने के बाद जब अंधकार ने पूरी प्रकृति पर कालिख पोत दी तब दो चर हमारे लिए मृत्तिकापात्र में भोजन लेकर आए। यह न मेरे स्वाद के अनुकूल था और न मेरी मर्यादा के। फिर भी जीना तो था ही, किसी प्रकार पेट में डाला।

भैया के मुख से निकल ही पड़ा—“कहाँ आ फँसे!”

“आखिर गुरुदक्षिणा तो चुकानी ही है।”

मेरी बात की कोई प्रतिक्रिया नहीं हुई। लोगों का मन खिन्न हो चुका था। मैं भैया को लेकर उस जगह आया, जहाँ पालें बैधी थीं।

“उधर मत जाओ।” एक वर्जना मुझसे टकराई। मैंने देखा, प्रधान नाविक मंकण मुझे रोक रहा है।

आकाश में पूर्णिमा का चंद्रमा था, मेरी सबसे बड़ी दुर्बलता। उसकी रजत किरणें चाँदी के साँपों की तरह समुद्री लहरों पर रेंग जा रही थीं।

मैं वहीं बैठकर वंशी बजाने लगा। मंकण पर मेरी वंशी का ऐंद्रजालिक प्रभाव पड़ा। वह पाल की डोर पकड़कर मुग्धभाव से सुनता रहा।

निश्चित है, जलयान के लोगों ने मेरे वंशीवादन का आनंद लिया होगा। कुछ सैनिक अधिकारी तो वहाँ तक चले आए थे।

“तू तो बड़ा कलाकार मालूम होता है।” मंकण बोला, “कब से सीखी यह कला?”

“जब से साँसों का चलना आरंभ हुआ।”

“तो क्या माता के पेट से वंशी लेकर ही पैदा हुआ था?” मंकण हँसते हुए बोला।

“वंशी लेकर तो नहीं पैदा हुआ था। हाँ, कला लेकर अवश्य पैदा हुआ था।”

मंकण मुसकराया—“तुम अत्यधिक चतुर मालूम होते हो। निश्चय ही हमारे स्वामी (पंचजन) को तुम्हारे जैसे व्यक्ति की आवश्यकता होगी।”

बातें आगे बढ़तीं, इसी बीच जोर का हवा का झोंका आया और लगातार आता रहा। मंकण का माथा ठनका। लगता है, भूल हो गई।

उसने मुझसे पूछा, “आज कौन सी तिथि है?”

मैंने कहा, “पूर्णिमा।”

“अनर्थ हो गया!” वह एकदम घबरा गया—“आज तो मुझे चलना ही नहीं चाहिए था।” वह घबराहट में एक सैनिक अधिकारी का नाम लेकर चिल्लाया—“जल्दी से आपात घंटी बजाओ। जलयान में जो जहाँ है, वहीं लेट जाए।”

उद्धव धड़ से लेट गया; पर हम दोनों बैठे-बैठे उस परिस्थिति का अध्ययन करते रहे। मंकण ने शीघ्र ही पणव (एक विशेष प्रकार का नगाड़ा) एवं तूर्यवादकों को बुलाया और कहा, “विपत्ति आसन्न है। आसपास के जलयानों को सूचित करो।”

तूर्य और पणव निरंतर बजने लगे। एक विशेष प्रकार की ध्वनि हवा के पंखों पर उड़ने लगी।

हमें यह तो लगा कि झंझावात की आशंका है; पर हम वास्तविकता जान नहीं पाए। अब मंकण ने कुछ पालों को खोल देने का और कुछ को दिशा बदलने के संकेत किए।

“आखिर बात क्या है? आप इतने घबराए हुए क्यों हैं?” मैंने एक नाविक से पूछा।

“अरे, आज पूर्णिमा है। ज्वार की रात। आज की रात समुद्र उन्मत्त हो जाता है।”

“तो इसे शांत करने के लिए इसकी आराधना करो।” मैंने कहा।

मंकण मेरी बात सुनता रहा। फिर बड़ी व्यग्रता से बोला, “आप लोग सिंधु की शांति के लिए किस प्रकार की आराधना करते हैं?”

“कई आराधनाएँ करते हैं और कई प्रकार की। आपको याद होगा, सिंधु से मार्ग माँगते हुए राम ने भी उसकी आराधना की थी। पर लगता है, आपकी राक्षसी संस्कृति आराधना में विश्वास नहीं करती; वह केवल लूटपाट, हिंसा, घृणा और बलात्कार में ही विश्वास करती है।” इतना कहकर हम तीनों व्यक्तियों ने समवेत स्वर में शांति पाठ आरंभ किया।

...शं नः सूर्य उरुरक्षा उदेतु शं नः नश्चतस्त्र प्रदिशो भवन्तु, शं नः पर्वता ध्रुवतो भवन्तु, शं नः सिन्धवः शमु सन्त्वायः।

हमारा शांति पाठ चलता रहा। मंकण और उसके आदमी बड़ी गंभीरता से सुनते रहे—

ॐ द्यौः शान्तिरन्तरिक्षं शान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः वनस्पतयः शान्तिर्विश्वेदेवा शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः सर्वैः शान्तिः शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि।

आप शायद विश्वास न करें, हमारे शांति पाठ के साथ हवा की गति में भी थोड़ा परिवर्तन हुआ। मंकण को सचमुच आश्चर्य था। वह चकित हो हमारे शांति पाठ को सुनता रहा। मैंने पाठ रोककर उसे सचेत करते हुए कहा, “आप अपना कर्तव्य करते रहिए। मेरी आराधना का यह अर्थ नहीं है कि ज्वार अब नहीं आएगा। ज्वार-भाटे का आना-जाना तो एक प्राकृतिक व्यापार है। प्रकृति तो अपना काम करेगी ही।”

मंकण पर अब मेरी बुद्धि का प्रभाव छाने लगा था।

“तुम्हारे शांति पाठ से क्या ज्वार रुक नहीं सकता?”

उसके इस प्रश्न पर मुझे हँसी आ गई।

“क्या मेरी आराधना से आप पर आई मृत्यु टल सकती है?” मैंने प्रश्न का उत्तर प्रश्न में ही दिया।

“मैंने तो यह सुना है कि आर्य लोग मंत्रों से मृत्यु पर भी नियंत्रण कर लेते हैं।”

“नियंत्रण करना और बात है तथा मृत्यु को समाप्त करना और बात। जीवन के दूसरे छोर पर मृत्यु तो मिलेगी ही, यह शाश्वत सत्य है—और शाश्वत सत्य मंत्रों से नहीं टाले जा सकते।”

बात हो ही रही थी कि हवा धीरे-धीरे तेज होती गई।

मंकण के सामने अब एक दूसरी ही विपत्ति थी। जिन पालों को खोलना था, उनमें कुछ की डोर तेज हवा के झोंके के कारण ऊपर को फँस गई। अब क्या होगा? हवा और तेज होती जा रही थी। लहरें काफी ऊपर उठने लगी थीं। मंकण क्या, अन्य नाविक भी घबरा गए।

मैं चुपचाप तमाशा देख रहा था और उस नियति को मौन नमन कर रहा था, जो हर विपत्ति को मेरी सहायक बना देती है।

मंकण चिल्लाया—“है कोई बहादुर, जो पाल के ऊपर जाकर रस्सी सुलझा दे?”

“अरे, ऐसी उलझी है कि अब सुलझाना कठिन है।” दूसरा नाविक बोला, “किसी तरह उसे काट या तोड़ देने की व्यवस्था कीजिए।”

“पर ऐसा होगा कैसे?” मंकण की व्यग्रता के हाथ-पैर फूल गए। जलयान बेतरह डगमगा रहा था। लहरों के थपेड़े जलयान के ऊपर से निकल जा रहे थे।

“बंदियों से कहो कि यदि उनमें कोई यह कार्य कर दे तो उसे मुक्त कर दिया जाएगा।” मंकण चिल्लाया—“अरे, हमारे जलयान की ही यह स्थिति नहीं है। बगल के जलयान के एक पाल की भी रस्सी फँस गई है।”

बार-बार बंदियों को पुकारा गया, पर कोई तैयार नहीं हुआ। दुर्बल मन के अस्थिर संकल्प की तरह जलयान डगमगाने लगा था। अब उसपर किसीका खड़ा रह पाना तो कठिन था ही, बैठे लोग भी मतवालों की तरह झूम रहे थे। यह स्थिति भी बहुत देर तक नहीं रह सकेगी, यह लगभग निश्चित था।

हर क्षण समुद्र का क्रोध बढ़ता जा रहा था और उसीके साथ मंकण की व्यग्रता भी। जब मैंने देखा कि मंकण को अपना ही मार्ग नहीं सूझ पा रहा है, वह एकदम घबरा गया है, तब मैं घुसकता हुआ उसके पास आया और उससे बड़े सहजभाव से बोला, “यदि मैं उलझे हुए पालों की ऊपरी डोर काट दूँ तो?”

“तब तो तुम मेरे भगवान् हो जाओगे!”

मैंने अपनी कटि से चक्र निकाला और अभिमंत्रित करके चलाया। देखते-देखते ही चक्र पाल के ऊपर की रस्सियाँ काटकर मेरे पास आ गया। अब पाल किसी विशाल पक्षी के कटे पंख की तरह हवा में लहराने लगा। परिचरों ने उसे बटोरना शुरू किया और मंकण ने मुझे छाती से लगा लिया।

एक बार वह फिर बोला, “तुम मेरे लिए भगवान् हो! क्या तुम बगल के जलयान के पाल की डोर भी काट सकते हो?”

“आखिर आप चाहते क्या हैं?” मैंने मुसकराते हुए कहा।

“यही कि वह जलयान भी जल-समाधि लेने से बच जाए। उनमें से अनेक व्यक्ति कूदकर स्वयं को तरंगों को समर्पित कर चुके हैं।”

मैंने पुनः चक्र को अभिमंत्रित किया और चलाया। देखते-देखते वह वहाँ भी डोर काटकर चला आया।

मंकण एकदम विह्वल होकर मुझसे लिपट गया—“तुम अद्भुत व्यक्ति हो!”

“अद्भुत तो तुम हो।”

“वह कैसे?”

“पहले तुम मुझे अपना भगवान् मानते थे और अब व्यक्ति मानने लगे।” मैंने हँसते हुए कहा।

“अरे भाई, जब तक काम नहीं निकला था तब तक भगवान् थे, अब काम निकल गया तो व्यक्ति हो गए।” मेरे परिहास पर बलराम भैया ने पानी चढ़ाया।

“हो सकता है, राक्षसों के यहाँ भगवान् का अस्तित्व ही न हो।” इस बार तो उद्धव के मुँह से भी बोली निकली।

मंकण बड़े संकोच में पड़ा।

“राक्षसों के यहाँ भी भगवान् का अस्तित्व है। तुम सचमुच भगवान् हो—और कम-से-कम इन जलयानों पर सवार लोगों के लिए तो हो ही।”

अब मंकण ने नाविकों को निर्देश दिया—“जलयान को लहरों के भरोसे छोड़ दो। लगभग आधी विपत्ति हम पार कर चुके हैं। पर उन जलयानों का क्या होगा, जो यहाँ से दिखाई नहीं पड़ रहे हैं? कहीं उनके पाल भी न उलझ गए हों!”

“ऐसी बात है! तब मैं अभिमंत्रित करके चक्र फेंकता हूँ और इसे आदेश देता हूँ कि जहाँ-जहाँ पाल उलझे हों, उनकी डोरें काटकर चला आए।” और मैंने वैसा ही किया भी। ज्वलित उल्का की तरह चमचमाता चक्र अंधकार और झंझा को चीरता चला गया।

“आश्चर्य है, तुम्हारा निर्जीव चक्र भी तुम्हारा आदेश मानता है!”

“अभिमंत्रित होने के बाद वह निर्जीव नहीं रहता।” मैंने कहा।

हम लोग आकाश की ओर देखते रहे। काफी देर हो गई, पर चक्र अभी तक लौटकर नहीं आया।

“क्या बात हो गई?” मंकण घबराया।

“बिना उसके लौटकर आए मैं कुछ भी नहीं कह सकता।” मैंने कहा तो, पर उसी समय चक्र लौटता दिखाई दे रहा था। जब वह मेरी अँगुलियों पर आया तब वह अच्छी तरह पानी से भीगा था।

“कोई जलयान डूब गया है। उसकी डोर काटने के लिए इसे समुद्र में डूबना पड़ा है।”

“कितने जलयान डूबे हैं, इसका अनुमान नहीं लग सकता?”

“हो सकता है, एक-दो ही हों। शेष को या तो इसकी सेवा की आवश्यकता ही न पड़ी हो या उनकी डोरें इसने काट दी हों।”

“जरा सी असावधानी का इतना बड़ा दुष्परिणाम!” मंकण ने अपना माथा ठोंका।

अब उत्ताल तरंगों का आघात हमारे जलयान के ऊपर से जाने लगा था। मंकण हम लोगों को लेकर यान के भीतर चला।

यहाँ आकर उसने अपने सवारों के सामने हमें उपस्थित करते हुए कहा, “इन्हीं के कारण हमारे प्राणों की रक्षा हुई।”

एक समवेत स्वर उभरा—“हे हमारे रक्षक! हम आपके आभारी हैं।”

किंतु साथ ही जो हमें जानते थे, वे बोल पड़े, “कृष्ण कन्हैया की जय!”

मैंने फिर उन्हें अनजान बने रहने का संकेत किया।

पर मंकण को आश्चर्य तो हुआ ही। उसने पूछा, “यह कृष्ण कन्हैया कौन है?”

“यह इन लोगों का भगवान् है।” मेरे कथन की सहजता और मेरी मुसकराहट में मंकण की शंका एकदम उड़ गई।

□

सवेरे का सूर्य जैसे तूफान को निगलकर उठा हो। गरजनेवाला सिंधु इस समय शांत था। हर गरजनेवाले की यही स्थिति होती है; क्योंकि गर्जन शाश्वत नहीं है। शाश्वत तो है शांति। इसीलिए हर गरजनेवाले को अंत में शांत होना ही पड़ता है।

अब मैं उस जलयान पर न तो बंदी था, न प्रतिभू था वरन् अतिथि था। यह तो हमारी आधिकारिक स्थिति थी। अनधिकारिक रूप से तो मैं भगवान् था, जीवन रक्षक था, त्राता था।

उस प्रभात मंकण ने बड़े सम्मान के साथ मेरा अन्य अधिकारियों से परिचय कराया। जब वह तिमि के कक्ष में पहुँचा तो ऐसा झुककर अभिवादन किया मानो वह साक्षात् पंचजन ही हो।

“मैं आपके समक्ष एक जैसे व्यक्ति को लाया हूँ, जिसने कल रात हम सबको मृत्यु के मुख से निकाला है।” मंकण ने मेरा परिचय देते हुए कहा।

एक विद्रूप मुसकराहट तिमि के अधरों पर उभरी।

“अब तक तो मैं उसी व्यक्ति को जानता हूँ, जिसने मौत के मुँह में हमें ढकेल दिया था।” तिमि का सीधा व्यंग्य मंकण पर था—“एक नाविक को, वह भी प्रधान नाविक को, तिथियों का ज्ञान न रहे, ऐसा मैंने कभी सुना ही नहीं था। अच्छा किया कि उस विपत्ति से उबारनेवाले को भी आपने साथ रखा।” इतना कहने के क्षण भर बाद ही वह अपने कहे पर पानी फेरते हुए बोला, “पर इसमें आपका क्या महत्त्व है?”

हम दोनों चुप ही थे। हम तो उसकी मुखमुद्रा पढ़ रहे थे। सचमुच वह बड़ा भयंकर जीव मालूम पड़ रहा था।

“जहाँ विपैले साँप होते हैं वहीं पर सर्प का विष उतारने की जड़ी भी उगती है। प्रकृति का यही नियम है। जहाँ पर तुम्हारी मूर्खता थी, तुम्हारा अज्ञान था, यदि वहीं उस मूर्खता से मुक्ति का साधन भी मिले तो इसमें आश्चर्य क्या है!” तिमि की आकृति से एक दुष्ट हँसी छूटी—“यदि आपका अज्ञान इस मुक्तिदाता का श्रेय स्वयं लेना चाहता है तो इसे भी अपनी मूर्खता ही समझिए। जो कुछ हुआ है, वह नियति की कृपा है। वह हमें जीवित रखना चाहती थी, इसलिए उसने इसे मेरे पास भेज दिया।” उसने एकदम बात समाप्त की और मंकण की ओर से दृष्टि हटाकर मुझे देखते हुए बोला, “आपका परिचय?”

“मैं आपके यहाँ प्रभास के एक श्रेष्ठी का प्रतिभू हूँ।”

“तुम प्रतिभू!” सुनते ही उसका ‘आप’ ‘तुम’ में बदल गया—“सचमुच तुम मेरे यहाँ प्रतिभू हो!” उसके आश्चर्य का ठिकाना न रहा। “नियति की शायद यही मंशा थी कि हमारा प्रतिभू ही हमारा त्राता हो जाए।” इतना कहकर वह मौन हो गया। गंभीर रूप से मौन।

“मेरी कुछ जिज्ञासाएँ हैं।” मैंने टूटी हुई बातों की डोर में एक गाँठ लगाई।

“अपनी जिज्ञासा प्रस्तुत कर सकते हो।”

“आपने सर्प और उसके विष से मुक्ति दिलानेवाली जड़ी के संदर्भ में प्रकृति की बात कही है। क्या राक्षस संस्कृति प्रकृति को मान्यता देती है?”

“तुम्हारा यह प्रश्न बौद्धिक है और विचित्र भी। तुम अत्यधिक ज्ञानी मालूम होते हो। वेशभूषा से भी संपन्न और संप्रभुत जान पड़ते हो। फिर तुमने प्रतिभू होना कैसे स्वीकार किया?”

“राक्षस संस्कृति के संबंध में जानने की जिज्ञासा के वशीभूत होकर।”

“तो क्या जानना चाहते हो कि प्रकृति पर हमारा विश्वास है या नहीं?” तिमि बड़ी गंभीरता से बोला, “इसका उत्तर तो तुम्हारे प्रश्न में स्वयं निहित है। तुम्हारी भाषा इतनी संपन्न है कि उसमें तुम्हें अपना उत्तर स्वयं मिल जाएगा। कोई भी संस्कृति बिना प्रकृति पर विश्वास किए नहीं बन सकती। प्रकृति से संस्कारयुक्त होना ही संस्कृति है। राक्षस संस्कृति हो या आर्य संस्कृति, उसका प्रकृति में विश्वास होना स्वाभाविक है। यदि उसमें कोई विकृति दिखाई देती है तो उसे भी प्रकृति का विकार ही समझो; क्योंकि विकृति के लिए भी प्रकृति की अनिवार्यता असंदिग्ध है।”

“यह तो आपने हमारी भाषा के ही माध्यम से अपनी बात कही है।”

“क्योंकि तुम्हारी भाषा हमारी भाषा से अधिक संपन्न है। सुग्राह्य है।”

अपनी भाषा की प्रशंसा सुनकर कौन नहीं फूला समाता। मैं भी प्रसन्न हो गया।

“और कोई शंका है या बस?”

“आपने नियति की ओर बार-बार संकेत किया है? नियति में विश्वास करनेवाला जीव सदा कर्मच्युत होने की स्थिति में रहता है। वह नियति को सबकुछ मानकर चुपचाप बैठ जाने की भी स्थिति में होता है। क्या आप जीव की ऐसी स्थिति में विश्वास नहीं करते?”

“बिल्कुल नहीं। नियति अपना काम करती है। हमें अपना काम करना चाहिए। सूर्य रात के बाद उगेगा, यह नियति का निश्चित व्यापार है। हमें यह निश्चित करना चाहिए कि सूर्य के उगने के बाद क्या करना है। हम नियति के पूरक बनें, उसके आश्रित नहीं। नियति की आश्रिता हमें किंकर्तव्यविमूढ़ बना देती है। सूर्य तो निकलेगा ही, फिर हम दीपक क्यों जलाएँ?” इतना कहने के बाद तिमि कुछ क्षणों के लिए रुका—“नियति के संदर्भ में हमारी यही धारणा हमें कितना आगे ले गई है! आज राक्षस संस्कृति की वैज्ञानिक उपलब्धियाँ आपकी संस्कृति से कहीं आगे हैं। इतने बड़े-बड़े जलयान कहीं आपके पास हैं?”

मैंने नकारात्मक ढंग से सिर हिलाया। ‘पर पालों के उलझते ही जिस प्रकार आपके नाविकों को मैंने निरुपाय होते देखा था, वैसी उलझन कभी हमारे यहाँ नहीं होती। यदि आपको अपनी भौतिक विद्या पर गर्व है तो हमें अपनी आध्यात्मिक विद्या पर।’ मैंने इतना सोच अवश्य लिया, पर मैंने कुछ कहा नहीं। चुपचाप अभिवादन कर चल पड़ा।

“अच्छा तो फिर मिलिएगा। अभी तो शायद दो दिनों तक जलयान में रहना पड़े।” वह बोला।

मैंने सिर हिलाकर प्रसन्नतापूर्वक उसका निमंत्रण स्वीकार किया।

तिमि के कक्ष से बाहर आया ही हूँगा कि मंकण ने मेरे कान में धीरे से कहा, “देखा, कितना अभिमानी है! यह सबकुछ महाराज द्वारा इसे सिर चढ़ाने का परिणाम है। पता नहीं इसने उनकी कौन सी ऐसी कमजोरी पकड़ ली है कि वह इसकी उलटी-सीधी सब मानते हैं।” मंकण बड़बड़ाता रहा—“देखिए, यह कैसा सारा दोष हमीं पर मढ़ रहा है; जबकि यहाँ से चलने की योजना इसीकी बनाई थी। यह कह नहीं सकता था कि आज प्रस्थान नहीं करना चाहिए। आज तिथि अनुकूल नहीं है। जब बात बिगड़ गई तब अँगुली उठाने को यह भी तैयार है। यदि सबकुछ अनुकूल होता तो सारा श्रेय यह स्वयं ले लेता।”

“नायकों का यही गुण है। सारा कार्य तो अधीनस्थ करते हैं। अच्छा हुआ तो श्रेय उनको, खराब हुआ तो सारा दोष सहायकों का।” मैंने मंकण के कान में कहा।

निश्चित रूप से उसे बड़ा संतोष मिला होगा मेरे कथन से।

इससे कई बातों का मुझे स्पष्ट ज्ञान हुआ। पहला यह कि तिमि मत्स्यपालक होते हुए भी अत्यधिक सुसंस्कृत और समझदार है। दूसरे मंकण से उसकी नहीं बनती। ऐसे सारे समीकरणों की जानकारी, जो एक-दूसरे के विरुद्ध थे, मेरे लिए बड़ी उपयोगी थी। तीसरे, तिमि पंचजन के अधिक निकट लगा। यह मात्र उसके व्यवहार से ही नहीं

ज्ञात हुआ वरन् बातों के सिलसिले में इसे मंकण कई बार स्वीकार कर चुका था।

तिमि से मेरी इस भेंट का सद्यः लाभ तो यह हुआ कि हमारा स्थानांतरण प्रतिभू कक्ष से हटाकर अतिथिकक्ष में कर दिया गया।

“चलो, रहने की जगह तो बदली गई; पर इससे लाभ क्या होगा?” भैया बोले।

“देखते जाइए, क्या-क्या लाभ होता है!” मैंने कहा।

तभी स्वर्ण पात्र में मैरेय तथा चषक लिये एक परिचर उपस्थित हुआ।

भैया की शुष्क आकृति पर ऐसी हरियाली आई मानो गंभीर सूखे के बाद किसी मयूर ने मेघों को देखा हो। पिछले दो दिनों से तो उन्होंने ठीक से भोजन नहीं किया था। नितांत अनौपचारिक ढंग से उनके हाथ चषकों की ओर बढ़ गए।

मैंने भैया को संकेत किया कि थोड़ा धैर्य रखें। अब उनके मुख से स्वयं निकल पड़ा—“आतिथेय कहाँ हैं?”

“वे अपने कक्ष में विश्राम कर रहे हैं।” परिचर बोला।

“हम राक्षस संस्कृति के लोग नहीं हैं कि जहाँ भी मिला, जैसे भी मिला, चषक पर मुँह लगा दें। आर्य संस्कृति के अनुसार तो हम बिना आतिथेय के चषक का स्पर्श भी नहीं करते।” भैया ने बड़े प्रभावशाली ढंग से कहा।

परिचर ने अब मेरी ओर देखा।

“भैया ठीक कह रहे हैं।” मैंने कहा और वह मदिरा पात्र और चषक वहीं रखकर चला गया।

थोड़ी देर में क्या देखता हूँ कि तिमि स्वयं चला आ रहा है। मैंने आगे बढ़कर उसकी अगवानी की।

“क्षमा करें।” वह बोला, “परिचर से यह भूल हो गई कि मुझे सूचना दिए बिना वह आपके पास चला आया।”

भैया बोले, “अरे, आप क्यों चले आए? आपका संकेत मिलता तो मैं स्वयं आपके कक्ष में चला आता।”

मैंने भी अपने ढंग से बातें बनाईं।

उसने चषक भरने के लिए एक परिचर या परिचारिका को बुलाया।

“अरे, इसकी क्या आवश्यकता है?” मैं स्वयं मदिरा पात्र उठाकर चषक भरने लगा।

“आप यह क्यों कर रहे हैं?” तिमि ने मेरी ओर देखकर मुसकराते हुए कहा, “शायद आपका कहना है कि इस कार्य को भी आतिथेय को ही करना चाहिए!”

“आतिथेय ही तो संपादित कर रहा है यह कार्य।” मैंने अपनी सहज मुसकराहट के बीच कहा, “इस समय आप हमारे कक्ष में पधारे हैं। आपके आतिथ्य का हमें सौभाग्य मिला है।”

हमने बड़ी सहजता से तिमि के अहं को सहलाया। वह एक बार तो फूल ही उठा। मैं अपने हाथ से उसे पिलाना चाहता था। इसके पीछे मेरा एक मुख्य उद्देश्य था उसे अधिक-से-अधिक पिला देना। मदिरा एक ऐसी कुंजी है, जिससे व्यक्ति की नीयत का हर ताला खुल जाता है।

और ऐसा ही हुआ भी।

मैंने एकाध घूँट लेने के बाद फिर नहीं पिया; पर बराबर तिमि को पिलाता रहा। जब वह पूरे नशे में हो गया तब उसने बड़बड़ाना आरंभ किया—“किस मूर्ख ने आप जैसे लोगों को प्रतिभू बना लिया?”

“बना लिया, यह तो आंशिक सत्य है।” मैंने मुसकराते हुए कहा, “वरन् यह कहिए, मैं स्वयं बन गया।”

“यदि आपके उस ‘मूर्ख’ की हमपर कृपा न होती तो हम शायद बन न पाते।” भैया बोले।

“सचमुच उसने बड़ी कृपा की। यदि उसने हमें स्वीकार न किया होता तो हम आप जैसे महानुभावों का कैसे दर्शन पाते? हमारी इच्छा थी कि हम दो संस्कृतियों का एक संगम बनाएँ।”

“यही तो हमारी भी इच्छा थी और हमारे महाराज पंचजन की भी।” तिमि पर्यंक पर औंधे मुँह लेटा हुआ बोला, “इसी क्रम में उन्होंने आचार्य सांदीपनि से भी आग्रह किया था; पर उसने तो ऐसा निर्मम होकर मेरा अनुरोध ठुकरा दिया मानो किसी कलाकृति को उठाकर तोड़ दिया हो। पर हम लोगों ने भी उसे निस्संतान, अनाश्रित और अनाथ करके ही छोड़ा।”

“क्या किया आपने?” सब जानते हुए मैंने उसे खोलने की नीयत से पूछा।

“यही कि मैं उसका पुत्र उठा लाया।” मत्त मंदिर अहंकार और अधिक फुफकारने लगा।

“यद्यपि आचार्य ने उसे छोड़ देने की प्रार्थना की। वह गिड़गिड़ाया।” तिमि बोलता रहा, “पर मैं इस पक्ष में नहीं था। मैं बराबर सोचता रहा। आज भी सोचता हूँ कि कभी तो पिता को पुत्र की ममता सताएगी और कभी तो वह हमारी शरण में आएगा।”

“तो क्या पुनर्दत्त जीवित है?” मैंने एक रहस्य उछाला—“मुझसे तो आचार्यजी उसके मार दिए जाने की चर्चा कर रहे थे।”

“किस आचार्यजी ने?”

“आचार्य सांदीपनि ने।” मैंने बताया, “हम लोग भी उन्हींके शिष्य हैं; पर पुत्र के जीवन के संबंध में आचार्य के मन में कोई जिज्ञासा नहीं है। वह पुत्र को मरा हुआ समझकर एकाकी जीवन जी रहे हैं।” मैंने तिमि को थोड़ा और कुरेदा—“शायद उन्होंने अपने पुत्र के संबंध में पता लगाने की चेष्टा की थी, तब पता चला कि पंचजन ने उसे यम के पास भेज दिया है।”

इतना सुनते ही तिमि पागलों-सा हँसने लगा। हमारे अज्ञान पर नहीं, पर दो संस्कृतियों के बीच जो भ्रम पैदा होता है उसपर।

“आपके आचार्य को जो सूचना मिली है, वह सही है। केवल उन्होंने उसका संदर्भ ठीक नहीं लिया।”

मैं और भैया सचमुच कुछ समझ नहीं पाए। तिमि का मधुमत्त व्यक्तित्व हमारे लिए रहस्यमय बना रहा। इसके बाद उसने यथार्थ पर से अवगुंठन हटाया—“बात यह थी कि पुनर्दत्त कुछ ही महीने का रहा होगा, जब आपके गुरु ने हमारे स्वामी की आज्ञा नहीं मानी। तब हमारे स्वामी ने आश्रम में घुसकर उस शिशु का अपहरण तो किया था; पर उसे देखते ही उन्हें दया आ गई। उन्होंने उसे मुझे थमा दिया। मैं उसे लेकर जलयान पर चला आया।”

तिमि अभी बोल ही रहा था कि मेरे मुख से निकल पड़ा—“तभी प्रभास में प्रत्येक की जित्वा पर यही सत्य है कि मत्स्यराज तिमि ने ही पुनर्दत्त का अपहरण किया है।”

“इसलिए कि लोगों की आँखों ने यही देखा है।” तिमि बोला, “क्या इस संबंध में तुम्हारे आचार्य ने कभी कुछ नहीं कहा?”

“वह इस घटना के संबंध में कभी कुछ नहीं कहते। यदि कभी कोई बात निकली तो आचार्यपत्नी बिलखने लगती हैं। आचार्यजी वह स्थिति सँभाल नहीं पाते हैं। बस इतना ही कहते हैं कि ‘जो यम के पास चला गया, उसके लिए रोना क्या!’ ”

यम का नाम सुनते ही तिमि पुनः जोर से हँसा और बोला, “असलियत यह है कि उसे हम लोग ले अवश्य आए, पर हमारे स्वामी का वात्सल्य उसे देख नहीं पाता था। उसकी टुकुर-टुकुर ताकती आँखें एकदम उनपर गड़ जातीं। उन्हें ऐसा लगने लगता कि उन नन्ही-नन्ही आँखों में अपने माता-पिता को देखने की ललक है। स्वामी जब भी उसे देखते, विचलित हो जाते। लाचार होकर उस शिशु को उन्होंने मेरे पास भेज दिया—‘लो, तुम इसे ले आए हो, तुम्हीं इसका पालन करो।’ ”

तिमि बोलता चला जा रहा था—“एक बार तो ऐसी भी स्थिति आई कि उसे प्रभासतीर्थ में ले जाकर छोड़ दिया जाए; पर महाराज का अहं फिर आड़े आ गया। वे बोले, ‘यह सही है कि मातृ-पितृहीन इस बालक की मूक वेदना मुझसे सही नहीं जाती; पर इसके लिए मैं इसे लौटा भी नहीं सकता। लौटाना मेरी पराजय का द्योतक होगा। लोग समझेंगे कि मैं सांदीपनि के समक्ष झुक गया।’ ”

“तब क्या हुआ?”

“होता क्या! यह निश्चय किया गया कि इसके रहने की व्यवस्था मैं ही करूँ। निदान, वह मेरे पास रह गया। मुझे भी कोई संतान नहीं थी। मेरी पत्नी ने उसे पुत्रवत् पाला। संयोग कुछ ऐसा हुआ कि एक दिन अचानक यम पधारे।”

“यह यम कौन है?”

“अरे, तुम यम को नहीं जानते? वह दक्षिण दिशा के दिग्पाल हैं। मंत्रकर्ता ऋषि हैं।”* तिमि बोला।

“तो फिर क्या हुआ?” मेरी जिज्ञासा ठहरनेवाली नहीं थी।

अब तिमि बोला, “उन्होंने मेरी पत्नी का शिशु-प्रेम देखकर कहा, ‘तू दूसरे के शिशु को इतने प्रेम से पालती है। भगवान् तुझे भी एक शिशु देता।’

“ ‘इसी सबके लिए तो यह इस शिशु पर अपना प्रेम उड़ेल रही है। शायद इस शिशु की आत्मा इसे आशीर्वाद दे दे।’ मैंने कहा।

“ ‘हरकर लाए गए शिशु की आत्मा आशीर्वाद देगी!’ प्रश्न के साथ ही ऋषि बड़े व्यंग्यात्मक ढंग से हँसे—‘जिसके माता-पिता इसके वियोग में छटपटा रहे हों, उस शिशु से आप आशीर्वाद की आशा करते हैं!’

“ ‘तो क्या इस शिशु की सेवा हमें शापित करेगी?’ मेरी पत्नी ने ऋषि से पूछा।

“ ‘इस शिशु की सेवा तो नहीं शापित करेगी, पर इसके माता-पिता की आह व्यर्थ नहीं जाएगी।’

“मेरी पत्नी एकदम डर गई—‘हे भगवान्, मैं निपुत्रा तो हूँ ही, अब और क्या भाग्य में लिखा है?’ उसने काँपते हुए पूछा, ‘अब आप ही बताइए, ऋषिवर, मैं क्या करूँ?’

“ ‘जैसे तुम्हारा पति इसे आश्रम से उठा लाया है वैसे ही उसे कहो कि वह इसे वहाँ लौटा दे।’ ऋषिवर बोले।

“ ‘यही तो मैं नहीं कर सकता।’ मैं बोला, ‘मैं स्वयं न तो लौटा सकता हूँ और न महाराज से कह सकता हूँ।’

“ ‘क्यों?’

“ ‘उनके अहं को चोट लगेगी।’

“ऋषि यम मौन हो कुछ सोचने लगे। फिर मुसकराते हुए बड़ी गंभीरता से बोले, ‘राजा और ऋषि में एक ही तो मौलिक अंतर होता है।’

“ ‘क्या?’ मैं पूछूँ, इसके पहले ही उन्होंने बोलना आरंभ किया—‘राजा अपने अहं का दास होता है और ऋषि अपने अहं का स्वामी। स्वामी को दास नहीं नचा सकता, पर दास को स्वामी तो नचा ही सकता है।’ यम इतना कहकर कुछ सोचते रहे और सोच-सोचकर बहुत देर तक हँसते रहे।

“ ‘फिर हमें क्या करना चाहिए, ऋषिवर?’ मैंने पूछा।

“ ‘तुम इस शिशु को सांदीपनि के आश्रम में नहीं छोड़ सकते, पर किसी दूसरे ऋषि के आश्रम में छोड़ सकते हो?’

“ ‘इससे क्या लाभ होगा?’ मैंने पुनः यम से प्रश्न किया।

“ ‘इससे इसका संस्कार दूषित नहीं होगा। एक ऋषिपुत्र ऋषिपुत्र ही रह जाएगा, राजपुत्र नहीं होगा।’ ”

इसके बाद तिमि ने बताया—“इस घटना के पश्चात् मैंने पुनर्दत्त को यम को सौंप दिया। ‘यम को सौंपने’ जैसी शब्दावली ने बड़ा भ्रम पैदा कर दिया। लोग पुनर्दत्त के संदर्भ में क्या-क्या सोचने लगे हैं!”



बारह

दो दिनों के बाद हमारा जलयान एक द्वीप पर लगा। यह पूर्व निश्चित कार्यक्रम के अनुसार ही था। सुना है, प्रभास से लौटते समय का यह पड़ाव है। यहाँ पंचजन के लोग स्वयं को सुव्यवस्थित करते हैं। यहाँ दिन भर का ठहराव जहाँ हमें नई शक्ति और स्फूर्ति देता है, वहीं लूटकर लाए सामानों और बंदी बनाए गए लोगों को भी ठिकाने लगाने का काम पूरा किया जाता था।

‘यह बंदियों को ठिकाने लगाने का क्या तात्पर्य है?’ मैं मंकण से पूछना चाहता था कि इसी बीच एक बंदी को बेतरह पीटते हुए उसे मंकण के सामने उपस्थित किया गया। उसकी पीठ पर कोड़ों के चिह्न उभर आए थे। वहाँ पर रक्त चुभचुभा आया था। हथकड़ियों से भी कलाइयों पर खराश पड़ गई थी और रक्त बहने लगा था।

“यह समुद्र में कूदकर भागने की चेष्टा कर रहा था।” प्रतिहारी ने उसे मंकण के चरणों पर ढकेलते हुए कहा।

इतनी यातना सहने के बाद भी न उसकी आँखों में आँसू थे और न उसके स्वर में पश्चात्ताप; वरन् वह घायल नाग की तरह फुफकार रहा था।

अब मुझे पता चला कि इस द्वीप का उपयोग पंचजन के सैनिक ऐसे लोगों को मारकर फेंक देने के लिए भी करते हैं। क्योंकि मंकण उसे पैर से मारते हुए गरजा—“इसके हाथ-पैर काटकर समुद्र में फेंक दो!”

कई सैनिक उसपर एक साथ टूटे।

“ठहरिए।” मैंने हस्तक्षेप किया। उसे अपने हाथों से उठाया और वैवस्वतीय सैनिकों तथा प्रहरियों को भी हट जाने का संकेत किया।

एकांत की हमारी अनिवार्यता को वे समझ गए। मैंने उस व्यक्ति को शांत रहने के लिए भी समझाया और उससे पूछा, “आखिर तुम यह सब क्यों कर रहे हो?”

“मरने के लिए।”

“तुम्हें जीवन से मोह नहीं है?”

“मोह तो है, पर अब मैं मोह की रक्षा नहीं कर पाऊँगा।”

“क्यों?” मैंने उसे फिर समझाया—“इतने निराश मत हो। जीवन ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जिसे तुम उठाकर फेंक दो। इसे मनुष्य बड़े भाग्य से पाता है। रह गई कष्ट, निरादर, अवज्ञा की बात, हम सब इस समय निरादर और अवज्ञा की स्थिति में हैं। तुम्हारे सामने खड़े मंकणजी कभी नहीं चाहते कि ऐसा हो।”

उस व्यक्ति की दृष्टि में अचानक परिवर्तन आया। ‘सचमुच प्रधान नाविक हमारी यातना के विरुद्ध हैं? पर उन्होंने ही तो अभी कहा है कि इसे मारकर फेंक दो। क्या ये मन से नहीं चाहते? तब कौन है वह? यह सब किसके आदेश से हो रहा है?’ वह मौन हो सोचता रहा। उसके बदन पर चुभचुभा आया रक्त अब जमने लगा था।

“जो हो चुका, उसे भूल जाओ और जिनके सामने खड़े हो, उनसे क्षमायाचना करो।” मैंने कहा भी और संकेत भी किया।

निश्चित था कि उसकी झुकने की इच्छा नहीं थी। उसने अपने अहं का गला घोटकर सिर झुकाया। मंकण उसे क्षमा दे न दे, इसके पहले ही मैंने उसे सीने से लगा लिया। इस क्षिप्रता के पीछे मेरी मंशा ऐसी स्थिति पैदा करने की थी कि जिसमें मंकण का क्षमा देना अनिवार्य हो जाए।

और हुआ भी ऐसा ही। मंकण ने उसे क्षमा कर दिया।

एक बात और स्पष्ट करूँ कि तिमि एवं मंकण में वैमनस्य पैदा करना मेरी नीति थी। परिस्थितियाँ तो पहले से उपस्थित थीं, मात्र चिनगारी लगाने भर की देर थी।

मैंने चिनगारी नहीं बरन् मशाल छुआ दी। वैमनस्य की आग धुआँ छोड़ने लगी थी। मैंने मंकण को समझाया कि तिमि को मात देने के लिए लोगों को मिलाना आवश्यक है। यहाँ तक कि बंदियों को भी आपकी सदाशयता की आवश्यकता पड़ सकती है।

यहाँ से हटने के बाद मैंने मंकण से उस बंदी की चिकित्सा के लिए आग्रह किया।

“बंदी की चिकित्सा नहीं होती।” उसने साफ इनकार कर दिया।

“पर हमारी आर्य संस्कृति में तो ऐसा नहीं है। बंदी को पराधीन होने पर भी मनुष्य ही समझा जाता है। पर राक्षस संस्कृति पराधीन को पशु समझती है।”

“आप ठीक कहते हैं।” मंकण ने स्वीकार किया—“हमारी धारणा है कि पराधीन हो जाने पर उसका मानव तो बंदी हो जाता है, केवल पशुत्व ही मुक्ति की चेष्टा करता है।”

“चाहे जो हो, मैं इस विवाद में पड़ना नहीं चाहता।” मैंने कहा, “आपकी स्थिति देखते हुए नीति तो यही कहती है कि आपके लिए पशुओं की सेवा भी अपेक्षित है। क्या आपको पशुओं की आवश्यकता नहीं पड़ती?”

मंकण की गंभीरता के अंधकार में एक हलकी सी चमक उभरी। वह मुसकराया। स्पष्ट लगा कि मेरे संकेत की ओर उसकी दृष्टि गई। मुझे प्रसन्नता थी कि मेरे रोपे वृक्ष के जमने की संभावना बढ़ रही है।

उस समय बात यहीं तक थी। बाद में मैंने उद्धव से विचार किया। उसका कहना था कि आपने पहले क्यों नहीं बताया। इस संबंध में परिस्थिति काफी अनुकूल है। बस एक स्फुलिंग चाहिए।

उसने एक महत्वपूर्ण तथ्य से और अवगत कराया—“इस यात्रा में पंचजन के सैनिक और नाविकों से दूने ऐसे लोग हैं, जो या तो दास बनाकर ले जाए जा रहे हैं या प्रतिभू के रूप में।”

“यह तुम्हें कैसे मालूम?”

“मैं आपकी तरह केवल मंकण की सेवा में तो हूँ नहीं। मैं तो हर व्यक्ति से मिल रहा हूँ। उनकी भावनाओं से अवगत हो रहा हूँ।” उद्धव बोला, “उनका स्पष्ट विचार है कि मोर मुकुटवाले को कुछ करना चाहिए।”

“तुम उन्हें विश्वास दिलाओ कि अवश्य कुछ किया जाएगा।” मैंने कहा, “पर इसके लिए शीघ्रता घातक होगी। समय और अवसर की प्रतीक्षा करें।”

“यही तो गड़बड़ है।” उद्धव बोला, “शायद आप उनकी व्यग्रता नहीं समझ सकते। राक्षसों की यातना बड़ी क्रूर होती है। उसकी चरम स्थिति पर धैर्य रख पाना बड़ा कठिन है।” इस संदर्भ में उसने एक प्रश्न किया—“क्या आप जानते हैं कि हमारे जलयान के साथ चल रहे दो जलयान कैसे डूबे?”

“यह तो स्पष्ट ही है कि उनके पालों की डोरियाँ फँस गई थीं और पूर्णिमा का ज्वार उन्हें निगल गया।” मैंने कहा। उद्धव मुसकराया—“दिखाई पड़नेवाला तो यही सत्य है; पर एक अदृश्य सत्य और है, जो दृश्य सत्य से कहीं अधिक प्रभावशाली और यथार्थ के निकट है।”

“वह क्या?”

“यही कि स्थितियाँ तो प्रतिकूल थीं ही, पर दास और प्रतिभू बनाकर ले जाए जानेवाले प्रभास के लोगों ने जलयान को डुबो दिया।”

“यह तुम कैसे कह सकते हो?”

“क्योंकि ऐसे पाँच दास तैरकर हमारे जलयान पर आए हैं।” उद्धव ने धीरे से मेरे कान में कहा, “और न जाने

दूसरे जलयानों पर कितने गए होंगे!”

“तैरकर!” मुझे आश्चर्य था—“हथकड़ियों और बेड़ियों के रहते हुए तैरकर!”

किंतु उद्धव ने शीघ्र ही स्पष्ट किया—“जो आए हैं, उनमें से कुछ ने हथकड़ियाँ तोड़ डाली हैं और कुछ ने बेड़ियाँ। दो ऐसे लोग भी हैं, जिन्हें दोनों तोड़ने में सफलता मिली है।”

मेरी प्रसन्नता का ठिकाना न रहा। मैं जिस स्थिति के निर्माण में संलग्न था, मैंने अनुभव किया कि नियति उसे पहले से बनाती चली आ रही है।

□

दूसरे दिन उषा की पहली किरण के साथ हमारा जलयान इस द्वीप पर आया था। यान के किनारे लगने पर तिमि सबसे पहले द्वीप पर उतरा।

धीरे-धीरे पाँच जलयान और किनारे लगे। दो अब भी नदारद थे। आते कहाँ से, उन्होंने तो जल-समाधि ले ली थी। लोग आशंकित मात्र थे, इस संबंध में वे निश्चयपूर्वक कुछ भी कहने की स्थिति में नहीं थे। जब प्रतीक्षा में दो घड़ी बीत गई तब लगभग निश्चय होने लगा कि दोनों ज्वार में अवश्य कहीं बहक गए हैं या डूब गए हैं।

तिमि को अब भी विश्वास था कि वे जलयान दिग्भ्रम के शिकार हुए हैं। बहुधा ज्वार के समय ऐसा हो जाना स्वाभाविक है और वह भी रात में। कभी-कभी तो दो-दो दिनों बाद ऐसे भटके हुए जलयान लौटकर आए हैं। पर मैं उनकी वास्तविकता से परिचित था। एक तो मेरे चक्र से ही मुझे सूचना मिल गई थी और दूसरे उसपर से भागे हुए सैनिकों की चर्चा उद्धव ने की थी। फिर भी तिमि ने मंकण को बुलाया। उसने पता नहीं क्या सोचकर मुझे भी अपने साथ ले लिया।

“आपने देखा, आपकी जरा सी असावधानी का फल क्या हुआ?” तिमि बोला।

मंकण मौन ही रहा।

“अब आप पणव और तूर्य बजाने का आदेश दें। यदि कहीं जलयान आसपास भटक रहे होंगे तो उन्हें दिशा का ज्ञान हो जाएगा।”

मंकण ने सिर झुकाकर आदेश स्वीकार किया। किंतु मेरे कान में धीरे से कहा, “यदि वे कहीं होते तो उनका पणव और तूर्य तो हमें सुनाई पड़ता।”

“पर आपको इससे क्या! तिमि बड़ा अहंवादी व्यक्ति है।” मैंने कहा, “हमारे शास्त्रों में कहा है, अहंकार पहले दूसरों को नष्ट करने की चेष्टा करता है; और अपनी असफलता पर वह स्वयं को ही जलाना आरंभ कर देता है। देखना, शीघ्र ही वह स्थिति आएगी कि तिमि अपने अहंकार का ही भोजन बन जाएगा।”

“भगवान् जाने कब ऐसी स्थिति आएगी!” स्पष्ट लगा कि मंकण भीतर से काफी दुःखी है। उसने जलयान पर पहुँचते ही पणव और तूर्य बजाने का आदेश दिया।

पाँचों जलयानों से गगनभेदी स्वर उठने लगे; पर व्यर्थ—जैसे आकाश स्वरो को निगल जा रहा हो।

इस वादन का यह विशेष प्रभाव अवश्य हुआ। इस द्वीप के लोग इस ओर आकृष्ट हुए। यह द्वीप आदिवासियों का है। इसे नाग कन्याओं का देश भी कहते हैं। पंचजन के जलयानों के आने पर यहाँ के निवासी स्वतः जलयान के पास चले आते हैं। उन्हें बहुत सी आवश्यक सामग्रियाँ प्राप्त होती हैं। दूसरे, इस छोटे से देश में मातृप्रधान व्यवस्था है। माता ही परिवार की मुखिया होती है। पुरुष स्त्री के अधीन रहता है। इसीसे जब किसीको बच्चा पैदा होता है, तब खुशियाँ नहीं मनाई जातीं। लड़कियों के जन्म उत्सव में बड़ा धूमधाम करते हैं। मंकण ने तो यहाँ तक बताया कि इन आदिवासियों में कुछ परिवार ऐसे भी हैं, जहाँ बच्चे पैदा होते ही मार दिए जाते हैं।

“बड़े जंगली हैं ये लोग!” मेरे मुख से निकला। पर शीघ्र ही मेरे मन ने कहा कि ‘आखिर तेरा मामा भी तो तेरे भाइयों को मार डालता था।’ मेरे मन ने ही उत्तर भी दिया, ‘पर तेरे मामा के साथ तो मृत्यु का भय लगा था। इसी भय का गंभीर आतंक उसे ऐसा करने के लिए बाध्य करता था; पर यहाँ तो ऐसी कोई बाध्यता नहीं है।’

मैं उस समय यह नहीं सोच पाया कि इनके सामने भी सामाजिक बाध्यता है।...और सामाजिक बाध्यता व्यक्तिगत बाध्यता से कहीं अधिक शक्तिशाली होती है।

“तब इनका वंश कैसे चलता है?” मैंने सीधा प्रश्न किया।

“ये दास खरीदते हैं।” उसने कहा, “अभी देखिएगा, थोड़ी देर में दासों के क्रेताओं की यहाँ भीड़ लग जाएगी।”

“तो क्या आप लोग जिन्हें प्रभास से दास बनाकर लाए हैं, उन्हें यहाँ बेच देंगे?”

“सब तो नहीं, पर कुछ की तो बिक्री की ही जाएगी।”

“किंतु इस बार ऐसा नहीं होना चाहिए।” मैंने कहा। क्योंकि मैंने सोचा कि दासों के विक्रय का तात्पर्य है, मेरी शक्ति का कम होना।

पर मंकण चुप था। सोचता रहा। फिर बोला, “इसे मैं कैसे रोक सकता हूँ?”

“तो मैं ही चेष्टा करता हूँ।” मैं बोला और सीधे तिमि के पास गया।

“सुना है, दासों का विक्रय होता है?”

“इसमें सुनना क्या है, यह तो होता ही है।” तिमि ने बड़े सहजभाव से कहा, “हम लोग एक-चौथाई दासों को इस द्वीप पर ही बेच देते हैं।”

“पर इस बार एक-चौथाई से अधिक दासों को समुद्र निगल गया है।”

मेरी बात सुनते ही वह घबरा गया।

“यह तुम कैसे कह सकते हो?”

“मेरा मन कह रहा है।” मैंने कहा, “मैं जानता हूँ कि आप मेरी बात नहीं मानेंगे; पर आप विश्वास करें। आर्यों के यहाँ ऐसे योग की साधना होती है, जिससे हम आगम को देख लेते हैं। मुझे तो आपका भी आगम ठीक नहीं दिखाई दे रहा है। आपके ही व्यक्ति आपके विरुद्ध हो सकते हैं। विपत्ति केवल जलयानों पर ही नहीं, आप पर भी मँडरा रही है।”

मेरा बाण लक्ष्य पर लगा। मंकण के प्रति उसका संदेह पुष्ट हुआ। उसके मुँह से निकला भी—“इस बार लौटने पर महाराज से इसकी दवा कराऊँगा।”

ज्यों ही मैं तिमि के कक्ष से बाहर निकला त्यों ही उसने एक आदेश दिया—“पणव और तूर्य का वादन बंद कर दिया जाए। अब जलयानों के आने की कोई आशा नहीं है।”

“दो-दो जलयानों ने जल-समाधि ले ली। समुद्र निगल गया।” आतंक भरी अकुलाहट हर जबान पर थी। कोलाहल का जैसे किसीने गला दबा दिया। द्वीप का हर व्यक्ति भय, आतंक और व्यग्रता की डोर से बँधा जलयान की ओर खिंच आया। अच्छी-खासी भीड़ हो गई। यहाँ तक कि महारानी का भी रथ आता दिखाई दिया।

पुरुषों से दूनी से भी अधिक महिलाएँ थीं। नाटी और श्यामवर्णी होने पर भी उन वन्य कन्याओं में अद्भुत आकर्षण था; जैसे विधि ने उन्हें बड़ी शांति और समय लगाकर गढ़ा हो। शरीरयष्टि ऐसी सुघड़ और सुडौल कि जहाँ दृष्टि जाती थी वहीं गड़ जाती थी। वेशभूषा भी विचित्र-सी—लगभग अर्धनग्न। उन्नत उरोजों पर एकमात्र चमकीला पटुका बाँधे हुए। अधोवस्त्र भी अत्यंत संक्षिप्त। रजतवर्णी या स्वर्णिम एकदम झिलमिलाता वस्त्र। वस्त्र भी इतने कसे कि शरीर के चढ़ाव-उतार का पूरा आभास कराते हुए।

संभ्रांत लगनेवाली स्त्रियों के सिरों पर शिरस्त्राण, जिसपर नागों के आकार की कलगी निकली हुई। ये शिरस्त्राण स्तर के अनुसार फूलों से लेकर स्वर्ण के बने हुए; पर पुरुषों का वेश महिलाओं से एकदम विपरीत। न तो उनके वस्त्रों में इतना आकर्षण था और न शरीर से इतने चिपटे हुए। एकदम ढीले-ढाले।

इस अचानक उत्पन्न हुए सन्नाटे से राजभवन भी प्रभावित हुए बिना न रह सका। स्वयं महाराज भी आते दिखाई पड़े।

पर अद्भुत था। महाराज का रथ पीछे और महारानी का आगे। यह स्थिति केवल रथ की ही नहीं थी, महारानी तेजस्विता और ओजस्विता में भी महाराज से आगे थीं। मैंने इस संबंध में मंकण से जिज्ञासा की। उसने इतना ही कहा कि यहाँ की यह रीति ही है। मैं समझता हूँ कि यह सब मातृप्रधान परिवार का ही परिणाम है।

“आपके महाराज कहाँ हैं?” रानी ने आते ही पूछा।

तिमि को पहले ही रानी के आगमन की सूचना दे दी गई थी। वह जलयान से उतर आया था। आगे बढ़कर उसने महारानी की अगवानी की। महाराज पीछे ही रथ पर बैठे रहे। वे उतरकर वहीं खड़े हो गए।

“महाराज कहाँ हैं?” महारानी ने अपनी पुरानी शंका पुनः दुहराई।

“कौन महाराज?”

“अरे, आपके महाराज पंचजन।”

“वह तो आए नहीं हैं।” तिमि ने कहा।

“फिर इतना कोलाहल क्यों किया गया?” नागरानी बोली। और जब उसे यह मालूम हुआ कि दो-दो जलयान लापता हैं तब उसने छूटते ही कहा, “आप लोगों को पूर्णिमा को चलना ही नहीं चाहिए था।”

“यह तो प्रधान नाविक से कहतीं तो अधिक उपयुक्त होता।” तिमि ने तुरंत कहा।

“इसमें केवल मेरी ही भूल नहीं है।” मंकण की प्रतिक्रिया भी अविलंब हुई।

मैंने अनुभव किया कि मेरी लगाई चिनगारी भभकने की स्थिति में है। भीतर-ही-भीतर प्रसन्न मैं ऊपर से खिन्नता ओढ़े रहा। कुछ शब्दों और कुछ भंगिमाओं से व्यक्त करता रहा कि जो कुछ हो रहा है, वह ठीक नहीं है। इस क्रिया में मुझे काफी संतुलन बनाए रखना पड़ रहा था। मेरी मानसिकता नट की कसी डोर पर चल रही थी। अचानक मेरी आँखें महारानी से टकराईं। उसने बड़े ध्यान से मुझे देखा—और मैंने उसे केवल देखा ही नहीं, मेरी दृष्टि ने उसके अंग-प्रत्यंग का बड़ी आत्मीयता से स्पर्श किया। आप विश्वास करें, मैंने इतनी सुंदर स्त्री इसके पहले नहीं देखी थी। मुझे लगा मानो मैं रति से मिल रहा हूँ। इसके बाद वह कुछ बुदबुदाई और मुझपर ऐंद्रजालिक प्रभाव हुआ। ऐसा लगा जैसे कोई अभिसारिका अप्सरा स्वयं मेरे पास चली आ रही है। मैं विचलित हो उठा। मैंने अपने मन के चारों ओर योग का कवच डाला और धीरे से वहाँ से हटा। मंकण के कक्ष में जाकर चुपचाप उसके आस्तरण पर ढुलक गया।

“हे भगवान्! यह क्या हो रहा है?” मेरे मुख से निकला।

देखते ही मंकण के प्रतिहारी ने सारी बातें समझ लीं। वह मुसकराया और बड़े विश्वास से बोला, “चल गया न ऐंद्रजालिक प्रभाव! अरे, ये नाग कन्याएँ जादू जानती हैं, जादू—और इनकी महारानी तो इस विद्या में पारंगत है।”

मैं कुछ बोला नहीं। कुछ समय तक आँखें बंद किए वैसे ही पड़ा रहा। महारानी अब भी मेरे पास थी। अब मैंने शवासन मुद्रा अपनाई। मन को रिक्त किया और शरीर को ढीला। मात्र एक जाप चलता रहा—‘शवोहं शिवोहम्’। लगता है, मंकण अभी तक रेत पर ही रह गया था। वह लौटा नहीं था।

“तुम यहाँ आकर पड़े हो!” यह अत्यंत प्रसन्न ध्वनि एक महिला की थी।

प्रतिहारी ने बिना पूछे परिचय दिया, “इस देश की महारानी की प्रधान परिचारिका है।”

मैं कुछ कहूँ, इसके पहले ही वह बोली, “आपको महारानी ने स्मरण किया है।”

इतने मानसिक प्रतिरोध के बाद भी आप आश्चर्य करेंगे कि मैं चुपचाप उठा और एक पालित श्वान की तरह उसके पीछे चला गया। बहुत दूर तक मंकण के प्रतिहारी की खिलखिलाहट मेरा पीछा करती रही।...पर मैं रुका नहीं और न मुड़कर देखा ही।

निश्चित ही, उस द्वीप की महिलाएँ ऐंद्रजालिक साधना करती हैं, अन्यथा मुझपर वे इस तरह से हावी न होतीं। मैं दम हिलाता परिचारिका के पीछे-पीछे चला जा रहा था।

एक बात और स्पष्ट करूँ कि उन आदिवासियों के निकट मुझे लाने में मेरे मोर मुकुट ने चमत्कारी भूमिका निबाही थी। उस द्वीप के हर व्यक्ति को विश्वास हो गया था कि मैं भी आरण्यक हूँ। उन दिनों नगरीय लोगों में मोर मुकुट पहनने की परंपरा नहीं थी। पक्षियों के पंखों, पशुओं के सींगों और हड्डियों से स्वयं को सजाना आरण्यक संस्कृति की देन थी। इस संदर्भ में मेरा वर्ण भी मेरे मुकुट का साथ दे रहा था।

इसीलिए जब वह परिचारिका मुझे खोजते हुए पहुँची तो उसने मंकण के चर से यही पूछा, “वह मोर मुकुटवाला युवक कहाँ है?”

“आस्तरण पर ढुलका पड़ा है।”

“क्यों?”

“लगता है, वह काफी शिथिल हो गया है।”

“बिना मैरेय और महारानी के शिथिल!” महिला हँसते-हँसते दुहरी-सी हो गई—“इसी शिथिलता के उपचार हेतु तो मैं आई हूँ।”

मेरा प्रतिहारी चुपचाप उसे देखता रह गया। वह यह भी न पूछ पाया कि कैसा उपचार? उस परिचारिका ने पुनः दुहराया—“मेरी महारानी ने उस मोर मुकुटवाले को बुलाया है।”

“किसलिए?”

“उसका उपचार करने के लिए।” और फिर वह खिलखिला उठी।

मुझे अब भी आश्चर्य है कि मात्र उसके कहने पर मैं उसके पीछे कैसे चला गया?

क्या भव्य प्रासाद था! मैं तो अब तक समझता रहा कि वैभव में मेरे मामाजी का ही प्रासाद है। पर यहाँ देखा तो आँखें खुल गई कि क्या संपन्नता होती है और क्या विलासिता! इसकी साकार कल्पना सामने थी। इस महल की भव्यता स्वयं मेरे विश्वास के परे थी। मुझे लग रहा था कि यह सब ऐंद्रजालिक है।

स्वर्णपर्यंक पर लेटी महारानी मुझे एकदम ‘वासक सज्जा’ जैसी लगी। एक झीने स्वर्णिम आवरण के नीचे उसका अर्धनग्न शरीर मेरे लिए खुला निमंत्रण था। मैं उस ओर बढ़ा भी।

“अभी नहीं, मुझ तक पहुँचने की चेष्टा मत करो। मेरे निकट आने के लिए तुम्हें एक परीक्षा से गुजरना होगा।”

मुझे एक झटका-सा लगा। ऐसा अनुभव हुआ कि आकर्षण का वह दर्पण जल पर बना प्रतिबिंब था, जो एक निर्मोही कंकड़ से बिखर गया; पर मेरा अंतर तो अब भी खिंचा जा रहा था। एकदम एकतरफा आकर्षण। बस एक हाथ से ताली बजती रही। इसमें कोई चमत्कार अवश्य है। मैं बराबर महारानी को देखता जा रहा था और बारी-बारी से मेरा मन कई आकृतियों या महारानी की आकृति पर चिपकता रहा—राधा की आकृति, ललिता की आकृति, विशाखा की आकृति, कुब्जा या मालिनी की आकृति, रुक्मिणी की आकृति—और वे आकृतियाँ बासी फूल की तरह झरकर गिर गईं।

क्या आपको विश्वास हो रहा है कि मैं वही कृष्ण हूँ, जिसने कभी भोगग्रस्त अर्जुन को योग की शिक्षा दी थी? चित्तवृत्ति निरोध की शिक्षा दी थी?

और आज स्वयं वही चित्तवृत्ति परवशित हो गई।

मैं अब भी मोहग्रस्त था, कामग्रस्त था। मेरे मुख से निकला—“किस परीक्षा से गुजरना होगा?” वह मुसकराई। उसकी मुसकराहट में सौंदर्यगर्विता से अधिक विजयगर्विता का भाव था। उसके समक्ष मेरा मनोबल परास्त हुआ था। उसने सामने पट की ओर संकेत किया और इसी समय वह हटा भी। वहाँ एक राजपुरुष जैसा व्यक्ति खड़ा दिखाई दिया।

“इसे देखते हो?” सम्राज्ञी का प्रश्न था।

मैं चकित देखता ही रह गया।

“इसे पहचानते हो?” उसने पुनः पूछा, “यह भी प्रभास का ही है। अब यहाँ का राजा है।”

‘राजा!’ नृपति! वह भी प्रभास का होकर! मैं चकित था। मेरी मानसिकता देखते ही उसने करतलध्वनि की। कई दासियाँ आ धमकीं।

“इसे बगल के कक्ष में ले जाओ और मेरे पति होने की प्रक्रिया समझाओ।”

“पर मैं आपका पति नहीं होना चाहता।”

“तो क्या प्रेमी होना चाहते हो?” महारानी मुसकराई। प्रेमी के लिए इस द्वीप में कोई स्थान नहीं है।

आश्चर्य है कि मेरी बुद्धि, मेरी वाचालता, मेरा ज्ञान और मेरी शक्ति—सबको जैसे काठ मार गया था। या ऐंद्रजालिक प्रभाव में आ गए थे? मैं बुद्धुओं-सा चुपचाप खड़ा रहा। केवल मेरी मुद्रा प्रश्नवाची हो गई।

“क्योंकि हमारा विश्वास है कि प्रेम की चरम परिणति शारीरिक संपर्क है।”

“यह बात सांसारिक प्रेम के बारे में कही जा सकती है।” मैंने पहली बार उसके बोलने में हस्तक्षेप किया—“पर प्रेम सांसारिकता से परे भी हो सकता है।”

“हमारे यहाँ ऐसा प्रेम होता ही नहीं।” महारानी बोली, “हमारे यहाँ सांसारिक परिधि के परे कुछ नहीं होता।”

‘भोगवादी संस्कृति ऐसा ही सोचती है।’ बात मन में उठी। पर मुँह पर आते-आते बहुत कुछ बदल गई—“इसका मतलब है कि आप भौतिक संस्कृति में विश्वास करती हैं?”

“आप जो भी समझ लीजिए। पर हम इसमें विश्वास करते हैं कि पुरुष और स्त्री का शारीरिक संबंध तब तक नहीं होना चाहिए जब तक वे दांपत्य सूत्र में आबद्ध न हो जाएँ।”

महारानी ने इतना कहने के बाद मुझे अपने साथियों के साथ दूसरे कक्ष में भेज दिया। पर क्यों भेजा गया, मैं बिल्कुल नहीं जानता था। जब यही प्रश्न दासियों ने मुझसे किया तब भी मैं मौन रह गया। वे सब मेरे अज्ञान पर हँस पड़ीं।

“तुम्हें हमारे साथ यहाँ इसलिए भेजा गया है कि तुम्हें बताया जा सके कि तुम महारानी के पति कैसे हो सकते हो!”

“इसमें कौन सी बड़ी बात जानने की है!” मैंने कहा, “अरे, विवाह के बाद हर पुरुष अपनी पत्नी का पति हो जाता है।”

इस बार वे और जोर से हँसीं।

“यहाँ की राजपरंपरा इससे बहुत भिन्न है।”

इसी प्रसंग में उनमें से एक ने बताया—“तुम्हें महारानी के पति से लड़ना होगा।”

“आखिर क्यों?”

“महारानी से विवाह करने के लिए।” एक इठलाहट भरी दुष्ट खिलखिलाहट पुनः मेरे अज्ञान का मजाक उड़ाती निकल गई।

उनमें से वय में सबसे बड़ी दासी ने बताया—“अगली पूर्णिमा को अर्थात् शरद् पूर्णिमा की रात को यहाँ राज उद्यान में एक महोत्सव होता है। उसमें महाराज को जो पराजित करता है, उससे महारानी का विवाह होता है।”

“नहीं, नहीं! यह पूर्ण सत्य नहीं है वरन् अर्धसत्य है।” एक दूसरी दासी बोली, “महाराज को पराजित नहीं बल्कि जो उनका वध कर डालता है, उसीसे महारानी का विवाह होता है।”

“हाँ-हाँ, यही बात है।” पहलेवाली वृद्ध दासी ने स्वीकार किया—“मैं बताने में कुछ गड़बड़ा गई थी।”

“महारानी चाहेंगी कि इस बार आपसे महाराज का युद्ध हो।” दूसरी दासी ने कहा।

“और यदि मैं न चाहूँ तो?”

“क्यों नहीं चाहिएगा?”

“कोई आवश्यक है कि मैं महाराज का वध कर सकूँ? हो सकता है, मेरा ही वध हो जाए तो?” मैंने कहा।

मैं बात जल्दी ही समाप्त करना चाहता था; क्योंकि भैया और उद्धव दोनों जलयान के पास छूट गए थे। पता नहीं इस समय वे क्या सोच रहे हों।

“दूसरी बात यह है कि मैं व्यर्थ में युद्ध लेने के पक्ष में नहीं हूँ; क्योंकि प्रभास के कुलक वणिक का प्रतिभू हूँ।” मैंने पुनः अपनी असमर्थता व्यक्त की।

“आप प्रभास के हैं। हमारे महाराज को भी लोग प्रभास का ही बताते हैं।” दासियों में से एक बोली।

‘प्रभास’ नाम सुनते ही मेरी जिज्ञासा उत्तेजित हुई। अचानक पुनर्दत्त का कल्पित चित्र मेरी आँखों में उतरने लगा। चिंतन भी इसी दायरे में घूमने लगा—‘महाराज पर तो मेरी दृष्टि पड़ी थी। वह बहुत बड़े तो दिखाई नहीं दिए। मेरे बराबर ही तो लग रहे थे। वय यही सोलह-सत्रह की रही होगी; पर महारानी की अवस्था तो अधिक है। नाटा और गठीला कद वय बड़ी सरलता से छिपा लेता है।’

“क्या सोचने लगे?” बूढ़ी दासी ने मेरे चिंतन को अचानक झकझोरा।

“कुछ नहीं।” मैंने सत्य को नकारा भी और साथ ही कहा भी—“मैं महाराज से मिलना चाहता हूँ।”

“महारानी की अनुमति के बिना यह संभव नहीं है।”

“यहाँ महाराज क्या महारानी के दास हैं?”

“आप इतना भी नहीं जानते!” मेरे अज्ञान पर एक बार फिर उनकी हँसी छूटी।

□

सुपर्ण द्वीप की महारानी को मैंने आश्वस्त किया कि मैं शरद् पूर्णिमा तक अवश्य आ जाऊँगा।

“यदि तुम्हें आना ही है तो यहीं रुक जाओ।” महारानी ने कहा।

“मैं रुक कैसे सकता हूँ? प्रतिभू जो हूँ।”

“तुम्हारे प्रतिभू होने की सारी स्वर्णमुद्राएँ मैं अदा कर दूँगी।” महारानी बोली।

अब मेरे सामने बच निकलने का कोई रास्ता नहीं रहा। मैंने अमोघ बाण मारा—“मेरे साथ दो व्यक्ति और हैं—एक मेरा बड़ा भाई और दूसरा मेरा साथी।”

“वे दोनों भी प्रतिभू बनाकर लाए गए हैं?” महारानी ने पूछा।

“जी नहीं।” मैंने कहा और बताया—“हम तीनों में बड़ी आत्मीयता है। हम जहाँ भी जाते हैं, तीनों जाते हैं।”

“तो यहाँ भी आप तीनों रहिए। मुझे कोई आपत्ति नहीं है।”

मैं क्या करता। मेरे तरकश के लगभग सभी तीर समाप्त हो गए थे। मुसकराकर बात टालने की गरज से उससे कहा, “अच्छी बात है, मैं आपकी बात पर विचार करूँगा।”

उस समय तो वहाँ से हट गया। सोचने लगा, यह नागरानी बड़ी विचित्र है। जब तक इसकी माया न जानी जा सके तब तक इससे छुटकारा पाना बड़ा कठिन है।

हम लोग किसी माध्यम की खोज में थे, जिससे वहाँ की वस्तुस्थिति का ज्ञान हो। टहलते-टहलते हम वहाँ के उद्यान में पहुँचे। अद्भुत था वह उद्यान। ऐसे-ऐसे पुष्प, जिन्हें मैंने अपने देश में तो देखा ही नहीं। पुष्प भी ऐसे जैसे वृक्षों पर लदे हुए। टहनियाँ एकदम फूलों से आच्छादित। वातावरण इतना आकर्षक, वायु इतनी सुरभित कि स्वर्ग को तिरस्कृत कर आया हुआ मन भी एक बार आनंद की अनुभूति करने लगे।

स्थान-स्थान पर पुष्करिणियाँ। हमने सहस्रदल कमल भी वहीं देखा था। यह भी अद्भुत पुष्प होता है। ऊपर से नीचे की पंखुड़ियों की लालिमा गाढ़ी होती जाती है; मानो श्वेताभी की अरुणिम छाया अंतिम पंखुड़ियों पर पड़ रही हो।

उन पुष्करिणियों में मछलियाँ रंग-बिरंगी। अधिकांश रजतवर्णी और स्वर्णिम लगती थीं। हाथ के इतने पास कि पकड़ना सहज; पर ज्यों ही हाथ मारता था, सब एकदम सरक जाती थीं। मैं यहाँ अकेला था। मेरे साथी उद्यान में और कहीं रहे होंगे। मैंने मछली पकड़ने की चेष्टा कितनी बार की, यह नहीं मालूम। मालूम बस इतना है कि मैं बार-बार उसके लिए परेशान था।

“यह परेशानी उस मछली के प्रति भी होगी, जो तुम्हें रोक रही है।” यह आवाज उस बूढ़ी दासी की थी, जो मेरे पीछे कुछ दूरी पर खड़ी थी और बहुत देर से मुझे निहार रही थी।

उसने शब्दों से कम और संकेतों से जो कुछ कहा, उसका सारांश था कि जिस जीवन से तुम गुजर रहे हो, वह अभी तुम्हें बड़ा अच्छा लगता होगा; पर यह मधु का छत्ता है। अभी तो केवल उसका मधु तुम्हारे मुँह में चू रहा है। तुम्हें उसके स्वर्गिक मिठास की अनुभूति हो रही है; किंतु तुम्हें जब सारी मधुमक्खियाँ एक साथ नोचना शुरू करेंगी तब तुम पीड़ा से कराह उठोगे। उस पीड़ा से भी अधिक पीड़ाजनक उस रानी मधुमक्खी की मुसकराहट होगी, जो तुम्हारी हर छटपटाहट पर लवण की तरह बिखरेगी। फिर पीड़ा के अतिरिक्त कुछ भी तुम्हारे हाथ नहीं रह जाएगा। यह जो जीवन तुम देख रहे हो, एक सपना है, छलना है।

मुझे ऐसा लगा जैसे किसीने मुझे झकझोरकर जगाया हो। मैं एकदम उठा और भाग चला। जैसे कोई मेरी आशंका के अनुरूप बोला हो। मैंने किसीसे कुछ पूछा नहीं, केवल भागता चला, भागता चला। जलयान के पास पहुँचकर ही मैंने साँस ली।

उधर बलराम भैया वहाँ पहले से खड़े तिमि से मेरे न आने की चर्चा कर रहे थे। मेरे पहुँचते ही तिमि बोला, “बड़ी तेजी से हाँफ रहे हो?”

“भागता चला आ रहा हूँ।” मैंने कहा।

“कहाँ से?”

“कारा की अदृश्य दीवारें फाँदकर।” मैं पुनः बोला।

“सचमुच तुम बड़े भाग्यवान् हो!” तिमि बोला, “कोई परदेशी पुरुष वहाँ से सकुशल नहीं लौटता। तुम लौट रहे हो।”

इतना सुनते हुए भैया और उद्धव भी लपककर जलयान पर आ गए। तूर्य बज उठा और जलयान चल पड़ा।



जैसे दिन की हत्या कर दी गई हो और सारा समुद्र लाल हो गया हो। वैवस्वतपुर पहुँचते-पहुँचते सागर की ऐसी ही गति लग रही थी; क्योंकि नगर काफी ऊँचाई पर बसा था। किनारे उतरकर सीधी चढ़ाई चढ़नी पड़ती थी। समुद्र से तो दिखाई दे रहा था कि ऊपर नगर पर अब भी सूर्य चमक रहा है। वस्तुतः यह चमक काफी तेज थी। शायद इसलिए इस नगर का नाम भी वैवस्वतपुर था।

संभवतः यह समाचार हमारे पहुँचने के पहले वहाँ पहुँच गया था कि मार्ग में दो-दो जलयान डूब गए हैं। कदाचित् इसीलिए लोग जलयानों का स्वागत करने नहीं आए या उन्हें आने नहीं दिया गया।

जलयान के रुकते ही दो अधिकारी जैसे लगते लोग जलयान के नीचे से चिल्लाए—“पहले तिमि और मंकण को नीचे भेजो।”

लोगों ने झाँककर देखना आरंभ किया, उनमें हम भी थे। हमने औरों से पता चलाया। ज्ञात हुआ कि महामात्य के साथ प्रधान दंडनायक भी पधारे हैं। अवश्य ही कोई अनहोनी होने वाली है।

दोनों को उतरते ही बंदी बना लिया गया।

“आप लोगों पर दो-दो जलयानों के डुबोने का षड्यंत्र करने का आरोप है।”

तिमि ने कोई प्रतिकार नहीं किया और न मंकण ही कुछ बोला।

थोड़ी देर बाद तिमि ने आग्रह किया—“हमारे साथ तीन किशोर आए हुए हैं। हम चाहते हैं कि महाराज के समक्ष उन्हें भी उपस्थित किया जाए।”

इसका समर्थन मंकण ने भी किया।

“उनके उपस्थित करने की ऐसी क्या आवश्यकता है?” महामात्य ने पूछा।

“इसे हम नहीं बता सकते।”

“तो कौन बताएगा?”

“समय।”

महामात्य ने दंडनायक की ओर देखा। उसने नेत्रों के संकेत से इस प्रस्ताव को स्वीकार करने की संस्तुति की।...और करता भी क्यों न, वह तिमि का व्यक्ति था। आज परिस्थिति उलट गई थी, अन्यथा वह उसे पहले ही अभिवादन करता।

जलयान पर प्रहरी बैठा दिए गए। कोई भी जलयान से नीचे नहीं उतरेगा। किसका साहस था कि पंचजन की इच्छा के विरुद्ध कार्य करता।

हम लोग सीधे महाराज के समक्ष उपस्थित किए गए। उनकी आग्नेय दृष्टि हम सब पर एक साथ बरसी।

“ये तीनों किशोर कौन हैं?” उसकी कड़क से छलका यह पहला प्रश्न था।

“ये प्रभास से लाए गए हैं।” मंकण बोला।

“क्या ये बंदी हैं?”

“नहीं।” मंकण ने बताया—“प्रतिभू हैं।”

“इनके कारण जलयान डूबे हैं?”

“नहीं।”

“तब इन्हें यहाँ क्यों लाए हो?”

“इनके कारण जलयान बचे हैं।”

“इनके कारण जलयान बचे हैं!” पंचजन तड़पा—“मुझे बच्चा मत समझो।” वह आगबबूला था—“मैं सब जानता हूँ।”

तिमि और मंकण दोनों थरथराते हुए मौन थे। उनके साथ ही प्रधान दंडनायक और महामात्य भी।

अचानक बिजली की कड़क की तरह एक आवाज बरसी—“डूबे हुए जलयानों के लिए तिमि और मंकण को प्राणदंड दिया जाता है!”

महाराज का स्वर झंझा में पीपल की तरह काँप रहा था और वैसी ही उनके समक्ष खड़े लोगों की भी स्थिति थी।

“यों तो मेरी बोलने की स्थिति नहीं है—परदेशी भी हूँ और आपके अधीन भी; फिर भी जिज्ञासा मानव की स्वाभाविक वृत्ति है। मेरे भीतर एक जिज्ञासा बाहर निकलने के लिए मचल रही है। यदि आप अन्यथा न समझें और अनुमति दें तो आपके समक्ष रखूँ?”

“पूछो, क्या पूछना चाहते हो?”

“दोनों जलयानों के डूबने पर इन दोनों महानुभावों को मृत्युदंड! यदि तीन जलयान डूबते तो क्या होता?”

“तो भी यही सजा होती।”

“यदि चार जलयान डूबते तो?”

“तो भी यही सजा होती।”

“और मान लीजिए, पाँचों जलयान डूबते और ये दोनों महानुभाव किसी तरह बच जाते, तो आप क्या करते?”

“तब भी यही सजा होती।”

“क्योंकि आप इससे अधिक दूसरा दंड दे नहीं सकते। मृत्युदंड दंडों की चरम सीमा है। अद्भुत है यह आपकी न्याय व्यवस्था! हम आर्यों में तो ऐसा नहीं है।” मैंने कहा, “आप अन्यथा न लें तो मैं इसी प्रश्न को किसी दूसरे ढंग से पूछूँ?”

“इससे क्या लाभ होगा?”

“लाभ होगा, क्योंकि प्रयोजन है—और बिना प्रयोजन के कोई कार्य नहीं होता।”

लोगों का कुतूहल उनकी आकृतियों पर उग आया था; क्योंकि क्रुद्ध महाराज और क्रुद्ध नाग के सामने कब कौन पड़ जाएगा और किसपर वे फन मार बैठेंगे, कुछ कहा नहीं जा सकता।

“मैं पूछना चाहता हूँ कि डूबते हुए किसी जलयान को कोई बचाए तो आप उसे क्या दंड देंगे?”

“दंड!” पंचजन की अचानक मुद्रा बदली—“तुम पागल तो नहीं हो गए हो! वह जलयान डूबने से बचाएगा और मैं दंड भी दूँगा! अरे, वह पुरस्कार का भागी होगा, पुरस्कार का।”

“किस पुरस्कार के भागी होंगे?”

“एक सहस्वर्णमुद्राओं के।”

“यदि वे दो जलयानों को बचाएँ तो?”

“तो दो सहस्वर्णमुद्राएँ प्राप्त करने के अधिकारी होंगे।”

“और यदि तीन?” मेरे मुख से निकला।

वह बिगड़ गया—“आखिर तुम इन सवालियों के माध्यम से कहना क्या चाहते हो?”

“कहना यही चाहता हूँ कि जलयान डूबने पर दंड एक ही रहता है, चाहे डूबनेवाले जलयान की संख्या कुछ भी हो, पर जलयान की रक्षा के लिए पुरस्कार घटता-बढ़ता रहता है।”

“तुम्हारे कहने का तात्पर्य क्या है?”

“तात्पर्य स्पष्ट है, महाराज! मुझे क्षमा करें तो कहूँ कि पहले तो आपकी न्याय व्यवस्था दोषपूर्ण है।”

इतना सुनते ही पंचजन तड़पा—“तुम कौन हो मेरी न्याय व्यवस्था का दोष निकालनेवाले?”

“इसीलिए तो मैंने क्षमायाचना करके ही बात कही थी।” मैंने उन्हें शांत करते हुए बड़े प्रणत भाव से पुनः क्षमायाचना की—“दूसरी बात यह है कि मेरी दृष्टि में इन्होंने दो-दो जलयानों को डुबोया नहीं वरन् बचाया है। जिस प्रकार के झंझावात में वे फँसे थे, उनमें तो एक को भी बचकर लौटना नहीं चाहिए था।”

महाराज का तनाव कुछ ढीला पड़ा। वे बड़े सहजभाव से बोले, “इन लोगों ने जानबूझकर विपत्ति मोल ली थी। पूर्णिमा को प्रस्थान करने का मतलब है, झंझा को आमंत्रित करना।”

“खैर, आप चाहे जो कहें; बड़े हैं, विज्ञ हैं, हमारे महाराज हैं। पर इतना मानिए कि झंझा और ज्वार में बड़ा अंतर है। वह इतना भयंकर तूफान था कि जलयान में कोई भी व्यक्ति उस समय बैठा न रह सका था। हर व्यक्ति एक-दूसरे के ऊपर ढुलक रहा था।”

महाराज इस बार सोच में पड़ गए। सारी सभा सन्नाटे का वितान बुनने लगी। उसे विश्वास हो गया कि महाराज अपने आदेश पर पुनः विचार करेंगे।

पर महाराज का पुनः विचार पूर्व विचार से अधिक हास्यास्पद था। वे पता नहीं क्या सोचते हुए बोले, “जलयानों के डूब जाने के मृत्युदंड से ये मुक्त नहीं हो सकते; पर बचे हुए जलयानों के लिए इन्हें पुरस्कृत किया जाएगा।”

इतना सुनते ही तिमि बोल पड़ा—“जब मैं मर ही जाऊँगा तब पुरस्कृत होकर क्या करूँगा?”

उसका इतना बोलना था कि मुझे हँसी आ गई। मैंने अपना बड़ा मुँह दबाया; पर हँसी तो हँसी थी। वह झलककर बाहर निकल आई। यही स्थिति कई पारिषदों की हुई।

पंचजन को स्वयं अपने निर्णय पर आश्चर्य था कि उसने ऐसा कहा कैसे? पर हमारी हास्य प्रतिक्रिया से तो वह एकदम खीज उठा और बिना कुछ कहे-सुने सिंहासन से झुँझलाकर उठकर चला गया।

उसके अंतःपुर में जाते ही सभा की भुनभुनाहट शोर में बदल गई। लोग तरह-तरह की चर्चाएँ करने लगे।

“आज किसीमें महाराज से बातें लड़ाने का साहस नहीं था; पर इस मोर मुकुटवाले ने तो कमाल कर दिया।”

“पर देखना, महाराज कितने क्रुद्ध होकर गए हैं। शीघ्र ही कुछ-न-कुछ होकर रहेगा।” स्पष्ट था कि यह भी महाराज का कोई पारिषद् ही है।

“यह मोर मुकुटवाला भी सामान्य नहीं है।” यह प्रभास से ले आए एक दास की आवाज थी, जो निश्चित रूप से मुझे पहचानता था।

मैंने फिर उसे चुप रहने का संकेत किया।

इसके पहले कि कोई उससे पूछे कि तुम उसे कैसे जानते हो, वह भीड़ में खो गया।

वह सभा विसर्जित हो गई। तिमि और मंकण की हथकड़ियाँ खोल दी गईं। स्पष्ट था कि अब दोनों को मृत्युदंड नहीं मिलेगा। इस प्रसंग से मैं भी सबकी दृष्टि पर चढ़ गया था। कुछ ने यह बात अच्छी तरह फैला दी थी कि मेरे ही कारण पाँच जलयानों की रक्षा हो सकी थी, जिसके यश का भागी इस व्यक्ति ने स्वयं तिमि और मंकण को बनाया।

“कोई दूसरा होता तो अपने यश की चर्चा करके स्वयं पुरस्कार प्राप्त कर लेता।” किसीने कहा।

“ऐसा निष्काम कर्म का पथिक अवश्य कोई महान् व्यक्ति है।” कुछ के विचार थे।

कुछ तो मुझे जीवनत्राता मानते थे। वे इस निष्कर्ष पर भी आ गए थे कि शीघ्र ही मैं यहाँ से उन्हें भी त्राण दिलाऊँगा।

मैं चुपचाप वहाँ से खिसक चला; क्योंकि मेरे संबंध में संदेह के बादल उग आए थे। मैं इनकी आड़ में अपनी स्वार्थ-सिद्धि आसानी से कर सकता था।

भैया, उद्धव और मैं वहाँ से सीधे समुद्रतट की ओर चले। मार्ग में तिमि और मंकण से भेंट हुई। विपत्ति वैमनस्य धो डालती है। तभी तो दोनों—एक-दूसरे के विरोधी—साथ चले आ रहे थे। आते ही दोनों ने मेरे प्रति कृतज्ञता प्रदर्शित की।

“यह कृतज्ञता कैसी? मैंने तो अपना कर्तव्य किया था।” मैं बोला, “राजा के दिग्भ्रमित होने पर उसे दिशा-निर्देश करना प्रजा का कर्तव्य है।”

“उस प्रजा का, जिसमें प्राण होता है।” तिमि बोला, “पर यहाँ की प्रजा तो निष्प्राण है। राजा यदि रात को दिन कहे तो प्रजा को भी दिन कहना चाहिए—और यही यहाँ की प्रजा करती है।”

“ऐसी निष्प्राण प्रजा का राजा भी निष्प्राण हो जाता है।” मैंने कहा।

“भगवान् जाने कब होगा!” मंकण बोला।

“समय की प्रतीक्षा कीजिए।” मैंने अनुभव किया कि राजसत्ता के विरुद्ध यहाँ भी चिनगारियाँ छिटक रही हैं। केवल उन्हें इकट्ठा करने भर की देर है।

हमें सिंधुतट पर आता देखकर वे सोचित अभिवादन करके चले गए। उनकी गति इतनी तेज थी कि वे निश्चित ही किसी विशेष कार्य से जा रहे होंगे। अन्यथा उनकी मानसिकता इस समय मुझे छोड़ने की न थी।

मैं समुद्रतट पर आकर एक शिलाखंड पर चुपचाप बैठ गया। मेरे जीवन का यह प्रथम अवसर था, जब मैं मौन बैठा उत्ताल तरंगाघात सिंधु के मौन किल्लोल का आनंद ले रहा था। यहाँ से जहाँ तक दृष्टि जाती थी, सिंधु हाहाकार करता तथा दुर्बल मन के संकल्प की तरह अस्थिर और चंचल था। जिस शिलाखंड पर मैं बैठा था, वहाँ थोड़ी-थोड़ी देर के बाद लहरों का झोंका आता था, पछाड़ खाता था और अपना सिर फोड़कर लौट जाता था। मुझे इस प्राकृतिक दृश्य में भी एक छंद दिखाई दिया। एक लयमयता दिखाई दी। एक अदृश्य संगीत का आनंद आ रहा था। अब मैं भी उसमें सम्मिलित होने का मोह संवरण न कर सका। मेरी वंशी मेरे अधरों पर आ गई। दिन का मध्य प्रहर बीत चुका था। सारंग की स्वर लहरियाँ मेरी अँगुलियों पर थिरकती हुई वंशी से निकलने लगीं। वहाँ गोपियाँ तो नहीं थीं, पर सागर की लहरें अवश्य थीं। वे वंशी की धुन पर मचलने लगीं। हवाएँ नाचने लगीं। प्रकृति की सारी लयमयता मानो मुझे ताल देने लगी। आसपास के तटवासी मछुए भी मेरी वंशी सुनने आने लगे। छोटी-मोटी भीड़-सी लग गई।

“यह वही युवक है, जिसने हमारे नेता को मृत्युदंड से मुक्ति दिलाई है।” किसीने कहा। मुझे याद आया कि तिमि जाति का मछुआ ही है।

“यह हमारे लिए त्राता है।” दूसरा बोला।

“पर प्रभास का है।”

“इससे क्या होता है!” पहले युवक ने कहा, “प्रभास हमारी वैरभूमि अवश्य है; पर इसका यह मतलब नहीं कि वहाँ का हर व्यक्ति हमारा वैरी ही हो।”

“वैरी नहीं, मित्र कहो।” वह बोला।

अचानक मेरी साँस कुछ रुकी।

“आप इतनी अच्छी वंशी कैसे बजा लेते हैं?”

मैंने बड़े सहजभाव से अपनी अँगुलियाँ हवा में हिलाकर दिखाईं। वह भी हँसने लगा और हम सब हँसने लगे।

थोड़ी ही देर बार राजकर्मचारी आते दिखाई दिए। उन्हें देखते ही आसपास खड़े मछुए इधर-उधर हटने-बढ़ने लगे। मैंने अनुभव किया कि कितना आतंक है राजा का।

“आपको महाराज ने स्मरण किया है।” राजकर्मचारियों में से एक बोला।

“क्यों बुलाया है?”

“यह तो महाराज ही बता सकते हैं।”

मैंने समझ लिया कि कोई नई बात हो गई। मैं बड़े सहजभाव से चल पड़ा। भैया और उद्धव तो इस आह्वान से घबरा उठे थे। पर मैंने अपनी सहजता जरा भी कम नहीं की और धड़धड़ाता हुआ पंचजन के शयनकक्ष तक पहुँच गया।

“बड़े धृष्ट और अशिष्ट मालूम होते हो जी!” मेरे पहुँचते ही वह हड़बड़ाकर अपने पर्यंक पर उठ बैठा। मेरे पीछे मेरे दोनों व्यक्ति खड़े थे।

“आपने अविलंब बुलाया था। इसका सीधा अर्थ था कि मैं जिस स्थिति में हूँ, चल पड़ूँ और आप जिस स्थिति में हों, आपसे मिलूँ।”

“तुम बातें बनाना खूब जानते हो! चलो, मेरे अतिथिकक्ष में बैठो और जब बुलाया जाए, उपस्थित हो।” महाराज ने कहा और मैं चुपचाप चल पड़ा।

उस अतिथिकक्ष में बीता हुआ समय अत्यंत ऊहापोहात्मक था; क्योंकि पंचजन का बरताव बड़ा रुक्ष था। हर क्षण आशंका का रूप क्रूरतम होता जा रहा था।

थोड़ी देर बाद महाराज सिंहासन पर विराजे और मेरी बुलाहट हुई। इस बार हम लोगों को बैठने के लिए भी नहीं कहा गया। हम तीनों पंक्ति में खड़े रहे।

“कहिए, आप मुझे धोखा नहीं दे सकते। पंचजन के पास मात्र दो आँखें नहीं, उसे सहस्रों आँखें हैं। वह उन सहस्रों आँखों से एक साथ देख सकता है।”

मैं अब भी समझ नहीं पाया कि यह कहना क्या चाहता है।

“मैं जो प्रश्न करूँ, उसका ‘हाँ’ या ‘नहीं’ में उत्तर दीजिए। मैं व्यर्थ की बकवास सुनना नहीं चाहता।” उसके अरुणाभ नेत्रों से चिनगारियाँ छूटने लगी थीं।

“अच्छा तो बताइए, आप आचार्य सांदीपनि के शिष्य हैं?” पंचजन का पहला प्रश्न था।

“हाँ।” मैंने कहा।

“आप उनके लिए गुरुदक्षिणा की खोज में यहाँ तक आए हैं?”

“हाँ।” मैंने बात थोड़ी बदलनी चाही—“मैं प्रभास के श्रेष्ठी कुलक का प्रतिभू हूँ। उसके द्वारा स्वर्णमुद्राएँ लौटाते ही मैं चला जाऊँगा।”

“मुझसे बातें बनाने की चेष्टा मत कीजिए।” महाराज ने पुनः डाँटा—“आखिर आप कुलक के कौन लगते हैं कि उसके प्रतिभू हो गए?”

“कुछ लगता नहीं हूँ।” मैंने कहा, “उसका अतिथि था। उसने कहा और मैं राजी हो गया; क्योंकि उसकी परेशानी मुझसे देखी नहीं गई।”

“बच्चों की तरह बहलाने की मुझे चेष्टा मत करो। एक अतिथि स्वयं प्रतिभू बनने के लिए तैयार हो जाए और आतिथेय भी उसे बना दे! अरे वाह रे वाह!” पंचजन की नाराजगी अपनी सीमा पर थी—“मेरे गुप्तचरों ने मुझे बहुत कुछ बता दिया है। तुम्हारा सारा प्रयोजन हम जान गए हैं।”

हम लोग चुप ही थे। संक्षिप्त अंतराल के बाद उसने पुनः 'हाँ' या 'नहीं' में उत्तर माँगा।

“तुम्हींने मथुराधीश कंस का वध किया था?”

“वध हुआ तो मेरे द्वारा ही था, पर मैंने किया नहीं था।”

“यह क्या पहेली बुझानेवाली भाषा का प्रयोग कर रहे हो!” पंचजन तड़पा।

“व्यक्ति कुछ भी नहीं कर सकता, वह तो निमित्त मात्र है। करती तो नियति है।” इतना कहते हुए मैंने बड़े नाटकीय ढंग से अपने हाथ ऊपर उठाए—“आप क्या समझते हैं, इन दुर्बल हाथों ने कंस का वध किया है? कंस का वध तो किया था उसके कर्मों ने। मनुष्य अपने शुभ-अशुभ कर्मों का फल अवश्य भोगता है, वरन् उसे भोगना पड़ता है।”

नियति के संबंध में मेरे मन में बैठे दृढ़ विश्वास का ही यह परिणाम था कि एक समय ऐसा आया जब मैंने अर्जुन से ठीक यही बात कही थी—‘अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्’।

मैंने इतने आत्मविश्वास से कहा कि मेरी आवाज अत्यधिक गंभीर हो गई। इस गंभीरता से पंचजन लगभग चकित-सा हो गया। एक बंदी की हैसियत का व्यक्ति इतने प्रभावशाली ढंग से बोल सकता है?

जब मैंने देखा कि मेरी ओषधि कुछ प्रभाव कर रही है तब मैंने अपनी गंभीरता और गाढ़ी की—“मनुष्य किसी और से नहीं, अपने कर्मों से मारा जाता है।”

मैंने इतना ही कहा। पर तात्पर्य स्पष्ट था कि मैं भी अपने कर्मों से मारा जाऊँगा और तुम भी। मैं नहीं कह सकता कि उसकी बुद्धि इस निष्कर्ष पर पहुँची या नहीं, पर उसकी आकृति कुछ सशंकित अवश्य हो चुकी थी। उसकी सारी तेजस्विता मुरझाने लगी थी।

“मुझे सारी सूचना गुप्तचरों से मिल गई है।” महाराज ने कहा, “आप प्रतिभू के माध्यम से पुनर्दत्त की खोज में आए हैं। जानते हैं, पुनर्दत्त को ले जानेवाले व्यक्ति को पहले मुझसे शत्रुता लेनी होगी।”

“जानता हूँ।” मेरे कथन में इतनी स्वाभाविकता और सहजता थी कि वह पुनः चकित रह गया।

“आप बहुत करेंगे तो मेरी हत्या कर या करवा देंगे। बस यही न? पर संसार देख लेगा कि पंचजन कितना कायर है कि उसने अपने प्रतिभू की हत्या करा दी!” मैं आवेश में बोलता चला जा रहा था। ऐसी स्थिति में भाषा अनियंत्रित हो जाती है, ‘तुम’ और ‘आपका’ अंतर रह नहीं जाता। मैं कहता चला जा रहा था—“चलिए, कोई बात नहीं। मेरी हत्या भी रंग लाएगी। प्रभास में यों ही आग लगी है। आपके विरुद्ध विद्रोह का विस्फोट निकट है। पादाक्रांत जनता एक सीमा तक ही मौन रह सकती है।...और मेरी हत्या के बाद वह सीमा रेखा आपसे आप भंग हो जाएगी तब प्रभास की धरती तुम्हारे विरुद्ध चीखेगी। आकाश आग उगलेगा। सिंधु से इतनी उत्ताल तरंगें उठेंगी कि तुम्हारी नगरी समुद्र में जाती दिखाई देगी।”

आवेश की अग्नि के लिए क्रोध तेल है। इस समय उसी तेल और अग्नि का समावेश मेरे व्यक्तित्व में हो गया था। वस्तुतः मैं बोल नहीं रहा था वरन् उद्घोषणा कर रहा था—और मेरी यह उद्घोषणा भविष्य में दुर्योधन की सभा में हुई उद्घोषणा की पूर्व सूचना जैसी थी। लोगों का कहना था कि उस समय हर व्यक्ति मेरा मुँह देखता रह गया था। स्वयं पंचजन चकित था। शायद उनका पाला किसी ऐसे प्रतिभू से पड़ा नहीं था।

उस समय तो उसने सभा विसर्जित कर दी और चुपचाप उठकर चला गया। किंतु अभी घड़ी भर भी बीता नहीं था कि तिमि के साथ प्रधान दंडनायक को उन्होंने मेरे पास भेजा।

“लगता है, गुप्तचरों से उन्हें सारी बातें मालूम हो गई।” तिमि ने कहा।

“लगता क्या है, यह तो उनका कथन ही है।” मैंने ऐसी बेरुखी अपनाई जैसे मैं तिमि को जानता ही न होऊँ।

तिमि ने संकेत कर दंडनायक को हटाया। फिर मेरे निकट आकर बोला, “आपके वक्तव्य का बड़ा भयंकर प्रभाव पड़ा है। आज तक इस प्रकार महाराज को लताड़ने का किसीमें साहस नहीं था। जनता अब अपनी शक्ति को पहचानने लगी है। यदि दो-एक बार इसी प्रकार का प्रहार हुआ तो हो सकता है कि प्रभास में उठनेवाला विद्रोह यहीं उठ खड़ा हो।”

“आखिर उस विद्रोह का होगा क्या?” मैंने फिर कूटनीति चली—“पंचजन की हत्या के बाद जनता तुम्हें राजसिंहासन पर बिठा देगी।”

“मुझे राजसिंहासन पर!” इतना सुनते ही उसकी तो बाँछें खिल गईं।

पंचजन की छाया से भी मुक्त होने की जिसने कभी कल्पना न की हो, उसके सामने राजा बनने का विचार हाथ में आया आकाश कुसुम था।

मैंने अग्नि में घी डाला—“पंचजन की मृत्यु के बाद सिंहासन तो खाली रहेगा नहीं। दुर्भाग्य से उसकी कोई संतान नहीं है। ऐसी स्थिति में सबसे उपयुक्त व्यक्ति तुम्हीं हो।”

उसकी आकृति से प्रसन्नता झरने लगी। वह मेरे सामने था तो स्थिर, पर भीतर से नाच रहा था।

“यह तुम्हीं कर सकते हो, नाथ!” उसके मुख से अचानक निकला—और वह धीरे-धीरे मेरे चरणों की ओर झुका। उसे भी मुझमें ईश्वरत्व दिखाई देने लगा।

“पर मेरे किए से जो होगा वह तो होगा ही।” अब मैंने उसे और भड़काया—“लेकिन तुम्हें भी कुछ करना पड़ेगा।”

“जैसे क्या?”

“तुम्हारे विरोधी बहुत हैं। महाराज की आज्ञा का पालन करवा-करवाकर तुमने बहुतों से विरोध लिया है। बहुतों पर तुम्हारा अहंकार हावी हुआ है।” मेरा संकेत मंकण पर था।

वह समझ भी गया—“आप उसकी चिंता न करें। वह मेरा रहा है और मैं उसे अपना बना लूँगा।”

प्रसन्नता में वह चलने को हुआ। अचानक उसे याद आया कि मैं जिस कार्य से यहाँ आया हूँ, वह तो हुआ ही नहीं। वह जाते-जाते रुक गया और प्रधान दंडनायक के समक्ष बोला, “महाराज ने चक्र माँगा है न?”

‘चक्र!’ सुनते ही मेरा माथा ठनका। आयुधविहीन व्यक्ति विषदंतहीन सर्प से अधिक नहीं होता। इतना सोचते ही मैंने कहला दिया कि मेरा चक्र सुपर्ण द्वीप में ही रह गया है।

संदेशा पंचजन को पहुँचा। वह बड़ा प्रसन्न हुआ।

“आखिर उस नाग कन्या ने उसका चक्र अपने यहाँ रखवा ही लिया। अब मजा आएगा, जब उसे वहाँ के महाराज से लड़ना पड़ेगा।”

यह बात किसी तरह मुझे मालूम हो गई। मैंने उससे कहा, “कितना आश्चर्यजनक है कि युद्ध हमारे बीच होगा और मजा आपको आएगा!”

“यही तो रहस्य है।” पंचजन जोर से हँसा। उसने सोचा, इस रहस्य को अभी रहस्य ही रहने दो, अन्यथा सब गुड़-गोबर हो जाएगा। यह तो ऐसी परिस्थिति पैदा हो गई है जिसमें चित भी मेरी, पट भी मेरी।

“आप किसके संबंध में कह रहे हैं?” मैंने एकदम अनजान बनते हुए पूछा।

“अभी तुम समझ नहीं पाए! मैंने आर्यों को इतना मूर्ख तो नहीं देखा है।” पंचजन बोला, “यह युद्ध गुरु के पुत्र और पिता के शिष्य में होगा।”

इतना कहने के बाद वह अट्टहास कर बैठा।

“तब तो अनर्थ हो जाएगा।” भैया ने धीरे से मेरे कान में कहा।

मैं गंभीर हो सोचता रहा; क्योंकि ऐसी परिस्थितियों से जूझने की मेरी प्रकृति हो गई थी।

“पर मैंने तो सोचा था कि वह आचार्य यम के आश्रम में है।” मैंने कहा।

“इसी रहस्य का नाम तो राजनीति है।” पंचजन बोला, “उसका आचार्य यम के आश्रम में रहना सुरक्षित नहीं होता। तुम्हारे जैसे लोग आते और छुड़ाकर ले जाते।”

“तो क्या वहाँ से ले जानेवाले छुड़ाकर नहीं ले जाते?” मैंने कहा और वह केवल हँस दिया।

“तुमको युद्ध का निमंत्रण दिया है नागरानी ने?” उसने पूछा।

“हाँ, दिया है।”

“तब कब होगा वह ऐतिहासिक युद्ध?”

“जब आप मुझे प्रतिभुत्व से मुक्त करेंगे।” मैंने कहा।

उसने तुरंत मुझे प्रतिभुत्व से मुक्त कर दिया। शायद उसने सोचा कि मृत्यु के मुख में जाने के लिए किसी प्रकार का बंधन नहीं होना चाहिए।

संध्या हो चली थी। सूर्य की किरणों की अंतिम लाली वृक्ष के शिखरों पर लटक गई थी। अतिथिकक्ष में हम तीनों बैठे वर्तमान स्थिति पर विचार कर रहे थे, पर कोई मार्ग दिखाई नहीं दे रहा था। पुनर्दत्त और मेरा युद्ध अनिवार्य था। हमारे मस्तिष्क का अंधकार धीरे-धीरे प्रकृति पर भी छाने लगा।

अँधेरा और गाढ़ा हो चला। निश्चय हुआ कि किसी तरह पंचजन को भी उस युद्ध में ले चला जाए और योजनाबद्ध रूप से उसका वध कर दिया जाए। पर यह होगा कैसे? सारे षड्यंत्र के पीछे किसी चरित्र को तो रखना पड़ेगा ही।

उस अँधेरे में ही हम लोग चुपचाप वेश बदलकर तिमि के पास पहुँचे। प्रतिहारी से पता चला कि वे भीतर राजकर्मचारियों से कुछ मंत्रणा कर रहे हैं।

“कह दो कि महाराज ने गुप्त मंत्रणा के लिए कुछ लोगों को भेजा है।” मैंने कहलवाया।

प्रतिहारी ने सूचना दी और वे अधिकारी चुपचाप उठकर चल पड़े। संयोग कुछ ऐसा कि जिस द्वार से वे लोग निकले, उसीकी बगल में हम खड़े थे; पर किसीने हमें पहचाना तक नहीं।

हमारे वेश को देखकर तिमि तो पहले चौंका। बाद में पहचान गया। मैंने सीधे-सीधे प्रस्ताव रखा—“इस नगर के तुम्हीं राजा क्यों नहीं हो जाते?”

मैंने उसके अहंकार को पहले से ही तैयार कर रखा था। फिर भी वह सोच रहा था कि यह कैसे होगा? क्योंकि उसकी असमर्थता उसे घेरे खड़ी थी।

“इसकी चिंता तुम छोड़ो। पहले अपना मन बनाओ।” मैंने धीरे से कहा।

“मन तो बहुत पहले से बना है, पर प्रजा और राजा का क्या होगा?”

“प्रजा तो तुम्हारे राजा से नाराज है। रह गए दास। वे सब प्रभास से पकड़कर लाए गए हैं। वे सब हमारे साथ हैं। प्रजा को तुम चाहो तो अपने प्रभाव में ला सकते हो।”

“प्रजा राजा से नाराज तो अवश्य है, पर वह मेरे प्रभाव में आएगी, इसका विश्वास मुझे हो नहीं पा रहा है; क्योंकि हम राक्षसों में किसी बात पर एका नहीं हो पाता। अब यही पता चल जाए कि पंचजन के बाद गद्दी का उत्तराधिकारी कौन होगा, तो इसीको लेकर मार हो जाएगी।”

“तब इस रहस्य के उद्घाटन से लाभ क्या! सारी योजना गुप्त रखिए। किसीसे चर्चा मत कीजिए।” मैंने कहा।

मुझे एक युक्ति सूझी। क्यों न मैं ही महाराज से आग्रह करूँ कि उस संभावित युद्ध में वे भी चलें। पर इसके पहले ही तिमि कह चुका था कि महाराज से आग्रह करता हूँ कि गुरु के पुत्र और पिता के शिष्य का यह युद्ध आपकी अध्यक्षता में हो। तिमि की योजना थी कि वहीं मौका देखकर उसकी हत्या कर दी जाएगी।

उसने मुझसे भी कहा कि अपने साथ सुपर्ण द्वीप पर अपने खास मल्लों को भी ले चलना होगा।

“किंतु एक बात है।” वह बोला।

“क्या?”

“पंचजन का वध आसान नहीं है।”

उस गहरे अँधेरे में काँपती दीपशिखा की तरह हमारा विश्वास एक बार फिर काँप उठा। अवश्य उसमें कोई बात है, अन्यथा उसका अहं निश्चित ही अब तक उसे चबा गया होता। मैंने उसकी अमरता का रहस्य जानना चाहा।

“उसके पास एक पांचजन्य शंख है, दक्षिणावर्ती शंख। उससे वह महाकाल की नित्य पूजा करता है। और जब तक वह शंख उसके पास रहेगा, उसका वध असंभव है।”

मैंने ईश्वर को अनेक धन्यवाद दिया कि रहस्य तो मालूम हुआ। अब इसके लिए भी कोई युक्ति निकालनी पड़ेगी। मुझे लगा कि मेरे भीतर का अँधेरा बाहर के अँधेरे से और गहरा होता जा रहा है।

उस समय तो मुझे कोई युक्ति दिखाई नहीं दी। दूसरे दिन इसी समय मिलने का प्रस्ताव रखकर वह बैठक स्थगित हुई।

रात बहुत देर तक मैं जागता रहा। सप्तर्षि पश्चिम की ओर झुकने लगे। अभी तक मुझे नींद नहीं आई थी। मैं सोचता रहा। मुझे एक उपाय सूझा कि पांचजन्य महाराज के पास न रहे। क्यों नहीं युद्ध तो महाराज की अध्यक्षता में हो, किंतु उसका संचालन तिमि करे। जो संचालन करेगा, पांचजन्य उसीके हाथ में रहेगा।

वस्तुतः सारी योजना कहने में जितनी आसान और सहज लगती थी, वह उतनी ही नहीं। पांचजन्य मात्र एक शंख नहीं है, वह राज्य की श्री है। उसपर पंचजन तिमि का कभी हाथ लगने नहीं देगा। इसके लिए तो तिमि को ही कुछ करना पड़ेगा।

दूसरी रात जब मैं फिर तिमि के पास पहुँचा और अपनी योजना रखी, वह एक बार प्रसन्न तो हुआ, पर शीघ्र ही जैसे किसीने उसकी प्रसन्नता का गला दबा दिया। वह सोचते हुए बोला, “महाराज जब भी नगर छोड़ते हैं, यहाँ का सर्वेसर्वा मुझे ही बनाकर जाते हैं। अब तक यही होता रहा है। तब वे मुझे कैसे ले जाएँगे?”

“तुम्हीं प्रस्ताव करो कि महादंडनायक नगर की देखभाल करें।” मैंने तिमि को समझाया—“और महाराज से कहो कि यह गुरु के पुत्र और पिता के शिष्य के बीच का ऐतिहासिक युद्ध है—और वह भी आपकी कृपा से संभव हुआ है। क्या मैं उसके प्रत्यक्ष दर्शन से वंचित रह जाऊँगा?”

तिमि तैयार नहीं हो पा रहा था। उसमें कुटिलता तो थी, पर वैसी नाटकीयता न थी जैसी इस कार्य के लिए अपेक्षित थी। मैंने उसे अल्प समय में ही बहुत कुछ सिखाया-पढ़ाया और कहा, “पहले महाराज की अविरल प्रशंसा करो। फिर बताओ कि जब से आपने संभावित युद्ध का खतरा बताया है, तब से वह मोर मुकुटवाला परेशान हो गया है। कहीं ऐसा न हो कि वह वहाँ जाकर अपने गुरुपुत्र से समझौता कर ले।”

उसने वैसा ही किया। पूरे नाटकीय ढंग से वैसा ही किया जैसा मैंने बताया था।

पंचजन बड़ा प्रसन्न हुआ। बोला, “देखो, ये बातें कहीं आचार्य यम को मालूम न हो जाएँ, अन्यथा वे इस स्थिति को आने ही नहीं देंगे।”

“क्यों?”

“क्योंकि उनका पुनर्दत्त के प्रति पुत्रवत् लगाव है। कौन चाहेगा कि उसका पुत्र जीवन-मृत्यु के संघर्ष में पड़े!” पंचजन ने कहा।

“और यह भी हो सकता है कि वह मोर मुकुटवाला ही मारा जाए!” तिमि बोला।

“पर मुझे ऐसा नहीं लगता। तुम्हींने बताया था कि उसने अपने चक्र से अँधेरे में पालों की डोर काटकर जलयानों को बचाया था।” पंचजन बोला, “जिसका लक्ष्यवेध इतना सधा हो, वह पुनर्दत्त से पराजित नहीं हो सकता।”

“पर वह तो ऐसा घबराया हुआ है कि जैसे अभी से उसके प्राण निकले जा रहे हैं।”

“जो भी हो, भाई!” पंचजन ने कहा, “फिर भी इसकी चर्चा यम से न करना ही उचित है।”

“मैं भी यही सोचता हूँ।” तिमि बोला, “किंतु मैं चाहता हूँ कि उस संभावित युद्ध के प्रधान निर्णायक आप रहें और संचालन मैं करूँ।”

“अध्यक्षता मैं करूँ और संचालन तुम! बात कुछ समझ में नहीं आई।”

“बात तो साफ है। आप प्रधान अतिथि होंगे। मुख्य दर्शक होंगे। आप पांचजन्य बजाकर युद्ध आरंभ करा देंगे। इसके बाद युद्ध का संचालन मैं अपने हाथ में ले लूँगा।”

“क्यों?”

“क्योंकि संचालक की स्थिति कभी-कभी बड़ी विवादास्पद हो जाती है। लोग उसके विरुद्ध विद्रोह पर उतारू हो जाते हैं। और मैं आपको उस स्थिति में पड़ने नहीं देना चाहता। मैं संचालन भी आपकी ओर से करूँगा, आपके शंख से करूँगा—और जब तक उनमें से एक मर न जाए, निर्देश देता रहूँगा।”

“पर तुम्हारे सारे निर्देश मेरे संकेत पर होंगे।” पंचजन बोला।

“और नहीं तो क्या! मैं अपने मन से कुछ थोड़े ही करूँगा।”

“तब वह नागरानी क्या करेगी?”

“वह तो मुख्य फलभोक्ता है ही। युद्ध का सारा फल उसीको मिलेगा।”

पंचजन जोर से हँसा।

“पर तुम भी यदि साथ चलोगे तो यहाँ का शासन कौन देखेगा?” पंचजन ने पूछा।

तैयारी तो पहले से थी ही, थोड़ी नाटकीयता के साथ तिमि बोला, “यदि आप कहें तो प्रधान दंडनायक को तैयार कर लूँ।”

पंचजन ने तिमि को ऐसा करने की अनुमति दे दी।

मुझे प्रसन्नता थी कि उस गहन अंधकार में भी मैंने अपना पथ खोज लिया।

□

आज चतुर्दशी थी। पूर्णिमा के पहले की चतुर्दशी।

सुपर्ण द्वीप पर हम लोग एक ही जलयान से पहुँचे। यों तिमि ने योजनानुसार एक जलयान और मँगाया था, जिसे पहले जलयान के दो घड़ी बाद पहुँचना था।

हमारी योजना तो थी कि पूरा जलयान हमारे ही लोगों से भरा रहे; पर पंचजन ने ऐसा नहीं होने दिया। फिर भी लगभग एक-तिहाई लोग आ ही गए थे। फिर तिमि के लोग भी तो इस समय मेरे ही साथ थे। इस दृष्टि से पंचजन के अपने खास बहुत कम लोग रह गए थे।

पणव, तूर्य और नगाड़े की आवाज सुनकर द्वीप के काफी लोग जलयान के पास आ गए थे। प्रतिहारियों से महाराज के आगमन की सूचना भेजी गई। नागरानी अपने महाराज के साथ हम लोगों की अगवानी में आई। रानी

आगे-आगे रथ से उतरकर जलयान तक आई, पर उसके महाराज रथ से उतरकर नियमानुसार वहीं खड़े रह गए।

मेरी दृष्टि एकटक उसी पर लगी थी। मैं पहले भी उसे देख चुका था। किंतु इस बार वह कुछ दूसरा ही दिखाई दे रहा था। मुझे स्पष्ट लग रहा था कि उसपर आचार्य सांदीपनि की छाया है। आकृति एकदम वैसी ही। नाक-नक्श बिल्कुल पिता जैसा।

यद्यपि इस देश में राजा से मिलना सरल नहीं है। इसके लिए रानी से अनुमति लेनी होती है; पर मैं इन सारी औपचारिकताओं को ढकेलते हुए, धक्का-मुक्की करते हुए राजा का हाथ पकड़कर एक स्थान पर ले गया और इतना ही कह पाया—“मुझे शत्रु न समझकर मित्र ही समझो। हम तुम्हारे पिता के शिष्य हैं।”

इतना कहते-कहते कई महिला सैनिक आ धमकीं और मुझे हटा दिया गया।

निश्चित रूप से वह मेरी बात समझ नहीं पाया था। पुनर्दत्त को कभी यह याद ही नहीं दिलाया गया कि वह किसका पुत्र है। उसके मन पर से उसकी मौलिक पहचान ही मिटा दी गई थी। वह अपना माता-पिता, आचार्य—सबकुछ आचार्य यम को ही मानता था।

इधर एक दूसरी स्थिति और थी। रानी मेरे इस कार्य से बेतरह नाराज थी। उसने तुरंत मुझे बुलवाया।

“यहाँ का विधि-विधान जानते हुए भी तुम बिना मेरी आज्ञा के महाराज से क्यों मिले? और एक ऐसे महाराज से, जिससे तुम्हें युद्ध करना है?” उसने पूछा।

मैंने जानबूझकर बहाना बनाया—“आपकी अनुमति लेनी होगी, इसका मुझे ज्ञान नहीं था।”

“यहाँ का बच्चा-बच्चा यह नियम जानता है, आश्चर्य है कि तुम नहीं जानते। पर न जानकारी में भी नियम की अवहेलना अपराध तो है ही। इसका दंड तो तुम्हें भोगना ही पड़ेगा।”

बहुत कहने-सुनने पर भी, विनय और आग्रह के बाद भी महारानी टस से मस न हुई। हाँ, उसने अपने दंड का निर्णय स्थगित रखा; क्योंकि कल ही मेरे जीवन-मरण का निश्चय था। यदि मैं पराजित हुआ तो कोई बात नहीं, यदि विजयी हुआ तो वह उसी सभा में मेरे अपराध का निर्णय सुनाएगी।

यह तो कहिए कि मेरे और पुनर्दत्त के मिलन की बात पंचजन को नहीं मालूम हुई, अन्यथा वह पता नहीं क्या सोचता और कौन सा निर्णय लेता!

पंचजन तो जलयान से उतरते ही हम लोगों से अलग हो गया था। महारानी ने उसे अपने भवन में ठहराया था। हम लोग अतिथिभवन में ठहराए गए थे; पर पंचजन ने हमारे पीछे गुप्तचर छोड़ रखे थे।

रात होते ही चतुर्दशी का चंद्रमा आकाश में था। समुद्र में पिघली हुई चाँदनी हिलोरें ले रही थी। ऐसा ही आंदोलित सागर मुझे सचमुच बहुत अच्छा लगता है। मेरे मन में तत्क्षण विचार आया कि यदि कभी मैं राजा हुआ तो मैं अपनी राजधानी ऐसे ही मनोरम स्थल पर बनवाऊँगा।

शायद यही वह अवसर था, जब भविष्य के द्वारका की अनचीन्ही और अनजानी कल्पना अनायास मेरे मन में उदित हुई थी।

पर आज की स्थिति विषम थी। मुझे किसी तरह पुनर्दत्त को आज की परिस्थिति से अवगत कराना था और उसे यहाँ से निकाल ले चलना था। मैं चुपचाप तिमि के पास पहुँचा; क्योंकि उसके सिवा मेरा इतना विश्वासपात्र कोई था भी तो नहीं। वह अपने पर्यंक पर लेटा हुआ विश्राम कर रहा था। उसके पास कुछ लोग और बैठे थे।

“यह समय विश्राम करने का नहीं है।” मेरी धीर-गंभीर आवाज पूरे कक्ष में पहुँच गई।

वह धड़ से उठ बैठा। उसने सोचा, कोई नया संकट उठ खड़ा हुआ है। मैंने उसकी व्यग्रता को शांत करते हुए कहा, “कोई बात नहीं है।” फिर मुसकराया—“समुद्र का हाहाकार मुझे बुला रहा था। एकाकी चलने की मेरी

इच्छा न हुई। मैंने सोचा, मैं आपको भी लेता चलूँ।”

वह उठकर मेरे साथ चलने को तैयार तो हुआ, पर बोलता गया, “तुम कहाँ के निवासी और कहाँ आ गए! तुम्हारे लिए सिंधु का आकर्षण नया है। अरे, मेरा संपूर्ण जीवन ही समुद्र के गर्भ में बीता है। इसीलिए समुद्र मुझे कभी नहीं बुलाता। हाँ, मैं आप जैसे महानुभावों के साथ बिना बुलाए ही उसके पास चलने के लिए तैयार हो जाता हूँ।”

तिमि अपने साथियों को छोड़कर चुपचाप मेरे साथ हो लिया।

हम समुद्र के किनारे टहलते रहे और कल की स्थिति पर विचार-विमर्श करते रहे। मेरी मुख्य चिंता पुनर्दत्त को अपनी पहचान कराने की थी। फिर मेरा ध्येय उसे यहाँ आने का प्रयोजन भी बताने का था। मैंने बड़ी चतुराई से सारी बातें सिंधु के किनारे टहलते हुए सिंधु के हाहाकार के बीच तिमि को बता दीं।

“बस इतनी सी बात है!” तिमि ने बड़े सहजभाव से लिया—“मैं उसे बता दूँगा; पर मधु से भीगे उसके पंख यहाँ से उड़ना चाहेंगे या नहीं, मैं नहीं कह सकता।”

“क्यों?”

“क्योंकि महारानी की ऐसी माया है कि जो यहाँ आया, वह यहाँ से जीवित नहीं लौटा। शायद इसीलिए पंचजन ने पुनर्दत्त को यम के आश्रम से निकालकर यहाँ भेजा था।”

मुझे उसका यह तर्क जरा विचित्र-सा लगा; पर मैं मौन रह गया।

“महाराज ने सोचा कि ऋषिकुमार की हत्या का अपराध भी न लगे और उसका सर्वनाश भी हो जाए। नहीं तो इस पवित्र आत्मा को यहाँ भेजने की क्या आवश्यकता थी!”

“पर अब तो हमें उसकी मुक्ति का उपाय सोचना है। बात बढ़ाने का हमारे पास समय नहीं है। किसी भी समय गुप्तचरों की छाया हमपर पड़ सकती है।” मैंने सीधे-सीधे प्रश्न किया—“क्या तुम पुनर्दत्त से मिल सकते हो?”

“क्यों नहीं मिल सकता!”

“कैसे?”

“महारानी से अनुमति लेकर। अरे, मैं कल के युद्ध का संचालक हूँ। युद्ध का नियम बताना और पुनर्दत्त के स्वास्थ्य की परीक्षा करना मेरा कर्तव्य है।”

“यह स्वास्थ्य परीक्षा कैसी?”

“यहाँ युद्ध का नियम है कि योद्धा के अस्वस्थ होने पर युद्ध नहीं होता।”

मेरी प्रसन्नता स्वाभाविक थी। एक ऐसी स्थिति का पता चल गया जब युद्ध टाला भी जा सकता है। मैंने तिमि के कंधे पर एक धौल जमाया कि तुम हो बड़े काम के आदमी।

इसके बाद मैंने कल की सारी योजना बताई और कहा, “मैं मुख्यतया चक्र से ही युद्ध करूँगा। जब भी चक्र चलाऊँगा, पुनर्दत्त से कहिएगा कि वह हर बार धरती पर बैठ जाएगा; क्योंकि अभिमंत्रित होने पर भी मेरा चक्र कल मेरी ऊँचाई से नीचे वार नहीं करेगा।

“तब पंचजन का क्या होगा?” तिमि ने विशेष रूप से पूछा।

“उसको खूब ऊँचे सिंहासन पर बैठाना।” मैंने कहा, “सिंहासन जितना ऊँचा होगा, उसके अहं की उतनी ही संतुष्टि होगी।”

“और आपका निशाना भी ठीक लगेगा।” तिमि बोला और मुझे हँसी आ गई।

मैंने उसे पुनः समझाया—“देखना, पंचजन की मृत्यु के बाद विद्युत् गति से काम होना चाहिए। उसके धराशायी

होते ही आप दौड़कर अपने जलयान पर जाएँगे और महाराज के सिंहासन पर विराजेंगे।”

“पर मेरे सिंहासन प्राप्ति की घोषणा कौन करेगा?”

“पंचजन की मृत्यु के बाद पणव और तूर्य की ध्वनि के बीच मैं उद्घोषणा करूँगा; जैसे राम ने विभीषण के लिए की थी।”

‘विभीषण’ शब्द सुनते ही तिमि थोड़ा बुझ गया। राक्षसों में विभीषण की प्रतिष्ठा अच्छी नहीं है। मैंने शीघ्र ही स्थिति सँभाली। मैंने कहा, “अरे भाई, विभीषण का तो मात्र उदाहरण दे रहा था। न वह हमारा आदर्श है और न तुम्हारे चरित्र की बराबरी उससे हो सकती है।”

“नाग कन्याओं के इस देश के लोग यदि हमारा पीछा करेंगे तो?” यह एकमात्र समस्या रह गई थी।

“उनका तो सामना करने की पूरी तैयारी होनी चाहिए।” मैंने कहा, “इसीलिए मैंने दूसरा जलयान भी मँगवा लिया है—और महाराज अभी तक एक के ही चक्कर में हैं।”

“निस्संदेह आपकी दूरदर्शिता अद्भुत है!” तिमि से भी मुझे एक प्रमाणपत्र मिल गया।

हम अधिक देर तक तट पर टहल न सके। चंद्रिका में स्पष्ट दिखाई दिया कि कुछ लोग हमें देख रहे हैं।

□

दूसरे दिन सुबह से ही सुपर्ण नगरी दुलहिन की तरह सजने लगी। आज शरद् पूर्णिमा उत्सव है। वह राका ज्योत्स्ना में नहीं वरन् संध्या की अरुणिमा में होगा। इस उत्सव के लिए यहाँ की जनता को कोई कार्यक्रम नहीं दिया जाता। वह सुबह से ही सजना-सँवरना आरंभ कर देती है और संध्या को नगर के मध्य में स्थित ऊँचे स्थान पर बने अक्षवाट (अखाड़े) पर उपस्थित होने लगती है।

प्रातः जलपान के बाद पंचजन ने मुझे बुलाया। मैंने उसे भुलावे में रखने के लिए नाटक शुरू किया। ऐसे भयभीत भाव से उपस्थित हुआ मानो मृत्यु के समक्ष उपस्थित हो रहा होऊँ। थर-थर काँपता हुआ।

“इतने काँप क्यों रहे हो?” पंचजन ने पूछा।

“मृत्यु को आसन्न देखकर।”

“तुमने तो कंस जैसे पराक्रमी का वध किया था।” उसने वही पुराना राग अलापा मेरे शौर्य की प्रशंसा के लिए।

मैंने भी वैसा ही चलता उत्तर दे दिया और विशेष जोर देकर बोला, “कंस की मृत्यु तो निश्चित थी, मैं निमित्त मात्र था; पर आज लगता है, मेरी मृत्यु स्वयं मेरा निमित्त बनकर आ रही है।”

“केवल यही भय है अथवा कोई दूसरा?” पंचजन ने पूछा।

“दूसरा क्या हो सकता है?”

“वह तुम्हारा गुरुपुत्र है—यद्यपि वह इसे नहीं जानता। उसकी हत्या के पाप से तो नहीं घबरा रहे हो?”

“जब नियोजित युद्ध हो रहा है तब हत्या का पाप कैसा? हत्या का पाप तो तब लगता है जब व्यक्ति युद्ध के लिए तैयार न हो और फिर भी उसकी हत्या कर दी जाए।” मैंने कहा।

“तुम बड़े योग्य मालूम होते हो।” वह बोला, “जिसका मस्तिष्क ऐसा तार्किक हो, उसका युद्ध-कौशल भी हेय नहीं होगा। फिर तुम्हारे पास अद्भुत आयुध चक्र है। अभिमंत्रित करके जिसे मारते हो, वह फिर बचता नहीं है।”

“पर महाराज, हर आयुध की काट है। संसार में कोई ऐसा आयुध नहीं, जिसकी काट न हो।” मैं क्षण भर के लिए रुका—“और फिर पुनर्दत्त यम का शिष्य ही नहीं, मानसपुत्र है। यम ने उसे अद्भुत युद्ध-कौशल सिखाया होगा।”

“अब देखो, क्या होता है!”

“देखना तो है ही। पराजित होकर मृत्यु का आलिङ्गन करता हूँ या विजयी होकर नाग कन्या का वरण।”

“मुझे तो लगता है कि नाग कन्या तुम्हारी ही होगी।”

“देखिए, आपका आशीर्वाद कहाँ तक हमारा साथ देता है!” इतना कहते ही मैंने अपनी मुखमुद्रा बदली—“मेरा एक आग्रह है—और बलिवेदी पर चढ़ रहे व्यक्ति के आग्रह की तरह मेरा विश्वास है कि मेरी प्रार्थना सुनी जाएगी।”

“कहो-कहो, क्या कहना चाहते हो?”

“तिमि को आदेश दीजिएगा कि मेरी मृत्यु के बाद श्रेष्ठी कुलक, जिसका मैं प्रतिभू हूँ, उसका सारा देना क्षमा कर देगा।”

“बस इतनी सी बात!” मेरे कहने का ढंग ऐसा था कि पंचजन पहाड़ की ओर देख रहा था और उसे चुहिया निकलती दिखाई दी—“यह तो हमारे यहाँ सामान्य नियम है कि प्रतिभू के मरते ही उसपर पावना क्षमा कर दिया जाता है।”

“कर तो दिया जाता है, पर शायद मेरे संदर्भ में ऐसा न हो; क्योंकि तिमि से हमारे संबंध अच्छे नहीं हैं।”

“पर वह तो तुम्हारी बड़ी प्रशंसा कर रहा था जलयानों के बचाने के संबंध में।”

“बस यही न! इसके बाद उसने कभी प्रशंसा न की होगी।” मैंने पुनः मुद्रा बदली तथा एक चाल और चल दी—“मुझे तो उससे एक खतरा और है। वही पुनर्दत्त को प्रभास से लाया था। उसे पुत्रवत् मानता है। आज आपने युद्ध के संचालन का भी कार्य उसीको सौंप दिया है। कहीं धर्मयुद्ध होकर यह अधर्म युद्ध न हो जाए।”

“तुम निश्चित रहो। ऐसा कभी नहीं होगा। मैं जो हूँ।” उसने विश्वास दिलाया।

“आपका ही भरोसा है।” कहता हुआ मैं चल पड़ा।

बाहर खड़े भैया और उद्धव मेरी बातें सुन रहे थे। उद्धव मुझे देखते ही मेरी राजनीतिक बुद्धि पर मुसकराया। भैया ने भी पीठ ठोंकी—“तुम्हें और तिमि को लेकर यदि उसके मन में किसी प्रकार का भ्रम भी रहा होगा तो अब वह उड़ चला होगा। तुमने ऐसी राजनीतिक चाल खेली है कि लगता है, हम लोग विजय के निकट हैं।”

“कभी-कभी चषक और अधर के बीच इतनी बाधाएँ होती हैं, जिन्हें दोनों नहीं जानते—और दोनों का अज्ञान स्वयं को एक-दूसरे के निकट समझता है।” मैंने भैया से कहा और भैया ने इसे स्वीकार भी किया।

“पुनर्दत्त तो यही मानने को तैयार नहीं है कि वह आचार्य सांदिपनि का पुत्र है। वह स्वयं को यम का ही पुत्र समझता है।” भैया ही बोले।

“यह आपको कैसे मालूम?” मैंने पूछा।

“थोड़ी देर पहले तिमि से भेंट हो गई थी। वही बता रहा था और हँस रहा था। उसने पुनर्दत्त से कहा, ‘अरे, मुझसे कुछ छिपा थोड़े ही है। मैं ही तुम्हें तुम्हारे पिता के आश्रम से उठा लाया था।’ ”

“तब क्या हुआ?”

“जब विस्तार से उसने बताया तब उसने स्वीकार किया।”

“अपने माता-पिता के दर्शन की उत्कंठा उसमें जागी या नहीं?” मेरा दूसरा प्रश्न था।

“जागी भी और नहीं भी जागी।...तिमि बता रहा था कि यदि अवसर मिल जाए तो वह माता-पिता के दर्शन कर सकता है; पर विद्रोह करके वह स्वयं जाने की स्थिति में नहीं है।”

यह स्थिति तो बड़ी संदेहास्पद थी। मैंने भैया से कहा कि वे किसी बहाने से तिमि से मिलें और उसे समझाएँ कि वह किसी प्रकार पुनर्दत्त को ठीक रखे। ऐसा न हो कि अश्वमेध के समय अश्व ही गायब हो जाए।

भैया कुछ सोचते हुए चल पड़े। उनके चिंतन में यह बात अवश्य थी कि पुनर्दत्त पर नागरानी का ऐंद्रजालिक

प्रभाव है। तर्क के द्वारा उसकी पराधीनता से उसे मुक्त नहीं किया जा सकता। फिर भी चेष्टा तो करनी ही है। इधर नागरानी ने मुझे बुलाया। महल में पहुँचते ही स्त्री सैनिकों ने मेरी अगवानी की और मुझे सीधे अंतःपुर में ले गई। नागरानी पर्यंक पर निढाल हो पड़ी थी। पर्यंक पर बिछा आस्तरण जगह-जगह सिकुड़ा था। निश्चित था कि वह बराबर करवटें लेती रही है या मानसिक रूप से बीमार है।

“आइए, आइए।” मुझे देखते ही वह बोल पड़ी और पर्यंक पर बैठते हुए उसने मुझे सामने मंचक पर बैठने का संकेत किया। मैं बैठ भी गया।

उसका सीधा सवाल था—“तुमको मैं कैसी लगती हूँ?”

“अतीव सुंदर, अनिंद्य सुंदरी।” मैंने नारी की सबसे बड़ी दुर्बलता पर हाथ रखा—“न कभी मैंने जीवन में ऐसी सुंदर स्त्री देखी है और न शायद अब जीवन में देख पाऊँगा।”

“न देख पाऊँगा! यह तुम कैसे कह सकते हो?” नागरानी पुनः बिस्तर पर लेट गई।

उसके वस्त्रों में थोड़ी अस्त-व्यस्तता आई। उसके शरीर की सुघड़ता और आकर्षण दिखाई देने लगा।

“तुम अतीत की बात तो कह सकते हो, पर भविष्य के संबंध में ऐसी घोषणा कैसी?” उसने पुनः पूछा।

“इसलिए कि भविष्य मुझे दिखाई दे रहा है। कल मेरी पराजय निश्चित है। फिर न जीवन रहेगा और न ऐसा सौंदर्य देखने की संभावना।”

“पर मेरे ज्योतिषियों का कहना है कि विजय तुम्हारी ही होगी।” नागरानी बोली, “पर उन्होंने यह भी कहा है कि पुनर्दत्त का जीवन अभी समाप्त नहीं हुआ है। वह मारा नहीं जाएगा।”

“जब वह मारा नहीं जाएगा तब मैं मारा जाऊँगा। आपके यहाँ के युद्ध का नियम तो स्थिर है।”

“किंतु लगता है, इस बार हमें अपने नियम में संशोधन करना पड़ेगा। पराजित को बंदी बनाने की नई व्यवस्था प्रचलित करनी पड़ेगी।” रानी बोली।

उसके कथनानुसार, उसने मुझे पूर्व बधाई देने के लिए बुलाया था; किंतु मुझे यहाँ से भी एक नई बात मिली। मैंने तुरंत इसका प्रचार आरंभ किया। नियम बदला जा रहा है, पराजित को बंदी बनाया जाएगा।

अब तिमि को एक अवसर और मिला। सुना है, उसने सीधे-सीधे पुनर्दत्त से पूछा, “पराजित होने के बाद तुम बंदी का जीवन जीना स्वीकार करोगे या हमारे साथ भाग चलोगे?”

“बंदी के जीवन से तो अच्छा है कि मैं आपके साथ भाग चलूँ।”

इस निष्कर्ष पर मैं सबसे अधिक प्रसन्न था। अब मुझे लगा, मैंने चारों ओर अपनी ही गोटियाँ बिछा दी हैं।

संध्या के कुछ पहले से ही अक्षवाट में लोग एकत्र होने लगे। अभी गोधूलि नहीं हुई थी और महाराज तथा महारानी का रथ आ गया। हर रोज दोनों एक ही रथ पर सवार होते थे; पर आज दोनों का रथ अलग-अलग था। महारानी का रथ आगे और महाराज का रथ पीछे। दोनों पूर्व दिशा की ओर ऊँचे मंचक पर बैठ गए; पर रानी का मंचक राजा से कुछ ऊँचा था।

महारानी के आसपास प्रधान दंडाधिकारी, महामात्य और महिला सैनिक थे। महाराज के पास कोई अधिकारी नहीं था; पर परिचर और परिचारिकाएँ कई थीं। आज वे रोज की अपेक्षा अधिक खिन्न और उदास दिखाई दे रहे थे।

पश्चिम की ओर वैवस्वतपुर से पधारे लोगों का स्थान बनाया गया था। उसमें महाराज का सिंहासन सबसे ऊँचा था। उसीके पास तिमि का भी मंचक था और उसीके नीचे हम सबके बैठने का स्थान।

बीच में ऊँचा अक्षवाट था, जिसके चारों ओर भीड़ बढ़ती चली जा रही थी। मेरे एक ओर भैया और दूसरी ओर उद्धव बैठे थे।

मैंने सबकुछ जानने के लिए तिमि की ओर संकेत किया। उसने संकेत से ही सब ठीक होने का उत्तर दिया। इसी बीच पंचजन का शंख बजा—और पश्चिम से मैं तथा पूर्व से पुनर्दत्त अखाड़े में आ गए। तालियाँ बज उठीं। इस स्थिति में भी मैंने रानी की ओर देखा। उसने मुसकराकर अनुमति दी और युद्ध शुरू हो गया।

सही अर्थों में यह युद्ध नहीं, युद्ध का नाटक था। पुनर्दत्त ने हवा में तलवार भाँजना आरंभ किया। वह दो-तीन बार मेरी ओर लपका भी और मैं स्वयं को बचा गया। ‘साधु-साधु’ की आवाज के साथ करतलध्वनि हुई। अब मैंने चक्र चलाया। वह पूर्व निर्धारित योजना के अनुसार बैठ गया। इस बार भी तालियाँ गड़गड़ा उठीं।

इसी प्रकार कई चक्रों तक आक्रमण और प्रत्याक्रमण होते रहे। तालियाँ बजती गईं। लोग उत्तेजना में आते गए। अचानक तिमि ने पुनः पांचजन्य बजाया। दो बार रुक-रुककर बजाया गया पांचजन्य। यह तो युद्ध को तीव्र करने का सामान्य संकेत था; पर मेरे लिए इसका कुछ दूसरा ही अर्थ था। मैंने तुरंत अभिमंत्रित करके चक्र मारा। इस बार भी सामान्य लक्ष्य पुनर्दत्त ही था; पर चक्र चलने के पूर्व ही वह एकदम धरती पर टूटे वृक्ष-सा गिर पड़ा।

चक्र जाकर पंचजन को लगा और तत्काल उसका सिर धड़ से अलग।

हाहाकार मच गया। हर व्यक्ति महाराज के शव की ओर दौड़ा और मैं पूर्व योजनानुसार पुनर्दत्त का हाथ पकड़कर उसे घसीटते हुए ले चला—“भागो, वरना क्षण भर का भी विलंब हमें बंदी बना सकता है।”

पुनर्दत्त मेरे साथ भाग चला। हम सीधे समुद्रतट की ओर लपके और जलयान पर पहुँचकर ही हमने साँस ली। तिमि भी मेरे ही साथ था; पर अभी तक उद्धव का कहीं पता नहीं था। अब क्या करें? एक-एक क्षण भारी पड़ रहा था। तिमि ने तो यहाँ तक कहा, “लंगर उठाइए। छोड़िए उद्धव को।”

पर मैं उसे कैसे छोड़ सकता था। भैया स्वयं उसे देखने जाने वाले थे। मैंने उन्हें भी रोका कि एक तो खतरे में फँसा ही है। आप अपने को क्यों फँसाना चाहते हैं!

तब तक उद्धव हनुमानजी की तरह उछलता मृत पंचजन का मुकुट लेकर आता दिखाई दिया। उसे चारों ओर से इस जलयान से आए प्रभासवासी घेरे हुए थे। उसके पहुँचते ही लंगर उठ गए और जलयानों ने तट छोड़ दिया।

यह सब इतना शीघ्र और सुनियोजित था कि अंत तक वे यह न समझ पाए कि क्या हो गया। अधिकांश के लिए यह अप्रत्याशित और अनहोनी घटना थी। अनचीन्हे नियति का कुचक्र था।

जलयान पर मैंने पंचजन का मुकुट तिमि को पहनाया।

उद्धव बोल उठा—“राम का साथ देने पर आज तिमिजी लंकेश हो गए।”

‘साधु-साधु’ की ध्वनि के साथ वहाँ उपस्थित लोगों ने तालियाँ बजाईं।

“मैं किन शब्दों में आपके प्रति आभार व्यक्त करूँ?” तिमि बोला।

“केवल शब्दों से काम नहीं चलेगा।” भैया ने कहा।

“तो क्या करूँ? यहाँ और कुछ हो भी तो नहीं सकता।”

“एक बात हो सकती है।”

“क्या?”

“अपने राज्याभिषेक के उपलक्ष्य में पांचजन्य मुझे दे दो।”

मेरे मुख से इतना निकलना था कि उसने वह शंख बड़ी श्रद्धा से मेरे चरणों पर रख दिया।

अब दोनों जलयानों के आपस में बँधे बंधन खोले गए। जय-जयकार के बीच दोनों जलयान—एक प्रभास की ओर और दूसरा वैवस्वतपुर की ओर चल पड़ा।

नियति का जरा चक्र देखिए। फिर वही पूर्णिमा! नहीं, वरन् शरद् पूर्णिमा की रात। फिर वही ज्वार का किल्लोल।



तेरह

अवन्ती के क्षेत्र में आते ही जैसे हम लोगों के पैर बँध गए थे; पर मन उतना ही उतावला था। हम शीघ्रातिशीघ्र आश्रम में पहुँचना चाह रहे थे, पर हमारी सफलता की प्रसन्नता पगों में बँधकर उसे काफी बोझिल बना चुकी थी। यदि हमें पंख होते तो हम निश्चित इस समय उड़ चलते।

पहले विचार आया कि अरण्य पथ छोड़कर नगर की ओर से चलूँ। राजभवन में जयसेन से मिलूँ। आश्रम के प्रवेश के पूर्व आश्रम का समाचार जानने के लिए यह अनिवार्य भी था।

पर मार्ग में ही श्वेतकेतु और मालव मिल गए। दोनों गुरुभाई—और मित्र भी थे। वही प्रतिदिन की समस्या—लकड़ी लेने के लिए निकले थे। हमें देखते ही वे प्रसन्नता से उछल पड़े—“अरे, आप लोग फिर आ गए!”

“क्यों? क्या हमारे आने पर किसी प्रकार का प्रतिबंध है?”

“नहीं, यों ही बोल पड़ा था।” मालव बोला। फिर कुछ सोचते हुए धीरे से कहा, “क्योंकि राजघराने के लोग आश्रम से चले जाने के बाद इस ओर भूलकर भी नहीं देखते।”

“फिर आश्रम कैसे चलते हैं?” भैया बोल पड़े। मैं तो चुप ही था।

“उनकी वृत्ति से।”

“और थोड़ा-बहुत जन सहयोग से।” श्वेतकेतु बोला, “पर अब जन सहयोग भी कहाँ रहा! जनता को जब से ज्ञान हो गया कि आश्रम का दायित्व वहन करना राजा का धर्म है, तब से उनके सहयोग में भी अत्यधिक कमी आ गई है।”

“और विलक्षण बात यह है कि राजा इसे समाज का दायित्व समझता है।” मालव बोला, “जनता और राजा के दायित्व के बीच आज आश्रम की अस्मिता पद कंदुक हो गई है।”

इसी संदर्भ में मैंने विंद और अनुविंद का समाचार पूछा, “क्या वे आश्रम में रहते हैं?”

“रहते नहीं हैं, पधारते हैं—जैसे आप पधारते हैं। आपमें और उनमें इतना ही अंतर है कि वे आश्रम और प्रासाद के बीच निरर्थक सेतु हैं और आप समाजप्रदत्त आश्रम के गौरव।” मालव बोला और चलने को हुआ; क्योंकि दिन दो घड़ी चढ़ आया था। भोजन बनाने के लिए लकड़ियाँ पहुँचानी थीं।

लकड़ियों का प्रसंग हो और मुझे सुदामा याद न आए, यह कैसे हो सकता है! मैंने चलते-चलते ही उसकी कुशलता पूछी।

“वह बेचारा तो प्रभास गया है।” श्वेतकेतु ने बताया—“उसके पिता की अस्वस्थता का समाचार मिला था। इच्छा न होते हुए भी आचार्यजी को भेजना पड़ा।”

“इतना लगाव है सुदामा से उन्हें?” संयोगवश यह प्रश्न पुनर्दत्त ने ही उठाया।

“क्यों नहीं लगाव होगा आचार्यजी को! उन्होंने अपना पुत्र खोकर उसे पाया है।” मालव बोला, “इसी प्रभास आश्रम से ही तो उनके ऋत का अपहरण किया गया था। इस अपहरण की त्रासदी का ही परिणाम था कि आचार्यजी ने अपना पुत्र सुदामा हमारे आचार्य को सौंप दिया, जिससे सुदामा की रक्षा भी हो और सांदीपनि को अपने पुत्र-वियोग की व्यथा भी अधिक न सताए।”

मुझे लग रहा था कि अब बात खुल ही जाएगी। मैं अभी पुनर्दत्त के यथार्थ को खोलना नहीं चाहता था। हमारी मंशा तो अचानक आचार्यजी को चकित करने की थी।

हम लोग अनजानी, अनचीन्ही और अनपहचानी अवस्था में ही पुनर्दत्त को उसके माता-पिता से मिलाना चाहते थे।

तब तक पुनर्दत्त ने ही पूछ दिया—“यह ऋत कौन है?”

“अरे, आप लोग ऋत को नहीं जानते?” आश्चर्यान्वित होते हुए श्वेतकेतु बोला। और मैं अचानक चिल्ला उठा—“जानता हूँ, जानता हूँ।”

इतना कहकर अभिवादन कर आगे बढ़ गया।

पर पुनर्दत्त की जिज्ञासा कहाँ शांत होने वाली थी।

“सां दीपनि का यह पुत्र कौन है?” उसका कुतूहल और प्रबल हुआ—और उसने मुझसे पूछ ही लिया।

मैंने उसके कुतूहल पर एक परत और चढ़ाई—“समय आने पर तुम सब जान जाओगे।”

“जब समय ही मुझे बताएगा तो आपके साथ का औचित्य क्या?”

“मेरे साथ का औचित्य है, पर जरूरी नहीं कि मैं सभी बातें बताता चलूँ।” मैंने मुसकराते हुए कहा।

“पर मैं तो जो जानता हूँ, उसका पूरा पक्ष जाने बिना शांत नहीं होता।...मेरे आचार्य का कहना था कि यही विद्यार्थी की उचित प्रवृत्ति है।”

मैंने उसे और उलझाए रखने की नीयत से पूछा, “चंद्रमा तो तुम देखते ही हो! पर क्या तुमने पूरा चंद्रमा देखा है?”

“हाँ, देखा है। हर पूर्णिमा को देखा है।”

“यही तो तुम्हारी भूल है। हममें से किसीने पूरा चंद्रमा नहीं देखा है; क्योंकि चंद्रमा का एक ही पक्ष धरती से दिखाई देता है।”

पुनर्दत्त एकदम चुप हो गया। उसे एक नई बात मालूम हुई थी।

अब मैंने रहस्य का अवगुंठन धीरे से हटाया—“ऋत चंद्रमा का दूसरा पक्ष है, जो धरती से दिखाई नहीं देता।”

“और जो दिखाई देता है?”

“वह पुनर्दत्त है।” मैं जोर से हँसा। इसके बाद मैंने उसके नाम परिवर्तन की कथा संक्षेप में सुना दी और उसके संबंध में ज्योतिषियों की भविष्यवाणी भी बताई।

उसे अद्भुत लगी अपनी जीवन कहानी। वह स्वप्नलोक की कथा की तरह सुनता रहा। अंत में वह इतना ही बोला, “सबकुछ अस्पष्ट-सा मालूम होता है। ग्रह-नक्षत्रों की भाषा भी इतनी स्पष्ट होगी, किसीको विश्वास नहीं रहा होगा।”

जब हम लोग आश्रम में पहुँचे, आचार्यजी पूजन से उठ चुके थे। विद्यार्थियों का भी संध्या-पूजन समाप्त हो चुका था और वे उसी परिसर में टहल रहे थे; क्योंकि आज अनध्याय था। प्रतिपदा का दिन।

हम लोगों को देखते ही आचार्यजी खिल उठे। हम सबने दूर से दंडवत् किया। उन्होंने दौड़कर हमें एक के बाद एक छाती से लगाया, तो काफी देर तक उसी अवस्था में रह गए। ऐसा लगा जैसे दोनों हृदयों की धड़कनें मिलकर एक हो रही हों। फिर उन्होंने उसका परिचय नहीं पूछा। उसे छोड़कर वे सीधे मेरे समक्ष आए। सुदामा के वियोग में उनका व्यक्तित्व एकदम फूट पड़ा।

इधर माताजी आचार्य के लिए जलपान लेकर आ गईं। उन्होंने भी हमें देखा। उनकी खुशी का ठिकाना न रहा। संयोग देखिए, इस बीच न तो किसीने पुनर्दत्त को पहचाना और न उसके प्रति जिज्ञासा व्यक्त की।

आचार्यजी की मनःस्थिति अब भी सुदामा के घेरे में ही थी—“तुमने सुना? सुदामा चला गया।” आचार्यजी की आँखें अब भी टपक रही थीं—“जब यहाँ आया था, कितना छोटा था! हमने उसे पुत्रवत् पाला था।” इतना कहते-

कहते वे मौन हो गए। आँखें अब भी बरसती रहीं।

“वह पुत्रवत् था न, पुत्र तो नहीं था।” मैं धीरे से बोला।

“ठीक कहते हो, कन्हैया। जब मेरा पुत्र ही मेरा नहीं रहा तब मैं दूसरे के पुत्र को कब तक अपना बनाए रख सकता था—और ऐसी स्थिति में, जबकि उसका पिता असाध्य रोग का गंभीर शिकार हो गया हो!”

मैंने देखा, माताजी की आकृति पर मेघ छा गए हैं।

“चलो, तुम लोग आ गए, बड़ा अच्छा हुआ। कुछ दिनों तक तो सुदामा का अभाव भूला रहूँगा।” वे बराबर कुछ बोलते और मेरे शरीर को छूते जा रहे थे।

मुझे आश्चर्य था कि जिस गुरुदक्षिणा के लिए उन्होंने मुझे भेजा था, उसकी उन्हें सुधि ही न रही।

उनके लिए वह असंभव था। वे शायद अब कभी अपने ऋत को देख सकेंगे, इसकी कल्पना भी मर चुकी थी। यही वह स्थिति थी, जिसके कारण उस नवागंतुक के प्रति उनकी जिज्ञासा निस्पृह हो गई थी।

माताजी ने अब तक हम लोगों के लिए फल और दूध की व्यवस्था की।

अब मैंने बड़े नाटकीय ढंग से आचार्य और उनकी पत्नी को पुनर्दत्त को दिखाकर पूछा, “क्या आप इन्हें पहचानते हैं?”

इतना पूछना था कि दोनों की दृष्टि एकदम उससे चिपक गई। पर किसी निष्कर्ष पर वे नहीं आए।

जिज्ञासा ने जोर मारा। आचार्यजी ने संकेत से उसका परिचय भी पूछा। मैंने मुसकराते हुए फिर कहा, “जरा पहचानने की कोशिश कीजिए।”

वे देखते रह गए। रहस्य चरम बिंदु पर था।

तब मैंने मुसकराते हुए कहा, “यह आपके लिए मेरी गुरुदक्षिणा है।”

इतना कहते-कहते जैसे भूकंप आ गया।

“सचमुच तू ऋत है!” आचार्य ने उसे अपने वक्ष से लगा लिया।

मरी हुई आकांक्षा आज जीवित होकर उनके सीने से लगी थी। उनके मनाकाश में आज प्रसन्नता के मेघ छा गए थे। आँखें झरने लगी थीं।...और उनके मेघों में चमककर विलुप्त हो जानेवाली बिजली को जैसे उन्होंने पकड़ लिया था। उसे छोड़ना ही नहीं चाहते थे।

आचार्यपत्नी तो कौसल्या की तरह अपने राम को एकटक देख रही थीं। राम और दशरथ का यह मिलन उनके लिए अप्रत्याशित था। वह आनंदविभोर थीं।

पिता से छूटते ही ऋत ने माता के चरण पकड़े।

“मैंने तो आशा ही छोड़ दी थी कि अब तू मिलेगा।” आचार्यजी बोले, “पर जब-जब ज्योतिषियों की बात याद आती, बिजली जैसी चमक जाती थी।...और अंधकार में चमकी हुई विद्युत् जैसे पीछे गहरा अंधकार छोड़ती है वैसे ही मैं भी फिर गहरे अंधकार में डूब जाता था। चारों ओर निराशा का गहरा अंधकार और उसमें डूबते-उतराते हाथ-पैर मारते हम।”

माँ से मिलने के बाद अपने पुत्र को आचार्य सांदीपनि ने पुनः अपनी ओर खींच लिया और जाँघ पर बैठाकर उसका अंग स्पर्श करने लगे; जैसे कोई गाय दूर से थककर आए अपने पुत्र का लेहन कर रही हो।

“मुझे स्वप्न में भी विश्वास नहीं था कि फिर कभी तुमसे मिलना हो सकता है। जिस दिन हमने सुदामा को बिदा किया था, हम दोनों सारी रात रोते रहे—एकदम अनाथ, निरालंब अनुभव करते हुए। हमने अपने जीवन की नाव काल की धारा में भगवान् भरोसे छोड़ दी थी। हमें क्या पता था कि प्रभु के चरणों का यह आत्मसमर्पण हमें इतनी

जल्दी घाट पर लगा देगा!”

फिर अचानक मौन उनकी आकृति पर उभर आया और थोड़ी देर बाद वे पुनर्दत्त से बोले, “आज जब तुम्हें हृदय से लगाया तो तुम्हारे हृदय की धड़कन में मैं अपने हृदय की आवाज सुनने लगा था।”

अब मुझसे रहा नहीं गया—“इसी तरह प्रथम परिचय के बाद ही मुझे इसकी आकृति पर आपकी आकृति दिखाई पड़ने लगी थी।”

“सचमुच ग्रह-नक्षत्रों की बात झूठी नहीं होती।” आचार्यजी बोले।

“कुछ भी सत्य न होता, यदि इनकी कृपा न होती।” पुनर्दत्त ने अपने पिता की गोद में बैठे-बैठे ही मेरी ओर संकेत किया।

आचार्यजी जैसे झकझोर उठे। अब उन्होंने संदर्भ बदला। उन्होंने पुनर्दत्त को अपनी गोद से हटाया और मुझे चिपका लिया—“बेटा, तुमसे तो मैं कभी उद्धरण नहीं हो सकता। मेरे आश्रम में अनेक शिष्य आए; पर तुम-सा कोई दूसरा नहीं था। यह काम भी किसीके वश का नहीं था। तूने जब मेरी आज्ञा स्वीकार की तब मुझे लगा कि तू सचमुच चंद्रमा पकड़ने जा रहा है।”

“मुझे चंद्रमा पकड़ने में बड़ा मजा आता है।” मैंने कहा, “जब मैं छोटा था तब चंद्रमा को खिलौना समझता था। उसे पकड़ने के लिए बड़ी जिद किया करता था। माता यशोदा थाल में पानी भरकर चंद्रमा का प्रतिबिंब उसमें उतार देती थी और मैं उसी प्रतिबिंब को पकड़कर चंद्रमा को पकड़ लेता था। आज मैं सचमुच चंद्रमा पकड़ लाया हूँ।”

“विलक्षण हो तुम!” आचार्यजी बोले, “भला आज तक कोई यम के हाथ से छूटा है! और वह पंचजन! इतना शक्तिशाली और क्रूर कि उसके नाम से प्रभास थरथर काँपता है।”

आचार्य बोलते ही जा रहे थे कि मैंने बीच में ही टोका—“अब वह भी मारा गया।”

“मारा गया!” आचार्य की आँखें विस्फारित रह गई—“विश्वास नहीं होता।”

तब मैंने पांचजन्य बजाया।

“यह क्या है?”

“पांचजन्य, उसकी मृत्यु का प्रमाणपत्र।”

“अरे, इसकी तो बड़ी चर्चा मैंने सुनी है।”

आचार्य के विस्फारित नेत्रों ने मुझमें मात्र विलक्षणता का नहीं वरन् देव शक्ति के दर्शन किए। उनका मस्तक अचानक मेरी ओर झुकने लगा।

“मैं धन्य हुआ! तुममें अवश्य कोई दैवी शक्ति है।” वे बोल पड़े।

बगल में बैठी माताजी की दृष्टि से इससे कहीं अधिक पूज्यभाव झर रहा था।

□

यों तो यहाँ से गए मुझे कुछ ही महीने हुए थे, पर इस बीच बहुत कुछ बदल चुका था। पहले तो ऋतु परिवर्तन की ही चर्चा करूँ। तटीय प्रदेश होने के कारण वहाँ ऋतुओं का प्रभाव बहुत हलका हो जाता है; पर यहाँ शीत तो हड्डियों को ही कँपा दे रही है। यों अवंती की रात काफी ठंडी होती है।

संध्या को अग्निहोत्र के बाद आचार्य परिवार के साथ हम लोग भी यज्ञकुंड के चारों ओर बैठे रहा करते थे। शास्त्र चर्चा होती थी; पर राजनीति से हम अछूते नहीं थे। युग-पतन इस सीमा तक हो गया था कि हर चर्चा में राजनीति आपसे आप घुस आती थी।

ऐसी स्थिति में एक दिन पता नहीं क्या सोचकर आचार्यजी ने हमसे कहा, “अब तुम लोग आश्रम में ही रहो।”

हम लोगों के भी कई दिन यहाँ व्यतीत हो गए थे। दो-एक दिनों में मथुरा जाने का कार्यक्रम बनता ही। ऐसे में आचार्यजी का यह आग्रह कुछ विचित्र-सा लगा। आत्मीयता से अधिक इसमें आतंक की छाया दीख पड़ी। यज्ञकुंड से उठे धूम से उनकी आँखों से पानी बह रहा था। उन्होंने उसे पोंछते हुए कहा, “सुरक्षा की दृष्टि से यही ठीक होगा।”

“क्यों?”

“जरासंध तुम लोगों की प्रतीक्षा कर रहा है।” आचार्यजी बोले, “उसने मथुरा पर अब तक इसलिए चढ़ाई नहीं की कि वहाँ तुम लोग नहीं थे। उसका कहना है कि हमें उग्रसेन से क्या लेना-देना! वह बंदीगृह में रहे या बाहर, कोई अंतर नहीं पड़ता। हमें तो हत्यारों से बदला लेना है।”

“इसका तात्पर्य है कि हम हत्यारे हैं?” भैया बोले।

“और आप हत्यारों को शरण दे रहे हैं।” मैंने कहा और साथ ही हँस पड़ा। “जानते हैं, अपराधी को शरण देनेवाला भी अपराधी होता है।”

“सब जानता हूँ।” वे बोले।

“एक तो आश्रम से मुक्त हुए को आश्रम में पुनः प्रवेश लेना वर्जित है; फिर आप अपराधी को आश्रय दे रहे हैं।” मेरे इस कथन पर आचार्यजी जोर से हँसे। हम सब भी हँसने लगे। यों मैं समझने लगा कि राजनीतिक क्षितिज पर काफी गरमी आ गई है।

“यदि हम लोग यहाँ रह जाएँ तो आपके राजा जयसेन को कोई आपत्ति तो नहीं होगी?”

“इस संबंध में कुछ कहना कठिन है; क्योंकि स्थिति ऐसी आ गई है कि आप लोगों का हर रक्षक जरासंध का शत्रु हो जाएगा। महाराज जयसेन इस स्थिति को कभी आने देना नहीं चाहेंगे। संप्रति आर्यावर्त इस टकराव से स्वयं को वंचित रखेगा।”

“आप ऐसा विश्वास से कह सकते हैं?”

“अवश्य।” आचार्य बोले, “तुम्हारे चले जाने के बाद अनेक लोग मथुरा से यहाँ तुम्हारा पता लगाने आते थे।”

“और सबको यही पता लगा कि मैं यमलोक में हूँ।”

“इसके अतिरिक्त तुम्हारा दूसरा पता तो था नहीं।” आचार्य बोले।

“फिर तो आपके यहाँ रहने का तात्पर्य है कि इस आश्रम को ही यमलोक बना देना।” मैंने कहा, “हमें शीघ्रातिशीघ्र इसे छोड़ देना चाहिए।”

“पर तुम लोग अन्यत्र सुरक्षित नहीं रह पाओगे।”

“सुरक्षा की दीवारों के बीच बंदी होने से उत्तम है, असुरक्षा के उन्मुक्त क्षेत्र में विचरना।” मैंने कहा, “और फिर मुझे मथुरा की जनता का भरोसा है।”

“लेकिन वह भरोसा भी अब काफी कमजोर पड़ चुका है।” आचार्यजी बोले, “अब पहलेवाली स्थिति नहीं है। यादव आपस में ही लड़ रहे हैं। अंधक बाहुक की मृत्यु हो चुकी है। प्रद्योत अब मागधी आधिपत्य को लगभग स्वीकार कर चुका है।”

यह ऐसी तसवीर थी, जिसे देखते ही मेरा व्यग्र होना स्वाभाविक था। अंधक बाहुक की वृद्धता तो मृत्यु के द्वार पर थी ही, यदि वह उस पार चली गई तो आश्चर्य क्या; पर आश्चर्य होता है जीवित लोगों के बदल जाने का।

“फिर महाराज क्या कर रहे हैं?” मैंने पूछा।

“महाराज तो वृद्ध हो चुके हैं। फिर उनपर बाण और रुक्मी प्रभावी हैं। उनकी नाव तो भगवान् भरोसे है।”

इस स्थिति में मुझे अचानक छंदक की याद आई। सारी ध्वस्त हुई बालू की भीत तो छंदक की ही बनाई थी। मैंने उसके बारे में पूछा।

“वही बेचारा तो मथुरा का सबसे व्याकुल प्राणी है।” आचार्यजी बोले, “तीन-चार बार तो वह यहाँ आ चुका है। हर बार उसने तुम्हारे बारे में ही जानना चाहा था। उसने स्पष्ट कहा, ‘अब हमें कन्हैया की सबसे अधिक आवश्यकता है।’”

“तो क्या अंगारक भी मारा गया?”

“मारा गया या अपनी मौत मरा, यह अब तक रहस्य है।” आचार्यजी ने कहा, “छंदक बता रहा था कि एक प्रातःकाल अतिथिभवन के उद्यान में वह मरा हुआ पाया गया था। उसके तन पर न चोट के निशान थे और न उसके पास कोई आयुध था। एक शिलाखंड पर वह चिरनिद्रा में पड़ा था।”

“हो सकता है, उसने बहुत अधिक मैरेय पी ली हो।” मैंने कहा।

“हो सकता है।” आचार्यजी बोले, “और यह भी हो सकता है कि कोई उसे कुछ खिलाकर सुला गया हो। इसकी संभावना छंदक को अधिक है।”

“उसकी इस संभावना का आधार क्या है?”

“ठीक यही प्रश्न मैंने उससे पूछा था।” आचार्यजी ने कहा, “तब छंदक ने बताया था कि ‘इस समय मथुरा मेरे हाथ से निकल चुकी है। वहाँ अब चप्पे-चप्पे पर मागधी गुप्तचर हैं। वह मथुरा के राजसिंहासन के हर भक्त को या तो अपना बना लेना चाहते हैं या मार्ग से हटा देना चाहते हैं।’ स्वयं छंदक भी मथुरा के बाहर-ही-बाहर रहता है।”

ऐसी विषम स्थिति की मैंने कल्पना तक नहीं की थी। कौन जानता था कि मथुरा का हर हिलनेवाला पत्ता जिस छंदक के संकेत की प्रतीक्षा करता था, उसके लिए मथुरा में रहना भी दूभर हो जाएगा।

आचार्य सांदीपनि का आतिथ्य बढ़ता गया। दो-चार दिनों तक मैं इसी उधेड़बुन में था कि मैं मथुरा की ओर चलूँ या न चलूँ। उसकी आत्मीयता मुझे खींचती थी। पिता वसुदेव याद आते थे, माता देवकी याद आती थी। चाचा अक्रूर और चाची गुणवंती याद आती थी। नानाजी के बारे में तो सुन रखा था; पर उनका कोई संदेश नहीं, कोई सूचना नहीं। मन पर सब पुरानी भंगिमाओं के साथ आकर चिपक जाते थे।

स्मृति की इसी धारा में बहते हुए हम लोग एक दिन आश्रम से नगर की ओर चल पड़े। महाराज जयसेन के गुप्तचरों ने शायद हमें देखते ही सूचना भेज दी। उन्होंने तुरंत हमारे लिए रथ भिजवाया। पैदल चलने से तो शायद कुछ थोड़े ही लोगों की निगाह हमपर पड़ती, पर अब सारे नगर की दृष्टि मुझपर थी। सबने हमारा विजयी योद्धा की तरह अभिवादन किया; क्योंकि उन्हें सूचना मिल चुकी थी कि मैंने अपनी गुरुदक्षिणा चुका दी है। सब इस कार्य से भी चमत्कृत थे। मेरा देवत्व अधिक गहरा होकर लोगों को दिखाई दे रहा था।

प्रासाद द्वार पर ही जयसेन ने अपने पुत्रों के साथ मेरी अगवानी की। मुझे बधाई तो उतरते ही दी, पर चुपचाप भीतर ले जाकर हमारी आरती उतारी। स्पष्ट लगा कि महाराज हमारे स्वागत से घबरा रहे हैं।

उन्होंने कहा भी, “इस धृष्टता के लिए क्षमा कीजिएगा। जो अभिवादन द्वार पर ही होना चाहिए था, उसे हमने अंतःपुर में किया है।”

“अंतःपुर के अभिवादन में मिठास अधिक होती है।” मैंने व्यंग्य किया।

पर वे अपने ही विचार में डूबे रहे—“आजकल पूरा राजनीतिक वातावरण आपके प्रतिकूल है। आर्यावर्त का क्रोध आपके लिए खौल रहा है।”

“आर्यावर्त का नहीं वरन् आर्यावर्त के शासकों का कहिए।” मैंने कहा।

“राजनीतिक परिप्रेक्ष्य में शासक ही आर्यावर्त है।”

“पर सामाजिक परिप्रेक्ष्य में जनता आर्यावर्त है।” मेरा नेतृत्व प्रगल्भ हुआ—“मैं तो जनता-जनार्दन को सत्ता के ऊपर मानता हूँ। जनता ही सत्ता का अंकुश है। कोई भी निरंकुश सत्ता अधिक दिनों तक नहीं रहती। आखिर कंस को भी यमलोक जाना पड़ा।”

“पर यह समय कंस के यमलोक जाने से भी खराब है। हर ओर आपके प्रतिकूल आँधी चल रही है। मेरे दोनों बेटे उस आँधी के प्रथम दृष्टया साक्षी हैं।” इतना कहने के बाद उन्होंने अपने बेटे कुमार विंद और अनुविंद की ओर देखा।

मुझे लगा कि महाराज अपने बेटों के मुख से भी कुछ कहलवाना चाहते हैं।

इसके पहले ही मैं बोल उठा—“प्रतिकूलता तो हमारी नियति है, राजन्! जन्म से ही मैं प्रतिकूल परिस्थितियाँ लेकर ही पैदा हुआ हूँ।” फिर मैंने कुमारों की ओर संकेत करके कहा, “क्या समाचार है?” इतना कहते हुए मैंने उन्हें अपने अंग से लगा लिया।

विंद ने एक ऐसी सूचना दी कि मेरा हृदय धक् से करके रह गया।

उसने बताया—“प्रद्योत मारा गया।”

“अरे, अभी आचार्यजी बता रहे थे कि वह भी मागधियों की शरणागत हो गया है!” मैंने कहा।

“यह तो बहुत पुरानी बात हो गई। मैं अभी कल मथुरा से आ रहा हूँ।” विंद ने कहा, “उसके शरणागत होने के बाद भी मागधियों ने क्षमा नहीं किया। उसने वृत्घ्न की जो हत्या की थी। अपने पुत्र के वध का जरासंध का यह प्रतिशोध बड़ा निर्मम था।”

मैं सोचता रह गया, यह सब क्या हो रहा है?

विंद ने आगे बताया—“उस दिन मैं मथुरा में ही था। अचानक एक प्रभात इस सूचना से सहम उठा कि महामात्य की हत्या हो गई है। मथुरा काँपने लगी। महामात्य का क्षत-विक्षत शव प्रासाद के अतिथिभवन के उसी उद्यान में पाया गया, जहाँ अंगारक का शव था। अंगारक के शव पर घाव के निशान तक नहीं थे; पर प्रद्योत का कोई अंग ऐसा रहा नहीं, जो काटकर अलग न फेंक दिया गया हो।”

“लोगों की प्रतिक्रिया क्या थी?”

“जनता भयाक्रांत थी। महाराज निस्सहाय बच्चों-सा रो रहे थे। लगता है,” विंद बोलता चला जा रहा था—“उस उद्यान में रात में ही वह मारा गया।”

“जिस उद्यान में कभी नारद की वीणा बजी थी, वहाँ प्रद्योत की यह दशा!” मेरे मुख से निकला।

“और आतंक यह कि मध्याह्न तक कोई प्रद्योत के भंग अंगों को उठाने का साहस न कर सका। बेचारा लावारिस-सा पड़ा रहा। अजीब स्थिति थी। लोग उद्यान तक जाते थे, वह बीभत्स दृश्य देखते थे और मुँह बंद किए चुपचाप चले आते थे।”

“लगता है, जनता का मनोबल ही टूट गया।”

“मनोबल तो उसी दिन टूट गया, जिस दिन अंगारक की हत्या हुई। किसीने चूँ तक नहीं की।”

“यही तो मूल कारण है।” इस बार भैया बोले, “जनता स्वयं नहीं जागती, उसे जगाना पड़ता है। आज वृद्ध बाहुक नहीं, जिसकी वाणी जनता में जान फूँकती थी। एक बेचारा छंदक क्या कर लेगा!”

अब हम लोग कुमार के कक्ष में आ गए थे। कुमार विंद और अनुविंद दोनों ने इस बार काफी आत्मीयता दिखाई। यद्यपि वे मेरी उपस्थिति से डरे हुए अवश्य थे; क्योंकि मेरी उपस्थिति का प्रचार बहुत हो गया था। इसे वे खतरा

समझते थे, इसीसे राजभवन के बाहर हमारे साथ जाना उन्हें स्वीकार नहीं था; पर था उनके व्यवहार में काफी परिवर्तन। लगता था, आश्रम के विंद और अनुविंद का विद्वेषभाव आश्रम में ही रह गया था।

“अंगारक की मृत्यु अब भी रहस्य ही बनी होगी?” मैंने बातों का क्रम नए सिरे से आरंभ किया।

“नहीं, ऐसी बात नहीं है। सब स्पष्ट हो चुका है।” विंद बोला, “मृत्यु के एक दिन पूर्व वह मागधी सेनाधिकारी के साथ देखा गया था, जिसकी नियुक्ति वृत्तघ्न ने कभी उसके स्थान पर की थी। लोगों की शंका उसी पर है।”

इसी बीच मधुमिश्रित पेय आया और हम लोग चुस्कियाँ लेने लगे।

“सबसे कारुणिक तो सुवासिनी का विलाप था।” विंद ने ही बात शुरू की। “कहते हैं, जब वह उद्यान में गई तो पति की यह दशा देखकर संज्ञाशून्य हो गई। उसके बच्चे ने उसे सँभाला। आप इसीसे मथुरा की स्थिति का अनुमान लगा सकते हैं कि महामात्य की पत्नी राज उद्यान में संज्ञाशून्य पड़ी है और राजवैद्य की भी चिकित्सा उसे उपलब्ध न हो सकी।”

“उसकी अंत्येष्टि को राज सम्मान मिला या नहीं?” शायद यह प्रश्न उद्धव का था।

“क्या इसे राज सम्मान कहेंगे? कहीं कोई पूर्व सूचना नहीं। कुछ सैनिकों के साथ चुपचाप यमुनातट पर शव जला दिया गया। जनता निरपेक्ष द्रष्टा की स्थिति में भी दिखाई नहीं पड़ी।”

“क्या नानाजी भी नहीं गए थे?”

“हाँ, वे तो गए थे। उनके नेत्रों से अविरल अश्रुधारा बह रही थी। उन्हें गर्गाचार्य सहारा दिए हुए थे।”

“अरे, अभी आचार्य जीवित हैं?”

“जी हाँ, जीवित ही नहीं, उनका स्वास्थ्य उग्रसेन से भी अच्छा है।” विंद बोला और अपनी बात पूरी की—“उनके अतिरिक्त आपके पिता वसुदेव और चाचा अक्रूर भी उस शवयात्रा में थे।”

अब मथुरा का चित्र लगभग पूरा स्पष्ट हो गया। राजनीतिक क्षितिज रक्ताभ और धुँधलके से भरा दीखने लगा था। खोजने पर भी शांति की कोई किरण दिखाई नहीं पड़ रही थी। एक बात कुछ विचित्र-सी थी कि कंस की मृत्यु के बहुत दिनों बाद तक हम लोग मथुरा में थे। जरासंध के आक्रमण की संभावना भी थी। एक बार तो अफवाह उठ चुकी थी कि वह मगध से चल पड़ा है; पर वह उस समय नहीं आया। जब कंस की चिता की उष्णता बनी थी, तब उसके रक्त में उबाल नहीं उठा। इस समय वह इतना फुफकारने कैसे लगा?

मैंने यह प्रश्न विचारार्थ उठाया। विंद का समाधान समीचीन था।

विंद ने कहा, “कंस की मृत्यु के बाद मागधी सैनिकों में इतनी हलचल नहीं मची थी, जितनी वृत्तघ्न की मृत्यु के बाद मची। उनका बड़े-से-बड़ा अधिकारी घबरा गया था।”

“इसे तो मैंने भी देखा था।”

“हाँ, उसी समय मागधी सैनिकों में मगध जाने की होड़-सी लग गई थी। उन्होंने अपने टूटे अहं का सारा वृत्तांत जरासंध से कहा। जरासंध तिलमिलाया अवश्य, पर कुछ कर नहीं सका।”

“क्यों?”

“जरासंध ने अपने सैनिकों से पूछा कि ‘इस स्थिति में हमारी पुत्रियों ने कुछ नहीं किया?’

“‘करना तो दूर था, वे हमसे मिलीं तक नहीं। यदि कुछ कहा भी होता तो मैं उस प्रद्योत के बच्चे को कच्चा चबा जाता।’

“‘मुझे अपनी पुत्रियों से ऐसी आशा नहीं थी।’ जरासंध बोला, ‘जाने दो भाड़ में उन दोनों को।’ उस समय अपनी पुत्रियों से नाराज होकर उसने आक्रमण नहीं किया।”

“पर उस समय हल्ला तो काफी मचा था कि उसकी सेना आ रही है?”

“सब अफवाह थी।” विंद बोला।

“तब अब क्या हो गया?”

“अब स्थिति बदल गई है। वर्ष भर के पति वियोग का शोक मनाकर कंस की पत्नियाँ मायके पहुँचीं तो उन्होंने अपने पिता से अपनी सारी करुण कथा कह सुनाई और यह बताया कि सारा दोष उन किशोरों का ही है, अन्यथा मथुरा में यह आग न लगती।” विंद कुछ समय तक चुप हो हम लोगों का मुँह देखने लगा। फिर बोला, “उनका सारा क्रोध आप ही लोगों पर है।”

विंद से ही पता चला—“रुक्मी का भी आजकल गिरिव्रज जाना अधिक हो गया है। उसने जरासंध से कोई गुप्त संधि की है। शायद वह भी आप लोगों से नाराज है।”

“नाराज क्यों नहीं होगा!” मैंने कहा, “प्रतिशोध की अग्नि मौका मिलते ही हवि के लिए लालायित हो उठती है।”

संध्या हो चली थी। दीप जलानेवाले आ गए थे। देखते-देखते दीपदान झिलमिलाने लगे। उस समय तो बातें समाप्त हो गईं। विंद नमस्कार कर चला गया।

इस समय हम एक विचित्र तनाव में हो गए थे। हमारा अंतर समस्याओं से स्वयं जूझने लगा था। हम एक-दूसरे से बातें न करके अपने में ही खोए रहे। कोई दीपशिखा की ओर देख रहा था, कोई वातायन की ओर। सही मायने में किसीको कोई रास्ता सूझ नहीं रहा था।

जब हम रात्रि भोजन के लिए उठे तो भैया ने कहा, “सबकी स्थिति स्पष्ट होती जा रही है। अब हमें यह जानना चाहिए कि यदि हमारा और जरासंध का युद्ध हुआ तो अवंती किधर रहेगी?”

“ठीक कहा आपने, हमें यह भी स्पष्ट कर लेना चाहिए।” मैं बोला।

आतिथेय की ओर से भोजन पर महाराज नहीं थे। हो सकता है, वे हमारी स्थिति से कतरा रहे हों; पर राजकुमार अवश्य थे। मैंने भोजन के आरंभ में ही पूछ दिया—“जो है, वह तो है ही, हम यह जानना चाहते हैं कि यदि हमारा और जरासंध का युद्ध हुआ तो अवंती किधर रहेगी?”

मेरे पूछते ही दोनों कुमार हक्का-बक्का रह गए; जैसे उन्होंने कभी कल्पना ही नहीं की थी कि यह सीधा प्रश्न उनसे भी पूछा जा सकता है।

इस बार अनुविंद ने अपनी स्थिति सँभाली—“यह प्रश्न तो पिताजी से करना चाहिए था।”

‘पिताजी के व्यवहार से तो मुझे उत्तर पहले ही मिल गया है।’ मुझे यह कहना चाहिए था, पर मैं चुप रह गया। थोड़ी देर बार विंद बोला, “मेरी राय में तो कुछ दिनों तक आप लोगों को आश्रम में ही रह जाना चाहिए।”

“वह युग गया, जब आश्रम की भूमि अवध्य होती थी। वह राजसत्ता से परे थी।” मैंने कहा, “आचार्य परिवार पूज्य था। उसकी चिंता राजा करता था। आचार्य भौतिक चिंताओं से मुक्त था। पर अब सबकुछ बदल गया है। सारी मान्यताएँ धूल में मिल गई हैं। अब आश्रम पर भी भय की वैसी ही काली छाया है जैसी मथुरा पर।”

मेरी इस प्रभावशाली वाणी के बाद कुछ समय तक एकदम शांति थी। दोनों राजकुमार मौन। हम दोनों भाई मौन। उद्धव मौन। केवल दीपदानों पर फर्तियों की भनभनाहट। रह-रहकर भोजन का क्रम चलता रहा।

रात समस्याओं में डूब गई।

□

उस रात महाराज ने हम लोगों से मिलने का भी सौजन्य नहीं दिखाया। हम अतिथिगृह में बहुत देर तक जागते रहे। तनाव इतना था कि पास-पास रहकर भी कोई किसीसे बात नहीं कर रहा था। कौन कब सो गया, इसका

किसीको पता नहीं।

मैंने स्वप्न देखा कि मेरा रथ मथुरा से वृंदावन जा रहा है। मथुरा की सीमा के निकट आते ही धूल-धूसरित पागलों की तरह सुवासिनी आती दिखाई दी और उसके बाद कुब्जा तथा मेरे नानाजी भी थे। सब मुझे रोक रहे थे, मुझे बुला रहे थे; पर मेरे कानों में मेरी वंशी गूँजने लगी थी। शायद राधा कहीं बजा रही थी। उसने तो कहा था कि मैं तुम्हारी वंशी अधरों पर नहीं धरूँगी; पर यह क्या हो गया?

इसके बाद मैं क्या देखता हूँ कि अचानक मेरे नानाजी रथ के बाएँ पहिए के नीचे आ गए। मैं तुरंत रथ से कूद पड़ा। अब मुझे लगा कि वह रथ का पहिया नहीं, केवल पहिया है। एक घूमता हुआ विराट् कालचक्र, जिसके नीचे नानाजी ही नहीं, पूरी मथुरा पड़ी है। मैंने उस चक्र को हटाना चाहा; पर वह मेरी शक्ति के बाहर था। मैंने बगल में सो रहे बलराम भैया को जगाया—“इस चक्र को हटाओ, इस चक्र को हटाओ।”

अब हम दोनों जाग उठे थे। उद्धव की भी नींद टूट चुकी थी। बलराम भैया ने मेरी भयाकुल आकृति की ओर भर्राई दृष्टि से देखा और पूछ बैठे—“किस चक्र को हटाने को कह रहे हो?”

“कालचक्र को।” मेरी आवाज अब भी असामान्य रूप से काँप रही थी।

परिस्थिति तो गंभीर थी ही, पर लोगों को विश्वास नहीं था कि मैं इतना उद्विग्न हो जाऊँगा। भैया और उद्धव दोनों चिंतित हुए। पर भैया ने मुझे सँभालते हुए कहा, “कालचक्र तो चलता ही रहता है। वह कभी एक स्थान पर नहीं रहता। यही शाश्वत सत्य है, ऋत है। न उसे हटाया जा सकता है और न उसे रोका जा सकता है।”

“रोका तो नहीं जा सकता, पर उसे हटाया जा सकता है।” मेरी मुद्रा में कोई परिवर्तन नहीं था—“उसकी दिशा बदली जा सकती है। इस समय मथुरा इसके नीचे आ गई है। वह चूर-चूर हो जाएगी। सवाल मथुरा को बचाने का है।” इतना कहते-कहते मैं प्रकृतिस्थ होने लगा और स्वयं ही चुप हो गया।

थोड़ी देर बार मैंने लोगों को स्वप्न की बातें बताईं। भैया तो सुनकर हँसने लगे। निश्चित रूप से उनकी वह हँसी बनावटी थी; पर उद्धव अब भी गंभीर था।

“तुम्हारी दिन भर की व्यग्रता ही तुम्हें स्वप्न में दिखाई पड़ी है।” भैया बोले, “तुम क्यों नहीं इस व्यग्रता को ईश्वर को समर्पित कर देते?”

“संसार अपनी व्यग्रता को मुझे समर्पित करता है और मैं दूसरे को समर्पित करूँ!”

मेरे मुख से अचानक निकल गया और फिर मैं हँसने लगा।

इसी समय किसीने बताया कि अवंतिराज जयसेन तीर्थाटन पर जाने वाले हैं। हो सकता है, वे हमसे मिलना न चाह रहे हों। हमारी उपस्थिति ही उन्हें तीर्थाटन की योजना बनाने के लिए बाध्य कर रही हो। उनके राजभवन से निकलने के पूर्व हमने स्वयं उनसे मिलने की इच्छा व्यक्त की। अब वे क्या करते! लाचारी थी। उन्होंने तुरंत हमें बुलाया; पर ऐसी व्यस्तता का प्रदर्शन किया जैसे बिल्कुल उनके पास समय न हो।

“मैं आपकी व्यस्तता समझता हूँ।” मैंने कहा, “मैं केवल आपकी अनुमति लेने आया हूँ।”

“किस बात की?”

“यहाँ से प्रस्थान की।”

वे एकदम खिलखिला पड़े। ऐसा लगा, उनकी सारी व्यस्तता टूटकर बिखर गई।

“तो इसमें अनुमति की क्या आवश्यकता है? यह तो आपकी इच्छा पर निर्भर है।”

“पर यहाँ हमारी इच्छा आपकी अनुमति के अनुशासन में है।” मैंने कहा, “क्योंकि मैं यहाँ मात्र अतिथि ही नहीं, आपके प्रिय पुत्रों का गुरुभाई भी हूँ—अर्थात् आपके पुत्र जैसा हूँ।”

“पुत्रों के लिए हमारे यहाँ कोई कठोर अनुशासन नहीं है।”

“इस अनुशासनहीनता का अनुभव हमें हुआ है।” मैंने बातें ऐसे ढंग से कहीं कि वह सीधे उनके मर्म पर लगीं और वे एकदम शांत हो गए।

“तो मेरे योग्य सेवा?” उन्होंने बातें समाप्त करने की नीयत से कहा।

“मुझे एक रथ चाहिए।” मैंने कहा।

जयसेन कुछ समय तक शांत सोचते रहे। फिर अचानक उनकी मुद्रा बदली—“रथशाला में कुछ नए रथ बनकर आए हैं, उनमें से जो आपको पसंद हो, ले लीजिए।”

“मैं तो समझता हूँ कि जिस रथ का प्रयोग आजकल मैं कर रहा हूँ, वह मेरे अधिक अनुकूल पड़ेगा।”

“पर वह तो पुराना है और उसपर राजकीय मुद्रा भी अंकित है।” मनुष्य के मन में जो कुछ रहता है, वह झलककर बाहर आ ही जाता है। रोकते-रोकते मुद्रावाली बात उनके मुख से निकल गई। मैंने उनकी मंशा समझ ली। वे नहीं चाहते थे कि उनके दिए हुए रथ पर उनकी पहचान हो। यह था आतंक जरासंध का, जो लोगों को मेरी छाया से भी दूर रखने लगा था।

मैंने स्पष्ट कहा, “मैं आपकी विवशता समझता हूँ। रथ नया हो या पुराना, पर सारथि को पुराना होना चाहिए।” सारथि का नाम सुनते ही जयसेन पुनः सकते में आ गए। सारथि देना तो पुराना रथ देने से भी खतरनाक है। जीवंतता निर्जीव से ज्यादा मुखर होती है। एक को पहचानना पड़ता है, एक स्वयं अपनी पहचान बनाती है। मैंने सारथिवाला प्रसंग जानबूझकर छोड़ा था। देखना चाहता था कि अवंतिराज मेरे प्रस्ताव पर किस सीमा तक व्यग्र होते हैं।

“अश्व तो तुम्हें मिल जाएँगे।” वह बोले, “अश्वशाला में जाकर तुम अपनी इच्छा से रथ के अनुकूल अश्व छाँट लो; पर सारथि की व्यवस्था शायद मैं न कर पाऊँ, क्योंकि मैं तीर्थाटन पर जा रहा हूँ और मेरे साथ राजमाता भी रहेंगी।”

“ऐसी स्थिति में सेना की एक टुकड़ी भी होनी चाहिए।” मैंने बात पूरी की।

“हाँ, हाँ।” वह इस ढंग से बोले जैसे उन्होंने अपने काल्पनिक देशाटन में इस बात की कल्पना भी नहीं की थी।

“खैर, कोई बात नहीं।” मैंने बड़े सामान्य भाव से कहा, “ऐसी स्थितियों के लिए सारथ्य का सामर्थ्य में स्वयं रखता हूँ।”

मेरे अहं भरे स्वर के समक्ष वे एकदम पानी हो गए।

भैया और उद्धव ने भी जयसेन के व्यक्तित्व पर जरासंध के भय की काली छाया स्पष्ट भाँप ली थी। उद्धव चुपचाप वहीं खड़ा रहा; पर भैया मुँह बनाकर वहाँ से हट गए थे।

जब हमारी बातें समाप्त हुईं और हम बाहर उद्यान की ओर आए, तब भैया ने स्पष्ट कहा, “वह तीर्थाटन आदि के लिए कहीं नहीं जा रहा है, वह हमारे झमेले से दूर रहना चाह रहा है।”

“इसे मैं भी समझता हूँ।” मैंने कहा, “पर हम करेंगे क्या—और इसमें उनका दोष ही क्या है! यह समय ही ऐसा है। अंधकार में तो छाया भी अपना साथ नहीं देती। यदि ऐसे लोग दूर रहें तो आश्चर्य ही क्या! बहुत सी परिस्थितियाँ देखी हैं, इसे भी देखा जाएगा।” मैं निश्चित भाव से बोला।

“मुझे आश्चर्य है कि वह बंद कमरे में भी जरासंध से डर रहा था।” भैया बोले।

“वस्तुतः वह मथुरा के झंझट से दूर रहना चाहता है।” इसके बाद मैंने उस रहस्य का उद्घाटन किया, जिसकी उन दोनों को कल्पना तक नहीं थी। मैंने कहा, “मुझे सूचना मिली है कि जरासंध ने युद्ध-संधि के प्रस्ताव के साथ अपने दूत यहाँ भी भेजे थे।”

“तब क्या हुआ?”

“स्पष्ट तो पता नहीं चला; पर सुना है, अभी तक कोई उत्तर नहीं भेजा है। दूत से कहला दिया था कि मैं अपनी मंत्रिपरिषद् से मंत्रणा करूँगा।” क्षण भर रुककर मैंने अपने अधरों के बीच मुसकराहट उगाई—“हर व्यक्ति गिरती हुई दीवार से दूर ही रहना चाहता है। इस समय मथुरा एक गिरती हुई दीवार है।”



चौदह

अभी-अभी चातुर्मास बीता था। यद्यपि यात्राएँ आरंभ हो गई थीं, पर मार्ग निरापद नहीं था। नदी-नद-नाले अपने यौवन के उमंग में राजपथ तक हाथ-पैर फैला बैठे थे। रात्रि की यात्रा अब भी निरापद नहीं थी। फिर भी मथुरा पहुँचते-पहुँचते रात्रि का प्रथम प्रहर बीत चुका था।

नगर में पहुँचते ही मुझे कुछ विचित्र अनुभूति हुई। मार्ग में सन्नाटा बिछा था। रात के उस अँधेरे में आतंक की गंध साँय-साँय कर रही थी। आश्चर्य था कि लोगों को मेरे रथ की आहट भी नहीं लग रही थी, या लोग स्वयं को घरों में बंद किए मुँह छिपाए बैठे थे।

ज्यों ही मेरा रथ राजकीय उद्यान से बाएँ मुड़ा त्यों ही मुझे लगा कि एक द्वार पर खड़े दो व्यक्ति बातें कर रहे हैं; पर मेरे रथ को देखते ही वे भीतर चले गए।

मैंने जानबूझकर वहीं रथ रोक दिया। मुझे अनुमान लग गया था कि यह कुब्जा का घर है और हो न हो, वह बूढ़ा कुब्जा का पिता कर्मा ही रहा हो।

मैं वहीं रुका। उद्धव और बलराम दोनों चकित थे; क्योंकि योजनानुसार मुझे अक्रूर चाचा के घर पर ही रुकना था। भैया बोले भी, “अरे भाई, यहाँ कहाँ?”

पर मैंने द्वार खटखटाना आरंभ किया। तब मुझे लगा कि कोई दीपदान द्वार की ओर आ रहा है।

“कौन है?” भीतर से आई यह भर्राई आवाज कर्मा की थी।

“एक विदेशी सैनिक!” मैंने ध्वनि बदलकर अपनी प्रकृति के अनुसार थोड़ा नाटक किया।

इतना सुनना था कि भीतर दहशत जैसी छा गई। कुछ आपस में फुसफुसाहट का भी आभास लगा। फिर वही कर्मा की आवाज आई—“क्या चाहते हैं?”

“केवल एक रात्रि का विश्राम।”

फिर पहले जैसी फुसफुसाहट।

“अच्छा होता, आप राज अतिथिगृह की ओर चले जाते।”

अरे, यह आवाज तो छंदक की है!

“क्यों? अब मथुरा की जनता भी शरणागतों को ठुकराने लगी है?” यह मेरी स्वाभाविक आवाज थी। छंदक ने एकदम पहचान लिया और उसने द्वार खोल दिए।

“आप इस समय कहाँ से?” उसकी बाँछें खिल आईं।

उस अंधकार में भी उसकी सूखी झुर्रियों में उगी प्रसन्नता का हमें स्पर्श हुआ। फिर उसने हमारे रथ को वहीं छोड़कर यथाशीघ्र हम सबको भीतर कर लिया; जैसे हमें एकदम छिपा लेना चाहता हो।

“इस अँधेरे से छिपाकर तुम किस अँधेरे में ले जाओगे?” मैंने हँसते हुए पूछा और उसके पीछे हो लिया।

“अंधकार में प्रकाश को कैसे छिपाया जा सकता है?” छंदक बोला, “वरन् प्रकाश की आड़ खोज रहा था, जो मिल गया।”

मैंने कभी छंदक को इतना भयाक्रांत नहीं देखा था। उस पूरे वातावरण से मथुरा की भयातुरता का अनुमान लगाना सरल था। इसीलिए मैं उससे कुछ पूछूँ, इसके पहले ही वह अपनी सारी कथा बता गया। फिर उसने मेरे बारे में पूछा। मेरी गुरुदक्षिणावाली बात सुनकर वे सभी प्रसन्न हुए।

“आपने यम को परास्त किया। सचमुच आप धन्य हैं!” इतना कहते-कहते उन दोनों की दृष्टि में बैठी ईश्वरत्व की मेरी छवि पर एक पानी और चढ़ गया था। दोनों मेरे चरणों पर गिर पड़े और बाद में चरणामृत भी लिया। मैंने अपनी सारी कथा बढ़ा-चढ़ाकर उनके भय को दूर करने के लिए कही थी। कुछ तनाव अवश्य ढीला हुआ; पर अब भी वे आश्वस्त दिखाई नहीं दिए।

“इस समय मथुरा को आपकी बड़ी आवश्यकता है।” छंदक बोला।

“जहाँ मेरी आवश्यकता होती है, वहाँ के लोग मुझे हृदय से पुकारते हैं।”

उसकी ध्वनि कातर हो गई।

“हम सभी हृदय से पुकार रहे थे।”

“इसीलिए तो मैं स्वयं उपस्थित हो गया।” इस वाक्य के बाद पता नहीं क्यों और किस संदर्भ मेरे मुख से एक ऐसा वाक्य निकला, जिसपर मुझे आज भी आश्चर्य है। मैंने कहा, “और जो मुझे जिस रूप में देखता है, उसे मैं उसी रूप में दिखाई देता हूँ।”

मैं नहीं कह सकता कि लोगों ने मेरे इस वाक्य का उस समय क्या अर्थ समझा था; किंतु मोहग्रस्त अर्जुन को उपदेश देते समय जब मैंने इसी वाक्य को पुनः दुहराया तो इतिहास ने उसे सुरक्षित अपने प्रकोष्ठ में रख लिया।

अब तक मेरी दृष्टि उधर नहीं गई थी; क्योंकि दीप का प्रकाश भी वहाँ तक नहीं जा रहा था। मैंने देखा कि धवल वस्त्रों से परिवेष्टित मालिनी दूर खड़ी है—एकदम पाषाणवत्, मूर्तिवत्! कैसी बदली हुई वह लग रही थी; मानो हिमानी परिवेश में चंचलता जम गई हो।

उसकी जड़गत धवलता इस गहराई तक मुझे चुभी कि उसे देखकर भी मुझे उससे बोलने का साहस नहीं हुआ। फिर भी मैं उसे अनवरत देखता रहा। अब अन्यो की दृष्टि ने भी मेरा अनुसरण किया।

“वहाँ खड़ी होकर क्या देख रही हो, मालिनी?” मेरे मुख से निकला।

“जब से इसने अंगारक की अंत्येष्टि की है, तब से इसकी यही दशा है।” कर्मा बोला, “आज तो यह अपने कक्ष से निकली है, अन्यथा भीतर ही चुपचाप पड़ी रहती थी।”

विगत जीवन के सारे चित्र अचानक आँखों के सामने कौंध गए। सोचने लगा, जिस अंगारक से वह इतनी घृणा करती थी, आखिर उसीकी अंत्येष्टि उसे करनी पड़ी।...परिस्थितियों ने उसे इतना दूर कर दिया तो क्या हुआ, आखिर अग्नि को साक्षी देकर उसने अंगारक को ही पति के रूप में वरण किया था।

“खाने-पीने की भी इसे सुध नहीं रहती। तीन-तीन दिन बीत जाते हैं कुछ खाए हुए।” कर्मा ने मौन की दीवार पुनः तोड़ी।

“अन्न न ग्रहण करने का तात्पर्य है, जीने की इच्छा त्याग देना।” मैंने कहा और फिर जीवन की महत्ता बताते हुए बोला, “मानव जीवन बड़ा बहुमूल्य है, मालिनी, इसे इतनी सरलता से खोने की मत सोचो।”

“पर किसके लिए जीवित रहूँ?” इसके बाद उसके शब्द सिसकियों में डूब गए। देखते-देखते वह टूट रही डाल-सी लड़खड़ाई।

यदि मैं आगे बढ़कर उसे सँभाल न लेता तो वह अवश्य गिर जाती।

“लगता है, तुम्हें चक्कर आ गया।” मैंने उसे सँभालते हुए कहा।

“मुझे चक्कर आया नहीं है वरन् मैं चक्कर में ही जी रही हूँ, कन्हैया।”

इतना कहने के बाद वह एकदम स्थिर हो गई। ऐसा लगा जैसे वह कालचक्र की धुरी पर जड़वत् बैठ गई हो। फिर क्षण भर बाद ही वह धरती पर ढुलक गई। स्पष्ट था कि उसमें बैठने की भी शक्ति नहीं रही। मेरे हाथ उसके

सिर की ओर गए। निश्चित रूप से मैं उसका सिर सहलाता, पर भैया का लिहाज करके रह गया।

“भाई, मुझे तो भूख लगी है, कोई व्यवस्था करो।” मैंने तनाव ढीला करने के लिए हँसते हुए कहा, “मालिनी ने तो अपनी भूख को मार डाला है, पर मैं किसीको व्यर्थ नहीं मारता।”

“मैंने भूख को मारा नहीं है, वह स्वयं मर गई है।” मालिनी प्रकृतिस्थ होते हुए बोली, “अब किसी तरह की भी भूख नहीं रही, तुम्हारे दर्शन की भी नहीं। मुझे तो कल्पना तक नहीं थी कि तुम मुझे दिखाई दोगे।”

“जीवन उन्हीं घटनाओं की समग्रता का नाम नहीं है, जो प्रत्याशित है; उसमें बहुत कुछ अप्रत्याशित भी है। उसकी अप्रत्याशितता ही उसकी अस्मिता का आधार है। उसमें रस भरती है। अब तुम्हीं समझो, हमारा आज अचानक आ जाना तुम्हें कितना अच्छा लग रहा होगा!”

मैंने देखा, वह पहली बार मुसकराई।

मैं बोलता गया—“मनुष्य इसी अप्रत्याशित के लिए जीता है। प्रत्याशित तो उसकी पकड़ में है, मुट्ठी में है। उसका सारा रस निचुड़ चुका होता है; पर अप्रत्याशित स्वप्न है, मधुमय आकांक्षा है। उसके पीछे दौड़ने में बड़ी सुखद अनुभूति होती है।”

मैंने ध्यान नहीं दिया। इस बीच कर्मा वहाँ से खिसक चुका था।

और जब वह एक बड़ी मटकी लेकर बाहर से आया, तब मेरी दृष्टि उस ओर गई।

यह दधि पात्र था। उसने उसे लाकर बड़ी विनम्रता से मेरी ओर बढ़ाया। उसे देखकर मैं मुसकराया अवश्य, पर मन में बड़ा संकोच हुआ—“मेरे कारण आपको इतना कष्ट उठाना पड़ा।”

“कष्ट क्या! यह तो हमारा सौभाग्य है, कन्हैया, जो आप लोग पधारे। इधर रात-दिन हम आपके ही बारे में सोचते रहे।” इस बार छंदक बोला, “अंधकार में कोई किरण दिखाई नहीं दे रही थी।”

“अब यही समझिए कि जिसके यहाँ गोरस कभी नालियों में बहा दिया जाता था, मेरे जैसे व्यक्ति को आज इतनी रात में गोरस के लिए बाहर जाना पड़ा।” कर्मा बोला।

“तो कहाँ चला जाता है आप लोगों का गोरस?” मैंने पूछा।

“सवेरे-सवेरे आकर मागधी सैनिक उठा ले जाते हैं।”

“मूल्य तो चुकाते ही होंगे?”

“अरे, आप भी क्या बात करते हैं! किसीका साहस है, जो मूल्य की बात करे! अरे, कंस के युग में भी ऐसी अनीति नहीं थी।” छंदक ने कहा।

सचमुच परिस्थिति भयावह थी। मेरा चिंतन उससे उलझने लगा।

“आप क्या सोचने लगे? आपको तो भूख लगी थी।” मालिनी बोली।

मैं हँस पड़ा—“ओ, अब समझा, कई दिनों के बाद दधि को सामने देखकर तेरी जीभ लपलपाने लगी है।”

हम सब हँस पड़े। मालिनी की आकृति पर भी मुसकराहट खिंच आई।

सचमुच मथुरा की दधि का स्वाद ही कुछ और होता है। बड़ी तन्मयता से हम भोजन करने लगे। अनिच्छा व्यक्त करने के बाद मालिनी ने भी कुछ लिया ही। बातों के क्रम में छंदक ने बताया—“सुना है, स्वागत की तैयारियाँ हो रही हैं?”

मैंने पहली बार धोखा खाया और बोल पड़ा—“क्या व्यंग्य करते हो! जिसको देखकर लोग अपने घरों का द्वार बंद कर लेते हों, भला उसके स्वागत की क्या तैयारी होगी?”

मेरे गलत समझने पर छंदक को हँसी आ गई—“मैंने आपके लिए यह स्वागत की बात नहीं कही थी!”

‘तब किसके लिए कही थी?’ मैंने पूछा तो नहीं, पर मेरी प्रश्नवाची मुद्रा उसका मुख देखती रह गई।

“आजकल मथुरा जरासंध के स्वागत के लिए तैयार हो रही है।” छंदक ने स्पष्ट किया।

“मथुरा तैयार हो रही है! बात कुछ समझ में नहीं आई।...और तुम्हारे होते हुए।” मैं बोला, “राजकीय नेत्र उसके स्वागत में लगे हों, यह तो बात मानी जा सकती है; पर मथुरा की जनता को इतना मरा हुआ नहीं होना चाहिए।”

“आपको अनुमान ही नहीं है कि जनता कितनी मरी हुई है!”

“तब उसमें प्राण फूँको, छंदक।”

“शव में प्राण फूँकने का सामर्थ्य छंदक में नहीं है, वह तो आप ही कर सकते हैं।”

“मैं तो करूँगा ही।” इतना कहते हुए मैंने बड़े नाटकीय ढंग से पांचजन्य निकाला और उसे फूँकने लगा। इस हताशा को मैंने अपनी नाटकीयता से झकझोरने की भरपूर चेष्टा की और बड़ी देर तक बजाता रहा।

पांचजन्य की आवाज विलक्षण थी। उसे सुनकर कुछ लोग अपने घरों से निकल आए। औरतें वातायनों से झाँकने लगीं—“लगता है, वे लोग आ गए हैं।” जिधर देखो, उधर से यही आवाज कि वे लोग आ गए हैं—“नहीं तो इतनी रात्रि में शंखध्वनि न होती।”

हम लोग भी बाहर निकले। चारों ओर उन्हींके आने की आशंका व्यक्त होती दिखाई पड़ी।

“देखा आपने जरासंध का आतंक!” छंदक बोला, “लोग समझते हैं कि यह शंखध्वनि उसीके आगमन की है।”

मुझे भी स्थिति गंभीर लगी।

थोड़ी देर बाद मैंने वंशी बजानी आरंभ की। उसी द्वार पर बैठकर बजाता रहा, पर कोई प्रतिक्रिया नहीं हुई।

जिस वंशी की ध्वनि पर सारा वृंदावन उमड़ आता था, मथुरा विचलित हो उठती थी, वहाँ अब कोई प्रतिक्रिया नहीं। कितनी बदल गई यह मथुरा!

मैं चुपचाप उठा और उन लोगों से बोला, “रात एक घड़ी बीत चुकी है। आप लोग विश्राम करें। फिर भेंट होगी।” और रथ पर सवार हो चलने को हुआ।

“अच्छा हो, आप इस समय राजभवन की ओर न जाएँ।” छंदक ने सावधान किया।

मैं समझ गया कि राजभवन मागधी सैनिकों से घिरा होगा। मैंने तुरंत रहस्यमय चमत्कारी भाषा का प्रयोग किया—“मैं कभी राजभवन की ओर नहीं जाता, छंदक! राजभवन ही मेरी ओर आता है।”

वह कुछ और कहे, इसके पूर्व ही मैंने हँसते हुए रथ आगे बढ़ाया।

□

जब अक्रूर चाचा के यहाँ पहुँचा, रात्रि की दूसरी घड़ी बीत रही थी। द्वार यहाँ भी भीतर से बंद था; किंतु अंदर के जागरण का आभास बाहर तक झलक रहा था। मैंने द्वार खटखटाया। पहली ही खटखटाहट पर उपदेव ने द्वार खोला और मुझे देखकर चकित रह गया। कल्पना से परे मेरे आगमन पर वह प्रसन्नता से चिल्ला पड़ा—“पिताश्री, भैया लोग आए हैं!”

वह हमारे गले मिले, इसके पूर्व ही उस घर में भूकंप आ गया। हर व्यक्ति द्वार की ओर दौड़ा। हमने देखा, पिता वसुदेव और माता देवकी भी वहीं हैं।

सबसे मिला। उचित अभिवादन किया।...और अंत में मैं एकदम अपनी माँ से लिपट गया।

“इतना बड़ा हो गया, पर तेरा बचपन नहीं गया।” वह बोली और मेरे मुख पर लगे दधि को पोंछने लगी। जल्दी-जल्दी मैं कर्मा के यहाँ दही खाने के बाद ठीक से मुँह धोना भूल गया था।

“दधि और मक्खन के प्रति बचपन की तेरी आसक्ति आज भी कम नहीं हुई!”

“तुझे जब भी देखता हूँ, मेरा बचपन मचल उठता है।” मैं झेंप मिटाते हुए बोला और उसकी गोद में बैठ गया।

ममता और वात्सल्य के संगम में हम कुछ समय तक डूबते-उतराते रहे।

फिर चाची गुणवंती और उपदेव हमारे भोजन की व्यवस्था में लगे। मैंने मना करते हुए कहा, “मैं कुछ नहीं खाऊँगा। मैंने खाया है।”

“वह तो तेरे मुख से ही लग रहा था।” इस बार अक्रूर चाचा हँसते हुए बोले।

हम फिर बातों में खो गए।

कुशल-क्षेम के बाद विद्याध्ययन, गुरुदक्षिणा आदि का सारा विवरण हम लोगों ने सुनाया। सभी हमारे पराक्रम और प्रतिभा पर चकित थे। पिताजी तो एकदम विह्वल हो बोल पड़े, “तू क्या नहीं कर सकता, बेटा! मेरा आठवाँ पुत्र जो है!”

हम लोगों को नारद की भविष्यवाणी याद हो आई।

“फिर कभी महर्षि पधारे थे?” मैंने पूछा।

“नहीं, बेटा। उसके बाद तो फिर इधर उनकी वीणा का स्वर भी नहीं सुनाई दिया।”

“तब अब क्या होगा मथुरा का?” मैंने पूछा।

“यही तो हम सब सोचते हैं।” अक्रूर बोले, “पर कोई मार्ग दिखाई नहीं देता है।”

“महाराज क्या कहते हैं?”

“वे क्या कहेंगे! भगवान् के नाम पर हाथ पर हाथ रखकर बैठे हैं।” चाचाजी बोले, “हर बात में वह तेरा ही स्मरण करते हैं। लगता है, उनका तू ही एकमात्र संबल है।”

“और यदि मैं न आता तो?”

“ऐसा वे विश्वास नहीं करते।” इस बार पिताजी ने कहा, “वे तो बहुधा कहते हैं कि देखना, आवश्यकता के समय वह अवश्य उपस्थित हो जाएगा।”

मैंने अनुभव किया कि मेरा ईश्वरत्व अभी यहाँ धुँधला नहीं पड़ा है। जहाँ मुझे इस अनुभूति से प्रसन्नता हुई, वहीं मैं जिम्मेदारी के बोझ से भी दब गया। मुझे लगा, हर आँख मुझपर गड़ी है। मैं हर पराजित और हताश की आशा का एकमात्र केंद्र हूँ। आखिर मैं क्या कर सकता हूँ?

मैं अपने में ही उलझा था कि बाहर से एक आर्त ध्वनि ‘बचाओ, बचाओ!’ हमसे टकराई। हम तीनों एकदम हड़बड़ा उठे। पर वहाँ बैठे लोगों पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा; जैसे वे ऐसी ध्वनियों के अभ्यस्त हो गए हों।

हाँ, गुणवंती चाची उठी अवश्य; पर सत्य का सामना करने के लिए नहीं वरन् उससे स्वयं को और छिपा लेने के लिए। बाहर का द्वार सामान्य रूप से बंद था। चाची ने उसपर साँकल चढ़ा दी। बाहर ‘बचाओ, बचाओ’ की आवाज और तेज होती गई। अब तो रथ की गड़गड़ाहट भी सुनाई पड़ने लगी। स्पष्ट लगा कि कुछ लोग किसीको बलात् कहीं लिये चले जा रहे हैं। उसके प्राणों का संकट है।

अब मुझसे रहा नहीं गया। मैं एक झटके से उठा और द्वार की ओर बढ़ा। बलदाऊ भैया तो मुझसे पहले ही उठ गए थे।

“अरे, कहाँ चले?” पिताजी ने रोकते हुए कहा, “यह तो यहाँ की नित्य प्रति की घटना है।”

कुछ ऐसी ही बातें अक्रूर चाचा और माँ देवकी ने भी कहीं। पर हमारी शिराओं में रक्त का संचार तेज हो चुका था। हम रुकने वाले नहीं थे।

तप्त हवा के झोंके की तरह जब हम घर के बार निकले तब वह रथ मेरे सामने आ चुका था। अरे, यह आवाज

तो पूर्व परिचित है। हमारी दृष्टि उस युवक की ओर गई, जो रथ के पीछे बँधा आगे के घोड़ों की गति में दौड़ने के लिए विवश था।

मैंने खींचकर चक्र चलाया और देखते-देखते वह लौह शृंखला कट गई, जिससे वह युवक बँधा था। युवक धड़ाम से मार्ग पर गिर पड़ा और रथ के घोड़े भी झटका खा गए। इधर मैंने उस युवक को उठाया और उधर मार्ग के किनारे रथ रुका—और उसपर के सैनिक कूद पड़े।

“कौन है रे?” अत्यंत असंस्कृत आवाज में बोलते हुए उन सैनिकों का मुखिया मेरी ओर लपका।

तब तक भैया ने उसपर हल का ऐसा प्रहार किया कि वह वहीं शेष हो गया।

“यदि यमराज के यहाँ जाना हो तो आगे बढ़ना।” भैया ने शेष सैनिकों को ललकारा। वे कुड़बुड़ाते हुए पुनः रथ में बैठकर भाग चले।

अब हम लोग उस युवक को सहारा देकर ले आए। उसके हाथ तो मुक्त हो गए थे, पर बेड़ियाँ अब भी उनमें झनझना रही थीं। ‘अरे, यह तो प्रभास है!’ द्वार पर आते-आते मैंने उसे पहचान लिया था। उसके घुटनों पर रक्त चुभचुभा आया था। निश्चित है कि वह घसीटा गया था।

अब तक उपदेव ने भी उसे पहचान लिया था।

जब हम उसको भीतर ले आए तब वह मेरे वक्ष से लगकर फफक-फफककर रोने लगा। ऐसा नहीं हो सकता कि अब तक उसने हमें पहचाना न हो; पर उसकी चेतना अब सामान्य धरातल पर आई थी।

कैसा आकर्षक और हृष्ट-पुष्ट था प्रभास! कभी मालिनी उसमें मेरा रूप देखती थी।...और मैं उसे मालिनी को सहेजकर ही उससे बिदा ले सका था। आज क्या हो गया है उसे? जीवन की सारी हरियाली को परिस्थिति का कौन सा दैत्य निगल गया? मेरी छाती से लगा यह प्रभास द्राक्षा-सा निचुड़कर अवशिष्ट रह गया है।

“घबराओ नहीं, सब ठीक हो जाएगा।” उसके मुंडित शीश पर उगे छोटे-छोटे बालों को सहलाते हुए मैंने कहा।

वह अब भी सिसक रहा था।

प्रकृतिस्थ होते ही उसका पहला आग्रह था—“मेरी माँ को किसी तरह सूचना पहुँचाइए कि मैं सकुशल हूँ; क्योंकि ये निर्दय सैनिक उसीके पास से मुझे घसीटते हुए ले आए थे और वह मूर्च्छित हो गिर पड़ी थी।”

“वह इतनी जल्दी धैर्य नहीं खो सकती, उसका जीवत मैंने देखा है।” मैंने सुवासिनी के बारे में कहा।

“जब देखा था तब देखा था।” प्रभास बोला, “पिताजी की मृत्यु के बाद उसका सारा धैर्य चूर हो गया।”

प्रभास ने जो कुछ कहा, उसका सारांश था कि वृक्ष के कट जाने के बाद उसपर से गिरी लता की तरह वह भूलुंठित हो चुकी है। उसकी श्री और शौर्य धूल में मिल चुका है।

आश्चर्य है कि सब लोग वहाँ खड़े थे। हमारे अतिरिक्त चाचा, चाची, पिताजी, माँ, उपदेव सभी थे। मात्र विस्फारित नयनों से उसे देख रहे थे। उनके कान उसकी लाचारी को सुनते हुए भी बहरे लग रहे थे।

मैंने उसे भीतर बैठाया। ओषधि मिला उष्ण दूध उसे पिलाया। फिर भी उसकी घबराहट कम नहीं हुई। वह अपने से कहीं अधिक अपनी माँ के संबंध में चिंतित था; पर किया क्या जा सकता था! रात आधी से अधिक बीत चुकी थी।

इसी बीच मेरी दृष्टि माँ देवकी पर पड़ी। उसने संकेत से भीतर बुलाया।

“तुम इस सब झमेले में अपने को क्यों डालते हो?”

‘तुम ऐसा कह रही हो?’ मैं माँ से कहना चाहता था; पर कुछ बोल नहीं पाया। केवल मुसकराता रह गया—और सोचने लगा कि मथुरा की इस विषम स्थिति के समक्ष माँ के मन में बैठा मेरे प्रति देवत्व का विश्वास भी लड़खड़ा

गया है।

वह बोलती रही—“तुम यों ही जरासंध की दृष्टि में गड़े हो। वह तुम्हारे प्राणों का भूखा है। फिर भी तुम नई-नई विपत्तियाँ मोल लिये रहते हो।”

“क्या करूँ, माँ, बचपन से यही होता आया है। मैं विपत्ति के पास नहीं जाता, वह स्वयं ही मेरे पास चली आती है।” मैंने अपनी स्वाभाविक मुसकराहट के बीच कहा, “और जो अपनी शरण में आ जाए, उसे ठुकराना नहीं चाहिए।” मैंने यह बात विपत्ति से अधिक प्रभास के लिए कही थी।

इस बीच मुझे लगा कि कोई बाहर का द्वार खटखटा रहा है। सभी लोग तो वहाँ हैं, कोई-न-कोई खोल देगा। पर ऐसा नहीं हुआ। किसीने द्वार नहीं खोला। थोड़ी देर के बाद फिर खटखटाहट हुई। माँ के कान खड़े हुए।

“देखा, सैनिक आ पहुँचे। अब क्या होगा?”

इस बार मैंने अपनी बनावटी हँसी पुनः बिखेरी—“तुम इतनी व्यग्र क्यों हो, माँ?”

“तू माँ का हृदय नहीं समझता, बेटा। तेरे सिर पर मुझे कंस के सिर पर लटकती तलवार से भी बड़ी तलवार दिखाई दे रही है।”

“तो उस तलवार का भी वही परिणाम होगा, जो कंस के समय की तलवार का हुआ है।” मैंने कहा और एकदम वहाँ से चल पड़ा; क्योंकि मुझे द्वार की खटखटाहट निरंतर सुनाई पड़ रही थी।

विचित्र था कि बाहर का व्यक्ति केवल खटखटाए जा रहा था, बोल नहीं रहा था।

द्वार की ओर जाते हुए मैंने देखा, लोग एक-दूसरे का मुँह देखते हुए खड़े हैं। कोई द्वार खोल नहीं रहा है। खटखटाहट की निरंतरता ज्यों-की-त्यों बनी है।

मैं आगे बढ़ा। चाचा ने रोकते हुए कहा, “समझ-बूझकर दरवाजा खोलना।”

“कोई बात नहीं, मैं तैयार हूँ।” भैया बोले। उन्होंने अपना आयुध हाथ में लेकर आक्रामक मुद्रा बना ली थी।

“आप लोग इतने व्यग्र क्यों हैं?” मुझे फिर हँसी आई।

“शत्रुओं के आने पर व्यग्रता स्वाभाविक है।” इस बार पिताजी बोले।

“पर मैं खटखटाहट पहचानता हूँ।” मैंने मुसकराते हुए कहा, “यह शत्रु की खटखटाहट नहीं है।”

“तुम विश्वासपूर्वक कह सकते हो?” चाची बोली।

“हाँ।” अब मेरी मुसकराहट हँसी में बदल चुकी थी—“यदि शत्रु या सैनिक होते तो वे खटखटाहट के साथ चिल्लाते और ललकारते भी; पर यह तो बड़ी निरीह खटखटाहट है। लगता है, कोई शरणागत है।”

मेरे तर्क के समक्ष सभी मौन हो गए। मैंने एक झटके से द्वार खोल दिया और आगंतुक को देखते ही चौंक पड़ा।

“मैंने क्या कहा था! लीजिए, यही है न हमारा शत्रु!” उसे सबको दिखाते हुए कहा।

पर अपने लोगों पर कोई विशेष प्रतिक्रिया नहीं हुई। केवल भैया अपनी खीज मिटाने के लिए मुसकराते रहे।

आगंतुक कोई और नहीं, छंदक था।

“मुझे विश्वास नहीं था कि आप यहाँ होंगे।” छंदक बोला।

“क्यों?”

“क्योंकि द्वार खुलने में काफी देर हुई। मथुरा आजकल रात को द्वार खोलने में बड़ी सावधान रहती है—और रहना भी चाहिए, क्योंकि आज किसीका भी जीवन सुरक्षित नहीं है।” छंदक बोला और मुझे संबोधित करते हुए कहा,

“पर आपने भी सावधानी बरती, यह शुभ लक्षण नहीं है।”

“शुभ लक्षण तो आपका इस समय पधारना भी नहीं है।” मैंने बात बदलते हुए कहा।

“मैं तो तात को सूचना देने आया था कि आपका आगमन मथुरा में हो चुका है। मुझे क्या पता था कि आप यहाँ पधार चुके हैं!”

इसके बाद छंदक को लोगों ने ससम्मान बैठाया। फिर उसने प्रभास की दशा और बाहर हुई हत्या के संबंध में स्वयं बातें आरंभ कीं। उसने कहा, “तब तो आपके पधारने की सूचना राजभवन तक पहुँच गई होगी। भागे हुए सैनिकों ने सबकुछ बता दिया होगा।”

“चलो, अच्छा हुआ, जो समाचार सवेरे तक पहुँचता, वह मध्य रात्रि में ही पहुँच गया।” मैंने कहा और अचानक अपनी मुद्रा बदली—“तुम्हें एक काम करना होगा और वह भी अभी, इसी समय।”

छंदक की ही नहीं, और लोगों की भी मुद्राएँ प्रश्नवाची हो गई।

“आप प्रभास को देख रहे हैं न? इसकी माँ को सूचना देनी है कि यह सकुशल है।”

“सवेरे तक तो यह सूचना स्वयं पहुँच जाएगी।” छंदक बोला।

“पर तब तक क्या उसके प्राण रह पाएँगे, इसमें संदेह है!” प्रभास पुनः गिड़गिड़ाया।

मुझे कुछ बोलना नहीं पड़ा। छंदक स्वयं बोला, “हाँ, यह समस्या तो है; क्योंकि मेरी सूचना के अनुसार मागधी सैनिक अपने राजकुमार की हत्या का बदला प्रद्योत का पूरा परिवार समाप्त कर लेंगे।”

“वृत्घ्न की हत्या तो प्रद्योत ने की थी, या उसके परिवार ने?” चाचाजी बोले।

“अक्रूरजी, आप सचमुच बड़े सीधे-सादे व्यक्ति हैं। राजनीति को गंगा की धारा समझते हैं; पर यह नहीं जानते कि जब प्रतिहिंसा की तलवार खून की प्यासी होती है तब परिवार के रक्त का अंतिम बूँद भी चाट लेने पर नहीं अघाती।” छंदक की आकृति की झुर्रियों में प्रभास के परिवार की चिंता स्पष्ट उभर आई।

इसके बाद वह रुका नहीं। चुपचाप चला गया। उसके अचानक चल पड़ने पर लगभग सभी चकित थे। पिताजी तो बोल ही पड़े—“अद्भुत है यह छंदक भी! भय तो जैसे इसे छू तक नहीं गया है।”

“इसने अपना भय अपने आराध्य देव के चरणों में चढ़ा दिया है।” मैं बोला। और मुझपर आरोपित ईश्वरत्व एक विचित्र हँसी हँसने लगा। सब एकटक मुझे देखते रह गए।

रात में सोते समय पिताजी ने मथुरा की वर्तमान राजनीतिक स्थिति का समूचा चित्र खींचा और बताया—“जरासंध का क्रोध कुछ भी करने को उतारू है। चेदि के दमघोष, विदर्भ के राजकुमार रुक्मी, त्रिगर्त के सरदार वरद, राजा शाल्व और कइयों को उसने मथुरा पर चढ़ाई करने में सहयोग देने के लिए आमंत्रित किया है।”

“पर मुझे तो सूचना थी कि नानाजी बहुत सारे अस्त्र दमघोष के यहाँ से माँगवाते हैं?” मैंने कहा।

“यही तो विडंबना है, वत्स! वह अस्त्र हमारे यहाँ बेचता है और आक्रमण में जरासंध का साथ देगा।” चाचाजी ने कहा, “वह दोमुँहा साँप है, साँप।”

“तो क्या वह दोनों ओर से काटेगा?” मुझे फिर हँसी आ गई।

“जिसके दोनों ओर विषदंत होंगे, वह तो काटेगा ही।” भैया बोले।

“पर वह इतना नीच नहीं था।” मैंने कहा।

“उसमें तो कुछ मानवता अवश्य है, पर नीच है उसका पुत्र शिशुपाल।” चाचा बोले और कुछ क्षणों के लिए उदासी छा गई।

“आप लोग भयाक्रांत अधिक हैं। भय में अपनी छाया भी प्रेत दिखाई देती है।” मैंने कहा और उनके टूटते विश्वास को सँभालते हुए बोला, “चारों ओर हमारे शत्रु ही शत्रु हैं या कोई मित्र भी है? आखिर यहाँ के यादवों का क्या हाल है? मामाजी की मृत्यु के बाद तो वे भी यादव चले आए थे, जिन्होंने या जिनके पूर्वजों ने कभी मथुरा छोड़ दी

थी।”

“वे तो और अधिक निराश हैं। वे कहते हैं, जो राजा हमारी रक्षा नहीं कर सकता, वह हमारा पालन क्या करेगा!” पिताजी बोले।

उपदेव बीच में ही कूद पड़ा—“मैंने तो यह भी सुना है कि मागधी गुप्तचरों ने उनमें प्रचारित करा दिया है कि मगध नरेश के आते ही आपके दिन लौट आएँगे। वे सबसे अधिक ध्यान आप लोगों पर ही देंगे; क्योंकि आप लोगों ने बड़ा कष्ट पाया है। कंस के समय में भी दर-दर भटकते रहे और आज भी आपकी उपेक्षा हो रही है।”

“इसका तात्पर्य यह है कि मागधियों ने जनमत भी अपने पक्ष में करने की चेष्टा की है।” मैंने कहा और स्वयं चिंता में खो गया।

इसके बाद राजभवन के घंटे सुनाई पड़े। रात्रि का दूसरा प्रहर भी बीत गया। अब तक सिरहाने टहलनेवाली नींद पलकों पर सवार होने लगी थी।

□

ब्राह्म मुहूर्त के बाद भी मैं सोता रह गया। किसीने मुझे जगाया नहीं। यहाँ तक कि भैया भी उठकर प्रातः की आराधना के बाद उद्यान में व्यायाम करने चले गए थे।

केवल उद्धव मेरे पर्यंक पर बैठा चुपचाप मेरा पैर सहला रहा था।

जब मेरी नींद खुली, मैं हड़बड़ाकर उठ बैठा और इतनी देर तक सोने की खीज मिटाते हुए उद्धव से बोला, “तुमने भी मुझे जगाया नहीं!”

“जगाने के लिए ही पैर दबा रहा था; पर आप इतनी गहरी नींद में सोए थे कि मुझे आपको जगाने का साहस न हुआ।”

मैंने उठते ही प्रभास के बारे में पूछा। पता चला कि वह सवेरा होते ही चला गया। उसे अपनी माँ की अत्यधिक चिंता थी। कौन जाने, छंदक उसका समाचार दे पाया हो या न दे पाया हो, या मार्ग में किसी और स्थिति से उलझ गया हो।

मैंने अनुभव किया कि कितने अविश्वास और अनिश्चितता में जी रही है मथुरा।

इसके बाद मैं नित्यकर्म में व्यस्त हो गया।

थोड़ी देर बाद मुझे सूचना मिली कि कुछ मथुरावासी उद्यान की ओर मेरे दर्शन की प्रतीक्षा में बैठे हैं और ज्यों-ज्यों समय बीतता जा रहा है, उनकी संख्या बढ़ती जा रही है।

जब मैं उद्यान की ओर आया तो मैंने देखा कि अच्छी भीड़ हो गई है। मुझे देखते ही सारा जन-समुद्र जय-जयकार करने लगा। कुछ ने तो मुझे घेरकर प्रसन्नता में नाचना भी शुरू कर दिया।

थोड़ी देर बाद जब उन्माद थमा तब मुझे हर आकृति पर बस एक ही बात लिखी दिखाई पड़ी—‘तुम मेरे तारणहार हो, एकमात्र आशा कोत हो।’

मैंने सबका अभिवादन स्वीकार करते समय, सबको वहीं बैठ जाने का संकेत किया और स्वयं भी एक शिलाखंड पर बैठ गया।

मैं कुछ कहूँ, इसके पहले ही एक बूढ़े की पकी हुई आवाज सुनाई पड़ी—“हम लोग डूब रहे थे कि अचानक आपके आगमन की सूचना मिली।”

“अब हमें उबारो, नाथ।” यह दूसरी व्यग्र आवाज थी।

इसी तरह की कई आवाजें एक के बाद एक उभरीं; पर मैं मुसकराता ही रहा और उसी मुसकराहट के बीच बोला,

“मैं क्या कर सकता हूँ?”

“आप सबकुछ कर सकते हैं। जो छंदक को आँखें दे सकता है, इंद्र का गर्व चूर कर सकता है, जो कालिय नाग को नाथ सकता है, जो यम को परास्त कर सकता है, वह क्या नहीं कर सकता!” कई आवाजें एक साथ उठीं।

मैंने समझ लिया कि छंदक का प्रचार तंत्र काम कर रहा है। उसने रातोंरात मेरे आने के साथ-साथ आचार्य सांदीपनि के पुत्र की मुक्ति की सारी कहानी मथुरा में बिखेर दी है, जिससे मथुरावासियों की बुझती आशा एक बार फिर भभक उठी है।

“डूबते को केवल लहर बचा सकती है।” मैंने बड़ी गंभीरता से लोगों से कहा, “देखिए, मनुष्य डूबता है, पर शव नहीं डूबता; क्योंकि वह लहरों के प्रति समर्पित हो जाता है। आप भी नियति की लहरों के प्रति समर्पित हो जाइए, वह आपको किसी-न-किसी घाट पर अवश्य लगा देगी।”

“पर हम तो आपके ही प्रति समर्पित हैं।” भीड़ चिल्लाई।

“जब आप मेरे प्रति समर्पित हैं तब सारी चिंता मुझपर छोड़ दीजिए और आनंदपूर्वक रहिए।” मैंने बड़े विश्वास से कहा और भीड़ आशानिमग्न हो गई। थोड़ी देर बाद लोग अभिवादन कर चलते बने।

अभी कुछ लोग थे ही कि सूचना मिली कि मुख्य द्वार की ओर मागध सेनाधिप पधारे हैं। उनके स्वागत में पिताजी भी चाचाजी के साथ वहाँ उपस्थित हैं।

मैंने भैया को साथ लिया और चाचाजी को भी। भीड़ उस ओर चली तो अवश्य, पर हमसे दूर रही।

मैंने उसे देखते ही पहचान लिया—‘अरे, यह तो विक्षर है!’ मैंने बड़े सहजभाव से पूछा, “कहिए, कैसे कष्ट किया?”

वह कुछ बोला नहीं, केवल हमें घूरकर देखता रहा। ऐसा लगा जैसे वह हमें कच्चा निगल जाएगा। मैं मुसकराता रहा। मेरी मुसकराहट उसके आक्रोश के जलते तवे पर झनझनाती रही।

“इतने गौर से क्या देख रहे हो? लगता है, पहचान नहीं रहे हो क्या?” निश्चित रूप से मैंने उसे चिढ़ाने के लिए कहा था, जिससे उसका क्रोध एकदम बलबला उठे—और हुआ भी कुछ ऐसा ही।

“मैंने जो कुछ सुना था, वह ठीक निकला।” उसकी आवाज काफी टेढ़ी थी।

“क्या?”

“यही कि आप मथुरा में फिर आग लगाने आ चुके हैं।”

“आग लगाने नहीं वरन् आग बुझाने।”

“राजाज्ञा है कि आप अविलंब उपस्थित हों।”

“राजाज्ञा नहीं, नाना का बुलावा कहिए।” मेरा भी स्वाभिमान जागा—“मुझपर कोई राजाज्ञा प्रभावी नहीं हो सकती; क्योंकि मैं मथुरा की प्रजा नहीं वरन् अतिथि हूँ। अतिथि से मात्र अनुरोध किया जा सकता है, उसे आज्ञा नहीं दी जा सकती।”

“पर आप अपराधी भी हैं।”

इतना सुनना था कि भैया आपे से बाहर हुए—“तो तुम मुझे बंदी बनाने आए हो!”

“यदि आवश्यकता पड़ी तो वह भी किया जाएगा।”

विक्षर का इतना कहना था कि भैया ने हलायुध चला ही दिया। विक्षर ने तत्काल मुड़कर अपने को बचा लिया; पर उसका अश्व जमीन पर गिरकर छटपटाने लगा।

मुझे फिर बीच-बचाव करना पड़ा। मैंने रथ को सँभाला और विक्षर को समझा-बुझाकर उसपर बैठाया। उसका

रथ पराजय का अनुभव करता हुआ बिदा हुआ।

धधकती मथुरा में हमारी ओर से घृत की यह पहली हवि थी। आग और जोर से जल उठी; पर जनता में विश्वास बढ़ा कि हमारा तारणहार फिर हमारी रक्षा के लिए आ गया है।

भगवान् भास्कर आकाश में चढ़ते गए। समय मध्याह्न की ओर बढ़ता गया।

थोड़ी देर बाद हम भी रथ पर चढ़कर राजभवन की ओर चले। हमें नानाजी का आशीर्वाद लेना था। इस बार हमारे साथ उपदेव भी था। पिताजी और चाचाजी ने सुरक्षा की दृष्टि से हमें बार-बार सावधान किया था।

जब हमारा रथ राजपथ पर चला जा रहा था, चारों ओर हमें देखनेवालों की भीड़ उमड़ आई थी। कुछ लोग हमारा जय-जयकार भी कर रहे थे; पर अधिकांश दबे-दबे और सहमे-सहमे थे। मेरे आने का प्रचार तो छंदक ने भरपूर किया था, पर उसका असर बहुत प्रभावशाली नहीं लग रहा था। मैंने अनुभव किया कि मथुरा की हताशा में प्राण फूँकना अब आसान नहीं रहा।

जब मैं राजभवन में पहुँचा तो वहाँ का वातावरण भी अत्यंत क्षुब्ध लगा। निश्चित रूप से वह हमारे अनुकूल नहीं था। मुख्य द्वार पर ही विशाल हाथी पर सवार कुलिक दिखाई दिया।

आपको याद होगा कि अंगारक के स्थान पर इस मागधी हस्तिपाल की नियुक्ति की गई थी। हाथी के स्वर्ण हौदे पर वह इतने ठाट से बैठा था मानो मथुरा का अधिपति ही हो।

आश्चर्य! मुझे द्वार पर ही रोक लिया गया। पूछताछ आरंभ की गई—“क्या आपने ही मध्य रात्रि में सैनिकों की हत्या की थी? क्या आपने ही हमारे सेनापति विक्षर पर बिना उसे सावधान किए प्रहार किया था?”

“तुम कौन होते हो ये प्रश्न पूछनेवाले?” मुझे क्रोध आ गया।

“मैं नगर का प्रशासक हूँ और मेरे पास आप लोगों के विरुद्ध आरोप आए हैं।”

“मैं न तो तुम्हें प्रशासक मानता हूँ और न मैं प्रशासक से मिलने आया हूँ। मैं तो अपने नानाजी का आशीर्वाद लेने आया हूँ।”

पर वह माननेवाला कहाँ था। तू-तू मैं-मैं होता रहा। बात काफी बढ़ चली। मैंने भी अपना चक्र सँभाल लिया था; किंतु अचानक अंतःपुर की ओर से माया आ गई। उसने मेरा झुककर अभिवादन किया। उसने कुलिक को भी डाँटने के स्वर में कहा, “आप लोग व्यर्थ बात बढ़ा रहे हैं। अपने नाना से मिलने में नातियों को कौन रोक सकता है?”

फिर वह हमसे बोली, “आप लोग चलिए, महाराज!”

हमारा रथ आगे बढ़ा।

यह माया उग्रसेन की बड़ी पुरानी दासी है। उनकी वास्तविक सेविका को हटाकर कंस ने कारागार में अपने पिता की सेवा में भेजा था; पर सेवा करना उन दिनों इसका गौण कार्य था। मुख्य कार्य था नानाजी की प्रत्येक गतिविधि की कंस को सूचना देना।

आज भी उसके दृष्टिकोण में कोई परिवर्तन नहीं है। उद्धव ने बताया कि जब हम लोग अंतःपुर से होते हुए महाराज के कक्ष में जा रहे थे तो माया किसीको बरजती हुई कह रही थी, ‘मागधी सैनिक तो एकदम उतावले हो रहे हैं। वे समय और स्थिति का ध्यान भी नहीं रखते। आज ही वे महाराज के नातियों से व्यर्थ उलझ रहे थे। अरे, दो-चार दिनों की तो बात रह गई है। तब ये जो चाहें, वह करें; पर अभी तो शांत रहें। यदि अभी से इन्होंने उतावलापन दिखाया, मारधाड़ शुरू कर दी तो ये छोकरे भी कम नहीं हैं। लेने के देने पड़ जाएँगे।’

वय के अनुभव और मथुरा की बदलती राजनीति ने माया की समझ को इतना परिपक्व बना दिया था। निश्चित

रूप से वह सत्तर-पचहत्तर की हो चली थी। हम लोगों ने अनुभव किया कि राजभवन पर उसका प्रभाव भी है, अन्यथा 'प्रशासक' नाम का वह जीव इतना जल्दी शांत न होता।

हम लोग जब महाराज के कक्ष में पहुँचे, वे पूजन से निवृत्त हो मध्याह्न के सूर्य को अपने काँपते हाथों से अर्घ्य चढ़ा रहे थे। शायद उन्हें हमारे आगमन की सूचना नहीं मिली थी। आश्चर्य है, मथुरा में हमारे पदार्पण से सारा राजभवन अवगत था, पर महाराज अनभिज्ञ ही रहे। कैसी दयनीय है उनकी प्रशासनिक स्थिति!

ज्यों ही उन्होंने पीछे मुड़कर हमें देखा, एकदम लपक पड़े। मुझे छाती से लगाकर ऐसे विह्वल हुए जैसे कोई सुखद स्वप्न देख रहे हों। हमारा अप्रत्याशित मिलना उन्हें चकित तो कर ही रहा था, साथ-ही-साथ उनके आनंद में वृद्धि भी।

मुझसे लिपटते ही उनके धैर्य का बाँध टूट गया। वह बहुत देर तक रोते रहे। पता नहीं कब की बँधी धारा बह निकली थी। वह मुझे छोड़ना नहीं चाहते थे। मेरी बगल में भैया और उद्धव चुपचाप खड़े रहे।

अंत में आप यही समझिए कि मैं उन्हें सिंहासन पर बैठा नहीं पाया, उन्हें पर्यंक पर लिटाना पड़ा। वह एकदम टूट चुके थे। जब मैंने उन्हें कारागृह से निकाला था, तब वे इतने शिथिल नहीं थे। मैंने उनका सिर सहलाया। वे शांत हुए। फिर उनका पैर दबाने लगा। वे एकदम उठ बैठे।

“अरे, यह क्या कर रहे हो?” उन्होंने मुझे हटाते हुए कहा।

“अच्छा हुआ कि तुम आ गए। इधर मैं बराबर तुम्हींको याद कर रहा था।”

मैं मुसकराया। मेरी मुसकराहट पूछ रही थी, ‘किसलिए?’

“इस कारा से मुक्त होने के लिए।” उनकी भर्राई आवाज एक बार फिर आँसुओं में भीग गई।

“पर अब तो आप परम स्वतंत्र हैं।” मैंने कहा।

“तुम समझ नहीं पाओगे, कन्हैया।” वे बोले, “नख-दंतहीन बूढ़े सिंह के लिए उसकी वृद्धता ही कारा हो जाती है, कन्हैया!...और मेरे लिए तो प्रासाद की हर प्राचीर कारा की प्राचीर है। मैं कहने को राजा अवश्य हूँ; पर आज राजसिंहासन भी मुझे चिढ़ाता है और मुझसे पूछता है कि तुम कैसे राजा हो? तुम्हारा महामात्य मारा गया और तुम्हें सूचना तक नहीं मिली। तुम्हें आभास उस समय लगा, जब उसकी शवयात्रा निकलने वाली थी।...कितनी देर तक उसके कटे अंग मेरे उद्यान में पड़े रहे और मैं एकदम अनजान था।” उनकी इस सिसकन से स्पष्ट लगा कि घाव गहरा है।

इसके बाद वे बड़बड़ाते रहे। पता नहीं भीतर कब का भरा था, वह फूट पड़ा और एक साँस में उन्होंने अपनी सारी स्थिति स्पष्ट कर दी।

जो कुछ उन्होंने बताया, उसका सारांश था—“अब मैं वृद्ध और दुर्बल हूँ। आँखों में अंधेरा घिरने लगा है। किसका भरोसा करूँ और किसका न करूँ? तुम्हारे पिता वसुदेव आवश्यकता से अधिक भले हैं। अक्रूर संत हैं। वृद्ध बाहुक अंधक, प्रद्योत आदि चल बसे या मारे गए। जो मागधी सैनिक तुम्हारे समय में चले गए थे, वे मार्ग से ही लौट आए। उन्होंने कंस के पुराने सैनिकों के साथ मुझे चारों ओर से घेर रखा है। अब मेरा सिंहासन भी मेरे साथ विश्वासघात करता मालूम होता है। राजमुकुट भी बोझ लगता है। सोचता हूँ कि सबकुछ छोड़कर संन्यास ले लूँ; पर अब भी कुछ शुभेच्छु मुझे छोड़ना नहीं चाहते हैं।”

इसी बीच माया ने प्रवेश किया। उसे देखते ही वे जैसे भभक पड़े—“अब इसे ही देखो, यह मेरी परिचारिका है। मेरी छाया की तरह मेरे साथ लगी रहती है। पर कभी-कभी यह छाया भी मुझे डरावनी लगती है।”

“आप क्या कह रहे हैं, महाराज?” माया ने प्रतिरोध किया—“यदि ऐसा है तो मैं नितांत अभागिन हूँ।”

“तुम चाहे जो समझो, पर इस समय मैं स्वयं को छिपा नहीं पा रहा हूँ।” महाराज बोलते रहे—“आज मैं खुल रहा हूँ और मुझे खुल जाने दो।” महाराज थोड़े आवेश में आ गए थे—“यह तो तुम जानते ही हो कि कारागार में मेरी परिचारिका हटाकर कंस ने इसे मेरी सेवा में भेजा था। सेवा तो इसने की भी, साथ में गुप्तचरी भी की।”

माया बीच में ही फफक पड़ी—“आप यह नहीं कह सकते कि मैंने आपकी सेवा में कोई कमी रखी।”

“नहीं, यह मैं कहाँ कह रहा हूँ? तुम्हारी निपुणता सदा अपने कार्य में लगी रही।” इसके आगे शायद वे कहना चाहते थे कि ‘इसने अपना स्वामी कंस को तथा उसकी मृत्यु के बाद सदा मागधियों को माना और उन्हींके प्रति उत्तरदायी रही।’

मैंने उन्हें रोकते हुए कहा, “आप चाहे जो कहें, पर आज मैं माया की कृपा से आप तक आ सका हूँ।” इस संदर्भ में द्वार पर हुई घटना का मैंने संक्षिप्त वर्णन सुनाया। महाराज शांतभाव से सुनते रहे। माया गर्वित अनुभव करती हुई चुपचाप खड़ी रही।

फिर मैंने माया से कहा, “तुम इतनी भली हो, फिर भी नानाजी की धारणा तुम्हारे प्रति ऐसी क्यों है?”

“यह मेरा दुर्भाग्य है!” औरतों की आँखों के हमेशा के पहरेदार आँसू दुलक आए—“सोचती हूँ, अब चाकरी से अवकाश ले लूँ। इतनी लंबी मेरी सेवा का पुरस्कार यदि अविश्वास है, तो इससे अच्छा है कि मैं यहाँ से दूर ही हो जाऊँ।”

“जरासंध के आक्रमण के समय तो सबको दूर-दूर हो जाना ही है। तू अभी से इतना क्यों घबरा रही है?”

“क्यों, जरासंध सचमुच आक्रमण करने वाला है?”

नानाजी की अनभिज्ञता अद्भुत थी। जिसे नगर का हर व्यक्ति जान रहा था, नानाजी उससे भी अनजान थे। मुझे हँसी भी आई और इस स्थिति से दुःख भी हुआ।

मैंने पूछा, “क्यों? आपको नहीं मालूम?”

“मुझे कौन बताने वाला है!” बड़ी निरीहता थी उनकी वाणी में—“किंतु मुझे कुछ आभास लग गया था; पर मैं पूरी स्थिति से अवगत नहीं।” उनकी आवाज टूटती गई—“अक्रूर और वसुदेव भी नहीं आते। आचार्य गर्ग कभी-कभी आ जाते हैं; पर वे इधर-उधर की ही बातें करते हैं।”

“और छंदक?” मैंने बीच में ही पूछा।

“वह तो बहुत दिनों से नहीं आया। लगता है, मथुरा में नहीं है।” नानाजी ने कहा और मैंने समझ लिया कि लोगों को यहाँ तक आने नहीं दिया जाता।

फिर मैंने माया को संबोधित करके पूछा, “तू भी महाराज को सूचना नहीं देती?”

“क्या करूँगी सूचना देकर! कोई मेरा विश्वास करे तब तो।” वह बोली, “फिर मुझे सूचना मिलेगी कहाँ से? मैं तो दिन-रात यहीं रह जाती हूँ।”

मैंने कुछ कहा नहीं, केवल माया को एकटक देखता रहा। मेरी आँखें मानो उससे कहती रहीं—‘कोई भी मेरी दृष्टि से छिप नहीं सकता। मैं तुम्हारे व्यक्तित्व के हर पृष्ठ को पढ़ गया हूँ।’

माया समझ गई। वह चुपचाप वहाँ से खिसकने को हुई, पर खिसकी नहीं।

अब हमने मथुरा की वर्तमान स्थिति से उन्हें अवगत कराना आरंभ किया। वे चकित हो सुनते रहे। उनकी आकृति की झुर्रियाँ खिंचती गईं। तनाव बढ़ता गया—और मैंने जब यह कहा कि जरासंध की सेनाएँ मथुरा पर आक्रमण करने के लिए चल पड़ी हैं, तब वे एकदम चौंक उठे।

“अभी तो मेरी बहुएँ वहाँ से लौटी नहीं हैं।” नानाजी बोले। फिर पूछा, “हमें क्या करना चाहिए?”

मैंने भैया की ओर देखा। वे बोले, “हमें एक युद्ध परिषद् बनानी चाहिए।”

“और उस युद्ध परिषद् में माया को जरूर रखिएगा।” मैंने बड़े व्यंग्यात्मक ढंग से उस ओर अँगुली उठाते हुए कहा।

वह तिलमिला उठी और चुपचाप वहाँ से चल पड़ी।

□

मध्याह्न होते-होते हमारी उपस्थिति की सूचना लगभग हर व्यक्ति को लग गई थी। एक ओर जरासंध के आक्रमण की चर्चा थी तो दूसरी ओर हमारे उपस्थित होने की। डूबती मथुरा को तिनके का नहीं वरन् तरणी का सहारा मिला। आज उसका तारणहार उसके पास है, जो वंशी के स्थान पर पांचजन्य बजाएगा, यम का पांचजन्य।

मेरे यश की गंध के लिए छंदक वायु हो गया था। शायद इसीलिए मथुरा के कोने-कोने तक मेरी चर्चा पहुँच गई।

नानाजी तो चाहते थे कि मैं राजभवन में ही रहूँ। उन्होंने कई बार कहा भी। माया ने सामान्य अतिथिकक्ष की सफाई आदि भी करा दी थी। पर चलते समय चाचाजी ने स्पष्ट कहा था—‘जा तो रहे हो, पर वहाँ पर ठहरना मत। राजभवन आजकल निरापद नहीं है।’ फिर माया ने अतिथिभवन की तैयारी में इतनी तत्परता दिखाई कि हमारा संदेह और भी दृढ़ हो गया।

अधिकांशतः हर परिस्थिति से स्वयं को निरपेक्ष रखनेवाले भैया भी बोल पड़े—“लगता है, यहाँ षड्यंत्र का जाल माया के धागे से ही बुना जा रहा है।”

मैंने नानाजी से कहा, “मेरी भी इच्छा यहाँ रहने की थी, पर माता के आदेश से विवश हूँ।”

“तो क्या उसका आदेश है कि तू नानाजी के पास न रहे?”

“नहीं।” मुझे हँसी आ गई—“वह चाहती है कि मैं उसके पास ही रहूँ। वह तो इस समय भी मुझे नहीं छोड़ पा रही थी।”

“तो तू उसे भी राजभवन में बुला ले।”

कुछ समय के लिए मैं, भैया और उद्धव एक-दूसरे का मुँह देखते रह गए।

“क्या सोचने लगे?”

“सोच रहा हूँ, आप ठीक कहते हैं। पर राजभवन से दूर रहकर राजभवन को अच्छी तरह देखा जा सकता है।”

नानाजी बड़े सहजभाव से बोले, “तुम्हारा तात्पर्य क्या है?”

“तात्पर्य तो स्पष्ट है, नानाजी। जैसे आँख में रहकर आँख को नहीं देखा जा सकता, उसको देखने के लिए तो आँखों से बाहर आना पड़ेगा, वैसे ही राजभवन को देखने के लिए राजभवन से बाहर रहना पड़ेगा।”

“तो क्या अक्रूर के आवास से यह कुछ दूसरा दिखाई देता है?”

“जी हाँ, दूसरा दिखाई देता है—बिल्कुल दूसरा, धुआँ उगलता हुआ।”

इतना सुनते ही उनके नेत्र विस्फारित हो गए। वह कुछ क्षणों तक मौन रहकर सोचते रहे। फिर बड़ी घबराहट में बोले, “तो मैं भी राजभवन से निकलकर राजभवन को देखना चाहता हूँ।”

“राजा ही जब निकल जाएगा तब राजभवन राजभवन कहाँ रहेगा, नानाजी?” और मैं जोर से हँस पड़ा। बात कुछ इधर-उधर हो गई।

उस दिन हम लोग वहाँ से चले आए।

अक्रूर चाचा के यहाँ आकर देखा कि छंदक हमारी प्रतीक्षा में बैठा है। उसने मुझे देखते ही कहा, “आपके आने से मथुरा में नया जीवन आ गया है। कुछ लोग आपसे मिलकर कुछ आग्रह करना चाहते हैं।”

“क्या आग्रह करना चाहते हैं?” मैं कुछ बोल्छूँ, इसके पहले ही भैया ने पूछा।

“यादवों की हार्दिक इच्छा है कि आप उनके सरदार का पद स्वीकार कर लें।”

“पूज्य भैया के रहते सरदार मैं कैसे हो सकता हूँ?”

“तुम क्या चाहते हो कि मैं यहाँ से चला जाऊँ?” सदा गंभीर रहनेवाले भैया ऐसा बोले कि मैं सकपकाकर रह गया। फिर उन्होंने स्वयं कहा, “इस पद के लिए तुम्हीं योग्य हो।”

“और आपके नाम पर सहमति भी हो जाएगी।” छंदक ने कहा, “यों यादवों में इस समय बड़ा आपसी विरोध है। यदि उन्हें उचित नेतृत्व नहीं मिला तो वे आपस में ही कट-मर जाएँगे।”

“यादव आपस में ही लड़ मरेंगे! आखिर इतना विरोध क्यों?”

अब छंदक ने विस्तार से सारी स्थिति बताई। कंस के शासन में जो यादव मथुरा छोड़कर चले गए थे, वे उनकी मृत्यु के बाद आ गए।

“हाँ, उनके पुनर्स्थापित करने की बात थी। उस समस्या को तो हमीं लोगों ने हल किया था। उन्हें उनकी भूमि दिलाई गई—और जिन्हें अपनी जमीन न मिल सकी, उन्हें राजकीय भूमि दी गई।”

“उस समय तो लगा था, उनका समाधान निकल आया; पर समस्याएँ उसके बाद और उलझती गई।”

“वह क्यों?”

“क्योंकि यहाँ के मूल यादवों का विचार था कि हम तो मथुरा के साथ जले-मरे, सारा कष्ट भोगा। जब चैन के दिन आए तब हमारे अधिकार में हिस्सा बँटाने के लिए ये लोग आ गए।...और विस्थापित लोगों का तर्क इससे एकदम उलटा है। उनका कहना है कि हम पहले भी विपत्ति के मारे थे और आज भी विपत्ति का मारा हुआ ही अनुभव करते हैं।”

“ये नए आगंतुक ऐसा क्यों सोचते हैं?”

“यही तो बात मेरी समझ में नहीं आती।” छंदक बोला, “उन्हें हर प्रकार की सुविधा दी गई, फिर भी वे असंतुष्ट हैं।”

“यदि असंतुष्ट हैं तो रहें असंतुष्ट!” भैया का अक्खड़ी स्वभाव बोल उठा—“थोड़े से वे हैं, आखिर कर क्या लेंगे?”

“थोड़े से तो नहीं हैं। अब उनकी संख्या अच्छी-खासी है।” छंदक बोला, “करने को तो वे अभी ही महाराज का खुला विरोध करते हैं। जरासंध के आने पर तो वे एकदम उसके साथ हो जाएँगे।”

“यह स्थिति चिंत्य है।” मैंने कहा और हम सब सोच में पड़ गए।

“आपने कभी उनसे बातें नहीं कीं?” मैंने छंदक से पूछा, “उनका असंतोष जब इतना मुखर है तो उसका कारण भी जाना जा सकता है।”

“उन सबका कहना है कि इस शासन में न तो हमारी सुरक्षा है और न पेट भर रहा है। हमारे गोरस का एक बड़ा भाग मागधी सैनिक उठा ले जाते हैं। वे घरों में घुस आते हैं और हम कुछ कर नहीं पाते। उनके आपराधिक हाथ अब हमारी बहू-बेटियों की ओर बढ़ने लगे हैं।”

मैंने उससे कहा, “ये लोग शासन से इसकी शिकायत क्यों नहीं करते हैं?”

“क्या करेगा शासन? जो शासन अपने महामात्य की रक्षा नहीं कर पाया, वह हमारी रक्षा क्या करेगा?” छंदक इतना कहकर चुप हो गया।

हम सब भी चुप थे; जैसे मेरी चिंतना निरुत्तर हो गई हो। मुझे स्पष्ट लगने लगा था कि उनके असंतोष का कारण

उचित है। राजा का प्रथम धर्म है प्रजा की रक्षा। यदि वह प्रजा की रक्षा करने में असमर्थ है तो उसे सिंहासन पर बैठने का कोई अधिकार नहीं।

मैं सोच ही रहा था कि नानाजी को सिंहासन छोड़ देना चाहिए, तब तक उद्धव बोल ही पड़ा—“नानाजी को तो संन्यास ले लेना चाहिए।”

मुझे हँसी आ गई—“तुम क्या संन्यास को हारे, थके, अकर्मण्य व्यक्ति का आश्रम समझते हो? उद्धव, संन्यास एक ऐसा आश्रम है, जिसमें सिंहासन नहीं, सिंहासन की आसक्ति छोड़नी पड़ेगी। सिंहासन छोड़ने पर भी सिंहासन की आसक्ति नहीं छूटती। यह विचार नहीं छूटता कि हमने सिंहासन त्यागा है। सिंहासन त्याग का जब तक अहंकार खड़ा है तब तक संन्यास कहाँ? संन्यास तो समाज और धर्म के प्रति पूर्ण समर्पण है। ऐसा समर्पण अहंकारों की दीवारों के बीच घिरकर नहीं हो सकता।”

मुझे याद है, उस दिन मैंने कुछ और विस्तार से उद्धव को समझाया था। लगता है, उस दिन ‘गीता’ का अठारहवाँ अध्याय मुझमें जन्म ले चुका था।

उद्धव का प्रस्ताव था कि आज संध्या को ही यादवों की सभा बुला ली जाए; पर मेरा विचार था कि अक्रूर चाचा को हस्तिनापुर से लौट आने दिया जाए। यद्यपि वे जा नहीं रहे थे, मैंने उन्हें जोर देकर भेजा था। इसलिए हमें उनकी प्रतीक्षा करनी ही थी।

छंदक का स्वर निराशा से भरा था—“वे तो लौट ही रहे होंगे। पर मेरे विचार से वे जिस आशा से भेजे गए हैं, शायद वह पूरी न हो।”

मैं सोच ही रहा था कि छंदक मुसकराया—“मेरा अनुमान प्रमाण से दुर्बल हुआ नहीं करता।” उसकी मुसकराहट में बड़ा विश्वास था।

इसीसे मैंने कुछ प्रतिकार नहीं किया। हाँ, इतना अवश्य कहा, “महाराज एक युद्ध परिषद् बनाना चाहते हैं।”

“तो उसके लिए भी वे अक्रूर के आगमन की प्रतीक्षा कर रहे होंगे।” छंदक ने मेरी बात समाप्त होने के पहले ही कहा, “तो युद्ध परिषद् से यादव सम्मेलन का क्या तालमेल?”

मैं फिर सोचने लगा। दोनों का इतना ही तालमेल है कि मैं दोनों में नानाजी की सहभागिता चाहता हूँ और सोचता हूँ कि दोनों राजभवन में हों।

छंदक ने मेरी बात का समर्थन किया; पर उसकी दृष्टि समय पर लगी थी। उसीसे वह अधिक व्यग्र था। उसके गणित से जरासंध की सेनाएँ अब मथुरा से दूर नहीं थीं। उसने कहा कि हमारा एक-एक क्षण बहुमूल्य है। इसलिए मेरी इच्छा न होते हुए भी यादवों की सभा राजभवन में बुलाने की योजना बनी।

“पर इसके लिए नानाजी की अनुमति लेनी होगी।” मैंने कहा।

“उन्हें सूचना भेज दी जाएगी। अनुमति लेने और विचार करने का समय नहीं रहा।” वह इतना बोला और चुपचाप चला गया।

एक घड़ी भी नहीं बीती होगी कि वह पुनः आया और बताया—“मैंने नगर के संपूर्ण यादवों में यह सूचना प्रसारित करा दी है कि हमारा तारणहार इस विपत्ति वेला में फिर मथुरा में उपस्थित हुआ है। वह आज राजभवन में आप लोगों से मिलना चाहता है।”

“मैं चाहता था कि महाराज के नाम से यह सभा बुलाई जाती। यह राजकीय सभा होती।” मैंने कहा।

“महाराज के नाम से कदाचित् वे एकत्र न होते।” छंदक ने बताया—“राजनीति और आवश्यकता—दोनों ने आपका नाम लेने के लिए हमें विवश किया।”

फिर मेरे उत्तर की प्रतीक्षा किए बिना वह एकदम लौट पड़ा; जैसे वह किसी वैचारिक आँधी के साथ हो।

□

संध्या के कुछ पूर्व ही राजभवन के विशाल प्रांगण में लोग एकत्र होने लगे थे। हम भी समय से पूर्व पहुँचे थे। भीड़ के एक गंभीर रेले ने जय-जयकार कर हमारा स्वागत किया। हाथ हिलाते, सबके अभिवादन को स्वीकार करते हम राजभवन की ओर बढ़ रहे थे।

हमने अनुभव किया कि भीड़ में उत्साह की कमी नहीं है; पर इस उत्साह का क्या सदुपयोग किया जाए? इसी चिंतन से लिपटा मैं नानाजी तक पहुँचा। माया वहाँ पहले से ही थी। वह नानाजी से कह रही थी, “लगता है, आज सारी मथुरा इधर ही आ रही है। कहीं उसके लिए हमारा यह प्रांगण छोटा न पड़ जाए।”

महाराज ने वातायन से झाँककर देखा भी—“इतनी भीड़ शायद मैंने कभी नहीं देखी।”

“कंस के वध के समय भी नहीं?” मेरे साथ आया उद्धव बोल पड़ा।

“उस समय तो मैं कारा में था, वत्स!” और महाराज की आँखें सजल हो उठीं।

“इस माया के अतिरिक्त भी आपका कोई विश्वासपात्र है इस प्रासाद में?” मैंने फिर माया पर कटाक्ष किया। वह तिलमिलाई अवश्य होगी, पर मौन रही। उसकी मुद्रा एक सफल राजनीतिक की तरह मुसकराती रही।

“क्यों? दुर्गपाल विकट्ट तो है ही।” नानाजी ने अपने विश्वासपात्र का नाम लिया।

मैंने माया से शीघ्र उसे बुलाने के लिए कहा और उसके हटते ही मैंने नानाजी के कान में धीरे से निवेदन किया—“आज मौका अच्छा है, इसी जन समाज के समक्ष आप अपना सिंहासन प्रजा को समर्पित करने की घोषणा करें।”

“पर ऐसा कैसे हो सकता है? न शास्त्र और न इस सिंहासन की परंपरा मुझे ऐसा करने की अनुमति देती है।”

नानाजी एकदम भड़क उठे—“इस स्थिति में प्रजा को सिंहासन देने का अर्थ क्या है?”

अब मेरे भी स्वर में गंभीरता आई—“परंपराएँ बनाई जा सकती हैं। शास्त्र निर्मित किए जा सकते हैं।” मुझे लगा कि मैं नानाजी के समक्ष थोड़ा प्रगल्भ होता जा रहा हूँ। मैंने अपने स्वर का स्तर नीचा किया—“अच्छा मान लीजिए, हम जनता को सिंहासन दे नहीं सकते; पर देने की बात तो कर सकते हैं।”

“पर इससे लाभ क्या होगा?”

“लाभ यह होगा कि जो जनता आपको अकर्मण्य समझती है, खुलेआम आपका विरोध करते हुए कहती है कि जो मेरी सुरक्षा नहीं कर सकता, उसे शासन में बने रहने का अधिकार क्या है, उसकी जबान तो बंद हो जाएगी। आप कहिए कि सिंहासन आज से आपका रहेगा, मैं तो मात्र इसका कर्ता-धर्ता ही रहना चाहता हूँ, भरत की तरह। हमारे लिए राम तो मथुरा की जनता है।”

नानाजी की समझ में अब मेरी बात आने लगी। वे मुसकराए। मैं बोलता गया, “आप तो वृद्ध हैं, नानाजी! अनुभव की विशाल संपदा आपके पास है। राजनीति के चरण हवा के रुख पर चलते और बदलते हैं। इस समय परिस्थिति ऐसी ही है। हमें जब तक मथुरा के बच्चे-बच्चे का समर्थन नहीं मिलेगा तब तक हम जरासंध का सामना नहीं कर सकते।”

“पर यह राजकीय सभा तो नहीं, और न मेरे नाम से आहूत हुई है। ऐसी स्थिति में मेरी राजकीय घोषणा का कोई महत्त्व होगा?”

“अवश्य होगा! राजा के मुँह से निकली हर घोषणा राजकीय होती है। और मैंने कहा न कि हम कुछ करने नहीं, केवल कहने जा रहे हैं।” मैं हँस पड़ा।

मैंने देखा, विकट माया के साथ आ रहा है।

हम सब चुप हो गए। उसने आकर महाराज को अभिवादन किया। महाराज ने उसे सचेत करते हुए कहा, “देखो विकट, तुम दुर्गपाल हो। तुम्हारे दुर्ग में आज बहुत से मथुरावासी आ रहे हैं। उनकी सुरक्षा तथा देखभाल करना तुम्हारा काम है। देखना, उन्हें किसी प्रकार का कष्ट न हो। जल आदि की पूरी व्यवस्था रहे।”

“जैसी आपकी आज्ञा।” विकट बोला, “मैं सारी व्यवस्था कर दूँगा, पर...”

“पर क्या?”

“यही कि यदि मागधी सैनिकों ने कुछ गड़बड़ की तो मैं सँभाल नहीं पाऊँगा।”

“इसकी चिंता आप छोड़ दें।” अब मैं बोला, “जिसने सभा बुलाई है, वह उसकी व्यवस्था में भी संलग्न होगा।” मेरा संकेत छंदक की ओर था; पर किसीने इसे समझा नहीं। महाराज ने तो सारा कर्ता-धर्ता मुझे ही समझ लिया था।

समय के कुछ पूर्व ही मैंने प्रांगण में उपस्थित होना उचित समझा; क्योंकि विकट की आशंका निर्मूल नहीं थी। मैंने माया से कहा कि ठीक समय पर महाराज को लेकर तुम आ जाना। मैं नीचे की व्यवस्था देखने चल रहा हूँ। और भैया तथा उद्धव को लेकर चल पड़ा।

प्रांगण में आते ही मेरी जय-जयकार का ज्वार-सा उठा। मैं चकित रह गया—कुछ नए जयकारों को सुनकर; यथा—“यम विजेता की जय! पांचजन्यधारी की जय!”

निश्चित है, छंदक का प्रचार बहुत गहरा था।

सिंहासन के निकट खड़े होकर मैंने चारों ओर घूम-घूमकर सबके अभिवादन का मुसकराते हुए उत्तर दिया और कोलाहल के दबाव में आकर बोलना शुरू किया—

“मथुरावासियो! अपने कन्हैया, उनके भैया और मित्र का प्रणाम आप सब स्वीकार करें। आप सबका जो स्नेह एवं सौहार्द हमें मिला है और आज मिल रहा है, उनके समक्ष हमारा मस्तक श्रद्धा से नत है। यों तो आप सदा हमारी कल्पना में समाए रहे हैं। मैं बराबर आपसे मिलता रहा हूँ। यदि मैं दूसरे शब्दों में कहूँ तो आपसे मिलने का प्रश्न ही नहीं उठता; क्योंकि आप कभी भी मुझसे अलग हुए ही नहीं। फिर भी आप लोगों के साक्षात् दर्शन की लालसा निरंतर बनी रही। पर जैसा आप सब जानते हैं कि नियति की डोर से बँधा जीवन अपने वश में नहीं है। यह डोर कहाँ खींच ले जाएगी और कहाँ से निकाल ले आएगी, कोई नहीं जानता। मुझे इसकी भी कल्पना नहीं थी कि मैं इतनी जल्दी आप लोगों से मिल सकूँगा। पर मिला, प्रभु की बड़ी कृपा है।”

“यह आपकी ही कृपा है।” भीड़ से उभरी इस आवाज में मेरा ईश्वरत्व फिर झलका।

मैंने बात को दूसरी ओर ढकेला—“जब तक महाराज आएँ और आपके समक्ष कुछ निवेदन करें, तब तक मैं ही आपसे बातें करता हूँ।”

“नहीं-नहीं, हम महाराज को सुनने नहीं आए हैं।” भीड़ से उभरा यह दूसरा शक्तिशाली स्वर था और फिर एक कोलाहल-सा हो गया।

अब भीड़ को चीरता छंदक मेरे पास आया और मेरे कान में बोला, “महाराज का नाम तक न लीजिए, अन्यथा सब गड़बड़ हो जाएगा।”

मैंने बोलना आरंभ किया—“आपकी सारी स्थिति से मैं अवगत हो गया हूँ। आपमें से अधिकांश परेशान और दुःखी हैं। कुछ लोग तो पेट की ज्वाला भी नहीं शांत कर पाए हैं। शासन की बागडोर ढीली पड़ चुकी है। जीवन अरक्षित और अनिश्चित है। कल क्या होगा, किसीको पता नहीं। जबकि मनुष्य आज से अधिक कल की चिंता में

व्यस्त रहता है और आप आज की चिंता में व्यस्त हैं और कल की चिंता में व्यग्र। ऐसे में आपका चिड़चिड़ा हो जाना स्वाभाविक है। आप जब अपनी परिस्थितियों से लड़ते-लड़ते झुँझला उठते होंगे तो दूसरों से लड़ने लगते होंगे। मनुष्य की यह स्थिति ही उसे विध्वंसक बना देती है। वह स्वयं अपना विनाश करने लगता है। ऐसी स्थिति में मेरा आपसे निवेदन है कि आप अपनी सारी चिंता और झुँझलाहट मुझे सौंप दीजिए।”

इतना कहते ही तुमुल करतलध्वनि के बीच ‘साधु-साधु’ के गगनभेदी स्वर से सारा वातावरण गूँज उठा।

मैं बोलता चला जा रहा था, “पूरब से काले-काले मेघ मथुरा को निगल जाने के लिए दहाड़ते चले आ रहे हैं। ऐसे में आपका विचलित होना स्वाभाविक है; पर मैं विचलित नहीं हूँ। मैंने इंद्र का भी कोप देखा है, कालिय नाग का भी कोप देखा है। अब इस कोप को भी देख लूँगा।” फिर करतलध्वनि हुई और ‘साधु-साधु’ का स्वर आकाश में पुनः तैरता निकल गया।

एक क्षण रुककर मैं फिर बोलने लगा—“वस्तुतः यह सत्ता की समस्या है। सिंहासन को चाहिए था, वह इन समस्याओं को स्वयं झेले और आपको उससे मुक्त रखे; पर यहाँ की विपरीत स्थिति है। आप समस्याओं से जूझ रहे हैं और सिंहासन अपनी निर्बलता में निरीह हो आपको चुपचाप देख रहा है।”

इस बार की हर्षध्वनि सबसे जोरदार थी।

मैंने सोचा, जनता जो महाराज से कहना चाहती है, उसे मैं ही बिना महाराज का नाम लिये कह डालूँ। इससे उसका सारा क्रोध, सारा अमर्ष निकल जाएगा।...और सचमुच ऐसा हुआ भी। भीड़ का सारा आक्रोश पके फोड़े-सा फूटकर बह गया। महाराज के प्रति उसका असंतोष बिखरने लगा।

यह मेरा पूर्ण नाटकीयता से भरा राजनीतिक भाषण था। इसका प्रभाव यह था कि एक भयंकर आँधी उठने के पहले ही थम गई थी।

मुझे अपने भाषण की पूरी शब्दावली तो याद नहीं है, जो कुछ याद है, उसे सुना रहा हूँ। किसी क्रम में शायद मैंने यह भी कहा था—“आप आपसी वैमनस्य भूलकर एक हो जाएँ। आपकी आधी समस्या तो यों ही शांत हो जाएगी। जिसके हाथ में एक रोटी है, उसे छीनने से अच्छा है कि वह अपनी आधी रोटी आपको भी दे दे।”

मुझे ठीक याद है, इसी समय महाराज पधारे। मैं चुप हो गया और मेरे साथ भीड़ ने भी उनका शांत अभिवादन किया। छंदक ने आश्चर्य से मेरी ओर देखा। उसकी आँखें कह रही थीं कि आपने कौन सा जादू मारा कि जो लोग महाराज को देखना भी नहीं पसंद करते थे, वे उन्हें प्रणाम कर रहे हैं।

महाराज ने भी खड़े होकर सबके अभिवादन का विनम्रतापूर्वक उत्तर दिया। फिर बड़ी गंभीर और काँपती आवाज में बोले—

“मेरे प्रिय प्रजाजनो! आज आपको अपने प्रांगण में पाकर मैं गद्गद हूँ। मैं बहुत पहले से आपसे मिलना चाहता था; पर लाचार था। पहले मेरे पुत्र ने कारा में बंदी बनाया था, अब परिस्थितियों ने मुझे सिंहासन पर बंदी बना लिया है। न पहले मैं अपने विवेक का उपयोग कर पाता था, न अब कर पाता हूँ। वय से ताप खोती अग्नि की तरह बेकार होता जा रहा हूँ। इन सारी परिस्थितियों ने हमारे-आपके बीच की दूरी को एक अलंघ्य खाई के रूप में बदल दिया है। इसका परिणाम आप प्रतिदिन देख रहे हैं। न आप सुरक्षित हैं और न मैं।...मैं अपने सिंहासन पर भी अरक्षित।” इतना कहते-कहते उनका गला भर आया। आँखें नम हो गईं। सचमुच मैंने अपने नानाजी को निरीहता का ऐसा अनुभव करते हुए नहीं देखा था।

सारी सभा सन्न रह गई। कई पलों तक भीड़ पर सन्नाटा रेंगता रहा। नानाजी भी गले में अटकी किसी चीज को न नीचे उतार पाते थे और न बाहर निकाल पाते थे। बड़ा प्रयत्न कर भारी आवाज में उन्होंने पुनः बोलना आरंभ

किया—“अब जीवन का चौथापन आ गया है। सोचता हूँ, सिंहासन आप लोगों को सौंपकर संन्यास ले लूँ।” इतना कहते ही भीड़ पर जैसे पाला पड़ गया।

हमारे पीछे मागधी सैनिक खड़े थे। उनमें अस्पष्ट फुसफुसाहट होती रही—“अब सिंहासन क्यों नहीं छोड़ेंगे, जब वह स्वयं छूटने वाला है।”

“मुझे तो लगता है, यह राजनीतिक वक्तव्य जनता को मिलाने के लिए है।” दूसरा बोला।

“हो सकता है।” तीसरे ने स्वीकार किया—“कन्हैया के आने के बाद वातावरण बदलने लगा है।”

अब मैंने पीछे मुड़कर देखा। मेरी एक दृष्टि ने फुसफुसाहट का गला घोट दिया। सब सजग हो गए। महाराज संन्यासवाली बात कहकर कुछ समय तक मौन हो गए थे। भीड़ की पहली प्रतिक्रिया थी—“आपकी स्थिति हम समझते हैं।”

“अच्छा हो, आप अपना सिंहासन कन्हैया को दे दें।” कंदुक की तरह उछली यह आवाज किसी नौजवान की थी। मैंने उझक-उझककर कई बार उसे पहचानने की चेष्टा की, पर पहचान नहीं पाया।

अब उसके प्रस्ताव का समर्थन चारों ओर से होने लगा।

महाराज ने मेरी ओर देखा और मैंने आगे बढ़कर पुनः बोलना आरंभ किया; जिसका आशय था कि जो चीज मेरी नहीं है, मैं उसे कभी नहीं लेता।

“आपने कभी कहा था कि हम अपनी सारी व्यग्रता और संघर्ष आपको सौंप दें।” भीड़ ने मेरी जबान पकड़ने की चेष्टा की—“इस समय इस सिंहासन से बढ़कर संघर्ष व व्यग्रता का मूल और क्या हो सकता है?”

“मैंने आपकी व्यग्रता के संबंध में कहा था, सिंहासन की व्यग्रता के संबंध में नहीं।” मैंने मुसकराते हुए कहा, “आपकी व्यग्रता को भी मैं अपना न बनाता। हाँ, उसे अपने मन की खूँटी पर टाँग अवश्य देता; पर महाराज को हम लोग संन्यास क्यों लेने दें? इनके अनुभव की छत्रच्छाया में आप सब एक होकर मथुरा की रक्षा करें और सत्ता सँभालें।”

मुझे ठीक याद है, पीछे से फिर फुसफुसाहट उभरी—“देखा, कैसी होशियारी से अपनी पकड़ मजबूत कर रहा है!”

पर इसकी प्रतिक्रिया में कोई और आवाज नहीं थी।

मैं बोलता जा रहा था—“सबसे पहले हमें छोटी-मोटी बातों को भुलाकर, आपसी वैमनस्य को तिलांजलि देकर एक हो जाना चाहिए और अपना सरदार चुन लेना चाहिए, जो आपकी सारी समस्याओं पर विचार करे।”

भीड़ में अब विचारों का संघर्ष आरंभ हुआ। विभिन्न रायों की लहरें टकराने लगीं। आपसी बुदबुदाहट एक अजीब कोलाहल में बदलने लगी।

“सरदार के चुनाव के लिए कोई दूसरा समय रखा जाए।” यह पहली आवाज थी।

इसका समर्थन करते हुए दूसरी आवाज भी उभरी—“चुनाव के संबंध में हमें पूर्व सूचना नहीं थी।”

तब तक छंदक मंच की ओर बढ़ा और काफी जोर से चिल्लाया—“हमारा प्रस्ताव है कि कन्हैया को ही यादवों का सरदार बना दिया जाए।”

फिर इस प्रस्ताव के समर्थन का स्वर ऐसा उठा कि इसके प्रतिकूल सारे प्रस्ताव डूब गए।

“पर भैया के रहते इस पद पर मेरा चुना जाना मुझे शोभा नहीं देता।”

“तुम्हें शोभा भले ही न दे, पर यह पद मथुरा को सुशोभित करता है।” भैया बोले, “और मेरी प्रकृति ऐसे पदों के सर्वथा प्रतिकूल रही है।”

पिता वसुदेव ने भी मेरा समर्थन किया—“अब तो तू अठारह वर्ष का हो गया है, कन्हैया! जिम्मेदारी लेने से भागता क्यों है?”

पिता की यह बात अंतिम हो गई और मैं यादवों का सरदार सर्व सम्मति से चुन लिया गया।

इस चुनाव के प्रति मैंने आभार प्रदर्शित किया और कहा, “आपने कितने गौरवशाली ढंग से अपनी व्यग्रता हमें सौंप दी!”

हँसी की ऐसी निर्झरिणी बही कि मथुरा भीगने लगी।

□

मेरे सरदार बनते ही मागधी सैनिकों में खलबली मच गई। उन्होंने सोचा कि कृष्ण ने नए सिरे से संगठन आरंभ कर दिया है। अब मगधराज जरासंध को मथुरा को निगलना इतना आसान नहीं होगा। छंदक का कहना है कि मागधी हस्तिपाल कुलिक ने अपने स्वामी के पास बदली हुई स्थिति की सूचना भेजी और स्पष्ट लिखा कि शायद अब आपको मथुरा की जनता का सहयोग भी न मिले।

मैं नगर में जिधर जाता उधर मुझे बधाइयाँ मिलतीं, साथ में उनकी तरह-तरह की समस्याएँ भी। मैं सबको ढाढ़स बँधाता और किसी भी परिस्थिति का सामना करने का साहस भरता।

मुरझाया हुआ छंदक कुछ हरा तो लगा, पर वह पूर्णरूप से संतुष्ट नहीं था। उसके स्वर में अब भी निराशा थी। उसने कहा, “स्थिति विषम है।”

मैंने उसे विस्तार से समझाने के लिए कहा।

“पहले आप नानाजी से कहकर एक युद्ध परिषद् बनवाइए। तब उसमें विस्तार से विचार किया जाए।” छंदक बोला और आज ही वह परिषद् के निर्माण पर जोर देने लगा; क्योंकि उसकी दृष्टि में मथुरा के लिए एक-एक पल का महत्त्व था।

शीघ्र की मैंने नानाजी से गुप्त मंत्रणा की और छंदक के प्रस्ताव का कार्यान्वयन आरंभ हुआ। संध्या को उनके मंत्रणाकक्ष में कुछ लोगों को बुलाया गया। महाराज को सावधान कर दिया गया था कि राजभवन की प्रत्येक प्राचीर में कान उग आए हैं, इसलिए अपने विश्वस्त लोगों को ही इस कार्य में लगाइएगा। शायद इसीलिए उन्होंने इसका जिम्मा विकट्टु को ही सौंपा था। मंत्रणाकक्ष से बाहर विकट्टु के विश्वासपात्र सैनिक बैठाए गए।

विकट्टु ने हम तीनों के अतिरिक्त पिता वसुदेव और अक्रूर चाचा को भी बुलाया था। सरदारों में गंड और शंकु थे। आचार्य गर्ग भी पधारे थे। नानाजी ने अपने गुप्तचर विभाग के एक बहुत पुराने अधिकारी सोमदेव को भी बुलाया था। बस, ले-देकर इतने ही लोगों की मंत्रणा आरंभ हुई और ये ही लोग उस युद्ध परिषद् के सदस्य मान लिये गए।

मैंने विकट्टु को अपने पास बुलाकर कहा, “अरे, छंदक को भी आमंत्रित कर दिया होता। जिसके प्रस्ताव पर यह सबकुछ हो रहा है, वही नहीं है।”

“मैंने छंदक को आमंत्रित किया था।” विकट्टु ने बताया—“उसका कहना था कि मुझे तटस्थ ही रहने दें। तटस्थ रहकर मैं जितना कर पाऊँगा, उतना आपका होकर नहीं।”

मैं उसकी राजनीति समझ गया। थोड़ी देर बाद परिषद् की कार्यवाही आरंभ हुई।

सबसे पहले सोमदेव से महाराज ने जरासंध की सैन्य शक्ति के संबंध में पूछा।

सोमदेव ने बताया—“महाराज, मगध गए गुप्तचर अभी लौटे नहीं हैं; पर जो कुछ पता चला है, वह हमारे अनुकूल नहीं है।”

ऐसा लगा जैसे वह बताने में संकोच कर रहा है।

“तुम्हारी बात कुछ समझ में नहीं आ रही है। स्पष्ट कहो, तुम्हें यहाँ किस बात का भय है?”

“भय तो नहीं है, महाराज, पर संकोच अवश्य हो रहा है, यह बताते हुए कि हमारे कुछ गुप्तचर जरासंध से मिल गए हैं।”

महाराज ने अपना सिर ठोंका और बड़ी व्यग्रता से बोले, “क्या आपके विभाग में विश्वासपात्र नहीं रहे?”

“विश्वासपात्र तो सभी थे, पर चाकर का विश्वास भी कोरी सहानुभूति के धरातल पर नहीं रहता; क्योंकि सहानुभूति से पेट नहीं भरता।”

“तुम्हारा तात्पर्य?”

“तात्पर्य स्पष्ट है, महाराज, हम उन्हें वेतन तक ठीक से नहीं दे पा रहे हैं और जरासंध उनपर स्वर्णमुद्राएँ लुटाता है, तरह-तरह के प्रलोभन देता है। हमारा मस्तक लज्जा से उस समय झुक गया, जब हमें पता चला कि हमारे कुछ विश्वासपात्र गुप्तचरों ने ऊँचे वेतन पर उसकी चाकरी कर ली है।”

“स्वर्णखंडों पर मातृभूमि की ममता को तिलांजलि देनेवालों को तुम विश्वासपात्र कहते हो!” महाराज की झुंझलाहट मुखर हुई।

अब मैंने हस्तक्षेप किया—“जब पेट भरा रहता है तब ही मातृभूमि दिखाई देती है, अन्यथा वह मिट्टी-पत्थरों का ढेर ही नजर आती है। भूख की ज्वाला में बुद्धि के आदेश पत्र भस्म हो जाते हैं, नानाजी।”

मेरे इतना कहते ही महाराज की नैतिकता और सिद्धांत के प्रवचन पर पाला पड़ गया। पूरी परिषद् सोच में डूब गई। एक बात तो लगभग स्पष्ट हो गई कि जब यह स्थिति गुप्तचर जैसे राज्य के अनिवार्य और आवश्यक विभाग की है तो अन्य विभागों की क्या दशा होगी।

“जो यहाँ मागधी सैनिक हैं, उनको यहाँ से वेतन तो मिलता नहीं होगा?” महाराज ने शायद इस चिंत्य स्थिति से अपने को निकालने के लिए बात बदल दी।

पर विकट्ट ने बीच में ही टोका—“नहीं, महाराज, ऐसा नहीं है। उनके वेतन की व्यवस्था सबसे पहले की जाती है। जरा भी देर होती है तो मागधी सेनाधिकारी विक्षर उत्पात मचा देता है। इसपर भी वे लूटपाट के लिए स्वतंत्र हैं।”

“ऐसा क्यों?”

“ऐसा तो कंस के समय से ही होता आया है।” विकट्ट ने कहा, “कहते हैं, कंस और वृत्घ्न में यह स्पष्ट समझौता था कि हमारे सैनिकों को पहले वेतन मिलना चाहिए।”

“पर मुझे किसीने बताया नहीं।” महाराज की निरीहता पुनः मुखर हुई।

“आपने जानने की कभी चेष्टा ही नहीं की।” विकट्ट थोड़ा और खुला—“आप तो हमेशा उदासीन बने रहे। आपको याद होगा, एक बार मैंने कुछ बताने की चेष्टा भी की थी। तब आपने अपनी निस्पृहता दिखाते हुए कहा था कि विकट्ट, तुम मुझे जनक की तरह समझो। सिंहासन पर बैठे होने पर भी सिंहासन उनसे बहुत दूर होता था। वे राजा होकर भी विदेह थे।”

महाराज एकदम चुप हो गए और हम सब उनका मुँह देखते रहे।

विकट्ट बोलता गया—“आपकी मनःस्थिति सदा जलती हुई आग की ओर से मुँह फेर लेने की रही। कुछ ऐसे होते हैं, जिन्हें दिखाई नहीं देता और कुछ ऐसे होते हैं, जो स्वयं आँखें बंद कर बनावटी शांति ओढ़े पड़े रहना चाहते हैं। महाराज, यदि आप क्षमा करें तो मैं कहूँ कि आपकी स्थिति इसी दूसरे प्रकार की रही है।”

मैंने विकट्ट को कभी इतना स्पष्ट बोलते हुए नहीं देखा था। निराशा की चरम सीमा पर संकोच की दीवारें स्वयं

गिर जाती हैं। आज स्पष्ट लगा कि विकट्ट की चिंतना असमंजसमुक्त हो चुकी है।

हमारे लिए तो यह अनहोनी थी। हम सब मौन थे।

उस मौन के घुटन को भंग किया सोमदेव ने—“इतनी सूचना अवश्य मिली है कि उत्तर के जितने शक्तिशाली राजा हैं, वे सब जरासंध के प्रभाव में हैं। भीष्मक और दमघोष से उसने संधि कर ली है।”

“सुना है, भीष्मकपुत्र रुक्मी को तो उसने सेनाधिपति ही बनाया है।” अब तक चुप बैठे गंड ने बताया।

“रुक्मी सेनापति! हूँ, देखा जाएगा।” बलराम ने उसे बहुत हलका लिया। क्यों न लेते। उन्हें जो याद था कि मेरे पहले ही प्रहार में वह चित हो चुका है।

मैंने भैया से धीरे से कहा, “तब वह शून्य था, अब कई अंकों के साथ है।”

“और हमारी सेना की क्या स्थिति है?” महाराज का सीधा प्रश्न विकट्ट से था।

“एकदम दयनीय और निराशाजनक।” विकट्ट छूटते ही बोला, “यदि यह स्थिति न होती तो महामात्य ऐसी जघन्य मृत्यु न मरते, जैसे संसार में उनका कोई रहा ही न हो। वस्तुतः आपके पुत्र कंस ने भी मथुरा की सेना और यहाँ के योद्धाओं पर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया था। उसने स्वयं को अपने श्वसुर का मुख्यापेक्षी बना लिया था। हर सैनिक आवश्यकता वह मागधी सैनिकों से पूरा करता था। शस्त्र की आपूर्ति के लिए तो दमघोष था ही। शस्त्र चेदि के और सेना मगध की, यही तो शक्ति रही है पिछले दो दशकों से मथुरा की।”

“और एक बात और थी।” अक्रूर चाचा की पहली बार बैखरी फूटी।

“वह क्या?” महाराज की दृष्टि अब उनकी ओर गई।

“बात यह थी कि देवकी और उनके पुत्रों के अतिरिक्त कंस किसीको अपना शत्रु ही नहीं समझता था। शत्रु के अभाव में भी सेना उपेक्षित और दुर्बल हो जाती है।”

“यही स्थिति तो अब भी है।” इस बार सोमदेव बोला, “जरासंध के लिए इन दोनों भाइयों के अतिरिक्त उसका कोई शत्रु नहीं है।”

उसका सीधा संकेत मेरी और भैया की ओर था।

“यह आपको कैसे मालूम?” नानाजी ने पूछा।

“एक दिन उसने सार्वजनिक संबोधन में स्पष्ट कहा था कि मथुरा तो मेरी अपनी है। वहाँ के लोग अपने हैं। उनसे वैरभाव कैसा? मेरे आक्रोश के लक्ष्य तो वे दो छोकरे हैं।” मुझसे क्षमायाचना करते हुए सोमदेव ने कहना जारी रखा, “जिन्होंने मेरे जामाता की हत्या की है, मेरी तलवार उन्हींके रक्त की प्यासी है।”

“ये बातें तो उसने मथुरावासियों को मिलाने के लिए कही होंगी।” नानाजी बोले।

“हो सकता है।” मैंने कहा, “पर इस सत्य को भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि उसके आक्रमण के लक्ष्य भी हमीं दो हैं।”

इसके बाद विकट्ट ने मथुरा की स्थिति की विशेष चर्चा की और बताया—“मथुरा की स्थिति विषम है। वह युद्ध के लिए बिल्कुल तैयार नहीं है। नगर की चारों ओर की खाइयों में अब जल तक नहीं रहा। कई स्थानों पर तो वे भरकर सपाट हो गई हैं। नगर की प्राचीर तो लगभग ध्वस्त हो चुकी है। अब उसका भग्नावशेष भर रह गया है। ग्रामवासी उन्हीं टूटी दीवारों को लौंघकर नगर में आ जाते हैं। अब कोई मुख्य द्वार की चिंता भी नहीं करता।” उसने शस्त्रागार की विशद चर्चा करते हुए बताया—“कुछ लौहकार थोड़ा-बहुत अस्त्र बनाते थे, अब उनकी धौंकनियाँ भी ठंडी पड़ी हैं।”

इस प्रकार विकट्ट ने इतना निराशाजनक चित्र प्रस्तुत किया कि कभी चिंतित न होनेवाले मेरे मन में भी अनेक

प्रकार की आशंकाओं की आँधी उठने लगी। नानाजी चिंता में डूब गए। उनकी मानसिकता उस भयानक मोड़ पर आ गई थी, जिससे फूटनेवाले सारे मार्ग बंद दिखाई दे रहे थे।

चारों ओर की निराशा झेलते हुए नानाजी ने अक्रूर से पूछा, “आप तो हस्तिनापुर गए थे। आपने वहाँ का भी समाचार नहीं दिया।”

“अरे, कोई बात बनती तो ये समाचार भी देते।” पिताजी ने भी उस निराशा के अँधेरे को गाढ़ा ही किया।

अब चाचाजी बोले, “यद्यपि भीष्मजी ने हमारी बातें सहानुभूतिपूर्वक सुनीं, पर वे कुछ कर नहीं पाए। उनकी स्थिति तो चक्रवात में खड़े एक स्तंभ जैसी थी, जो चारों ओर का झोंका सहता हुआ भी स्थिर रहता है।”

“आपने धृतराष्ट्र से बातें नहीं कीं?”

“कीं, पर वह भी टालमटोल कर गए।...बात यह है कि उनके प्रिय पुत्र दुर्योधन को लगता है कि हम लोग पांडवों का पक्ष लेते हैं। और उनका मामा शकुनि! वह तो बड़ा विचित्र है। वह हर बात में टाँग अड़ाता है।” विस्तार में न जाकर चाचाजी ने इतना ही कहा, “उसकी बातों से ऐसा लगा कि यदि मथुरा की शक्ति बढ़ी तो वह हस्तिनापुर के लिए घातक होगी।”

“ऐसा वे कैसे सोच सकते हैं?” नानाजी बोले।

“सोचने के लिए तो हर व्यक्ति स्वतंत्र है।” अब मुझसे नहीं रहा गया; क्योंकि मैं वस्तुस्थिति समझता था। नानाजी भले ही अज्ञान में रहे हों, पर मैं अपने और पांडवों के संबंध को कैसे अनदेखा करता। बल्कि मैंने चाचाजी को संबोधित करते हुए कहा, “मथुरा की बढ़ी हुई शक्ति हस्तिनापुर के लिए घातक होगी, उनका यह सोचना भ्रामक है। हाँ, यह वह अवश्य सोच सकते हैं कि मथुरा के शक्तिशाली होने से पांडव शक्तिशाली होंगे।”

चाचाजी ने मेरी बात का समर्थन किया।

“तब तो भयंकर स्थिति है।...मथुरा के आसपास का कोई नरेश हमारे साथ नहीं रहा।” नानाजी की निराशा ने एक गंभीर साँस ली और वे विकट से बोले, “अच्छा, यह बताओ कि यदि जरासंध ने मथुरा पर घेरा डाला तो मथुरा कितने दिनों तक टिकी रह जाएगी?”

“मेरे विचार से मुश्किल से चार-छह दिन।” विकट ने बताया—“वह घेरा भी विचित्र होगा—बाहर मागधी सैनिकों का घेरा और भीतर मागधी सैनिक घिरे हुए। भीतर भी युद्ध, बाहर भी युद्ध—जैसे खौलते हुए जल को खौलता हुआ जल घेरे।”

सारी स्थिति स्पष्ट हो गई। निराशा का अँधेरा और घना होकर हताशा में बदलने लगा। नानाजी के वृद्ध मस्तक की उभरी रेखाओं पर स्वेद चुभचुभा आया। उन्होंने अपना मस्तक पोंछते हुए बड़ी गंभीरता से कहा, “कन्हैया, अब तुम्हीं मथुरा को बचा सकते हो।”

उस वातावरण की निराशा को झकझोरने के लिए मैंने अपने अधरों पर एक कृत्रिम हँसी उगाई—“महाराज, आप क्षमा करें। आप लोगों का सोचना मेरे सोचने से भिन्न है। युद्ध केवल शस्त्रों से नहीं, जनता के साहस और मातृभूमि पर शीश चढ़ाने की ललक से लड़ा जाता है।”

“पर ऐसे लोग आज मथुरा में हैं कहाँ?” नाना बोले।

“अवश्य हैं, पर हमने उनकी खोज नहीं की है। मामाजी ने तो उनकी घोर उपेक्षा की और इस उपेक्षा के कारण वे राजनीति की मुख्य धारा से अलग-थलग पड़ गए।”

“यह समय उनकी खोज का नहीं है। इन दो-चार दिनों में हम क्या कर सकते हैं?” विकट ने फिर निराशा के अँधेरे पर कालिख पोती।

“पर आप सब इतने घबराए हुए क्यों हैं?” मैं फिर हँसा—“ऐसा हो सकता है कि साँप भी मर जाए और लाठी भी न टूटे।”

‘यह कैसे संभव है?’ उस मूक वातावरण में बस एक ही प्रश्न था।

“नियति कितनी निर्दय और कठोर मेरे प्रति रही है! फिर भी वह मेरे लिए प्रणम्य है; क्योंकि उसकी कठोरता के प्रकोष्ठ में ही मेरे देवत्व का गंधराज खिलता रहा है।...जन्म से ही मैं अपने मामाजी का एकमात्र शत्रु रहा। पर अब जरासंध की आग्नेय दृष्टि हम दोनों भाइयों पर है। हमारे कटे हुए मस्तक यदि उसे मिल जाएँ तो सारी समस्या हल हो जाए।”

“यह कैसे हो सकता है?” पिताजी पहली बार विचलित लगे।

“यही तो सोचना है।” मैं मुसकराता रहा।

माहौल की निराशा मेरी मुसकराहट पीती चली गई।



पंद्रह

परिस्थिति की गंभीरता मुझे घेरे रही। उसने रात को भी पल्ला नहीं छोड़ा। आधी रात तक सोचता रह गया कि मथुरा को कैसे बचाया जाए। पर कोई मार्ग दिखाई नहीं दिया। वातायन से नवमी के चंद्रमा का टेढ़ा मुख जैसे मुझे चिढ़ाने लगा। मैं सचमुच इतना व्यग्र कभी नहीं हुआ था। नींद भी मेरा साथ न दे सकी। बिस्तर पर करवट बदलते-बदलते जैसे मैं थक चुका था। एकदम उठा और उद्यान की ओर आकर टहलने लगा।

मेरी बगल में सो रही माँ देवकी की नींद भी अचानक उचट गई। उसने मेरा आस्तरण सूना देखा। एकदम घबरा उठी। इस समय वह कहाँ गया? वह बिस्तर से उठी और व्यग्रता में वातायन से झाँका। मुझे टहलते हुए देखकर वह भी चली आई।

“यहाँ क्या कर रहे हो, कन्हैया?” माँ ने पूछा।

“नींद नहीं आई। सोचा, उद्यान में ही कुछ समय तक टहलूँ।” फिर मैंने बड़े सहजभाव से पूछा, “तू क्यों चली आई, माँ?”

“मेरी भी नींद खुल गई।” माँ ने बताया—“मैंने एक विचित्र स्वप्न देखा।”

“क्या?”

“यही कि मथुरा के ऊपर काले-काले गरजते मेघ चले आ रहे हैं। एकदम अंधकार हो गया। जैसे इंद्र का प्रकोप व्रज पर हुआ था, ठीक वैसा ही दृश्य; पर वर्षा के नाम पर एक बूँद भी नहीं। केवल घटाओं का गर्जन-तर्जन। तड़ित तरंगों का ज्योति विलास। ऐसे में देखा कि पुरवासी भयभीत-से दौड़े हुए हमारे यहाँ चले आ रहे हैं। सब रक्षार्थ तुम्हें खोजते हैं, पर तुम कहीं दिखाई नहीं देते हो। तब सब व्याकुल होते हैं। इधर-उधर भाग रहे हैं। मैं भी असहाय हो तुम्हें खोजने लगती हूँ। तुम कहाँ चले गए थे, कन्हैया?” इतना कहते-कहते उसकी व्याकुलता मुझे अपने अंक में समेट लेती है।

मैं हँसने लगता हूँ—“माँ, तू सपने में भी मुझे कहीं जाने नहीं देगी क्या?”

“नहीं-नहीं, बिल्कुल नहीं। कहीं नहीं।” उसकी व्यग्रता सीमा लाँघ चुकी थी। उसने मुझे छाती से और भी चिपका लिया।

“तो तू सपनों की बात कह रही थी, माँ!” मैंने उसकी बातों के क्रम के छूटे छोर को उसे पुनः पकड़ाया।

“हाँ, तो तू नहीं मिला। कहीं नहीं मिला। तब मेघराज स्वयं गरजता हुआ पुरजनों के बीच आया और दैत्यों-सा अट्टहास करते हुए बोला, ‘जब वही भाग गया तब मैं तुम लोगों को क्यों परेशान करूँ?’ और धीरे-धीरे काले मेघ छूट गए।” फिर माँ ने सोचते हुए अत्यंत व्यग्रता में पूछा, “कैसा होगा यह सपना?”

“बहुत अच्छा।” मैंने कहा, “वह काला मेघ यदि बरसता और पुरजन भीग जाते, तब अनर्थ हो जाता।

“क्योंकि सपनों में मेघों का बरसना बुरा नहीं है; पर इन काले मेघों से भीगना बड़ा बुरा है। इसका अर्थ होता बरबादी और विनाश।” फिर मैं कुछ समय के लिए रुका। पुनः माताजी को ही संबोधित करते हुए बोला, “व्रज पर जब इंद्र का प्रकोप हुआ था तब मैंने उपस्थित होकर लोगों की रक्षा की थी। तुम्हारे स्वप्न में मैंने अनुपस्थित होकर लोगों की रक्षा की।” फिर कुछ सोचते हुए कुछ देर के लिए चुप हो गया।

“क्या सोचने लगे?”

“सोच नहीं रहा हूँ वरन् देख रहा हूँ। अंधकार में जहाँ कुछ भी दिखाई नहीं दे रहा था, वहाँ तुम्हारे स्वप्न की कृपा

से एक रास्ता दिखाई देने लगा।”

“कैसा रास्ता?”

“यह अवसर आने पर बताऊँगा, माँ।” मैंने कहा।

अब मैं एकदम तनावमुक्त था। माँ को लेकर मैं पुनः शयनकक्ष में आ गया। कुछ देर बाद मुझे नींद आ गई। और मैं तब तक सोता रहा जब तक सूरज हमारे आवास की मुँडेर पर नहीं आ गया।

उधर ब्राह्म मुहूर्त के कुछ बाद ही छंदक आ गया था और चाचा के प्रतीक्षाकक्ष में बैठा-बैठा आकुलतामिश्रित व्यग्रता के घूँट पीता रहा।

सुना है, इस बीच चाचाजी उससे मिल चुके थे। उन्होंने उससे कहा था—“आज बड़े सवेरे चले, छंदक!”

“जिसके जीवन में आगे अंधकार ही अंधकार हो, उसके जीवन में सवेरा नहीं होता, चाचाजी।”

बस इतने से ही चाचाजी ने उसकी व्यग्र मानसिकता का आभास पा लिया था और कुछ नहीं बोले थे।

ऐसी मनःस्थिति केवल चाचाजी की ही नहीं थी वरन् पूरी मथुरा इसी मानसिकता में जी रही थी। ज्वालामुखी के संभावित विस्फोट के लिए हर व्यक्ति अपनी पीठ तैयार कर रहा था। सामना करने की कल्पना तक लोगों ने छोड़ दी थी। इसीलिए मथुरा का भविष्य अब लोगों के सोच के बाहर हो चुका था।

इसी मानसिकता को स्वीकार करते हुए चाचाजी ने भी छंदक से बहुत बातें नहीं कहीं, केवल मधुमिश्रित दुग्ध का उष्ण पेय उसे भिजवाकर अपने अतिथि सत्कार की इतिश्री कर दी।

मैं उठते ही सीधे छंदक के पास पहुँचा। उसकी व्यग्रता मुझे कोसते हुए बोल पड़ी—“आप सो रहे हैं और मथुरा पर संकट आसन्न है।”

“संकटों को झेलते-झेलते अब मैं उन्हें जीने लगा हूँ।” मैं हँसते हुए बोलता रहा, “मुझे अभ्यास हो गया है। अब मैं कालिय के फन पर भी सो सकता हूँ।”

“पर मथुरा तो नहीं सो पा रही है। इस कालिय (जरासंध) के वध की जिम्मेदारी अब आपको ही निभानी पड़ेगी।”

मैं चुप हो गया; क्योंकि मैं परिस्थिति की गंभीरता को जानता था। फिर भी मेरी नाटकीयता छंदक के समक्ष अपना करतब दिखा ही गई। अब आप ही समझिए, जो रात को बिस्तर पर नहीं सो पाया, वह कालिय नाग के फन पर सोने की बात कर रहा था।

“आखिर आप क्या सोचने लगे?” छंदक ने मेरे मौन को झकझोरा।

“सोचता हूँ कि मैं इस कालिय को न मारूँ, तो कैसा हो?”

“तब तो वह सारी मथुरा को निगल जाएगा।”

“नहीं, ऐसा तो नहीं होना चाहिए।” मेरी मुद्रा गंभीर हो गई।

“आप कैसी बातें कर रहे हैं, कन्हैया? आप कालिय को मारेंगे भी नहीं और वह मथुरा को काटेगा भी नहीं?”

“मैं तो कुछ ऐसा ही सोचता हूँ।”

छंदक के विस्फारित नेत्र मुझे देखते ही रह गए। मैंने दार्शनिकों की भाषा में कहा, “युद्ध हमारे जीवन की अनिवार्यता नहीं है। और न वह आज की राजनीति की एकमात्र विधा है। युद्ध के अतिरिक्त और कई रास्ते हैं।”

मेरी आकृति पर छंदक की जो दृष्टि गड़ी थी, वह गड़ी-की-गड़ी रह गई; मानो वह स्वयं से पूछने लगा हो कि कल तक जो व्यक्ति युद्ध की अनिवार्यता पर विचार कर रहा था, स्वयं मथुरा की युद्ध परिषद् का जिसने निर्माण किया था, आज उसे हो क्या गया है?

“आप घबराएँ नहीं, शांतिपूर्वक बैठें।”

मेरी बात पूरी हुए बिना ही वह एकदम बोल पड़ा—“कैसे शांतिपूर्वक बैठूँ, कन्हैया? अब जरासंध की सेना मात्र दो दिनों के भीतर मथुरा की सीमा छूने वाली है।”

“छूने दीजिए उसे।” मैं बड़े सहजभाव से बोला, “व्यग्रता की कोई बात नहीं। दो दिन तो बहुत होते हैं, हमारे लिए तो दो घड़ी काफी है।”

मेरी कृत्रिम हँसी एक बार फिर उभरी। छंदक भौंचक्का-सा मुझे देखता रह गया।

“आप इस समय आचार्यजी के पास चले जाइए तो बड़ी कृपा हो।” मैंने छंदक से कहा, “आप उनसे कहिए कि मैं उन्हें बड़ी व्यग्रता से स्मरण कर रहा हूँ।”

छंदक आचार्यजी के यहाँ जाने के लिए एकदम उठा। मैंने उसे द्वार पर बिदा करते हुए कहा, “मैं स्वयं आचार्यजी के यहाँ चलता; पर मैं चाहता हूँ कि हमारी मंत्रणा पिताजी, माताजी, चाचाजी और आप सबके समक्ष ही हो।”

छंदक ने समझ लिया कि कोई नई योजना मेरे मस्तिष्क में आई है। वह तीर-सा एकदम वहाँ से छूटा।

□

मुझे पता नहीं आज कैसा लग रहा था; क्योंकि हर व्यक्ति आज सहमा-सहमा दिखाई दे रहा था। शायद मेरी और छंदक की बातों को लोगों ने सुन लिया था। पिताजी और चाचाजी उपवन में विचार-विमर्श में मग्न दिखे। उधर माँ गुणवंती चाची के कक्ष में थी। एक अप्रत्याशित मौन उद्भव और उपदेव से चिपका उन्हें शांत बैठने को विवश किए था। सारांश यह कि कोई अपने में खोया था और कोई दूसरों में खोने की कोशिश कर रहा था।

पर मैंने तो अपना निर्णय ले लिया था। मैं निर्द्वंद्व अपनी पूजा में व्यस्त हो गया।

एक घड़ी भी न बीती होगी कि छंदक आचार्य को लेकर आ गया। उन्हें मंत्रणाकक्ष में बैठाया गया। हम सबने उनके चरण छुए।

मैंने अनुभव किया कि परिस्थिति की गंभीरता के साथ ही मेरे आह्वान ने आचार्यजी को और भी अधिक गंभीर बना दिया है। उनके वृद्ध ललाट पर चिंतन की उभरी रेखाओं से आशंकित भविष्य झाँक रहा था। पर भैया सारी परिस्थिति से निरपेक्ष थे। उनके मुख से निकला—“सब लोग एक स्थान पर हैं, कैसा अच्छा लगता है!”

“हाँ, डूबती नाव के सवारों की परिस्थिति एक ही स्थान पर कर देती है।” आचार्यजी बोले। और फिर मौन का संक्षिप्त अंतराल उभर आया।

“डूबती नाव पर से यदि एक-दो व्यक्ति धारा में कूद जाएँ, तब नाव तो किनारे लग ही जाएगी।” मैंने कहा।

“तब नाव हलकी हो जाएगी, किनारे लगने की संभावना बढ़ जाएगी; पर कोई आवश्यक नहीं कि वह किनारे ही लगे।”

“बढ़ी हुई संभावना का लाभ अन्य सवारों को देने के लिए हम दोनों नाव से हट जाना चाहते हैं।” मैंने कहा।

मेरे ‘हम दोनों’ कहने का तात्पर्य अपने और बलराम भैया से था।

मुझसे इतना सुनते ही सब अवाक् रह गए। बलराम भैया भी कुछ समझ नहीं पाए थे; पर मेरा समर्थन करने के लिए उन्होंने हाँ में हाँ कर दिया था।

“फिर आप लोग जाएँगे कहाँ?” आचार्यजी ने पूछा।

“बस हम लोग नियति की धारा में छलाँग लगा देंगे। नाव हलकी हो जाएगी।” लोग हमारी सांकेतिक बातों का अर्थ अपनी-अपनी मानसिकता के अनुसार लगाने लगे।

मैंने अनुभव किया कि उन्हें और कुतूहल में रखना ठीक नहीं। अब हमने रहस्य का उद्घाटन करते हुए

आचार्यजी को संबोधित किया—“मैंने आपको एक विशेष मंत्रणा के लिए कष्ट दिया है। छंदक का कहना है—और यह ठीक भी है कि अब जरासंध की सेनाएँ मथुरा के निकट हैं। लगभग दो दिनों में वह हमारी सीमा के निकट आ जाएगी। ऐसे में हमें क्या करना चाहिए? आपसे यहाँ की स्थिति छिपी भी नहीं है। मथुरा उस मागधी प्रहार के समक्ष कदाचित् दो-तीन दिनों तक भी टिक न सके।”

आचार्य चुपचाप मेरा मुख देखते रह गए। शायद वे सोचते रहे कि मथुरा तो निराशा में डूबी ही थी, आज जिससे आशा थी, वह भी कैसी बातें कर रहा है।

“तो आपने क्या सोचा है?” आचार्यजी का सीधा प्रश्न था।

“मैंने सोचा है कि भैया के साथ मथुरा छोड़कर कहीं चला जाऊँ।”

“आप तो चले जाइएगा, पर मथुरावासी छोड़कर कहाँ जाएँ?” आचार्यजी की व्यग्रता अकुला उठी—“उन बेचारों का क्या होगा?”

“कुछ नहीं होगा। मथुरा बच जाएगी।” मैंने कहा, “मथुरा को सुरक्षित रखने का अब एक यही उपाय है।”

“इसे आप कैसे कह सकते हैं?”

“बड़े विश्वास से कह सकता हूँ।” मैंने कहा और हँसने लगा। फिर विस्तार से समझाया—“मैं और भैया जरासंध के सबसे बड़े शत्रु हैं। हम लोगों ने उसके जामाता का वध किया है। वह हमसे ही बदला लेना चाहता है। यदि कोई हम दोनों का मुंड काटकर समर्पित कर दे तो वह शायद मथुरा की ओर देखेगा भी नहीं।”

मेरे इतना कहते ही देवकी चीख उठी—“नहीं-नहीं, ऐसा कभी नहीं होगा! मेरे जीते जी कोई मेरे बच्चे पर तलवार उठाए, यह मैं नहीं होने दूँगी।” उसके नेत्र छलछला आए। वह मेरे और बलराम भैया के बीच आकर खड़ी हो गई और दोनों हाथों से हमें लपेट लिया।

“नहीं माँ, ऐसा नहीं। तू इतने से घबरा गई। मैं तो एक उदाहरण दे रहा था।”

“ऐसा अशुभ उदाहरण मैं सुनना नहीं चाहती।” माँ का आकुल स्वर पुनः मुखरित हुआ।

“इसीलिए तो मैं ऐसी युक्ति निकाल रहा हूँ कि साँप भी मर जाए और लाठी भी न टूटे।” फिर मैंने आचार्यजी से कहा, “जरासंध ने घोषणा भी की है कि मुझे मथुरा से कुछ लेना-देना नहीं है। मेरा लक्ष्य तो कृष्ण और उसका बड़ा भाई बलराम है।”

“यदि हमीं लोग लक्ष्य हैं तो हम उसे देख लेंगे।” बलराम भैया का आवेश अब उभरा—“मैं नहीं जाऊँगा मथुरा छोड़कर।” अब तक मेरी हाँ में हाँ मिलानेवाले भैया भी मेरे विरोध में खड़े हो गए।

अब मुझे उन्हें समझाना पड़ा—“यह सत्य है कि जरासंध को हम लोग देख लेंगे। जब इंद्र ने हमारे सामने घुटने टेक दिए तब जरासंध की क्या सामर्थ्य है! पर मथुरा का क्या होगा? यहाँ रक्त की सरिता बहेगी। विधवाओं की आहों से आकाश काँपने लगेगा। बालकों के करुण क्रंदन से धरती फट जाएगी।”

“पर जो भी हो, जो हमें तलवार से ललकारेगा, हम उसका सामना किए बिना नहीं रहेंगे। यही हमारी प्रतिज्ञा है और यही युद्धधर्म।” भैया ने मेरा खुला विरोध किया। उन्हें करना भी चाहिए था; क्योंकि वे उस समय राजनीति के राजपथ के राही थे, जंगल से गुजरती उनकी टेढ़ी-मेढ़ी वीथियों के नहीं। वे उस युद्धधर्म को जानते थे, जो तलवार का जवाब तलवार से देता है; पर वे उस युद्धनीति और राजनीति को नहीं जानते, जो गिरती तलवार के समक्ष सिर झुकाकर बच निकलने की भी शिक्षा देती है।

पर मैं भैया से कहूँ तो क्या कहूँ? आवेश के समय वे कुछ भी सुनना पसंद नहीं करते। अगर मैं उन्हें अधिक समझाता तो वे यही कहते, ‘अच्छा, तुम्हें जाना हो तो जाओ, मैं मथुरा में ही रहूँगा। देखूँ, जरासंध क्या करता है!’”

फिर भी मैंने उनके अहं को सहलाते हुए कहा, “आप कहते तो ठीक हैं, भैया, पर जरासंध को पाठ पढ़ाने का अभी समय नहीं आया है।”

भैया बीच में ही बोल पड़े—“तब कब आएगा?”

“जब आग भभककर अपनी सीमा तक दहक उठेगी और अपना भोज्य नहीं पाएगी, तब क्रोधित नागिन की भाँति फन पटक-पटककर अपना विषदंत तोड़ डालेगी। तब हम उस आग में दोनों हाथों जल उलीचेंगे।”

छूटते ही भैया ने कहा, “एक डरपोक कायर की भाँति।”

“नहीं, वरन् एक नीति-निपुण योद्धा की भाँति, जो अपनी तलवार पर ही नहीं, अपनी बुद्धि पर भी भरोसा करता है। नीतिविहीन रणनीति एक आग है, जिसकी लपटें शत्रु की अपेक्षा स्वयं पर अधिक घहराती हैं।”

भैया रह तो मौन गए, पर वहाँ से हटकर उन्होंने विरोध व्यक्त किया और बगल के कमरे में आकर चुपचाप बैठे।

“तो क्या तुम अकेले जाओगे?” आचार्यजी ने कहा।

“अकेले कैसे? भैया मुझे छोड़ सकते हैं भला!” मैंने कुछ ऊँचे स्वर में कहना जारी रखा कि बगल के कक्ष में बैठे भैया भी सुनते रहें—“जब मैं अकेला चल पड़ूँगा तो भैया मेरी रक्षा में स्वयं आ जाएँगे।”

“इसे वह आपकी जिद नहीं समझेंगे?” आचार्यजी बोले।

“जिद करना तो मेरा अधिकार है। उनसे छोटा जो हूँ।” मैंने कहा और हँसने लगा।

“इसका तात्पर्य यह है कि आप यह रण छोड़ रहे हैं?” अब तक चुप बैठे छंदक ने कहा।

“रण छोड़ नहीं रहा हूँ वरन् बहादुरी से पीछे हट रहा हूँ।” इस बार मैं और जोर से हँसा।

“मैं तो तुम्हें रणजीत समझता था, पर अब रणछोड़ ही समझूँगा।” आचार्यजी बोले, “और भावी इतिहास भी यही समझेगा।”

“यदि आप कहते हैं तो अवश्य समझेगा; किंतु इतिहास इसपर भी विचार करेगा कि मैं रणछोड़ क्यों हुआ? भले ही उसके पृष्ठों में मेरी बदली मनःस्थिति का पूरा चित्र न उभरे, पर इससे क्या! उसमें मथुरा के रक्त के छींटे तो नहीं रहेंगे।”

लोग मेरे इस निर्णय से प्रसन्न नहीं थे। छंदक तो यहाँ तक सोच रहा था कि मैं युद्ध टाल नहीं वरन् स्वयं युद्ध से टल रहा हूँ, मथुरा को असहाय छोड़कर।

उसने कहा भी, “मथुरा आप पर बड़ा भरोसा करती थी, कन्हैया।”

“इसीलिए तो मुझे इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ा, और आप लोगों के वियोग का कड़वा घूँट पीना पड़ा।” मैंने कहा, “आप क्या समझते हैं, आपको छोड़ते हुए हमें कष्ट नहीं हो रहा है?...पर क्या करूँ? कभी-कभी अनिच्छा को भी इच्छा की तरह स्वीकार करना पड़ता है।”

किसी तरह लोगों को मनाने में मैं सफल हो गया। अब प्रश्न था, मथुरा को छोड़कर जाऊँ तो जाऊँ कहाँ? पिताजी का कहना था कि मथुरा अपने चारों ओर शत्रुओं से घिरी है। जो कभी मित्र थे, आज सबके सब शत्रु हो गए हैं। जरासंध ने लगभग सबसे मित्रता कर ली है। कहीं भी निरापद नहीं है।”

आचार्यजी का तो कहना था—“जहाँ भी जाइएगा, विपत्ति आपके साथ लगी रहेगी।”

“पर आपका आशीर्वाद भी तो साथ रहेगा, मथुरा की आत्मीयता साथ रहेगी। मेरा धर्म, मेरा चक्र, मेरी वंशी और मेरा पांचजन्य भी साथ रहेगा।...और सबसे बड़ी बात है, बड़े भैया की छाया तो मुझे मिलती रहेगी।”

क्षण भर के लिए सभी मौन हो गए।

फिर लोगों ने अपने चिंतन की दिशा बदली। अब वे सोचने लगे, कन्हैया का किधर जाना निरापद होगा? संयोग

था कि इस चिंतन के समय विकट भी आ गया। उसे हमारे इतिहास का पूरा पता था। वह मथुरा की पिछली अनेक पीढ़ियों को जानता था। उसे मालूम था कि हमारे हितैषी और कुलबंधु कहाँ हैं। इस संदर्भ में उसने इतिहास के ऐसे अनेक पृष्ठ पलट डाले, जो हमारे लिए अनजाने, अनचीन्हे और अभी तक अनपलटे थे। लगभग आधी घड़ी तक उसकी कथा चलती रही। सब चुपचाप सुनते रहे। लोगों के लिए यह कथा नई नहीं थी। विकट का कहने का ढंग अवश्य नया था।

उसने यह भी बताया कि आपके प्रतापी वंश के लोग आनर्त (उत्तर-पश्चिम गुजरात का प्राचीन नाम) सौराष्ट्र, विंध्य और सत्याद्रि में हैं। इन स्थानों पर आपको अपने कुलबंधुओं से व्यापक समर्थन मिलेगा; चाहे जरासंध क्या, यमराज भी आपके विरोध में आ जाए।

“पर मूल प्रश्न यह है कि क्या इन दोनों भाइयों के चले जाने से मथुरा बच जाएगी?” छंदक ने पूरा प्रश्न सुनकर पुनः विकट के समक्ष दुहराया।

“मैं तो समझता हूँ कि मथुरा बच जाएगी।” विकट बोला।

“कैसे?”

“जरासंध इतना जिद्दी और अभिमानी है कि जहाँ वह सुनेगा कि इन दोनों भाइयों ने मेरे भय से मथुरा छोड़ दी है, वहाँ मथुरा उसकी दृष्टि से उतर जाएगी और वह इन लोगों का पीछा करेगा।”

“यह हुई न समझदारी की बात!” मैंने विकट का समर्थन करते हुए कहा, “आप ही स्थिति का सही मूल्यांकन कर सकते हैं।”

अब मैंने स्पष्ट निर्णय लिया—“हमें बातचीत में व्यर्थ समय नहीं गँवाना चाहिए। कल प्रातः पहली किरण के साथ ही नगर छोड़ देना चाहिए।”

“पर जाएँगे कहाँ?” कक्ष में प्रवेश करते ही बलराम भैया ने पूछा; जैसे वे पहले से सबकुछ सुन रहे हों।

“जहाँ नियति ले जाएगी।” मैं मुसकराते हुए बोला।

□

ब्राह्म मुहूर्त में ही हमारा रथ तैयार हो गया। सभी लोगों ने शीघ्रता की। आचार्यजी भी अपना पूजन-वंदन पूरा कर हमें बिदाई देने आ गए थे। छंदक तो रात्रि में हमारे ही यहाँ रहा; यदि सच कहूँ तो उसे शायद ही नींद आई हो। कल आचार्यजी ने एक महत्वपूर्ण बात कही थी कि जब तक दोनों भाई मथुरा छोड़ न दें, तब तक इसकी सूचना औरों को नहीं मिलनी चाहिए। कदाचित् उनकी इस धारणा के मूल में मेरी सुरक्षा ही प्रमुख थी।

“वस्तुतः मथुरा छोड़ने के दो घड़ी बाद ही हमें इसका प्रचार करना चाहिए।” छंदक ने और सावधानी बरती।

“और इसे अच्छी तरह प्रचारित कर देना चाहिए कि मथुरा की रक्षा के लिए ही उन्हें ऐसा करना पड़ा है।” यह विचार विकट का था।

इन विचारों के साथ सभी की हमें सहमति मिल गई थी।

शायद इसीलिए आज हमें बिदा देने कल के पधारे लोगों के अतिरिक्त और कोई नहीं आया।

सबसे पहले मैं माता देवकी के कक्ष में गया। वह देवी की प्रतिमा के समक्ष मेरी कुशलक्षेम के लिए प्रार्थना कर रही थी। तन्मय थी। ऐसी ध्यानावस्थित कि मेरे आगमन का उसे आभास भी नहीं हुआ। मैं साष्टांग दंडवत् करते हुए उसके चरणों के निकट लेट गया। फिर भी उसका ध्यान भंग नहीं हुआ। इसी बीच माँ की आराध्य देवी पर चढ़ा एक पुष्प मेरे सिर पर गिर पड़ा। अब उसका भी ध्यान मेरी ओर खिंचा। वह विह्वलता में एकदम झुकी और मुझे उठाकर छाती से लगा लिया।

मेरे सिर पर गिरा देवी का फूल अब उसके हाथ में था। उसे दिखाते हुए वह बोली, “देख, देवी ने तुझे आशीर्वाद दिया है। उसने मेरी प्रार्थना सुन ली। इस फूल को तू सदा अपने पास रखना।”

उस पुष्प को लेकर मैंने मस्तक से लगाया। मैंने अनुभव किया कि माँ की व्याकुलता इस पुष्पकांड से कुछ शांत हो गई है। मुझे माँ का प्रत्यक्ष आशीर्वाद जो मिला है। फिर भी माँ माँ थी। उसकी आँखों में सागर हिलोरें ले रहा था। बड़ी विह्वलता से उसने कहा, “वत्स, क्या मैं कभी तुझे अपने पास न रख सकूँगी? जन्म लेते ही तुझे दूर हटाना पड़ा। तब से तू कभी भी मेरे निकट नहीं आया। मेरी छाती सदा तेरे लिए तड़पती रही।” इतना कहते-कहते वह एकदम मुझसे लिपट गई।

मुझे उसके वक्ष में अपनी धड़कन सुनाई पड़ने लगी।

मैंने उसे सँभाला—“तुझसे दूर होकर भी मैं सदा तेरे हृदय में रहा, तू मेरे हृदय में रही। तन की इस दूरी पर मन ने सदा विजय पाई। तब तू इतनी निराश क्यों होती है, माँ? नियति को अभी मुझसे बहुत कुछ कराना है। मैं किसी हेतु जन्मा हूँ, माँ, शायद वह अभी पूरा नहीं हुआ।”

“यही कहकर तो तू अवश कर देता है, वत्स!” इसके बाद उसने आँसू पोंछे। कुछ प्रकृतिस्थ हुई—“क्या तू अकेला ही जाएगा, बेटा?” उसने पूछा।

“अकेले कैसे? भैया जो साथ हैं और माँ का यह आशीर्वाद जो साथ है।” मैंने मुसकराते हुए प्रसाद का वह पुष्प दिखाया।

“क्या उद्धव नहीं जाएगा?” माँ बोली, “वह सदा तेरी छाया की तरह साथ लगा रहा है।”

“अंधकार में तो छाया भी साथ छोड़ देती है, माँ।” मैंने कहा, “और योग्यता तो इसमें है कि अंधकार के पहले ही यदि मैं छोड़ सकूँ तो छाया को भी छोड़ दूँ। पर तू यदि कहती है तो मैं उसे कुछ दूर तक लेता जाऊँगा।”

“केवल कुछ दूर तक ही?”

“हाँ, माँ। उसे मैं कुंडिनपुर तक लेता जाऊँगा। फिर वह आगे बढ़कर करवीरपुर के राजा को मेरे आगमन की सूचना देगा। तब तक मैं जरासंध की पहुँच के बाहर निकल जाऊँगा। तू जरा भी मत घबराना। मैं जहाँ भी रहूँगा, तेरे पास ही रहूँगा। मैं तेरी आत्मा का अंश हूँ। तेरी यश की सुरभि हूँ। तुझसे अलग होकर मेरा कोई अस्तित्व नहीं।” इतना कहते हुए मैंने पुनः उसके चरण छुए और कक्ष से बाहर निकल आया। उसकी ममतामयी दृष्टि मेरा पीछा करती रही।

“अब जरा भी विलंब महँगा पड़ेगा। शुभ घड़ी बीती जा रही है।” आचार्यजी बोले और हम लोग एकदम बाहर निकल पड़े। अभी भोर की किरण भी नहीं आई थी। नभ का नीलाभ कुछ हलका अवश्य हो गया था।

हमने द्वार से निकलते ही देखा कि रथ के निकट एक श्वेतवस्त्रा नारी खड़ी है।

“अरे, यह तो मालिनी है!” छंदक बोल पड़ा।

“इसे हमारी योजना का भान कैसे हुआ?” छंदक को देखते हुए आचार्यजी ने बड़े आक्रोश में पूछा और कहा,

“यह तो दिवंगत अंगारक की विधवा पत्नी है त्रिवक्रा, जिसे कन्हैया की कृपा ने सुडौल मालिनी बना दिया है।”

छंदक कुछ नहीं बोला। लगता है, मेरे मथुरा छोड़ने की बात मालिनी को इसीसे पता चली थी। इसीसे आचार्यजी के बार-बार पूछने पर भी वह मौन रह जा रहा था।

पर आचार्यजी चुप नहीं रह सके—“यह तो महान् अनर्थ हुआ!”

“क्यों?” मैंने पूछा।

“क्योंकि यह विधवा है—और यात्रा के आरंभ में विधवा का पड़ जाना शुभ नहीं होता।”

“पर यह विधवा नहीं है।”

“क्यों, यह अंगारक की पत्नी नहीं है?”

“कभी रही होगी।”

बात आचार्य के विश्वास से परे थी। उन्होंने जोर देकर कहा, “पर अंगारक की अंत्येष्टि इसने ही की थी।”

“जिन परिस्थितियों में अंगारक मारा गया था, यदि उसकी अंत्येष्टि के लिए यह खड़ी नहीं होती तो शायद उसका शव वैसे ही यमुना में बहा दिया जाता और अंगारक की आत्मा एक-एक बूँद जल के लिए मथुरा में भटकती रहती।”

“पर इसने तो उसका अंतिम संस्कार पत्नी के रूप में किया था।”

“पत्नी नहीं वरन् पूर्व पत्नी के रूप में।” मैंने कहा और आचार्यजी मेरा मुँह देखते रह गए।

छंदक को मौका मिला—“भगवान् का स्मरण कर चलिए। अब विवाद का समय नहीं है। शुभ मुहूर्त टलता जा रहा है।”

इम लोग रथ की ओर बढ़ने को हुए। हम दोनों भाइयों ने बड़ों के चरण छुए और छोटों का यथायोग्य अभिवादन किया।

हम रथ के निकट पहुँचने ही वाले थे कि पीछे से किसीके दौड़ते आने की आहट लगी। हमने मुड़कर देखा, माँ एक बड़ी पोटली में कुछ बाँधे लिये दौड़ी चली आ रही है। पोटली देखते ही मुझे सुदामा की याद आ गई।

“अरे, यह क्या, माँ? मैं जहाँ भी रहता हूँ, वहाँ भोजन की कमी नहीं रहती।” मैंने कहा।

“भगवान् न करें, कभी कमी हो; पर माँ का मन नहीं मानता, बेटा।” माँ बोली।

मैंने वह पोटली रख ली। ममता से बोझिल उस पोटली से पकवानों की सुगंध आ रही थी।

सबके हटते ही अब तक मौन खड़ी मालिनी ने हमें तिलक लगाया। हमपर श्वेत पुष्प और अक्षत छिड़ककर हमारी यात्रा की मंगल कामना की। फिर धीरे से उसने मुझे अपने पास बुलाया और गाँठ में सुरक्षित बँधी कोई वस्तु खोलने लगी।

क्या हो सकता है यह? मेरी जिज्ञासा कुलबुलाई।

क्षण भर बाद ही मेरे मुख से निकला—“अरे, यह तो मोर पंख है!”

“जब आप गुरु के आश्रम में विद्याध्ययन के लिए जा रहे थे, तब आपने अपनी स्मृतिस्वरूप दिया था। अब मैं वह स्मृति लौटा रही हूँ।” इतना कहते-कहते उसका कंठ रँध गया।

“क्यों? अब तू मेरी स्मृति नहीं रखना चाहती?”

“क्या करूँगी रखकर?” उसने सिसकते हुए कहा, “अब तक तो आप जहाँ-जहाँ गए, वह सब हमें ज्ञात था। अब आप अज्ञात डगर के राही हो रहे हैं। कौन जाने, जीवन में फिर मिलना हो या न हो!” उसकी सिसकन कुछ तेज हुई।

“अज्ञात डगर!” मैं जोर से हँसा—“नियति की डगर सदा अज्ञात होती है, मालिनी। हमें उस अज्ञात में से ही ज्ञात को खोजना पड़ता है।...यही तो जीवन की साधना है।”

शायद वह मुझे समझ नहीं पाई और सिसकती रही।

पर मैं बोलता जा रहा था—“इस मोर पंख के लौटाने से क्या मेरी स्मृति तुझे छोड़ पाएगी? वह तो और भी प्रगाढ़ होकर तेरे मन से चिपक जाएगी। न मैं तेरे मन से छूट सकता हूँ और न तू मेरे मन से।”

“सच!” उसकी सिसकन अचानक मुसकराहट में बदल गई।

“सच, बिल्कुल सच। मैं जहाँ-जहाँ जाऊँगा, तू सुरभि की तरह मुझसे लिपटी रहेगी। जब भी फूलों की सुगंध मेरा स्पर्श करेगी, तू मेरी आँखों के समक्ष सजीव हो उठेगी।”

मैं चल पड़ने को था। वह बहुत देर तक अपलक मुझे निहारती रही। उस धुँधलके से एक छाया की तरह दौड़ता हुआ कर्मा आया और उसका हाथ पकड़कर खींचते हुए बोला, “चल, जाने दे। बहुत देर हो रही है।”

मेरा रथ चल पड़ा। अपने पिता के साथ लौटती मालिनी मुझे मुड़-मुड़कर देखती रह गई।

□

रथ चला जा रहा था। मथुरा नगर की सीमा छूटते ही उसकी गति और तेज हो गई। पुरवा के सनसनाते झोंकों ने हमारा अभिनंदन किया। आकाश में झिलमिलाते शुक्र ने हमारा अभिनंदन किया। अरण्य के झुरमुट से गुजरते पक्षियों ने हमारा अभिनंदन किया।

पौ फटते-फटते हम एक अनाम सरिता के किनारे पहुँचे। अनाम इसलिए कि हम उसका नाम नहीं जानते थे। वहीं हम लोगों ने रथ रुकवाया। घोड़ों को पानी पीने के लिए खोला गया और हम रथ से उतरकर टहलने लगे।

“सोचता हूँ, हम लोग तीर्थयात्रा पर क्यों न चलें!” बलदाऊ भैया अचानक पता नहीं क्या सोचते हुए बोले।

“युद्धयात्रा से आप सीधे तीर्थयात्रा पर आ गए! कर्म संघर्ष से सीधे कर्म संन्यास पर।” मैंने कहा।

“जब हम युद्ध से भाग रहे हैं...”

भैया कुछ और कहना चाहते थे कि मैंने बीच में ही रोका—“हम युद्ध से भागे नहीं हैं। हमने तो युद्धभूमि छोड़ी है, युद्ध नहीं।”

“युद्धभूमि छोड़ना ही युद्ध से भागना है।”

“आप कैसी बात करते हैं, भैया? युद्ध से भागना पराजय स्वीकार करना है और युद्धभूमि छोड़ना युद्ध के लिए तैयार होने का उपक्रम है। यह भी एक युद्ध ही है। कर्म करना ही कर्म संघर्ष नहीं है, कर्म के प्रति आसक्ति भी कर्म संघर्ष है। और संन्यास में यह आसक्ति छूट जाती है। केवल ‘काम्य कर्म’ (अनिवार्य कर्म) ही रह जाते हैं।”

अब सोचता हूँ कि उस समय ‘गीता’ के अठारहवें अध्याय की पृष्ठभूमि मेरे भीतर तैयार हो रही थी। वस्तुतः जब मैंने मोहग्रस्त अर्जुन को उपदेश दिया था तो ‘गीता’ उसी समय पैदा नहीं हुई। उस समय तो मेरे समग्र जीवन अनुभव ने मात्र वाणी ली थी।

“यदि तुम्हारा युद्ध संघर्ष जारी है, तब तो मैं तुम्हारे साथ हूँ ही। और यदि तुम तीर्थयात्रा पर भी चलते, तब भी मैं तुम्हारे साथ होता।” भैया को आज प्रातः से मैंने पहली बार हँसते देखा।

“साथ तो होना ही है।”

“क्या यह आवश्यक है?”

“यदि आवश्यक न होता तो हम दोनों भाई न होते।” मैंने हँसते हुए कहा।

पर बलदाऊ को मेरा तर्क कुछ हलका लगा। उन्होंने छूटते ही कहा, “भाई तो कौरव और पांडव भी हैं।”

“हैं तो अवश्य, पर दोनों के बीच सत्ता की दीवार जो है।” मैंने कहा, “यदि दीवार ही होती तो भी उसे तोड़कर कोई मार्ग निकाला जा सकता था; पर उसपर महत्वाकांक्षा का एक गिद्ध जो बैठा है। उसकी दृष्टि सदा दुर्योधन को आशीर्वाद देती है और पांडवों को शापित करती है।”

बलदाऊ मेरे संकेत तक शायद पहुँच नहीं पाए। मैंने तुरंत स्पष्ट किया कि वह गिद्ध शकुनि मामा है। यदि वह न होता तो दोनों भाई भाई रहते।

“तो क्या अब वे भाई नहीं हैं?”

“दाऊ, यह तो संसार जानता है कि अब वे शत्रु हैं। पर उनकी शत्रुता प्रच्छन्न है, मित्रता प्रत्यक्ष है।”

“यदि यह है भी, तो पीतांबर के नीचे कब तक अग्नि छिपाई जा सकती है? एक-न-एक दिन तो भभकेगी ही।”

मैं फिर हँसने लगा। जब मैं किसी विषय की गंभीरता को बनाए रखते हुए भी लोगों को उसके तनाव से मुक्त रखना चाहता था तो अपनी कृत्रिम हँसी का आश्रय लेता था। इस समय भी मैंने वैसा ही किया और कहा, “और कौन जाने वह अग्नि संपूर्ण आर्यावर्त का ही हृदयांचल विदग्ध कर दे।”

“संपूर्ण आर्यावर्त का!” बलदाऊ की आँखें विस्मय और भय से विस्फारित रह गईं।

“जब महत्वाकांक्षा की अग्नि ईर्ष्या और द्वेष का घृत व तेल पाती है, तब वह काल अग्नि हो जाती है—और सबकुछ भस्म करके ही दम लेती है।”

“तेरे रहते यह अग्नि भभकेगी?”

“यही तो नियति की विडंबना है, भैया।” मैंने कहा।

दाऊ भैया पहले से अधिक गंभीर हो गए।

उद्धव पास रहकर भी हमारी वार्ता में शामिल नहीं था। वह मूक श्रोता बना रहा। उसकी आकृति अपेक्षा से अधिक चिंतनशील लगी; मानो उसकी आँखों में भविष्य के वे भयानक स्वप्न उतरने लगे हों।

रथ के घोड़े बाँधे जाने लगे। हम लोग आगे बढ़ने की तैयारी में थे। इस छोटी नदी के डूबकर उस पार निकलती एक चौड़ी पगडंडी घने वनों में जाती दिखाई दे रही थी। मेरी इच्छा तो थी कि मैं आगे बढ़ूँ, पर उद्धव और बलदाऊ की इच्छा थी कि अनचीन्हे और अनजान डगर में भटकने से अच्छा है कि हम आसपास के किसी गाँव में चलकर अपने गंतव्य का निश्चय करें।

एक बार तो मैंने जोर भी दिया—“भविष्य भी तो अनजाना और अनचीन्हा है, पर हम बढ़ते उसी ओर हैं।”

“यह तो हमारी विवशता है।” उद्धव बोला, “वर्तमान को भोगते ही हम भविष्य में कदम रख देते हैं। वस्तुतः हम भविष्य की ओर बढ़ते नहीं, नियति द्वारा ढकेल दिए जाते हैं। यह हमारी लाचारी है। पर यहाँ ऐसी कोई विवशता नहीं है। हम आगे बढ़ें या न बढ़ें अथवा दूसरा मार्ग पकड़ें, इसके लिए हम परम स्वतंत्र हैं।”

उद्धव के तर्क में बल था। मैंने मुसकराते हुए उसे स्वीकार किया। हम रथ वहीं छोड़कर किसी ग्राम या ग्रामवासी की खोज में अरण्य की बगल से निकल जानेवाली एक टेढ़ी-मेढ़ी किंतु स्पष्ट पगडंडी की शरण में चले गए।

हम कुछ ही आगे बढ़े होंगे कि उधर से एक ऋषितुल्य व्यक्ति आते दिखाई दिए। केवल गैरिक अधोवस्त्र पहने हुए उनकी उन्मुक्त काया शरद् के निरभ्र आकाश-सी ज्योतिष और निर्मल थी। दाढ़ी और सिर के केश एकदम हिमानी, श्मश्रु और भौंहें तुषारावृता। हाथ में खाली कमंडलु लिये हुए। निश्चित है, वे नदी से जल लेने जा रहे थे।

मुझे देखते ही वे बोल पड़े—“अरे, तू यहाँ कैसे?”

उनके स्वर में इतनी आत्मीयता थी मानो वे बहुत दिनों से मुझे जानते हों।

मैं कुछ नहीं बोला।

“मथुरा में कुशल तो है?” उनका दूसरा प्रश्न था।

इस बार भी मैं चुप ही रह गया।

पर भैया बोल पड़े—“यदि कुशल होती तो हम लोग यहाँ क्यों होते?”

इतना सुनते ही ऋषि ने आँखें मूँद लीं। वे ध्यानमग्न हो गए। और फिर जब आँखें खुलीं तो उनके मुख से मुसकराते हुए निकला—“ओह, यह बात है!” जैसे उन्होंने सबकुछ जान लिया हो—“तो कहाँ अब घर बसाने का विचार है?”

“कहीं भी। धरती का जो कोना हमें स्वीकार कर ले, उसीकी गोद में रह जाएँगे।”

“कोई भी भूखंड तुम्हें पाकर धन्य हो जाएगा! बसने को तो तुम सब यहीं बस सकते हो।” उन्होंने तर्जनी से दूर अपने आश्रम की ओर संकेत किया और पुनः जल लेने नदी की ओर बढ़ने लगे।

“आप मुझे कमंडलु दे दें, मैं जल ला देता हूँ।” मेरी विनम्रता बोल पड़ी।

“नहीं-नहीं, ऐसा नहीं। जो स्वयंसेव्य है, मैं उससे सेवा लूँ।” ऋषि ने बड़ी श्रद्धा से कहा।

मुझे अनुभव हुआ कि मेरे यहाँ आने के पहले ही मेरी छाया यहाँ पहुँच चुकी है।

पर इस बार भैया ने बड़ी चतुराई से ऋषिवर की मानसिकता बदलने की चेष्टा की और कहा, “यह बात नहीं है, कन्हैया। तेरे नटखटपने से लोग होशियार हो गए हैं। महर्षि सोच रहे हैं कि जल लाने के बहाने तू यदि उनका कमंडलु लेकर चंपत हो गया, तो क्या होगा?”

इतना सुनते ही सब हँस पड़े।

इसके बाद हम लोग ऋषि के आश्रम में गए। वहाँ उन्होंने हमारा अपने शिष्यों से परिचय कराया। आश्चर्य है कि वे हमारी एक-एक बात जानते थे और हम उन्हें बिल्कुल नहीं पहचानते थे। कुछ संकेतों और कुछ शब्दों का सहारा लेते हुए इस संदर्भ में मैंने अपनी अज्ञता प्रदर्शित की।

पर ऋषिवर ने स्वयं को प्रच्छन्न रखते हुए बड़ी चतुराई से कहा, “किसी सुमन की सुरभि जिन नासापुटों तक पहुँचती है, क्या वह सुरभि उन्हें पहचानती है? पर नासापुट तो हर सुरभि को पहचानते हैं।” इसके बाद ऋषिवर ने यह संदर्भ ही बदल दिया और बोले, “वस्तुतः आप किधर के लिए निकले हैं?”

ऐसा लगा कि स्वतः जानते हुए उन्होंने प्रश्न किया।

“करवीरपुर जाने की इच्छा है, यदि मार्ग मिल गया तो।”

“मार्ग तो मिलेगा ही।” ऋषिवर ने बड़ी गंभीरता से कहा, “पर करवीरपुर में आपकी आवश्यकता नहीं है। आपकी आवश्यकता है तो कुंडिनपुर में है।”

“कुंडिनपुर! विदर्भ की राजधानी?”

“जी हाँ। इस समय आप विदर्भ की सीमा में ही हैं।”

“पर विदर्भ में तो महाराज भीष्मक का शासन है।”

“यदि उनका होता तो कहना ही क्या था!” ऋषिवर बोले, “इस समय तो सर्वेसर्वा रुक्मी है वहाँ।”

“रुक्मी!” मैंने मुसकराते हुए भैया को देखा। मेरी दृष्टि ने कहा कि आपने कभी उसे उठाकर ऐसा पटका था कि वह स्वतः नहीं उठ पाया था। भैया भी मन-ही-मन सोचकर मुसकराने लगे। मैंने ऋषिवर से शंका की—“महाराज भीष्मक के होते हुए वह कैसे सर्वेसर्वा हो गया?”

“जैसे मथुरा में उग्रसेन के होते हुए वास्तविक शासक कंस हो गया था।...और अब तो परशुराम से उसने शस्त्र शिक्षा भी ली है। इस समय उसका अहं आकाश छू रहा है।”

“पर अभी तो भीष्मक के पिता कौशिक भी जीवित होंगे?”

“हाँ, जीवित हैं। पर विदर्भ पर जरासंध के आक्रमण के बाद वे और उनके भाई ऋत राज्य प्रवृत्तियों से निवृत्त हो गए हैं।”

“तो अब क्या करते हैं वे?” मैंने जिज्ञासा की।

“दोनों ने कर्म संन्यास ले लिया है।”

“इसका तात्पर्य है कि उन्होंने कर्म से संन्यास नहीं लिया है।” मैंने कहा, “कर्म करते हुए संन्यास लिया है। यह

एक अच्छी बात है।”

“हाँ, वे कभी-कभी हमारे आश्रम में भी आते हैं।”

“यह और अच्छी बात है।” मैंने कहा, “जब आश्रम राजभवन में जाता है तब देश की मनीषा का गौरव नष्ट होता है और जब राजभवन आश्रम में आता है तब राष्ट्रीय मनीषा पूजित होती है।” पता नहीं मैं किस मानसिकता में कह गया।

बात यह थी कि मैं आर्यावर्त की वर्तमान स्थिति से क्षुब्ध था। यह क्षुब्धता ही अवसर मिलते ही मुखर हो जाती थी। पर महर्षि को लगा कि मैं उनकी आलोचना कर रहा हूँ।

उन्होंने छूटते ही कहा, “मैं अनाहूत कभी राजभवन में नहीं गया हूँ।”

“नहीं-नहीं, मैंने यह बात आपको लक्ष्य करके नहीं कही थी।” मैंने स्थिति सँभाली—“आप जैसे महर्षियों के कारण ही आज राष्ट्र की बौद्धिक अस्मिता शेष है।”

महर्षि के नयनों से गौरव झलक पड़ा।

उपाहार पर ही बातें हो रही थीं। हम लोग दूध, फल खाकर अघा चुके थे। फिर भी कुछ देर और विश्राम करने की इच्छा थी; क्योंकि आश्रम का आतिथ्य हममें नई स्फूर्ति भर रहा था। हमने आगे की योजना पर भी विचार आरंभ किया और आपस में यह राय बनी कि अब हमें महेंद्र पर्वत पर चलकर कुछ दिन महर्षि भार्गव के आश्रम में बिताना चाहिए। उनकी दूरदर्शिता और अनुभव का लाभ लेते हुए तब आगे बढ़ना चाहिए।

महर्षि को हमारी इस योजना का आभास लगा। वे तुरंत बोल उठे, “मैंने आपसे निवेदन किया कि आप कुंडिनपुर जाइए। वहाँ आपकी आवश्यकता है।”

“हमारी आवश्यकता!” मैंने कहा, “तात, मैं आपका तात्पर्य समझ नहीं पाया?”

महर्षि ने स्पष्ट किया—“वहाँ रुक्मिणी के स्वयंवर का नाटक रचा जा रहा है।”

स्वयंवर और नाटक! बात फिर उलझ गई। पर मैं कुछ बोला नहीं। मेरी प्रश्नवाचक मुद्रा से महर्षि ने सबकुछ समझ लिया।

उन्होंने बताया—“रुक्मी अपनी बहन रुक्मिणी के विवाह के लिए स्वयंवर की योजना बना रहा है।”

“तब इसमें वह सभी को आमंत्रित करेगा ही।” इस बार भैया बोले।

“यही तो उसका नाटक है।” महर्षि ने कहा, “वह स्वयंवर के नाम पर कुछ लोगों को बुलाएगा और अपनी बहन को शिशुपाल को वरण करने के लिए बाध्य करेगा।”

“पर यह तो स्वयंवर हुआ नहीं।” उद्धव ने कहा, “स्वयंवर में तो कन्या की इच्छा प्रधान होती है।”

“पर वहाँ तो हर काम में अब रुक्मी की इच्छा ही प्रधान है।” महर्षि ने कहा।

अब मेरा चिंतन रुक्मिणी के स्वयंवर से बेतरह उलझ चुका था। मुझे बीते दिन एक के बाद एक याद आने लगे—जब उसकी-मेरी आत्मीयता बढ़ी, जब उसकी ललचाई दृष्टि मुझपर लगी, जब हमारे नयनों का संभाषण आरंभ हुआ और जब वह मेरे लिए बदनाम हुई।

“क्या सोचने लगे, कन्हैया?” महर्षि ने पूछा।

“यही कि यह उचित नहीं है।” मैंने बड़ी गंभीरता से कहा।

“अब उचित-अनुचित का विचार विदर्भ से चला गया है।” महर्षि बोलते रहे—“अभी कल ही तो कौशिक महाराज पधारे थे। उन्होंने बताया था कि रुक्मिणी ने रोते हुए अपनी रक्षा की याचना उनसे की थी; पर वे कुछ कर नहीं पाए। सत्ता से हटा व्यक्ति तूफान में टूटी डाल की तरह बेकार होता है। वह निर्जीव-सा अपने ही वृक्ष को देखता रह जाता

है और सूखता जाता है। नदी से निकाली हुई नाव की तरह वह केवल इतिहास को अपने सीने से लगाकर वर्तमान की धूल फाँकता है और भविष्य का अँधेरा देखता है।” महर्षि बोलते-बोलते मौन हो गए। लगा, वे कुछ सोचने लगे हों।

हम लोग तो चुप थे ही। केवल उन्हें सुन रहे थे। उन्होंने यह भी बताया—“कौशिक का कहना है कि रुक्मिणी ने मन से किसी और का वरण कर लिया है। वह बार-बार ऐसा संकेत दे रही थी। उसने अपने भाई से स्पष्ट कहा कि एक बार मन से किसीको अपना बना लेने के बाद मैं किसी पर पुरुष के गले में जयमाल नहीं डाल सकती।”

“तब रुक्मी ने क्या कहा?” मैं बोल पड़ा। मेरे मन पर रुक्मिणी की छवि पूर्णतः छा गई थी।

“कौशिकजी का कहना था कि इतना सुनते ही रुक्मी ने अपनी बहन को धक्के मारकर गिरा दिया और कहा कि तुम मेरे शत्रु का वरण नहीं कर सकती।”

मेरे मानस में रुक्मिणी की छवि ने विवशता भरी एक अँगड़ाई और ली।

“शत्रु! यह क्या सोच रहा है रुक्मी?” इस बार भैया बोले।

“वह पागल हो गया है। प्रतिशोध की ज्वाला में जल रहा है। तभी तो जरासंध की शरणागत हो गया।”

“जरासंध की निकटता तो उसकी पहले से थी।” भैया ने कहा।

“निकटता और बात है, शरणागत हो जाना और। एक में समानता जीवित रहती है और दूसरी में एकदम मर जाती है।” महर्षि बोले, “इस समय वह बदले की भावना से ग्रस्त है।”

“आखिर वह किससे बदला लेना चाहता है?” अब उद्धव ने पूछा।

महर्षि कुछ बोले नहीं, केवल भैया की ओर देखकर मुसकरा दिए।

“मुझसे!” भैया को पिछली घटना याद तो थी ही। उनका क्रोध उबाल खा गया। वे आवेश में एकदम उठकर खड़े हो गए।

मैंने उन्हें शांत किया और महर्षि से पूछा, “रुक्मी के चार भाई और हैं, उनका क्या रुख है?”

“वे सब रुक्मिणी के पक्ष में हैं; पर कुछ कर नहीं पा रहे हैं।”

अब भैया एक क्षण भी वहाँ रुकना नहीं चाह रहे थे। वे कुंडिनपुर चलने के लिए उतावले थे; पर मैं पहले उद्धव को भोजना चाहता था।

मैंने स्पष्ट कहा, “हम लोगों के चलने के पहले मेरा रथ लेकर उद्धव को जाना चाहिए।”

“क्यों?” भैया ने पूछा।

“कुंडिनपुर की स्थिति का अभी हमें आभास मिला है, पर उसकी पूरी जानकारी अभी हमारे पास नहीं है। पूर्व जानकारी के अभाव में किसी भी योजना की सफलता संदिग्ध रहती है।” मैंने कहा।

मेरी बात तो मान ली गई, उद्धव तुरंत चल भी पड़ा, फिर भी भैया ने कहा, “यह तो विदित ही हो चुका है कि रुक्मी का लक्ष्य प्रतिशोध में है।”

भैया की बात पूरी हो, इसके पहले ही महर्षि ने मुसकराते हुए मेरी ओर देखा और पूछा, “और अपने पति के रूप में रुक्मिणी के वरण का लक्ष्य?”

“वह तो आप जानते ही हैं, तात।” मैं हँसते हुए बोला। अन्यो की हँसी भी मेरी हँसी में शामिल हो गई।

□

हमारे आश्रम से कुंडिनपुर मुश्किल से अर्ध योजन दूर था; पर बीच में पड़ी पहाड़ी और घने वनों ने उसकी निकटता के आभास को कुंठित कर दिया था। इधर न तो नगरवासियों के दर्शन होते थे और न नगरीय मानसिकता

की गंध ही लगती थी।

विश्वास था कि संध्या तक उद्धव लौट आएगा; पर ऐसा नहीं हुआ। निदान, हमें आश्रम में ही रात बितानी पड़ी। हमने ब्रह्मचारियों के साथ ही रात्रि का भोजन किया और जब उन्हींके साथ ही कुश के आस्तरण पर लेटने की बारी आई, तब आचार्यजी थोड़े संकोच में दिखाई दिए।

उन्होंने तत्क्षण मेरे और भैया के लिए दो आस्तरणों पर अपने गैरिक चीवर बिछा दिए। मैं बड़ी विनम्रता से बोला, “ऋषिवर, यह क्या?”

“आप लोग कुशास्तरण के अभ्यस्त नहीं हैं। यह आपको गड़ेगा।”

“हम लोग कुशास्तरण के भी अभ्यस्त हैं और कुशासन के भी।” मैंने हँसते हुए कहा, “एक कुशासन से हमारे गुरु सांदीपनि ने आत्मीयता कराई और दूसरे कुशासन से मामा कंस ने।”

मेरे ‘कुशासन’ शब्द के द्विअर्थी प्रयोग पर महर्षि खुलकर हँसे। पर मैं बोलता गया—“हम जीवन की हर स्थिति से अभ्यस्त हैं; क्योंकि परिस्थितियों ने ही हमारा निर्माण किया है। उनकी भिन्नता और अप्रत्याशितता ही मेरे जीवन का आधार रही है। इसलिए मैं परिस्थितियों को भोगता नहीं। अब परिस्थितियाँ स्वयं मुझे भोगने लगी हैं।”

महर्षि इतना सुनते ही चुपचाप हट गए।

दीप बुझा देने के बाद विश्राम की घंटी बजते ही मेरी आँखें मुँदने लगीं। ऐसा आभास होने लगा कि सांदीपनि गुरु के आश्रम में पड़ा हूँ। मुझे नींद कब आ गई, पता नहीं; पर सपनों का सिलसिला शुरू हो गया। मैंने देखा कि मैं एक अरण्य में हूँ। उसके एक कोने में आग लगी है। अरे, यह जंगल की आग है। शीघ्र ही संपूर्ण अरण्य को निगल लेगी। मैं सोचता रहा और वहाँ से भागने का उपक्रम करने लगा। तब तक उद्धव ने मुझे पकड़ लिया—‘भागकर कहाँ जाओगे? क्या यहाँ से भी भागने पर यह अग्नि रूपी जरासंध अरण्य को छोड़ देगा? इस अग्नि का सामना करो। तुमने इंद्र के प्रकोप का भी सामना किया था, घनघोर वर्षा का भी सामना किया था। आज इन लपटों का भी सामना करो।’

विचित्र है उद्धव! मुझे ललकार रहा है। मैं ठिठककर खड़ा हो गया। एक ओर जंगल की आग और दूसरी ओर मेरा चिंतनशील व्यक्तित्व।...आखिर क्या कर सकता हूँ मैं? मैं सोच ही रहा था कि उस आग से दौड़ती हुई रुक्मिणी निकलती चली आती दिखाई दी—और एकदम आकर मुझसे लिपट गई—‘मैंने तुम्हें इतना पुकारा, कन्हैया, पर तुम नहीं आए। आखिर तुम कितने निष्ठुर हो गए हो! मैं उठाकर अग्नि में झोंक दी गई। पर इससे क्या होता है! मैं अग्नि की होने वाली नहीं हूँ। मैं फिर दौड़कर तुम्हारे पास चली आई। यों भी मैं तुम्हारे पास थी, तुम्हें भले ही इसका आभास न हो।’

‘मुझे आभास है, रुक्मिणी! मुझे आभास है।’ इतना कहते हुए मैंने उसे अपने वक्ष से लगा लिया। अब देखता हूँ कि वह अरण्य अग्नि एक बड़े दैत्य के रूप में परिवर्तित हो गई।...और दैत्य भी चिंघाड़ मारता हुआ मेरी ओर बढ़ता चला आ रहा है। रुक्मिणी एकदम मुझसे चिपकती जा रही है; जैसे वह मुझमें खो जाना चाहती हो।...इसी बीच ब्राह्म मुहूर्त की शंखध्वनि सुनाई देती है और मेरी नींद खुल जाती है।

जैसे अग्नि अपनी छाया धूम के रूप में छोड़ जाती है वैसे ही स्वप्न की छाया भी स्मृति के रूप में मन को बहुत देर तक पकड़े रही है। मुझे अब भी लग रहा है कि रुक्मिणी मुझसे लिपटी है।

बगल में सो रहे भैया पहले से ही जाग उठे हैं। मैं उन्हें देखते हुए भी जैसे नहीं देख रहा हूँ। मैं अपने में खोया हूँ। अचानक याद आया कि आज सोकर उठने पर उनका चरण स्पर्श नहीं किया। मैंने बड़े झटके से अपना सिर उनके चरणों पर रख दिया।

“क्या बात है? आज इतने खोए-खोए-से क्यों हो?” भैया ने पूछा।

“यों ही, एक विचित्र सपना देखा था।”

“क्या देखा था?”

मैंने कुछ बताया नहीं, केवल इतना ही कहा कि अब हमें कुंडिनपुर चलना चाहिए।

“यह तो मैं तुमसे कल ही से कह रहा था; पर तुमने मेरी बात नहीं मानी और उद्धव को भेज दिया।”

मैं कुछ बोला नहीं और उठकर ऋषिवर का चरण स्पर्श करने चल पड़ा।

“लगता है, तुम रात को सो नहीं सके!” आशीर्वाद देते हुए मुझसे महर्षि ने कहा।

“नहीं, सोया तो था।”

“पर तुम्हारी आकृति पर जागरण की चमक नहीं है। लगता है, अभी भी तुम सोए हो।” महर्षि हँसने लगे।

मैं क्या कहता। मुसकराता हुआ वहाँ से चला आया और नित्यकर्म में लग गया। इसी बीच अचानक वन्य पशुओं में खलबली मची। सारा अरण्य प्रांतर कंपित हो उठा। मैं दौड़ा हुआ महर्षि के पास पहुँचा। वे पूजन के लिए आसन पर बैठ चुके थे। मेरी जैसी व्यग्रता ब्रह्मचारियों की आकृतियों से भी टपक रही थी। उनमें से एक तो सीधे पहाड़ी की ओर दौड़ा।

शीघ्र सूचना मिली कि विदर्भ की सेनाएँ मथुरा की ओर बढ़ रही हैं। अब मैंने भैया से कहा। भैया भी स्थिति की गंभीरता के संबंध में सोचने लगे। हमारी जिज्ञासा चरम बिंदु पर थी। मैं आगे बढ़ने का उपक्रम कर ही रहा था कि उधर से धनुष लिये तथा तूणीर कसे आदिवासियों का झुंड आता दिखाई दिया।

मैंने उनसे पूछा, “आप लोग किधर से आ रहे हैं?”

“पहाड़ी के उस पार से।” उनका सरदार बोला, “हमें आशंका हुई कि हमपर आक्रमण होने वाला है; पर बात कुछ और निकली।”

“आखिर बात क्या है?” भैया ने पूछा।

उसने भी पूर्व मिली सूचना को ही दुहराते हुए कहा, “विदर्भ की सेना राजकुमार रुक्मी के नेतृत्व में मथुरा जा रही है।”

“अभी तो वहाँ रुक्मिणी का स्वयंवर होने वाला था!” मैंने कहा।

“इसी बीच राजकुमार का प्रतिशोध जाग उठा।”

“प्रतिशोध! कैसा प्रतिशोध?”

“कृष्ण और बलराम से बदला लेने की भावना।” निश्चित है, वह आदिवासी सरदार हम लोगों को पहचान नहीं रहा था। मुसकराते हुए भैया गंभीर हो गए थे।

“सुना है, उसके वास्तविक शत्रु वही दोनों हैं। उन्हींसे बदला लेने के लिए वह जरासंध की भी शरण में गया है।”

“पर कृष्ण और बलदाऊ वहाँ मिलेंगे, तब तो!” भैया बोले।

“पूरे विदर्भ में सूचना है कि वे लोग वहीं हैं।” सरदार बोला। फिर थोड़ा मुसकराते हुए उसने कहा, “यदि कहीं वे वहाँ न मिलें तो आनंद आ जाए।”

“क्यों?”

“तब वह स्वयं मुँह की खाएगा। बड़ा चतुर बनता था न!” सरदार हँसने लगा।

“पर रुक्मिणी के स्वयंवर का क्या हुआ?”

“अब स्वयंवर क्या होता! उसे अनिश्चित काल के लिए टालना पड़ा।”

“पर जो लोग स्वयंवर के लिए पधारे थे, उनका क्या हुआ?” मैंने पूछा।

“सब अपना-सा मुँह लेकर चले गए।”

“शिशुपाल भी लौट गया?”

“लौटता न तो क्या करता! मैंने सुना है कि रुक्मिणी उसे वरमाला पहनाने को तैयार ही न थी। उधर रुक्मी उसीको बहनोई बनाने पर जोर दे रहा था। इसी बीच उसे पता चला कि जरासंध मथुरा तक आ गया है। वह एकदम विचलित हो गया। उसकी प्रतिहिंसा जाग उठी।” सरदार इतना कहकर अपना धनुष सँभालते हुए बड़े सहजभाव से चला गया।

इन आदिवासियों का व्यक्तित्व अशांति के समय जितना जटिल होता है, शांति के समय उतना ही सहज भी। इन्हें न ऊधो का लेना और न माधो का देना। बस अपने काम से काम। यदि हम लोगों ने उसे रोका न होता तो इतना बताना तो दूर रहा, शायद हम लोगों से वह बोलता भी नहीं। और जाते समय उसकी सहजता ने हमारा परिचय जानने की भी आवश्यकता नहीं समझी; जैसे हवा का एक अबोध झोंका आया और चला गया।

□

सोलह

उद्धव ने मुझे जो लौटकर बताया, वह बड़ा विचित्र था।

जब वह कुंडिनपुर में पहुँचा तब वह पूरी तरह भीतर-ही-भीतर उबल रही थी। एक ओर स्वयंवर की तैयारियाँ हो रही थीं, नगरी नववधू की भाँति सजाई जा रही थी और दूसरी ओर आमंत्रित राजा मुरझाए हुए थे। उन्हें स्वयंवर की नाटकीयता का आभास लग गया था; क्योंकि उद्धव को उनकी बातें सुनने को मिली थीं। एक राजकुमार दूसरे राजकुमार से कह रहा था—“कुछ सुना आपने?”

“क्या?”

“यही कि राजकुमारी स्वतंत्र नहीं है।”

“आपका तात्पर्य?”

“उसकी वरमाला स्वतंत्र नहीं है। वह किसी कंठ के लिए पहले से ही निश्चित हो चुकी है।”

“यह आप क्या कह रहे हैं?”

“मैं ठीक कह रहा हूँ। दमघोष के पुत्र शिशुपाल को देखो, वह कैसा सीना फुलाए चल रहा है! लगता है, स्वयंवर के पूर्व ही वह महाराज भीष्मक का जामाता हो गया है।”

“ऐसी बात है, तब तो हम लोगों को इस स्वयंवर का विरोध करना चाहिए।”

“विरोध तो राजकुमारी स्वयं कर रही है।” उस राजकुमार ने कहा और बताया, “राजकुमारी का तर्क कुछ दूसरा है।”

“क्या?”

“उनका कहना है कि वह अपने वर का चुनाव कर चुकी हैं।”

“क्या कहा?” उस राजकुमार का मुँह खुला-का-खुला रह गया—“राजकुमारी ने अपने पति का चुनाव कर लिया है, तो यह नाटक किसलिए?”

“यह सारा नाटक तो रुक्मी की ओर से रचा गया है।”

“महाराज भीष्मक तो निरपेक्ष द्रष्टा हैं, बिल्कुल उग्रसेन की तरह। वे रुक्मी की इच्छा के विरुद्ध कुछ नहीं कर सकते।”

जब उद्धव ने देखा कि पूरा राजभवन एक विचित्र तनाव में है, तब वह सीधे पूर्व महाराज कौशिक के आवास पर पहुँचा। वह आवास क्या, एक आश्रम जैसा था, जिसमें एक संन्यस्थ राजा निवास करता था; जिससे राजत्व उतना ही दूर था, जितना जल अग्नि से। जिसके आश्रम में कोई चाकर नहीं था। जो थे भी, वे सहयोगी की तरह।

वहीं उद्धव को रुक्मिणी भी दिखाई पड़ी। वह महाराज कौशिक से कह रही थी—“पितामह, आप ही कुछ कीजिए। मैं तो कुछ सोच भी नहीं पा रही हूँ। मेरी मनुष्यता बंदी बना ली गई है। अब मैं पशु हूँ, जिसे खरीदा और बेचा जा सकता है और एक क्रीत दासी की तरह किसीके पीछे लगा दिया जा सकता है। अब पितामह, आप ही बताइए, क्या नारी एक वस्तु मात्र है? उसके घरवालों ने जब जिसे चाहा, उठाकर दे दिया। क्या उसकी अपनी कोई इच्छा नहीं? कोई आकांक्षा नहीं? क्या उसकी अस्मिता उसके घरवालों की इच्छा की मात्र चेरी है?”

महाराज कौशिक ने उसे सांत्वना दी—“नहीं, बेटी, ऐसी बात नहीं। नारी का सम्मान हमारे धर्म का आधार है। वह भी पुरुष की ही तरह स्वतंत्र है। उसकी अस्मिता कभी पुरुषों की चेरी नहीं हो सकती। जब-जब उसकी इच्छा और

आकांक्षा की बलि चढ़ाई जाती है तब-तब भूकंप आता है।”

“तब वह भूकंप विदर्भ में क्यों नहीं आता?” रुक्मिणी ने बड़ी व्यग्रता से पूछा था।

“लगता है, अभी समय नहीं आया है।” महाराज कौशिक ने कहा, “हर अनर्थ और अत्याचार की सीमा होती है।...और यही सीमा रेखा उसकी लक्ष्मण रेखा है, जिसे लाँघते ही अत्याचार स्वयं भस्म हो जाता है।”

रुक्मिणी सुनती रही। चुप थी। पर उसकी आकृति पर उभरी व्यग्रता पूछती रही—“वह सीमा रेखा कहाँ होगी? कब आएगी?”

“इसके लिए प्रतीक्षा करो और अपने इष्टदेव का स्मरण करो।” महाराज ने समझाया।

“मैं तो दिन-रात अपने इष्टदेव का स्मरण करती हूँ।” रुक्मिणी ने बड़ी व्याकुलता से कहा, “पर लगता है, उसके कान पथरा गए हैं, या मेरी प्रार्थना ही कुंठित हो गई है।”

“हृदय से की गई प्रार्थनाएँ कभी कुंठित नहीं होतीं। वे पत्थर के कानों से भी टकराती हैं और उन्हें सुनने के लिए बाध्य करती हैं।”

महाराज से इतना सुनते ही रुक्मिणी ने अपना माथा ठोंका—“तब लगता है, हमारा करम ही खोटा है।”

“ऐसा मत सोचो, बेटी।” महाराज ने उसे समझाया—“अन्याय के सामने नतमस्तक होने से वह प्रेत की तरह विशाल हो जाता है और फुफकारने लगता है। और साहस का बाली जब उसके विपक्ष में आता है तब उसकी आधी शक्ति हर लेता है। इसलिए साहस के साथ उसका सामना करो।”

उद्धव ने मुझे बताया कि इतना सुनते-सुनते उससे रहा नहीं गया। उसने उनसे पूछ ही लिया—“आखिर आपने अन्याय का साहस के साथ क्यों नहीं सामना किया? आप क्यों भाग खड़े हुए?”

इसपर महाराज जोर से हँसे और बोले, “मैं भागा नहीं हूँ, उद्धव, और न स्वयं को अभागा समझता हूँ। जीवन का चौथापन आ गया, संन्यस्थ होने की अवस्था। मन से संन्यासी हो भी गया। राजवैभव को तिलांजलि दे दी। विदर्भ का मोह छोड़ दिया, पर विदर्भ नहीं छोड़ा; क्योंकि आँखें अब भी वह दृश्य देखने की प्रतीक्षा में हैं, जब यह सारा अन्याय मोम की तरह पिघलकर बहने लगेगा।” इतना कहते-कहते महाराज चुप हो गए थे। फिर अचानक उनकी मुद्रा बदली। संदर्भ भी उन्होंने बदल दिया। अब उन्होंने उद्धव का परिचय रुक्मिणी से कराते हुए कहा, “तुम इन्हें जानती हो, बेटी। ये उद्धव हैं—कृष्ण के बालसखा। कृष्ण ने ही यहाँ की स्थिति की समीक्षा करने इन्हें भेजा है।”

इतना सुनना था कि रुक्मिणी एकदम खिल उठी। उसका मन-मयूर नाच उठा। वह अचानक पितामह के चरणों पर गिर पड़ी। शायद यह उसकी विह्वलता की चरम परिस्थिति थी।

“क्या बात है?” पितामह बोले।

“सचमुच हमारी प्रार्थना कुंठित नहीं हुई।” वह विह्वलता में बोलती गई—“सचमुच हमारे इष्टदेव के कान पथराए नहीं हैं—और अब तो हमें वह सीमा रेखा भी दिखाई पड़ रही है।”

“कौन सी?”

“जहाँ अनर्थ पहुँचकर स्वयं भस्म हो जाता है।”

उद्धव ने बताया कि इधर रुक्मिणी की विह्वलता चरम सीमा पर थी और उधर एक अप्रत्याशित कोलाहल होने लगा। सारे कार्यक्रम स्थगित हो गए। सारे सैन्य शिविर झकझोर उठे। सेना को मथुरा की ओर प्रयाण करने का आदेश हुआ। पितामह कौशिक भी चिंतित हो गए। पता लगाया तो पता चला कि जरासंध मथुरा में आ गया है। उसीसे मिलकर बलराम और कृष्ण से बदला लेने रुक्मी अपनी सेना लेकर जा रहा है।

उद्धव का कहना था कि हम दोनों भाइयों का नाम सुनते ही रुक्मिणी की आकृति अचानक पीली पड़ गई। तब उसने उससे इस व्यग्रता का कारण पूछा।

वह मौन ही रही। उसके मन पर जरासंध की शक्ति का भीषण आतंक था। उसके मुख से बस इतना ही निकला—“तब तो वे लोग बड़ी विपत्ति में पड़ेंगे।”

उद्धव ने समझ लिया कि रुक्मिणी हमारे ही संदर्भ में कह रही है। वह बोल पड़ा—“मथुरा में वे लोग होंगे, तब न!”

रुक्मिणी की विह्वलता ने एक उबाल और खाया—“क्या कहा? वे लोग मथुरा में नहीं हैं?”

“नहीं।”

“तब कहाँ हैं?”

“यहीं विदर्भ में, आपके आसपास।”

“सच!” उसकी प्रसन्नता अपना तटबंध तोड़ आँखों से बरस पड़ी—“तब वे यहाँ आते क्यों नहीं?”

“समय पड़ने पर स्वयं आ जाएँगे।”

“मैंने कहा था न कि समय की प्रतीक्षा करो।” पितामह कौशिक बोले और हँस पड़े।

□

उद्धव मेरा मित्र था। उसमें कुछ मेरी विशेषताएँ होना स्वाभाविक थीं। यदि ऐसा न होता तो मेरी प्रकृति उससे न मिलती। लोगों को चिढ़ा और भड़काकर आनंद लेने की उसकी प्रवृत्ति मेरी प्रवृत्ति की तरह कभी-कभी जाग उठती थी।

वह ब्राह्मण का वेश धारण कर नगर की गतिविधि देखने निकल पड़ा था। सामने से शिशुपाल का रथ आता दिखाई दिया। उसके पीछे घोड़े पर कुछ अंगरक्षक थे और कुछ विदर्भी सैनिक भी। उसकी आकृति पर बरस चुके बादलों की नीरसता थी और मुद्रा में ठगे गए व्यक्ति की हताशा।

देखते ही उद्धव चिल्लाया—“अरे ओ चेदिकुमार!”

शिशुपाल का रथ रुक गया। उसने बड़े गौर से उद्धव की ओर देखा।

“क्या चाहते हो, ब्राह्मणकुमार?” वह बोला।

“चाहता तो कुछ नहीं हूँ। केवल जानना चाहता हूँ।” बड़ी इठलाहट थी उद्धव की मुद्रा में।

“क्या जानना चाहते हो?”

“यही कि आप अकेले जा रहे हैं?”

“देखते नहीं हो, इतने लोग हमारे साथ हैं!” शिशुपाल झुंझलाया।

“इन लोगों से हमारा तात्पर्य नहीं है।” उद्धव बोला, “और न इन लोगों को लेने आप यहाँ आए थे।”

इतना सुनते ही शिशुपाल की आकृति का रंग बदलने लगा।

उद्धव बोलता गया—“लगता है, जिसे लेने आए थे, उसने आपको अँगूठा दिखा दिया।”

इतना सुनना था कि चेदिकुमार की झुंझलाहट ने फुफकारा—“पकड़ लो इस दुर्विनीत ब्राह्मण को!”

उद्धव जोर से हँसा—“मुझे बंदी बनाकर क्या करोगे आप?”

“तुम्हारा वध करूँगा।”

“क्या तुम्हारे राज्य में ब्राह्मण का भी वध होता है?”

“तो तुम अपनी अवध्यता की आड़ में व्यंग्य बोलते रहोगे?”

“यह मैं नहीं बोल रहा हूँ, पूरा विदर्भ बोल रहा है। आप हमारी जबान काट सकते हैं, पर उसकी जबान पा भी नहीं सकते।”

“क्यों?”

“अब वे हवा में उड़ने लगी हैं।” उद्धव बोलता गया—“जब जबानें वायु का पंख लगाकर आकाश में तैरने लगती हैं, तब वे बड़े-से-बड़े निरंकुश शासक की पकड़ के बाहर हो जाती हैं।”

उद्धव का कहना था कि इसके बाद शिशुपाल थोड़ा गंभीर हुआ। उसने कड़कती आवाज में पूछा, “क्या उड़ रहा है विदर्भ की हवा में?”

“यही कि स्वयंवर में नारी की इच्छा की हत्या नहीं की जा सकती। इससे स्वयंवर की पवित्रता नष्ट हो जाएगी।”

“हुँ! बड़े बने हो नारी की इच्छा की रक्षा करनेवाले! अब स्वयंवर नहीं, नारी का हरण होगा।”

“क्या कहा? नारी का हरण!” उद्धव का कहना था कि इस बार भी वह जोर से हँसा था और सावधान करते हुए बोला था—“नारी का हरण तो रावण ने भी किया था। सोने की लंका भस्म हो गई थी।”

“तो तू मुझसे जबान लड़ा रहा है!” इतना कहते हुए उसने अपनी प्रत्यंचा सँभाली और तूणीर की ओर हाथ बढ़ाया।

तब तक एक विदर्भी सैनिक लपककर उसे रोकते हुए बोला, “अरे, क्या कर रहे हैं? एक तो ब्राह्मण स्वयं ही अवध्य, दूसरा परदेशी।”

‘परदेशी’ शब्द सुनते ही शिशुपाल एकदम ठिठक गया—“तब तो यह गुप्तचर भी हो सकता है, अन्यथा किसी ब्राह्मण को मेरी गतिविधि से क्या लेना-देना!”

“तुम किस देश के रहनेवाले हो?”

“ब्राह्मण का कोई देश नहीं होता।” उद्धव ने बताया कि उसने फिर हँसते हुए उसे उलझाया—“ब्राह्मण की कोई जाति नहीं है, कोई वर्ग नहीं है। व्यक्तित्व की सीमा में उसे बाँधा नहीं जा सकता। ब्राह्मण तो चिंतन की अस्मिता का नाम है। वह काल और देश की सीमा से परे है। वह ब्रह्म की तरह अदृश्य होकर भी दृश्य है।...और दृश्य होकर भी वासना एवं क्षुद्र स्वार्थ में लिप्त आँखें उसे पहचान नहीं पातीं।” इतना कहकर उद्धव पागलों-सा हँसता हुआ शिशुपाल के मार्ग से एकदम हटकर नगर की वीथियों की ओर मुड़ गया।

इस घटना को जब-जब मैं याद करता हूँ तो मुझे हँसी आती है। पहले हँसता हूँ उद्धव की नाटकीयता पर; फिर सोचता हूँ, वह मेरा मित्र रहा है, दिन-रात का साथी। आखिर मेरे व्यक्तित्व की छाया तो पड़नी ही चाहिए। यह नाटकीयता उसीका परिणाम थी। फिर हँसता हूँ उसके प्रयत्न की व्यर्थता पर।

क्या उसने शिशुपाल को सचमुच व्यर्थ छोड़ा? इस संबंध में मैंने एक बार उससे पूछा था। उसने बताया—“उस समय शिशुपाल को हतोत्साहित करना तथा उसका मनोबल तोड़ना आवश्यक था। पूरे विदर्भ जन समाज की यह मंशा थी, जिसे मैंने वाणी दी और मेरी नाटकीयता ने उसपर रंग चढ़ाया था। बात बात-की-बात में कुंडिनपुर में फैल गई। अनेक लोगों ने मुझे बधाई दी; पर छिपे-छिपे रुक्मी के आतंक से जनता त्रस्त थी। ऐसा स्पष्ट लग रहा था कि किसी समय विस्फोट हो सकता है। केवल सही नेतृत्व की आवश्यकता है।”

“तो तू वहाँ सही नेतृत्व देने का प्रयत्न कर रहा था?” मैंने मुसकराते हुए उद्धव से पूछा।

उसका उत्तर था—“नहीं, मैं तो आपके आदेशानुसार स्थिति की समीक्षा करने गया था और हो गई राजनीति।”

उसने हँसते हुए बताया कि जब यह समाचार पितामह कौशिक को मिला तब वे गद्गद हो उठे। ज्यों ही वह उनके चरण छूने गया, उन्होंने उसे अपने आलिंगन में समेट लिया। बोले, “वत्स! आज सचमुच वह दमघोष का

बेटा समझ गया होगा कि कुंडिनपुर हमारे संबंध में क्या सोचता है!”

इतना कहने के बाद पितामह कौशिक कुछ सोचने लगे थे। फिर उद्धव को संबोधित करते हुए उन्होंने कहा था—“इतना होने पर भी शिशुपाल के अहं में कोई अंतर नहीं आया होगा। अहंकार हमारे विकारों का ऐसा नाग है, जो एक बार जब जकड़ लेता है तब उससे मुक्त होना असंभव हो जाता है। वह हमारी महत्वाकांक्षा को निरंतर अपने विष से अभिषिक्त करता रहता है। हमारी आँखों पर परदा पड़ जाता है। हम वास्तविकता देख नहीं पाते। आज वही स्थिति शिशुपाल की है। उसके पैर धरती से दूर महत्वाकांक्षा के हिमालय पर हैं। मुझे लगता है, उद्धव, कि तुम्हारा सारा प्रयत्न उसकी आँखों के इसी पार रह गया होगा। शायद ही उसके मन में उतरा हो। तुम्हारी बातें उसके एक कान से गई होंगी और दूसरे से निकल गई होंगी।”

“इसका मतलब है कि हमने जो कुछ किया वह व्यर्थ गया!”

“सत्कर्म कभी व्यर्थ नहीं होते, वत्स! हाँ, कभी-कभी वह व्यर्थ होते दिखाई अवश्य देते हैं।”

उद्धव ने बताया कि उस समय महाराज कौशिक की आँखों से उनके जीवन के अनुभव झाँक रहे थे।

□

उद्धव का कहना था कि इस घटना के बाद रुक्मिणी बड़ी प्रसन्न हुई। उसका तनाव ढीला पड़ा। उसे लगा कि मैं निरालंब और असहाय नहीं हूँ। मेरे साथ भी कोई है। वह पितामह कौशिक के यहाँ ही जब इस बार उद्धव से मिली तो पिंजड़े से मुक्त हुए पंछी की तरह चहकती हुई।

“क्षमा कीजिएगा, मैंने आपको पहचाना नहीं था।”

“मैंने तो अपना परिचय आपको कई बार दिया था और पितामह ने भी आपको बताया था।” उद्धव बोला।

“अवश्य आपने परिचय दिया था; पर वह आपका परिचय था, आपके गुणों का नहीं।”

वह मुसकराते हुए इतना कह ही रही थी कि पितामह बीच में ही बोल पड़े—“अरे भाई, यह तुम्हें क्या पहचानेगी! यह तो अपने को ही नहीं पहचान पाती है।” और वे हँसने लगे।

रुक्मिणी भी हँसकर रह गई। उसकी आकृति के संकोच एवं नेत्रों से टपकती लज्जा से ऐसा लगा जैसे वह कुछ कहना चाहती है, पर कह नहीं पा रही है। उद्धव ने यह स्थिति जानकर भी कोई जिज्ञासा नहीं की।

ऐसी सलज्ज मनःस्थिति में रुक्मिणी पूछना कुछ चाहती थी और उसने पूछ दिया—“आप कब जा रहे हैं?”

आचार्यजी ने तुरंत प्रतिवाद किया—“तुझे क्या हो गया है, रुक्मिणी? किसी अतिथि से उसके जाने के संबंध में पूछा जाता है!”

“मुझसे भूल हो गई, पितामह!” रुक्मिणी अभी भी अपने संकोच को लाँघ नहीं पाई। हाँ, उसने उद्धव से क्षमा अवश्य माँगी। फिर बोली, “मैं कहना कुछ चाहती थी और बोल कुछ गई।”

“जो तुम कहना चाहती हो, कहो। भय किस बात का?” पितामह फिर बोले, “यहाँ तो कोई पराया नहीं है।”

“अब आप फिर कब आएँगे?” इस बार भी रुक्मिणी स्वयं को खोल नहीं पाई।

“अरे, यह तो जाते समय पूछा जाता है, बेटी!” पितामह हँसने लगे—“आज तेरी बुद्धि को क्या हो गया है?”

इस बार रुक्मिणी खुली। वह भी आधी ही—“मेरे कहने का तात्पर्य है कि इस बार आइएगा तो अकेले मत आइएगा।”

“इसके कथन का मतलब समझा?” पितामह ने मुसकराते हुए पूछा और स्वयं बोल पड़े—“इसका संकेत है कि इस बार आइएगा तो इसके प्यारे कन्हैया को लेकर।”

इस बार उन्होंने ठहाका लगाया। उनकी हँसी में उद्धव की भी हँसी मिल गई; पर रुक्मिणी के संकोच का कच्छप

लज्जा के खोल में एकदम दुबककर रह गया।

अब बातें मेरे आगमन के संदर्भ में होने लगीं। पितामह ने अगल-बगल देखा। जब किसीकी उपस्थिति का आभास उन्हें नहीं लगा तब बड़े धीरे से बोले, “एक बार बलराम और कृष्ण को लेकर यहाँ आओ। हमारी भी इच्छा उनसे मिलने की है।” फिर पता नहीं क्या सोचकर उन्होंने स्वयं को सँभाला। शायद मेरे प्रति उनके देवत्व भाव ने उन्हें दबाया। वे बोले, “मिलना तो ऋषि के आश्रम में भी हो सकता है। मैं वहाँ चल सकता हूँ; पर सोचता हूँ कि मैं अपने आवास पर उनका स्वागत करूँ।”

रुक्मिणी इस समय निष्क्रिय श्रोता थी, चुपचाप बैठी हुई; पर उसकी मुसकराहट से स्पष्ट लग रहा था कि पितामह उसके मन की ही बात कह रहे हैं।

इसी बीच एक प्रतिहारी दौड़ा हुआ आया और उसने निवेदन किया—“नगर के कुछ श्रेष्ठी आपसे मिलना चाह रहे हैं।”

“उनसे बगल के कक्ष में प्रतीक्षा करने को कहो।”

“पर वे बड़े व्यग्र लगते हैं। उन्होंने अविलंब आपके दर्शनों की इच्छा व्यक्त की है।”

फिर पितामह ने इन लोगों की ओर कुछ सोचते हुए देखा और उनसे कहा, “अच्छा, उन्हें यहीं ले आओ।”

प्रतिहारी बाहर निकला। इन लोगों की जिज्ञासाएँ कुलबुलाने लगीं कि आखिर क्या हो गया है इन श्रेष्ठियों को? प्रवेश करते ही श्रेष्ठियों ने पितामह के चरणों पर गिरते हुए कहा, “महाराज, अब आप ही कुछ कर सकते हैं।” उनकी व्यग्रता इससे अधिक कुछ कह नहीं पाई। केवल हाथ जोड़ते हुए विनीत खड़ी हो गई। महाराज ने कुछ अनुमान तो लगाया, पर अंतिम निष्कर्ष पर वे भी पहुँच नहीं पाए। मेरे लिए तो यह सब विचित्र था।

“आप सब विराजें। इतने घबराए हुए क्यों हैं? आखिर बात क्या है?” पितामह ने पूछा।

सभी ने समवेत स्वर में सूचना दी कि हमारे श्रेष्ठी प्रधान परिभद्र मारे गए।

“इसके लिए महाराज से कहो।” पितामह का तात्पर्य भीष्मक से था।

“पर हमारी वहाँ कोई सुनवाई नहीं है।” एक ने कहा।

“लगता है, महाराज के कानों ने सुनने की शक्ति खो दी है।” दूसरा बोला।

“सुनें भी तो क्या सुनें, अपने सैनिकों के विरुद्ध!” तीसरे ने कहा।

“तो क्या राजकीय सैनिकों ने परिभद्र की हत्या की?”

“हाँ, महाराज!”

“आखिर क्यों?”

अब उन्होंने बताना शुरू किया। बोल तो एक ही रहा था, पर वह जहाँ भूलता या चूकता था वहाँ उसके साथी सँभालते थे। उन्होंने जो कुछ कहा, उसका सारांश था कि इस समय पूरी राजधानी में अराजकता है। अन्याय का बोलबाला है। राजकीय सैनिक हमारी दुकानों में चले आते हैं और जो मन आता है, उठाकर चल देते हैं। किसीको टोकने का साहस नहीं है।...और यही साहस दिखाया था परिभद्र ने।

उद्धव ने बताया कि वे लोग चुपचाप सुनते गए।

श्रेष्ठी कहते गए—“आज प्रातः ऐसे ही दो-तीन निरंकुश सैनिक परिभद्र की दुकान में घुसे और उसकी कोषमंजूषा उठाकर चलने लगे। उसने विरोध किया। बस यही अपराध था कि उसके शरीर के दो टुकड़े कर दिए गए।”

इतना कहते-कहते सभी विचलित हो उठे।

उद्धव का कहना था कि इतना सुनकर भी महाराज चुप थे। रोष भरी रुक्मिणी उन्हें एकटक निहार रही थी और वह (उद्धव) यह सब देख रहा था।

“कुछ कीजिए, अत्र भवान्!” श्रेष्ठियों की आर्तता और विचलित हुई।

पंख कटे पक्षी की तरह छटपटाते हुए महाराज ने कहा, “मैं क्या कर सकता हूँ! मैं तो उस बुझे हुए अंगारे की तरह हूँ, जिसका ताप अतीत हो चुका है, जिसकी ऊर्जा इतिहास के प्रकोष्ठ में सोने जा चुकी है। मैं तुम्हारे कल्याण के लिए भगवान् से प्रार्थना कर सकता हूँ। पर इस समय भगवान् की अपेक्षा भीष्मक से प्रार्थना करने की अधिक आवश्यकता है। यद्यपि वह मेरा पुत्र है, फिर भी मैं तुम लोगों के साथ उससे प्रार्थना करने के लिए चल सकता हूँ।”

“फिर भी उन्होंने न सुनी तो?” यह शंका अभी पूरी स्थापित भी नहीं हो पाई थी कि दूसरा श्रेष्ठी बोल पड़ा — “और वे अपने ही सैनिकों के विरुद्ध कैसे सुनेंगे?”

“राजा को अपने सैनिकों के विरुद्ध ही नहीं, अपने विरुद्ध भी सुनना पड़ेगा।” पितामह बोले, “क्योंकि उसका सिंहासन न्याय के तुलादंड के उस संतुलन बिंदु पर टिका रहता है, जिसपर बैठकर राजा स्वयं को भी दंडित करता है। आखिर राम ने जब सीता को निर्वासित किया था तो उससे क्या सीता ही दंडित हुई थीं, राम दंडित नहीं हुए थे?”

“अब न राम रहे और न राम का सिंहासन!” एक श्रेष्ठी बोला।

“अब तो रावण का सिंहासन है, महाराज, रावण का; जिसके नीचे तुलादंड होता ही नहीं।” दूसरे ने कहा।

“और ऐसे रावण का, जिसकी तेजस्विता उसके लड़के ने छीन ली है।”

“इसीलिए तो लड़का अपराधी वृत्ति का हो गया है।” पितामह ने कहा, “साधन के बदलते ही साध्य बदल जाता है। छीनी हुई तेजस्विता से शासन नहीं चलाया जा सकता, केवल लूट-खसोट की जा सकती है।”

“वही तो हो रहा है आज विदर्भ में।” इस बार रुक्मिणी बोली।

राजकुमारी को अपने पक्ष में देखकर श्रेष्ठियों को संतोष तो अवश्य हुआ, पर इस विचार-विनिमय में उनकी समस्या का कोई समाधान नहीं था। पितामह का कहना था कि राजा को सूचना देकर उनसे मिलना चाहिए। श्रेष्ठियों का कहना था कि उन तक हमारा पहुँचना असंभव है। सैनिक रास्ते से ही हमें मारकर भगा देंगे।

“अब सैनिक रह ही कितने गए हैं!” पितामह बोले, “अधिकांश तो रुक्मी के साथ मथुरा गए हैं।”

“जितने हैं, उतने ही हमारे लिए काफी हैं।” श्रेष्ठियों ने कहा।

“देख रहे हैं आप यहाँ की स्थिति।” उद्धव ने बताया कि इस बार पितामह ने उसे संबोधित करते हुए कहा, “इन सैनिकों को नगर की सुरक्षा के लिए छोड़ा गया है। विदेशी लूट-पाट से रक्षा करना इनका धर्म है और ये स्वयं लुटेरे हो गए हैं।”

अंत में निश्चय हुआ कि इन श्रेष्ठियों का नेतृत्व पितामह ही करें, जिससे महाराज से मिलने में इन्हें बाधा न पड़े और ये निर्भय होकर अपनी व्यथा-कथा उन्हें सुना सकें।

पितामह ने उद्धव से भी चलने के लिए कहा।

पर उद्धव ने इसका विरोध किया। उसका तर्क था—“मैं विदेशी ब्राह्मण आपके साथ चलकर क्या करूँगा? बल्कि व्यर्थ की आशंकाओं का आधार बनूँगा। विपक्षी ऐसा भी प्रचारित कर सकते हैं कि इन श्रेष्ठियों को मैंने ही बहकाया है।”

पितामह के साथ-साथ श्रेष्ठी भी इस तर्क से प्रभावित हुए। उद्धव की जान बची। महाराज कौशिक ने श्रेष्ठियों से

कहा, “ठीक है, मैं आपके साथ चलता हूँ। आप बगल के कक्ष में बैठकर मेरी प्रतीक्षा कीजिए।”

वे सब आश्वस्त हुए और बगल के कक्ष में चले गए।

उद्धव ने बताया कि पितामह ने फिर उससे वही बात शुरू की, जिसका सूत्र पीछे छूट गया था—“आप बलराम और कृष्ण को लेकर एक बार अवश्य पधारें। यदि आप न आ सकें तो उन्हींको भेज दें; पर ब्राह्मण के वेश में। वे हमारे यहाँ रहेंगे। मैं उनकी सुरक्षा की सारी व्यवस्था करूँगा।”

“जो संसार की सुरक्षा की व्यवस्था करता हो, उसकी सुरक्षा की व्यवस्था आप करेंगे, पितामह?” यह प्रश्न था रुक्मिणी का, जो मेरे प्रति उसके देवत्वभाव से जागा था।

पितामह विस्फारित नेत्रों से अपनी पौत्री को देखते रह गए।

□

उद्धव से सबकुछ जानकर और महाराज कौशिक का आग्रह सुनकर एक बार मेरे मन में आया कि कुंडिनपुर चला चलूँ; पर सत्याद्रि का कार्यक्रम बन चुका था। उसकी शृंखलाएँ जैसे मुझे बुला रही थीं। उधर महेंद्र पर्वत का भी आकर्षण था। उस शिवपीठ के परशुधारी का भी आशीर्वाद लेना मुझे आवश्यक था; क्योंकि मथुरा छोड़ते समय आचार्य गार्ग का इस संबंध में विशेष निर्देश था। उन्होंने स्पष्ट कहा था कि तुम्हारे पहुँचने के पहले मेरा संदेश वहाँ पहुँच जाएगा और तुम किसी राजा के अतिथि होने के पूर्व उनसे मिल अवश्य लेना।

उस समय मैं यह नहीं समझ पाया था कि उन्होंने ऐसा निर्देश क्यों दिया था। पर जब उद्धव ने महाराज कौशिक का निमंत्रण दिया तब मैंने उससे साफ कहा, “आचार्य के आदेश के अनुसार मैं किसी महाराज के यहाँ जाने के पूर्व महाभारत के दर्शन अवश्य करूँगा।”

ऋषिवर ने भी मेरी बात का विरोध नहीं किया।

पर उद्धव बोला, “आप किसी महाराज के यहाँ कहाँ जा रहे हैं? और न किसी महाराज ने आपको बुलाया है।”

“क्यों, क्या कौशिक महाराज नहीं हैं?”

“नहीं, वे महाराज भीष्मक के ऐसे पिता हैं, जिनका पितृव्य सिंहासन से बहुत दूर, केवल औपचारिकता के निर्वह तक ही सीमित है। शायद इसीलिए उन्होंने ब्राह्मण के वेश में आपको आने के लिए कहा है; क्योंकि महाराजा-सी सुरक्षा उनके पास नहीं है।”

“जब अब महाराज की सत्ता नहीं है तब सुरक्षा क्या होगी?” इस बार दाऊ बोले और ऋषिवर ने भी उनका समर्थन किया।

“पर क्या मेरा ब्राह्मण के वेश में वहाँ जाना उचित होगा?” मैंने शंका की।

“क्यों, इसमें अनुचित क्या है?”

“यदि मैं कहीं पहचान लिया गया तो?”

“नटवर को कोई पहचान सकता है भला!” उद्धव बोला और हँसा—“वेश बनाने में आपको निपुणता प्राप्त है।”

“पर मैंने कभी ब्राह्मण का वेश नहीं बनाया। इस वेश की पवित्रता छूने का भी मैंने कभी साहस नहीं किया।” मैंने कहा। ऋषिवर बड़े ध्यान से सुन रहे थे। मैं बोलता जा रहा था—“यदि पहचान लिया गया तो ब्राह्मण विश्वास को बड़ा आघात लगेगा। अधिकांश ब्राह्मण लोगों को वेश बनाए हुए ही दिखाई पड़ेंगे। ऐसी स्थिति समाज के लिए बड़ी घातक होगी। लोग दान देने में भी हिचकेंगे। आश्रमों की पवित्रता पर भी शंका की जाने लगेगी।”

“हाँ, यह तो है।” ऋषिवर ने भी मेरी बात का समर्थन किया।

“फिर आपने मुझे क्यों ब्राह्मण के वेश में भेजा?” उद्धव के तर्क ने मुझे धर दबाना चाहा।

उसकी इस चालाकी पर मुझे हँसी आ गई। मैंने कहा, “वस्तुतः तुम्हें ही हमें ब्राह्मण के वेश में भेजना चाहिए; पर वास्तव में तुम्हारी और हमारी स्थिति में अंतर है। तुम मेरे दूत बनकर गए थे और गए थे स्थिति की समीक्षा करने। स्पष्ट कहूँ तो तुम्हें गुप्तचरी करनी थी। गुप्तचर का धर्म है कि अपनी प्राणरक्षा के लिए कोई भी वेश बदले।” सभी मुझे ध्यान से सुनते रहे। मैं थोड़ा और विस्तार में गया—“तुम यदि ब्राह्मण का वेश न धारण किए होते तो क्या तुम शिशुपाल के हाथों बच सकते थे?”

“तो क्या शिशुपाल इसे चबा जाता?” भैया थोड़े आवेश में आ गए—“इतनी लंबी मित्रता के बाद तुम उद्धव की शक्ति को इतना कम क्यों आँकते हो?”

“मैं उद्धव की शक्ति को कम नहीं, शिशुपाल की शक्ति को अधिक आँकता हूँ।” मैंने मुसकराते हुए कहा, “किंतु भैया, आप भी उसकी शक्ति जानते हैं, पर इस समय विस्मरण कर रहे हैं।”

बलदाऊ कुछ सोचने लगे। लगा कि वे कुछ स्मरण कर रहे हैं; पर ऋषिवर और उद्धव की मुद्रा एकदम प्रश्नवाची हो गई—मानो वह मुझसे पूछने लगे हों कि शिशुपाल की शक्ति के रहस्य की वह कौन सी कथा है?

मैंने भी अवसर अच्छा देखा। सोचा, इस रहस्य को उद्घाटित ही कर दूँ। यदि इसकी लुके-छिपे विदर्भ में चर्चा हो गई तो रुक्मिणी का मनोबल गिरेगा नहीं और लोगों के मनोबल पर मेरे देवत्व की एक परत और चढ़ जाएगी। उसका लाभ तो मुझे मिलेगा ही, पर दुश्चिंता में जलती रुक्मिणी को ढाढ़स की फुवार भी मिल जाएगी।

इसीलिए मैंने इस कथा की गोपनीयता को बनाए रखने का नाटक करते हुए भी इसे आश्रम के अन्य विद्यार्थियों के सामने सुनाई।

वस्तुतः मेरे जीवन में संयोगों ने अपनी प्रबल भूमिका निभाही है। अधिकांशतः वे चमत्कार बन गए हैं। उदाहरणार्थ, जब हम मथुरा से चल रहे थे और माँ से आशीर्वाद लेने गए, माँ देवी-पूजन में व्यस्त थी। मैंने भी देवी को प्रणाम किया। देवी के चरणों पर से एक पुष्प मेरी खुली अंजलि पर गिर पड़ा। माँ ने उसे चमत्कार के रूप में देखा। मेरी भी दृष्टि वही थी और आज भी वही है। फिर भी मेरा बुद्धिवाद सोचता है, क्या वह संयोग नहीं हो सकता?

संयोग बुद्धिवादी दृष्टि का परिणाम है और चमत्कार आस्था का। संयोग का आधार तर्क है और चमत्कार तर्कातीत है। तर्क हमारे मन के विकारों से संबद्ध है, पर आस्था संस्कारों से। इसलिए तर्क की एक सीमा होती है। अपनी सीमा पर जाकर तर्क की चकितावस्था को भी हम चमत्कार की संज्ञा दे सकते हैं। इस संदर्भ में जब आज सोचता हूँ, तो पाता हूँ कि युद्धक्षेत्र में खड़े अर्जुन के सारे तर्क मोहजन्य थे, जिन्हें तर्कों से कहीं अधिक मेरे प्रति उसकी आस्था ने समाप्त किए थे; क्योंकि तर्क तर्क से समाप्त नहीं होता। यदि ऐसा होता तो तर्क आपस में ही लड़कर समाप्त हो जाता; पर वह पहले भी रहा है, अब भी है और भविष्य में भी रहेगा। जब तक मनुष्य की बुद्धि है, तब तक रहेगा।

या ऐसी भी स्थिति आती है, जब मनुष्य की बुद्धि काम नहीं करती। बुद्धि कार्य-कारण संबंध खोजती है—और जब वह वहाँ दिखाई नहीं देता तब केवल चमत्कार रह जाता है, चमत्कार।

ऐसा ही संदर्भ है शिशुपाल का।

बात बचपन की है। उस समय तक ईश्वरत्व मुझपर पूरी तरह स्थापित हो चुका था। आश्चर्य है कि मेरे माता-पिता भी मुझे ईश्वर का अवतार ही मानने लगे थे—और मेरे पालक नंद एवं यशोदा को तो बालसुलभ चापल्य में भी ईश्वरत्व की छाया ही दिखाई देती थी। उनकी यही दृष्टि मेरी बाल-क्रीड़ा को और बालकों से भिन्न कर देती थी।

मुझे ठीक याद है, संध्या हो रही थी। हम लोग गाय चराकर लौटे थे। मैं उछलता-कूदता ज्यों ही यशोदा माता के यहाँ पहुँचा, पता चला कि वह पिता नंद के पास है। अब मुझे वहाँ पहुँचना था; क्योंकि बाहर से आते ही उसका वात्सल्य मुझे खींचता था।

उन दिनों प्रतिहारियों को ऐसा निर्देश था कि कोई भी बाहरी व्यक्ति यदि आया हो तो उसे मुझसे दूर रखा जाए। इस व्यवस्था के पीछे मेरी सुरक्षा की भावना प्रमुख थी।

द्वारपाल ने मुझे बहलाने की चेष्टा की; पर मैं कब माननेवाला था। वात्सल्य प्रेम के खिंचाव को जिज्ञासा ने गति दी। मैं चिड़ियों के बच्चों-सा फुदकता वहाँ पहुँच गया।

मैंने देखा, पिताजी आए हैं। उन्होंने मुझे देखते ही अपने वक्ष से लगा लिया। मैं बंदरिया के बच्चे की तरह बहुत देर तक उनसे चिपका रहा। इस बीच नंद और यशोदा से उनकी बातें भी चलती रहीं।

उनसे पता चला कि मेरी बुआ श्रुतिश्रवा को एक विचित्र लड़का हुआ है। पुत्र होने की प्रसन्नता मेरे पिता की आकृति पर बिल्कुल नहीं थी। वे चिंतित थे। उस समय की पूरी बातें मुझे याद नहीं हैं; पर उनका सारांश कुछ इस प्रकार था कि हम लोगों ने कितने प्यार से श्रुतिश्रवा को पाला था। कितनी खोज के बाद दमघोष जैसा वर पाया था। जब वह चेदि राज्य का अधिपति बना तब हमारे सपने आकाश चूमने लगे थे।

बातों के ही क्रम में पिताजी ने बताया था—“जब दमघोष का राज्याभिषेक हुआ तब मैं शुक्तिमती (चेदि की राजधानी) गया था। तब देवकी के साथ मेरा विवाह नहीं हुआ था।”

“पर आप मथुरा में ही थे, शायद उग्रसेन के अमात्य भी थे। क्या आपके साथ कंस नहीं गया था?” नंद ने पता नहीं किस संदर्भ में पूछा था।

“नहीं, वह नहीं गया था। मैंने उससे चलने के लिए कहा था। उसने मुझे न जा सकने की कोई विवशता बताकर बहका दिया था; पर मेरे जाने का सारा प्रबंध बड़ी शीघ्रता से कर दिया था।”

‘बहकाने’ शब्द पर नंदजी ने शंका की थी। तब पिताजी ने बताया—“वस्तुतः वह उन दिनों अपने पिता को सिंहासन से हटाने के षड्यंत्र में लगा था। आपको जानकर आश्चर्य होगा कि हम लोग राज्याभिषेक में ही थे कि हमें सूचना मिली कि पिता को बंदी बनाकर कंस मथुरा का शासक हो गया है।”

ये बातें तो प्रकारांतर से आ गई थीं। हमारी जिज्ञासा तो उस विचित्र नवजात शिशु के संबंध में थी, जिसे पिताजी देखने शुक्तिमती जा रहे थे।

पिताजी का कहना था कि दमघोष और श्रुतिश्रवा की इतनी तपस्या के बाद पुत्र भी हुआ, वह भी राक्षस।

मुझे स्मरण है, इतना सुनते ही मैंने पूछा था—“यह राक्षस क्या होता है, पिताजी?”

और जैसा बच्चों के साथ होता है, उस समय भी मुझे इधर-उधर की बातें बताकर बहका दिया गया था।

उन्हींकी बातों से पता चला कि वह कुरूप है। उसकी चार-चार भुजाएँ हैं और तीन-तीन नेत्र।

पिताजी और आगे कुछ बताते, मैं बीच में ही बोल पड़ा—“तब तो वह सचमुच बड़ा अद्भुत है! हम लोग भी उसे देखने चलेंगे। क्यों, दाऊ भैया?”

दाऊ ने भी उछलते हुए मेरा समर्थन किया।

पिताजी हम लोगों को ले जाने के पक्ष में नहीं थे। पर जब हमने यह सुना कि उस बालक के रोने में गर्दभ की ध्वनि निकलती है, तब हम लोगों की जिज्ञासा ने हठ का रूप धारण कर लिया, जिसके समक्ष उन्हें झुकना पड़ा।

नंद और यशोदा भी भरे मन से हमें अनुमति देते हुए बोले, “इन्हें भी लेते ही जाइए। कौन जाने, किसकी गोद में उसकी व्यर्थ की भुजाएँ और नेत्र झर पड़ें।”

तब यह रहस्य खुला कि उस शिशु को राक्षस समझकर मेरी बुआ उसे फेंक देना चाहती थी; पर ज्योतिषियों ने बताया कि यह बालक बड़ा पराक्रमी होगा और उसीके हाथों मारा जाएगा, जिसकी गोद में आते ही इसकी व्यर्थ की दोनों भुजाएँ और नेत्र झर जाएँगे।

इन्हीं ज्योतिषियों ने बताया कि जातक की कुंडली के तृतीय स्थान पर नीच के शनि की दृष्टि पड़ रही है। इसका भ्रातृस्थान दूषित है। यह भाई और बहनों से हीन होगा। पता चला, तब बुआ बहुत रोई थी।

फूफाजी भी बहुत दुःखी हुए थे। उन्होंने बिलखती बुआ को देखकर पूछा था—“क्या उन ग्रहों का कोई मार्जन हो सकता है?”

“भवितव्यता तो होकर रहेगी।” उन ब्राह्मणों ने बताया था—“ईश्वरोपासना से इस शिशु की बुद्धि और स्वरूप में कुछ सुधार लाया जा सकता है।”

मेरी बुआ तो उस शिशु को फेंक देना चाहती थी; पर ज्योतिषियों ने इसका वर्जन किया और पालने को कहा। कदाचित् इसीसे उसका ‘शिशुपाल’ नाम पड़ा।

माता-पिता के साथ हमारी यह यात्रा बड़ी सुखद रही। शुक्तिमती नदी के किनारे हमारे फूफा की राजधानी थी। शायद नदी के नाम पर ही राजधानी का नाम पड़ा था। राजधानी की एक ओर सरिता का प्रवाह, जो सुरक्षा की दृष्टि से बड़े महत्त्व का था। वहाँ वह यातायात की भी सुविधा प्रदान करता था; पर हम लोग तो रथ पर जा रहे थे।

हमारे आगमन की सूचना महाराज को मिल चुकी थी। एक बड़ी नौका लेकर महाराज के सैनिक और अमात्य नदी के इस पार हमारी प्रतीक्षा कर रहे थे।

हमें नदी किनारे आता देखकर वे उस पार से नौका लेकर चल पड़े। हमें सादर उतारकर नाव पर बैठाया गया और उसी पर मेरा रथ भी चढ़ाया गया। पिताजी उस अवसर पर सहज ही बोल पड़े थे—“पार उतरने के लिए तो नाव की ही आवश्यकता पड़ती है, चाहे जीवधारी हो या जड़ अथवा स्वयं प्रभु ही।”

इस संदर्भ में उन्होंने बड़ी श्रद्धा से भगवान् राम को स्मरण किया था।

प्रासाद में पहुँचते ही फूफाजी ने हमारी अगवानी की। सम्मानपूर्वक हमारा बैठाया जाना, हमारा सत्कार करना आदि सब मेरी बालसुलभ जिज्ञासा के लिए उस समय एक बाधा जैसा लग रहा था। मेरा मन तो उस विचित्र बालक को देखने के लिए छटपटा रहा था। मैं तुरंत उस बालक के पास पहुँचना चाहता था। पिताजी को उस कक्ष में छोड़कर माताजी का हाथ खींचते हुए अंतःपुर में चल पड़ा।

मुझे ठीक याद है, उस समय जिसने भी मुझे देखा, वह मेरी चपलता पर मुसकराए बिना रह नहीं सका।

पर भीतर जाते ही मेरी माँ को ज्यों ही मेरी बुआ ने देखा, वह लिपटकर रोने लगी। बुआ तो ऐसे रो रही थी जैसे उसके परिवार का कोई मर गया हो। हम दोनों भाई चकित हो देखते रह गए।

हम तो शिशु को देखने आए थे। रोदन हमें कब तक उलझाए रहता। मैंने माँ का हाथ पकड़कर खींचना शुरू किया। आखिरकार वह रुदन श्रृंखला टूटी और हम उस कक्ष में पहुँचे, जहाँ वह बालक किलकारी भर रहा था। बड़ी विचित्र लगी उसकी किलकारी। वह गर्दभ स्वर से सचमुच मेल खा रही थी। ध्यान से सुनने पर चीपों-चीपों स्पष्ट हो जाता था।

भैया तो बोल ही पड़े—“लगता है, पूर्वजन्म में यह गदहा ही रहा है।”

भैया के कथन पर किसीने प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं की। मेरी बुआ की सिसकन में उबाल आया, वह फफककर रो पड़ी। लोगों ने अवश्य ही अनुभव किया होगा कि भैया को ऐसा कहना नहीं चाहिए।

खैर जो हो गया, सो हो गया। बालमन उसपर अधिक उलझा नहीं। सचमुच वह बालक अद्भुत था। उसकी तीन

आँखें थीं। दो अपने स्थानों पर सामान्य रूप से और तीसरी मस्तक पर। लगता था, ऊपर से जड़ी हुई है। चार-चार भुजाएँ थीं; पर यह स्पष्ट मालूम हो रहा था कि दो भुजाएँ तो सामान्य ही हैं और दो अलग से सटा दी गई हैं। उन सामान्य भुजाओं में शक्ति भी थी। वह जब हाथ-पैर चलाता था तो वे ही चलती भी थीं। दूसरी भुजाएँ कुछ श्लथ-सी, मात्र शरीर से लगी हुई।

हम लोग उसे ध्यान से देखने लगे। मुझे याद है, उस समय मैंने भैया के कान में धीरे से कहा था—“क्या राक्षस ऐसा ही होता है?”

भैया ने सिर हिलाकर मेरे प्रश्न का सकारात्मक उत्तर दिया था।

अब सोचता हूँ तो हँसी आती है उस समय की राक्षस की अवधारणा पर। वस्तुतः मानव की असामान्यता ही उसे राक्षस अथवा देवता बना देती है। यदि यह प्रकृति से ऊपर उठी तो देवता और यदि विकृति की ओर गई तो राक्षस। यह असामान्यता प्रवृत्तिजन्य भी हो सकती है और शरीरजन्य भी।

यहाँ हम शरीरजन्य विकृति देख रहे थे और अपने मामा कंस में प्रकृतिजन्य विकृति देखी थी। अब समझता हूँ कि शरीरजन्य विकृति से प्रकृतिजन्य विकृति अधिक घातक होती है; क्योंकि एक जैविक है और दूसरी मानसिक, एक बाहरी है और दूसरी भीतरी। बाहर से भीतर का राक्षस अधिक भयावह और खतरनाक है। अगर कहीं बाहर-भीतर दोनों राक्षस हों, तो अनर्थ ही हो जाएगा।

पर वह तो अभी बाहर से ही राक्षस दिखाई दे रहा था। मुझे देखते ही वह चुप हो गया। उसके चापल्य में स्थिरता भी आई और उसकी दृष्टि एकदम मेरी ओर लगी। बुआ ने पिताजी से भी कहा, “देखो भैया, यह कन्हैया को कैसे ध्यान से देख रहा है!”

पिताजी हँसने लगे। उस करुणार्द्र वातावरण में यह पहली हँसी थी।

मुझे लग रहा था कि जैसे वह मुझे पहचान रहा हो। इसके बाद माताजी ने उसे गोद में उठाया। वह गर्दभ ध्वनि में खिलखिलाया। उसकी इस ध्वनि पर हम दोनों भाइयों को हँसी आ रही थी; पर हमने अपने ओठ दाँतों से दबा लिये थे।

माताजी के बाद वह फिर पिताजी की गोद में गया और फिर दाऊ के। दाऊ उसे हवा में उछाल-उछालकर खिलाते रहे। वह किलकारी भरता और हम दोनों हँसते। दाऊ उसे लेकर वातायन की ओर भी गए। वातायन का द्वार बाहर उद्यान की ओर खुलता था।

माताजी ने कहा भी—“देखो, कहीं हाथ से छटक न जाए!”

पर दाऊ कब माननेवाले थे। उन्होंने बाद में बताया कि मुझे लग रहा था कि मैं किसी गदहे के बच्चे को खिला रहा हूँ।

अब माँ ने मुझसे कहा कि आगे बढ़कर भैया के हाथ से उसे ले आ। उसे डर था कि अपनी माँ का एकमात्र शिशु कहीं वातायन से बाहर चला गया तो अनर्थ हो जाएगा।

अब मैंने उसे अपनी गोद में लिया। उसका हँसना अचानक रुक गया। वह विचित्र दृष्टि से मुझे पुनः देखने लगा। उसके मस्तक की आँख तो पलक झपने का नाम ही नहीं लेती थी। मैंने अपनी अँगुली उस ओर बढ़ाई। शायद अब पलक झपे; पर उस आँख पर इसकी कोई प्रतिक्रिया नहीं हुई। मेरा दाहिना हाथ उस आँख की ओर बढ़ता गया और क्षण भर में वह आँख वराटिका (कौड़ी) की तरह निकलकर मेरे हाथ में आ गई। मैं चकित था। सचमुच यह चमत्कार था।

मैंने अभी तक किसीसे कुछ नहीं कहा। उस वराटिका-सी आँख को अपनी मुट्ठी में दबाए रखा। अद्भुत था।

रक्त की एक बूँद नहीं निकली और आँख अलग हो गई। ललाट पर भी उसका कोई चिह्न शेष नहीं। एकदम सपाट चमकीला रह गया ललाट।...और बच्चा भी रोया तक नहीं। ऐसा लगा मानो जिस नियति ने उसके ललाट पर वह आँख चिपकाई थी, उसीने निकालकर मुझे दे दी।

मैंने किसीसे कुछ नहीं कहा; क्योंकि मैं चमत्कृत था। उसे लेकर पर्यंक पर गया और चाहा कि उसे लिटा दूँ। तब तक देखता हूँ कि उसकी एक असामान्य भुजा सूखी डाल की तरह वृक्ष से अलग हो आस्तरण पर गिर पड़ी और दूसरी भी गिरने वाली है। मैंने घबराकर उसे बिस्तर पर लिटा दिया।

अब एक आँख और भुजा मेरे हाथों में थी।

भैया देखते ही एकदम चिल्ला पड़े—“अरे, गजब हो गया! कन्हैया ने उसके कपाल की आँख और दाहिनी भुजा अलग कर दी!”

मैं अपनी सफाई देने माँ के पास दौड़ा और विनीत स्वर में बोला, “मैंने ऐसा कुछ नहीं किया। उसको गोद में लेते ही वह स्वयं अलग हो गई।”

जिसने भी सुना, सभी दौड़ आए। पलंग के पास भीड़-सी लग गई। इस चमत्कार पर सभी स्तब्ध थे। पिताजी ने उसकी एक असामान्य भुजा को छुआ और बोल पड़े—“अभी तो यह लगी है।”

“कन्हैया ने जो घबराकर उसे बिस्तर पर लिटा दिया।” माँ बोली, “उठा लो, बेटा, फिर इसे अपनी गोद में।”

मैंने फिर उसे अपनी गोद में उठाया। उसकी वह भुजा भी वैसे ही झर गई।

“अब यह राक्षस नहीं रहा।” भैया जोर से बोले और हँसने लगे।

मेरे ईश्वरत्व पर एक परत और चढ़ गई।

उस समय तो मैं कुछ सोच नहीं सका था; पर अब सोचता हूँ कि मेरी गोद में आने से उसका केवल शारीरिक राक्षसत्व समाप्त हुआ था, उसकी प्रवृत्ति का राक्षस तो ज्यों-का-त्यों था। बाहर का राक्षस तो झर गया था, पर भीतर का राक्षस तो सजीव था। उस समय वहाँ तक मेरी पहुँच भी नहीं थी।

पर सामान्य दृष्टि तो केवल बाहर देखती है। इस घटना को लोगों ने चामत्कारिक रूप में देखा और प्रसन्न भी हुए। लोगों की दृष्टि में उसका राक्षसत्व समाप्त हो चुका था। उसकी किलकारी में भी अब उन्हें गर्दभ ध्वनि सुनाई नहीं पड़ रही थी; पर मुझे तो उसकी ध्वनि में कोई अंतर मालूम नहीं हुआ। वस्तुतः लोग इस घटना से इतने चमत्कृत थे कि न तो वे सही सुन पा रहे थे और न सही देख पा रहे थे।

उस बालक से अधिक आकर्षण का केंद्र तो अब मैं हो गया था। दरबारियों को तो जाने दीजिए, फूफा और बुआ तक मेरे चरणों पर गिर पड़े। फूफाजी ने मुझे उठाया और लाकर भावावेश में राजसिंहासन पर बैठा दिया। और लोग भी वहीं आ गए। कक्ष लगभग भर गया; पर बुआ वहाँ नहीं थी।

मैं मारे संकोच में गड़ा जा रहा था। भैया नीचे खड़े रहें और मैं सिंहासन पर रहूँ? मैं सिंहासन से उतर आया। अब बुआ उस शिशु को लिये रोती हुई तीर की तरह मेरी ओर बढ़ती दिखाई दी। हम सब अवाक् थे कि क्या हो गया है इसे? आनंद के वसंत विहार में यह अश्रुपात कैसा?

“लगता है, ज्योतिषियों की वाणी अब सत्य होकर रहेगी।” अश्रु-विगलित स्वर में बुआ बोलती गई, “किसी दिन तेरे ही हाथों इसका वध भी होगा।”

पर मैं क्या कर सकता था! सभी सकते में आ गए थे। प्रसन्नता के कोलाहल ने सन्नाटा ओढ़ लिया था।

बुआ बिलखती रही—“क्या होगा उस दिन, जब भाई के हाथों भाई मारा जाएगा?”

“केवल ज्योतिषी ही ऐसा कहते हैं न!” पिताजी ने उसे समझाया। उन्होंने भविष्यवाणी को बड़े हलके ढंग से

लिया।

“यही इस बालक की नियति का निर्णय है।” इस बार फूफाजी ने कहा।

“ऐसा नहीं हो सकता, कन्हैया, कि तू इसे कभी न मारे?” बुआ की विह्वलता ने पूछा।

मैं मुसकराता रहा और सोचता रहा कि भले ही इसे मैं न मारूँ, पर एक-न-एक दिन तो यह मरेगा ही। भले ही मैं छोड़ दूँ, पर काल तो किसीको नहीं छोड़ता। जीवन में कुछ भी अप्रत्याशित नहीं है। यदि प्रत्याशित है तो मृत्यु।

मैं अब सोचता हूँ कि उस समय मैं छोटा जरूर था, पर मेरा चिंतन आज के निकट था। उसीका प्रौढ़ और परिष्कृत रूप था युद्धस्थल पर मोहग्रस्त अर्जुन को दिया गया उपदेश—‘जातस्य हि ध्रुवो मृत्युध्रुवं जन्म मृतस्य च।’ पिताजी ने पूछा, “क्या सोचने लगे?”

“सोचता हूँ कि मैं क्यों मारूँगा!” मैंने मुसकराते हुए कहा, “और बुआजी, किसमें सामर्थ्य है कि वह किसीको मार या जिला सके? यह सब तो कालदेवता के हाथ में है।”

मेरी गंभीर चिंतना पर सब चमत्कृत थे। कुछ लोगों को ऐसा लग रहा था जैसे यह मेरी नहीं वरन् ईश्वर की ही वाणी हो।

“पर भविष्यवाणी तो यही है कि जिसकी गोद में जाने के बाद इस शिशु के असामान्य हाथ और कपाल पर की आँख झर जाएगी, उसीके हाथों इसका वध होगा।” बुआ बोलती गई—“तो क्या तू अपने भाई का ही वध करेगा?”

मैं मुसकराता रहा। आखिर मैं कहता क्या?

बुआ बराबर पूछती जा रही थी—“तू चुप क्यों है? तू बोलता क्यों नहीं है? अपने भाई का ही वध करेगा क्या?” बुआ का रुदन इस बार चीखने लगा था।

तब मैं छोटा था। मेरे चिंतन में परिपक्वता नहीं आई थी। यदि आज की स्थिति होती तो मैं स्पष्ट कहता कि मैं क्यों वध करूँगा? आपके कथनानुसार, वध तो पहले से निश्चित है, मैं तो निमित्त मात्र बनूँगा।

पर यही बात मेरे पिताजी ने कह दी।

“तो यह निमित्त है, कर्ता नहीं।” इस बार फूफा ने पूछा।

और मैंने कहा, “नहीं।”

लोग और भी विस्फारित नेत्रों से मुझे देखने लगे।

“भाई के लिए भाई ही मृत्यु का निमित्त बनेगा? ऐसा नहीं हो सकता कि तू निमित्त न बने?” बुआ बोलती रही।

“क्यों नहीं हो सकता?” इस बार पिताजी बोले, “यदि उस भविष्यवाणी को काटती हुई कोई दूसरी भविष्यवाणी हो।” उन्होंने यह भी कहा, “भवितव्यता तो निश्चित है। उसे टालना किसीके अधिकार में नहीं।”

“पर ऐसा तो हो सकता है कि कन्हैया मेरे शिशुपाल पर हथियार न उठाए।”

“हाँ, हो सकता है।” मैंने कहा।

“पर यदि तुम्हारे विरुद्ध कोई अपराध करेगा तब?” पिताजी ने पूछा।

“मैं उसके सौ अपराध क्षमा कर दूँगा।” मैंने कहा और बुआ ने मुसकराते हुए मुझे अपनी गोद में उठा लिया था। पर फूफाजी बहुत प्रसन्न नहीं थे; क्योंकि वे जान ही रहे थे कि सौ अपराध के बाद मैं उसके विरुद्ध अस्त्र उठा लूँगा।

अब तो यह बात कुछ कम ही लोग जानते हैं। शिशुपाल तो बिल्कुल नहीं। उसके अहं के विशाल शिलाखंड के नीचे इस स्मृति की पिपीलिका पता नहीं कहाँ दबी पड़ी होगी।

इतनी लंबी कथा और इतने विस्तार तथा मनोयोग से मैंने सुनाई कि सभी साँस बाँधे इसे सुनते रहे। किसीने बीच में टोका नहीं और न किसीने कोई विशेष जिज्ञासा ही की। अंत में ऋषिवर बोल उठे, “मैंने तो उसे देखा नहीं है; पर जो सुनता हूँ, उससे तो वह राक्षस ही लगता है।”

“मैंने तो उसे देखा भी है और सुना भी है—चीपों-चीपों से मिलती आवाज।” उद्धव बड़े विचित्र ढंग से बोला और सब हँसने लगे।

□

ऋषिवर ने कहा कि कौशिकजी का निमंत्रण है तो आपको अवश्य जाना चाहिए। जाने को तो मैं भी तैयार था और भैया भी, समस्या केवल वेश बदलकर जाने की थी। उद्धव ने ऐसा तर्क रखा कि हम दोनों भाइयों को निरुत्तर हो जाना पड़ा।

उसका कहना था, “यदि आप पहचान लिये गए तो इस समाचार को मथुरा जाते देर नहीं लगेगी। तब जरासंध का प्रयाण विदर्भ की ओर हो जाएगा। आपका तो कुछ नहीं बिगड़ेगा, पर महाराज कौशिक संकट में पड़ जाएँगे।”

“कदाचित् यही सोचकर महाराज कौशिक ने आपको ब्राह्मणों के वेश में बुलाया हो।” ऋषिवर ने उद्धव का समर्थन किया।

सत्य कहूँ तो मेरा मन महाराज कौशिक के संकट से अधिक रुक्मिणी के संत्रास से विचलित हो उठा। मैंने तत्क्षण निर्णय लिया कि हम ब्राह्मण के वेश में ही कुंडिनपुर जाएँगे। इस संदर्भ में मैंने भैया से भी बातें कीं। निश्चय यह हुआ कि मध्य रात्रि में ही हम रथ आश्रम में छोड़कर पैदल चल पड़ें, जिससे पहाड़ी को पार करते हुए हम ब्राह्म मुहूर्त के बाद नगर में प्रवेश कर जाएँ। क्योंकि यह समय ऐसा होता है, जब किसीको किसी पर संदेह नहीं होता। हर व्यक्ति अपने नित्यकर्म और पूजा-पाठ में लगा रहता है। रात्रि में तो राजधानी के प्रहरियों का सजग रहना स्वाभाविक है और दिन में हम विदेशी ब्राह्मणों के लिए नागरिकों के प्रश्नों और उनकी जिज्ञासाओं की बौछार का सामना करना पड़ता।

हमने ऋषिवर से भी अनुमति ले ली। उनकी एक ही शंका थी कि रात्रि में अरण्य पथ से जाना निरापद नहीं है। मार्ग भी आप लोगों का जाना-बूझा नहीं है; किंतु कोई बात नहीं, मेरे ब्रह्मचारी आप लोगों को नगर द्वार तक छोड़ आएँगे।

मध्य रात्रि के कुछ बाद ही आचार्य के चरण स्पर्श कर हम चल पड़े। योजनानुसार आश्रम के चार ब्रह्मचारी हमारे साथ थे। ऊपर तारों भरा आकाश, नीचे ऊबड़-खाबड़ धरती पर सोई वक्र पगडंडी और बीच में सुप्त वृक्षों एवं लताओं से अठखेलियाँ करता मलयानिल। बेसुध पड़ी वनश्री के अलकों की सुरभि-सी मादक पारिजात पुष्पों के गंध में लिपटी रुक्मिणी की स्मृति मेरे मन में उतरती जा रही थी।

प्रकृति के इस अलसाए रूप से भैया अधिक प्रभावित थे। जब भी मलयानिल का झोंका लगता, वे अपनी प्रसन्नता की शाब्दिक उद्घोषणा करते। पर मैं चुप ही था; क्योंकि वे बाहर से प्रभावित थे और मैं अपने भीतर से। साथ चलते हुए भी हम दोनों एक-दूसरे से दूर थे।

भैया को यह स्थिति इतनी खली कि वे बोल ही पड़े—“तुम बड़े अरसिक हो जी।”

“क्यों?”

“प्रकृति इतनी उन्मुक्त और मादक है, पर तुमने एक बार भी प्रशंसा नहीं की।”

“मैं मन-ही-मन कर रहा था।”

“भगवान् जाने तुम मन में क्या कर रहे हो!” भैया ने कहा तो था बड़े सहजभाव से, पर मन में यह बात चुभ-सी

गई। मैं मुसकराता और सोचता रहा कि कहाँ का तीर और कहाँ लगा।

पर उस अंधकार में मेरे मुसकराने का भैया पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। वे मस्ती से प्रकृति की सरसता का आनंद लेते रहे।

हम लोग बढ़े चले जा रहे थे। कृष्णपक्ष के प्रदोष का कंठाभरण जैसा चंद्रमा हमारी अगवानी करता हुआ आकाश में आगे-आगे चल रहा था। अब हम पहाड़ी चढ़ने लगे थे कि सरसराती हुई हमारे पैरों के पास से कोई चीज निकल गई। भैया ने धड़ से अपना हलायुध सँभाला।

“नहीं-नहीं, ऐसा न करें।” कई ब्रह्मचारी एक साथ ही बोल पड़े।

अब तक वह सरसराता हुआ दूर चला गया था।

“आप लोगों ने देखा नहीं, वह कितना विशाल विषधर था!” भैया ने कहा।

“इससे क्या होता है!” एक ब्रह्मचारी बोला, “विषधर भी उसपर आक्रमण नहीं करते, जो उनपर आक्रमण नहीं करता।”

“पर मनुष्य तो करता है।” इस बार उद्धव ने कहा और मुझे भी उसके व्यंग्य पर हँसी आ गई। साथ ही एक शंका भी पैदा हुई; पर उस समय मैंने उसे दबाए ही रखा।

हम लोग इसी तरह बातों में उलझे हुए चलते चले गए।

ब्राह्म मुहूर्त में हमने पहाड़ी पार की और झुटपुटे के कुछ पहले ही नगर द्वार की ओर पहुँच गए। अब ब्रह्मचारियों ने अभिवादन कर लौट जाने की अनुमति चाही।

अब हमने अपनी शंका व्यक्त की और भैया से कहा, “आप हलायुध इन ब्रह्मचारियों को दे दें। हम जब लौटेंगे तो इनसे ले लेंगे।”

“क्यों?” भैया की ध्वनि में वीरोचित रुक्षता थी।

“क्योंकि यह आयुध हमारे वेश के अनुकूल नहीं है।” मैंने भैया को समझाया।

“इससे हमारे बनावटी ब्राह्मणत्व को आघात लगेगा। हम शीघ्र ही पहचान लिये जाएँगे।”

“और तुम्हारी वंशी?”

“उसे तो मैंने कटि में छिपा रखा है। प्रकृति की मादकता ने मुझे भी अनेक बार झकझोरा था। मैं विचलित भी हुआ था; पर मैंने इसे निकाला नहीं और न आगे निकालूँगा।”

इतना सुनते ही भैया ने वह आयुध ब्रह्मचारियों को दे दिया। पर इतना अवश्य कहा, “यदि आवश्यकता पड़ी तो?”

“ब्राह्मण को शस्त्र की नहीं, शास्त्र की आवश्यकता पड़ती है।” मैंने अपने अधरों पर पुनः मुसकराहट उगाई और सब चुप हो गए।

जब हम कुंडिनपुर में पहुँचे, झुटपुटा समाप्त हो चुका था। रवि किरणों ने तरु शिखरों पर सोने का पानी चढ़ा दिया। मंदिर के कलशों से प्रत्यावर्तित किरणें ज्योति स्फुलिंग की तरह लग रही थीं; पर नगर कुछ असामान्य-सा मालूम हो रहा था। न मंदिरों की शंखध्वनि सुनाई दे रही थी और न यज्ञशालाओं की सुरभि वायु में तैर रही थी; जैसे किसी आतंक के भयंकर राक्षस ने नगर के सांस्कृतिक जीवन का गला घोट दिया हो।

यहाँ तो उद्धव का सबकुछ जाना-बूझा था, इसीसे बिना भटके और बिना किसीसे कुछ पूछे हम सीधे महाराज कौशिक के निवास पर पहुँच गए। वहाँ राजसी संपदा की गंध भी नहीं थी। एक खुले आश्रम की तरह वह स्थान हमें बड़ा अच्छा लगा। महाराज अभी अग्निहोत्र पर थे। हमारे आने की नहीं वरन् तीन ब्राह्मणों के आने की उन्हें

सूचना दी गई। पार्श्व के कक्ष में, जो शायद उनका अतिथिकक्ष था, हम लोग बैठाए गए।

अग्निहोत्र समाप्त होते ही महाराज पधारे और हमें देखकर विह्वल हो उठे। उन्होंने अपने परिचरों से पूछा, “तुम लोगों ने इनके आने की सूचना पहले क्यों नहीं दी?”

“दी तो थी।” परिचरों ने विनीत भाव से कहा।

“बात यह थी कि आपने जो हममें देखा, वह ये देख नहीं पाए थे और जो ये देख पाए थे, उन्हें आप प्रतीक्षा योग्य नहीं समझ रहे हैं।” हम लोग मुसकराते रहे।

पर महाराज हँस पड़े। कुछ बोले नहीं; क्योंकि रहस्य के मुख पर मौन की पट्टी बँधी रहती है।

महाराज सादर हमें अपने कक्ष में ले गए। स्वयं अपने हाथों से हमारे चरण धोए। हमें बड़ा संकोच लगा।

भैया तो बोल ही पड़े—“अरे रे रे, आप यह क्या कर रहे हैं?”

“चुप रहिए, हम लोग यहाँ ब्राह्मण हैं।” मैंने मुसकराते हुए धीरे से कहा और एक समवेत खिलखिलाहट उस कक्ष में गूँज गई।

“आप लोग मध्य रात्रि में चले होंगे। अब अल्पाहार कर थोड़ा विश्राम कर लें।” वास्तव में हम पैदल चलने के कारण थोड़ी थकावट का अनुभव कर ही रहे थे। महाराज का प्रस्ताव हमारे अनुकूल पड़ा। महाराज के कक्ष में ही हमारे विश्राम की व्यवस्था की गई।

इस बीच महाराज ने किसीसे भी मेरी वास्तविकता वर्णित नहीं की। परिजनों की दृष्टि में मैं नैष्ठिक ब्रह्मचारी था, जो महाराज की सेवा ग्रहण करने आया था।

किंतु महाराज ने एक बात अवश्य की। उन्होंने तीन-चार लोगों का विशिष्ट भोजन राजभवन से मँगाया था। सामान्यतः महाराज कभी ऐसा करते नहीं थे। उद्धव के आगमन पर भी उन्होंने वैसा नहीं किया था।

इससे प्रासाद में रहते हुए भी रुक्मिणी सहज ही समझ गई कि आज पितामह के यहाँ कोई महत्त्वपूर्ण अतिथि आया है। उसने विशेष रुचि लेकर भोजन तो भिजवाया ही, थोड़ी देर बार वह स्वयं भी आई।

“आज कौन आया है, पितामह?” उसने आते ही पूछा।

मुसकराते हुए महाराज ने कहा, “हमारे पूज्य हैं।”

“तब तो हमारे भी पूज्य होंगे!”

“अवश्य ही।” महाराज ने कहा, “अच्छा हुआ, तू आ गई। मैं चाहता था कि कोई अपना व्यक्ति ही उन्हें भोजन परोसता।” इतना कहने के बाद उन्होंने सभी परिचरों को उस कक्ष से हटा दिया और स्वयं हम लोगों से भोजन के लिए कहने आए।

यह सारी स्थिति रुक्मिणी में एक रहस्यमय जिज्ञासा जाग्रत करने के लिए काफी थी।

भोजन के पूर्व महाराज स्वयं ही कमंडलु लेकर हमारे हाथ-पैर धुलाने के लिए बढ़े; पर हमारा संकोच अब ऐसा कराने के पक्ष में नहीं था। मेरे मना करते ही ‘मैं चरण पखारती हूँ’ कहती हुई रुक्मिणी आगे बढ़ी।

“ना, ना, ना! हम नैष्ठिक ब्रह्मचारी हैं। किसी स्त्री के लिए हमारे किसी अंग का स्पर्श वर्जित है।” मेरे मुख से निकलते ही उसके विस्फारित नेत्रों की टकटकी हमारी आकृति पर लग गई। लगता है, उसे मेरी आवाज पहचानी हुई जान पड़ी।

मैं हाथ-पैर धोकर भोजन पर बैठ चुका था। फिर भी वह काष्ठवत् खड़ी-खड़ी मुझे निहारती रही। अप्रत्याशित ही अभीष्ट को देखने से उत्पन्न जड़ता ने उसे घेर लिया था।

“लगता है, रुक्मिणी, तुम्हारे मन से अभी शिशुपाल का भय गया नहीं है।” पितामह ने उसकी जड़ता को

झकझोरा। वह अचानक धरती पर आई।

“नहीं-नहीं, शिशुपाल अब मेरा कुछ बिगाड़ नहीं सकता।” वह बोली।

“क्यों? सौ अपराधों तक तो उसका कोई कुछ कर नहीं सकता।” पितामह बोले और हँस पड़े—“तुम्हारे लिए तो उसका एक ही अपराध काफी होगा।”

रुक्मिणी के भय की स्थिर लौ एक बार फिर काँप उठी।

मुझे स्पष्ट लगा कि ऋषिवर को सुनाई गई मेरी कथा यहाँ तक पहुँच चुकी है।

“घबराइए नहीं, आपके साथ कोई अपराध करने के पहले वह सौ अपराध कर चुकेंगे।” मैंने कहा और हम सब हँस पड़े।

इस बार रुक्मिणी भी मुसकराई। उसके कान समवेत हँसी से मेरी हँसी छानकर पीते रहे।

हमारा भोजन आरंभ हो गया था। अब रुक्मिणी ने हमें पहचान लिया था। वह बड़ी आत्मीयता से परोस रही थी। इधर बातें भी चल रही थीं। महाराज कौशिक ने मथुरा की स्थिति के विषय में कई जिज्ञासाएँ कीं। फिर वैवस्वतपुर के बारे में भी अनेक जानकारीयें प्राप्त कीं।

रुक्मिणी मौन हो मुझे सुनती रही। मुसकराती हुई वक्र दृष्टि से मुझे देखती भी जा रही थी।

वह अचानक बोल पड़ी—“विश्वास नहीं होता कि मथुरा के भगोड़े ने वैवस्वतपुरी में ऐसा पराक्रम दिखाया होगा।”

इस बार रुक्मिणी खुलकर हँसी और उसके साथ हम सब भी।

“पराक्रम पाषाण से टकराने में नहीं है वरन् शत्रु को पाषाण बना देने में है।” उन्होंने सुन तो लिया, पर कोई प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं की।

“लगता है, शत्रु यों ही जमकर पाषाण हो जाएगा।” रुक्मिणी फिर मुसकराते हुए बोली।

“हाँ, कभी-कभी ऐसा भी होता है।” मैंने कहा और उसे अपने जीवन की एक घटना सुनाई—“उन दिनों मैं वृंदावन में ही था। नंदजी के यहाँ हिमालय से एक साधु आए हुए थे। मैं पुष्करिणी में कमलपत्रों से खेल रहा था। मेरी चेष्टा थी कमलपत्र पर जल उठा लेने की। मैं बार-बार प्रयत्न कर रहा था, पर सब व्यर्थ था। पुष्करिणी से निकलते ही जल एकदम ढुलक जाता था।

“वह साधु दूर खड़े यह दृश्य देखते रहे। फिर मेरे निकट आकर बड़े प्यार से पूछा, ‘क्या कर रहे हो?’

“‘एक असंभव कार्य संभव करने की चेष्टा कर रहा हूँ।’

“‘पर यह कार्य असंभव तो नहीं है।’ वह हँसने लगे। मैं उनका मुख देखता रह गया। ‘असंभव तो इसे स्थान और काल ने बना दिया है।’ साधु बोले।

“मैं समझ नहीं पाया, चुपचाप उन्हें देखता रहा। वह बोलते गए, ‘तुम्हारी तरह मैं भी समझता था कि पुरइन के पत्ते पर पानी उठाना असंभव है; पर जब हिमालय की ओर गया तब अनुभव किया कि यह बिल्कुल असंभव नहीं।’

“मैं सोच ही रहा था कि यह कैसे संभव होगा कि उन्होंने बताया, ‘शीत के दिनों में जल वहाँ जम जाता है, तब वह पुरइन के पत्ते पर बड़ी सरलता से उठाया जा सकता है।’ इसके बाद उनका उपदेशात्मक स्वर गंभीर हुआ—‘इसे सदा समझो कि ‘असंभव’ शब्द देश-कालसापेक्ष है। जो आज यहाँ असंभव है, वह कल कहीं आपसे आप भी संभव हो सकता है।’ ”

यह कथा सुनाकर मैंने रुक्मिणी से कहा, “धैर्य रखो, शत्रु को भी पाषाण होते देखोगी।”

मैंने कहा किस संदर्भ में था और उसने समझा किस संदर्भ में। बोली, “उसके पाषाण होने के पहले तो मैं ही

पाषाण हो जाऊँगी।”

‘तुम्हें पाषाण होने का अवसर ही नहीं मिलेगा।’ मैं यह कहना चाहता था कि पितामह बोल उठे—“उसकी चेतना कन्हैया के समक्ष वैसे ही झर जाएगी जैसे कभी इनके गोद में उसकी भुजाएँ और नेत्र झरे थे।”

मैं मौन रह गया। रुक्मिणी बिहँस पड़ी। उसकी उस हँसी ने कभी भी मेरा पीछा नहीं छोड़ा।

यद्यपि उस समय मुझे रुक्मिणी को छोड़ना पड़ा और उसे यह आश्वासन देकर छोड़ना पड़ा कि जब भी तू मुझे हृदय से पुकारेगी, मैं उपस्थित हो जाऊँगा।

उसी संध्या हमें ऋषिवर के आश्रम में लौटना था, अपने अस्त्र-शस्त्र लेने और ब्राह्मणवेशी वस्त्र उतारकर उन्हें देने के लिए। इच्छा तो थी कि मैं महाराज भीष्मक से भी मिलता, उन्हें कुछ समझाता; पर पितामह ने ही मुझे रोक दिया।

उन्होंने बड़े विश्वास से कहा, “वह मेरा पुत्र है, मैं उसे अच्छी तरह जानता हूँ। पानी पर लकीर खींची जा सकती है, पर रुक्मी के विरुद्ध भीष्मक को कुछ भी समझाया नहीं जा सकता।”

अतएव बिना उनसे मिले ही सूर्यास्त होते-होते मैंने कुंडिनपुर से प्रस्थान किया। मुझे नगर की सीमा के बाहर तक जो लोग छोड़ने आए, उनमें पितामह और रुक्मिणी भी थी।

बिदा लेते समय पितामह मेरा अभिवादन करें, इसके पहले ही मैं स्वयं उनके चरणों पर गिर पड़ा। उन्होंने उठाकर मुझे छाती से लगा लिया।

“अब कब आओगे, कन्हैया?” वह विह्वल हो बोल पड़े।

“जब भी आपका आदेश होगा।” मैं प्रणत भाव से बोला।

इसके बाद हम सब चल पड़े। रुक्मिणी की ललक भरी दृष्टि मेरा पीछा करती रही। जब तक मैं उसे दिखाई पड़ता रहा, वह बराबर पीछे लगी रही और मेरे अदृश्य हो जाने के बाद भी वह मुझे छोड़ नहीं पाई।

□□□